—: ओ३म् :—

नवीन भारतीय संविधान और नागरिक जीवन

के. पी. दुबे

न्यू पैटर्न

[उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा परिषद् द्वारा स्वीकृत नवीनतम पाठ्यक्रम के अनुसार माध्यमिक (इण्टर) कक्षाओं के लिए नागरिक शास्त्र की सर्वश्रेष्ठ कृति]

नवीन

भारतीय संविधान और नागरिक जीवन

(इण्टर नागरिकशास्त्र द्वितीय प्रश्न पत्र)

लेखक

केo पीo दुबे

अध्यक्ष, राजनीतिशास्त्र विभाग, इलाहाबाद डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद
काउँसिलर, इन्दिरा गांधी नेशनल ओपेन युनिवर्सिटी

किताब महल

नवीन भारतीय संविधान और नागरिक जीवन का अभिनव संस्करण आपके हाथों में है। आपने पिछले संस्करणों को अपना कर हमारा जो उत्साहवर्धन किया है, उसके लिए हम आपके आभारी हैं। इस संस्करण को नवीनतम पाठ्यक्रम के अनुसार पूरी तरह संशोधित किया गया है। इस प्रक्रिया में अनावश्यक सामग्री को हटाकर एक अत्यन्त उपयोगी और महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ा गया है। यह अध्याय हमारी राष्ट्रीय एकता से सम्बन्धित है। हमें आशा है कि हमारे सुधी सहयोगी इसे पूर्ववत् अपनाकर हमें अच्छे साहित्य के सृजन की प्रेरणा देते रहेंगे। पुस्तक-परिष्कार के उपयोगी सुझाव सादर आमंत्रित हैं।

—के० पी० दुबे

प्रश्न-पत्र के सम्बन्ध में यू० पी० बोर्ड द्वारा जारी किये गये नवीन निर्देश

यू० पी० बोर्ड ने 1984 की परीक्षा से इण्टरमीडिएट नागरिकशास्त्र के प्रश्न-पत्र 'भारतीय संविधान और नागरिक जीवन' के सम्बन्ध में नवीन संशोधन प्रसारित किये हैं। इन संशोधनों के अनुसार प्रश्न-पत्रों की नयी प्रणाली लागू की गयी है। इस नयी प्रणाली की जानकारी निम्न प्रकार है :

(1) **पाठयक्रम का दो खण्डों में विभाजन**—बोर्ड द्वारा इस प्रश्न-पत्र के समस्त पाठ्यक्रम को दो खण्डों में विभाजित किया गया है। परीक्षार्थियों (छात्रों) के लिए दोनों खण्डों से प्रश्न करना अनिवार्य होगा।

(2) **अनिवार्य वस्तुनिष्ठ (अति लघु उत्तरीय प्रश्न)** —अनिवार्य वस्तुनिष्ठ प्रश्न प्रश्न-पत्र की नयी प्रणाली की सबसे प्रमुख बात है। इण्टरमीडिएट नागरिक शास्त्र के दोनों प्रश्न-पत्रों में 10-10 अंक का एक-एक वस्तुनिष्ठ प्रश्न अनिवार्य रूप से पूछा जायगा। इस वस्तुनिष्ठ प्रश्न का उत्तर देना अनिवार्य है। इस वस्तुनिष्ठ प्रश्न के अन्तर्गत एक-एक अंक के 10 अति लघु उत्तरीय प्रश्न होंगे जिनके उत्तर छात्रों को अति संक्षेप में, अर्थात् एक-एक वाक्य में लिखने होंगे।

(3) **लघु उत्तरीय प्रश्न**—इसके अतिरिक्त 10 अंक का एक अन्य प्रश्न होगा जिसमें दो-दो अंक के 5 लघु उत्तरीय प्रश्न पूछे जा सकते हैं जिनमें से प्रत्येक का उत्तर अधिकतम पाँच वाक्यों में होना चाहिए। यह प्रश्न अनिवार्य नहीं होगा।

(4) **दीर्घ उत्तरीय प्रश्न**—अन्य प्रश्न दीर्घ उत्तरीय प्रश्न होंगे जिनमें प्रत्येक प्रश्न 10-10 अंक का होगा।

(5) यू० पी० बोर्ड के नवीनतम संशोधित पाठयक्रम के अनुरूप प्रश्न-पत्र पुस्तक के अन्त में दिया गया है।

इण्टरमीडिएट नागरिकशास्त्र (द्वितीय) का नया पाठ्यक्रम

बोर्ड द्वारा समस्त पाठ्यक्रम को दो खण्डों में विभाजित किया गया है। परीक्षार्थियों (छात्रों) के लिए दोनों खण्डों से प्रश्न करना अनिवार्य होगा।

खण्ड—1

1. भारतीय संघ का संविधान, प्रमुख विशेषताएँ, मूल अधिकार एवं कर्तव्य तथा राज्य के नीति निर्देशक तत्व।
2. भारतीय नागरिकता।
3. भारत की संघीय व्यवस्था, केन्द्र तथा राज्यों का सम्बन्ध।
4. संघ सरकार का गठन तथा उसकी कार्यविधि—
   (i) संघीय कार्यपालिका—(क) राष्ट्रपति—निर्वाचन, अधिकार तथा कार्य।
   (ख) मन्त्रिपरिषद्—नियुक्ति तथा कार्यविधि।
   (ii) संघीय व्यवस्थापिका—संसद—राज्य सभा, संगठन तथा अधिकार। लोक सभा, संगठन तथा अधिकार।
   (iii) दोनों सदनों के पारस्परिक तथा कार्यपालिका से सम्बन्ध।
5. राज्य सरकारों का गठन तथा कार्यविधि।
   (क) राज्यों की कार्यपालिका—राज्यपाल तथा मन्त्रिपरिषद।
   (ख) राज्यों का विधान मण्डल—विधान परिषद्, संगठन तथा शक्ति।
   (ग) दोनों सदनों के पारस्परिक तथा कार्यपालिका से सम्बन्ध।
6. केन्द्र-प्रशासित क्षेत्र तथा उनकी शासन-व्यवस्था।
7. भारतीय न्यायपालिका—सर्वोच्च न्यायालय।
8. उत्तर प्रदेश की न्याय व्यवस्था।
9. भारत में सार्वजनिक सेवाएँ—उनका महत्व तथा कार्य, लोकसेवा आयोग।

खण्ड—2

10. स्थानीय स्वायत्त शासन तथा इसका महत्व—(क) नगरपालिकाएँ, नगर-महापालिकाएँ। (ख) जिला परिषद्, क्षेत्र समिति, गाँव सभा, ग्राम पंचायत तथा न्याय पंचायत।
11. भारत में धार्मिक तथा सामाजिक सुधार के आन्दोलन तथा देश के राजनीतिक तथा राष्ट्रीय जीवन पर उनका प्रभाव।
12. राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास।
13. भारत के राजनीतिक दल।
14. भारतीय आर्थिक जीवन—(क) कृषक तथा उसकी समस्याएँ, ग्राम्य जीवन, (ख) उद्योग तथा नगरों का जीवन (ग) जन-जाति एवं उनकी समस्याएँ, (घ) पंचवर्षीय योजनाएँ—लक्ष्य तथा उपलब्धि।
15. भारत तथा विश्व, भारत की विदेश नीति, राष्ट्रमण्डल के सदस्य के रूप में भारत, संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य के रूप में भारत।
16. भारत में राष्ट्रीय एकता।

विषय-सूची

अध्याय | पृष्ठ

1. भारतीय संविधान की पृष्ठभूमि ... 1
2. भारतीय संविधान की संशोधन-प्रक्रिया तथा संशोधन अधिनियम ... 11
3. भारतीय संविधान की प्रस्तावना : संविधान का मंगलाचरण ... 16
4. भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएँ ... 24
5. भारतीय संविधान का स्वरूप : संविधान की संघात्मक व्यवस्था ... 42
6. भारत—एक धर्मनिरपेक्ष राज्य ... 53
7. भारतीय नागरिकता ... 59
8. हमारे मौलिक अधिकार ... 65
9. हमारे मूल अधिकार ... 90
10. राज्य के नीति-निर्देशक तत्व ... 95
11. राष्ट्रपति—संघ की कार्यपालाका का वैधानिक प्रधान ... 112
12. संघीय मंत्रिपरिषद ... 145
13. भारतीय संसद ... 162
14. सर्वोच्च न्यायालय ... 197
15. राज्यपाल—राज्यों की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान ... 208
16. केन्द्र-शासित क्षेत्रों का शासन ... 218
17. राज्य के मंत्रिपरिषद ... 224
18. राज्य का विधानमण्डल ... 233
19. राज्य की न्याय व्यवस्था—उच्च न्यायालय तथा अधीनस्थ न्यायालय ... 254
20. केन्द्र और राज्यों के सम्बन्ध ... 267
21. लोकसेवाएँ तथा लोकसेवा आयोग ... 279
22. विविध प्रकरण ... 292
23. स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ ... 299
24. सामाजिक स्वशासन की संस्थाएँ ... 321
25. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन ... 335
26. हमारे स्वाधीनता-संग्राम के कुछ महापुरुष ... 369
27. भारत के राजनैतिक दल ... 384
28. नगरीय जीवन ... 397
29. जनजाति और उनकी समस्याएँ ... 404
30. भारत की विदेश-नीति : भारत तथा विश्व ... 409
31. भारत में राष्ट्रीय एकता ... 421

"संविधान सभा को एक गतिशील राष्ट्र कहा जा सकता है, ऐसा राष्ट्र जो पुराने वस्त्रों को उतार कर नए वस्त्र धारण करता है।......इस नाते उसकी एक क्रान्तिकारी भूमिका होती है।"

—जवाहरलाल नेहरू

अध्याय 1

भारतीय संविधान की पृष्ठभूमि

● स्वाधीनता और संविधान : माँग और उपलब्धि ● संविधान सभा : संगठन का प्रथम चरण ● संविधान सभा, स्वाधीनता के बाद : एक उभरते राष्ट्र का लघु दर्पण ● संविधान सभा की पहली बैठक ● संविधान सभा में उद्देश्य-प्रस्ताव की प्रस्तुति ● संविधान सभा की समितियाँ ● संविधान का निर्माण ● हमारे संविधान-निर्माता ● भारतीय संविधान के प्रेरक और प्रभावकारी स्रोत ● भारतीय संविधान के विकास में सहायक तत्त्व।

आमुख

अपनी स्वतन्त्रता, सभ्यता और संस्कृति की रक्षा, व्यवस्था और विकास के लिए कोई देश जिन नियमों का सृजन, संकलन और संरक्षण करता है, उसकी संचित ज्ञानराशि को संविधान कहते हैं। सामान्यतया संविधान स्वाधीनता का शिशु होता है। किसी राष्ट्र की स्वाधीनता के साथ उसके संविधान का उदय होता है। इस दृष्टि से संविधान को स्वाधीन राष्ट्र का गौरव-मुकुट, उसकी राजनीतिक चेतना की मुखर अभिव्यक्ति, उसकी राजनीतिक व्यवस्था का प्रकाश-स्तम्भ तथा उसकी आकांक्षाओं और आदर्शों की प्राप्ति का सशक्त माध्यम कहा जा सकता है। भारतीय संविधान भी इसका अपवाद नहीं है। भारतीय संविधान भी अपनी स्वाधीनता का शिशु है।

स्वाधीनता के पूर्व भारत का अपना संविधान नहीं था। भारत पर अंग्रेजों का प्रभुत्व था। फलतः भारत की शासन-व्यवस्था का संचालन, नियंत्रण और निर्देशन ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाए गए नियमों, अधिनियमों और निर्देशों द्वारा होता था।

विदेशी शासन किसी भी समाज के लिए एक भयंकर अभिशाप होता है। विदेशी शासन में देश पराधीन तो होता ही है, साथ ही पराधीनता के कारण उसे अनेक कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ता है। अतएव कोई जागृत देश विदेशी शासन को स्वीकार नहीं करता। वह उसे समाप्त करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। भारत भी इसका अपवाद नहीं था। कालान्तर में भारत में राजनैतिक चेतना का विकास हुआ। जागृत भारत ने विदेशी शासन से मुक्ति पाने के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन का अवलम्ब लिया। राष्ट्रीय आन्दोलन उत्तरोत्तर प्रभावशाली और सशक्त होता गया। अंग्रेजों ने 'फूट डालो और शासन करो' की नीति को अपनाकर आन्दोलन को निष्फल और प्रभावहीन बनाने का प्रयास किया। किन्तु, आन्दोलन कोटि-कोटि भारतीयों का कंठहार बन गया। तत्कालीन भारत के देशभक्त, कर्तव्य-परायण, कर्मठ और चरित्रनिष्ठ जननायक आन्दोलन को आगे बढ़ाने में सफल रहे। अन्त में अंग्रेज भारत छोड़ने के लिए बाध्य हुए। भारत स्वाधीन हुआ।

स्वाधीनता और संविधान : माँग और उपलब्धि

संविधान और स्वाधीनता एक ही रथ के दो चक्र होते हैं। अतएव स्वाधीनता-आन्दोलन के समय स्वाधीनता की माँग के साथ संविधान-निर्माण के लिए संविधान सभा की भी माँग की

जाती रही। पर स्वतन्त्रता की माँग की भाँति ब्रिटिश सरकार संविधान सभा की माँग की भी उपेक्षा करती रही। किन्तु, इस समय तक हमारा स्वाधीनता-संग्राम पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। सन् 1942 ई० की ऐतिहासिक क्रान्ति 'अंग्रेजो, भारत छोड़ो' के जयघोष से अंग्रेजों को यह विश्वास हो गया था कि भारत को अब बहुत दिनों तक पराधीन बनाये रखना सम्भव नहीं है। यह वह समय था जबकि विश्व द्वितीय महायुद्ध की प्रलयकारी ज्वालाओं में जल रहा था। 1945 ई० में यह महायुद्ध समाप्त हुआ। विजयश्री इंग्लैंड तथा उसके मित्र राष्ट्रों को मिली। किन्तु, युद्ध से जर्जर इंग्लैंड अनेक प्रश्नचिह्नों से घिर गया था। युद्ध के बाद इंग्लैंड में संसदीय निर्वाचन हुए। इस निर्वाचन में बहुमत श्रमिक दल या 'लेबर पार्टी' को मिला। यह पार्टी पहले से ही भारतीय स्वाधीनता के पक्ष में थी। अतः 4 मार्च, 1946 ई० को नई सरकार के प्रधानमन्त्री श्री एटली ने ब्रिटेन की कॉमन्स सभा में भारत की स्वाधीनता की घोषणा की। इसी पृष्ठभूमि में नई सरकार के मन्त्रिमंडल के तीन सदस्यों का एक शिष्ट-मंडल मार्च, 1946 ई० में भारत आया। इस शिष्ट-मंडल ने भारतीय नेताओं से परामर्श कर 16 मई, 1946 ई० को एक योजना प्रकाशित की। इस योजना में भारत की भावी व्यवस्था-सम्बन्धी आवश्यक सुझाव थे। इसके साथ ही संविधान-निर्माण के लिए संविधान सभा के गठन पर भी प्रकाश डाला गया था। योजना में मुस्लिम लीग की देश-विभाजन की माँग को अस्वीकार कर दिया गया था। अतएव मुस्लिम लीग योजना से असन्तुष्ट थी। योजना में कई ऐसे पक्ष थे जिससे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को भी सन्तोष नहीं था। फिर भी कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों ने योजना को स्वीकार कर लिया। किन्तु बाद में मुस्लिम लीग ने 'कैबिनेट मिशन योजना' को अस्वीकृत कर दिया। उसने 'पाकिस्तान' की माँग की और इसके लिए 16 अगस्त, 1946 ई० को 'प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस' (डायरेक्ट ऐक्शन डे) मनाने की घोषणा कर दी। इसके परिणाम-स्वरूप कलकत्ता में (जहाँ मुस्लिम सरकार थी) भयंकर नर-संहार हुआ। इसकी प्रतिक्रिया में अन्य नगरों में भी साम्प्रदायिक दंगे हुए।

उधर 'कैबिनेट मिशन' की योजना के अनुसार 2 सितम्बर, 1946 को अन्तरिम सरकार की स्थापना हुई। इस सरकार में 14 सदस्यों का प्रावधान था, 6 कांग्रेस के तथा 5 मुस्लिम लीग के। किन्तु मुस्लिम लीग ने इस सरकार में शामिल होने से मना कर दिया। बाद में तत्कालीन गवर्नर जेनरल लार्ड बावेल के आग्रह से मुस्लिम लीग के पाँच सदस्यों द्वारा अन्तरिम सरकार में सम्मिलित होने पर भी मुस्लिम लीग के दृष्टिकोण में कोई परिवर्तत नहीं आया। वस्तुतः मुस्लिम लीग का उद्देश्य सरकार में सम्मिलित होकर सरकार की गतिविधियों में अवरोध उत्पन्न करना था। लीग का लक्ष्य देश का विभाजन और पाकिस्तान को प्राप्त करना था। इसी उद्देश्य से मुस्लिम लीग ने संविधान सभा की बैठकों में भाग लेने से मना कर दिया था। मुस्लिम लीग के असहयोग और हठधर्मिता से अनेक समस्याएं खड़ी हो गई थीं। पंजाब, सिन्ध तथा उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत में भयंकर दंगे हो रहे थे।

इधर लार्ड माउण्ट बेटन भारत के नए गवर्नर जेनरल नियुक्त हुए। 22 मार्च, 1947 ई० को वे दिल्ली पहुँच गए और अपना पदभार ग्रहण कर लिया। माउण्ट बेटन ने देश के राजनैतिक दलों और राजनेताओं से बात कर एक योजना प्रस्तुत की। यह योजना 'माउण्ट बेटन योजना' के नाम से विश्रुत है। इस योजना में भारत के विभाजन को स्वीकार किया गया था और उसकी रूपरेखा पर प्रकाश डाला गया था। 3 जून, 1947 ई० को ब्रिटिश प्रधानमन्त्री एटली ने ब्रिटिश संसद में इस योजना की घोषणा की। इसी आधार पर ब्रिटिश संसद द्वारा 1947 ई० का भारतीय स्वाधीनता अधिनियम पास किया गया था। इस अधिनियम में 15 अगस्त, 1947 ई० से भारत को स्वाधीन करने तथा भारत और पाकिस्तान नाम के दो राज्यों के निर्माण की बात कही गई थी। इस प्रकार अधिनियम के अनुसार 15 अगस्त को भारत स्वाधीन हो गया, किन्तु देश के विभाजन और साम्प्रदायिक दंगों तथा उससे सम्बन्धित अनेक

समस्याओं ने स्वाधीनता के हर्ष और उल्लास को धूमिल कर दिया था।

संविधान सभा : संगठन का प्रथम चरण

कैबिनेट मिशन योजना में संविधान सभा के गठन-विषयक जो प्रावधान किए गए थे, उसके मुख्य पक्ष निम्न प्रकार थे—

1. संविधान सभा के सदस्यों का निर्वाचन प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा किया जायगा।
2. प्रान्तीय विधान सभाएँ प्रत्येक दस लाख की जनसंख्या पर एक सदस्य के अनुपात में प्रतिनिधि निर्वाचित करेंगी।
3. विधान सभाओं के मुसलमान और सिक्ख सदस्य अपने सम्प्रदाय के अनुपात से सदस्यों का निर्वाचन करेंगे।
4. संविधान सभा में ब्रिटिश भारत के 296 सदस्य तथा देशी राज्यों के 93 सदस्य होंगे।
5. संविधान सभा की बैठक दिल्ली में होगी तथा उसकी प्रारम्भिक बैठक में सभापति और अन्य पदाधिकारियों का निर्वाचन होगा।

कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार ब्रिटिश भारत के लिए कुल 296 स्थान निश्चित किए गये तथा भारत की देशी रियासतों के प्रतिनिधियों के लिए 93 स्थान रखे गये। इस प्रकार कुल मिलाकर 389 सदस्यों की संविधान सभा के निर्माण का निश्चय किया गया। ब्रिटिश भारत के 296 स्थानों के लिए जुलाई में निर्वाचन हुए।[1] 296 स्थानों में से कांग्रेस सदस्यों की संख्या 211 थी। मुस्लिम लीग को 73 स्थान मिले थे। सिक्खों के अकाली दल के दो सदस्य निर्वाचित हुए थे।

'कैबिनेट मिशन योजना' के अनुसार गठित इस संविधान सभा (Constituent Assembly) की अपनी विशेषाएँ थीं। प्रथमतः यह संविधान सभा एक संप्रभु निकाय (Sovereign body) नहीं थी। इस नाते वह सर्वोच्च शक्तियों से सम्पन्न नहीं थी। प्रस्ताव के अनुसार वह ब्रिटिश सरकार के अधीन थी। दूसरे इसका निर्वाचन प्रत्यक्ष वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त के अनुसार न होकर परोक्ष रूप से ब्रिटिश भारत की प्रान्तीय विधान सभाओं के सदस्यों द्वारा हुआ था। तीसरे, इस संविधान सभा में सदस्यता का स्थान-निर्धारण साम्प्रदायिकता के आधार पर किया गया था। चौथे, इस संविधान सभा की संविधान-निर्माण-शक्ति पर अनेक प्रतिबन्ध थे। इस प्रकार कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव पर आधारित संविधान सभा में अनेक असंगतियाँ थीं। ये असंगतियाँ तभी दूर हो सकीं जबकि देश स्वाधीन हुआ।

संविधान सभा, स्वाधीनता के बाद : एक उभरते राष्ट्र का लघु दर्पण

जैसा कि पहले कह चुके हैं, कैबिनेट मिशन प्रस्ताव पर गठित संविधान सभा में मुस्लिम लीग के जो 73 प्रतिनिधि निर्वाचित किए गए थे, उन्होंने संविधान सभा की बैठकों में कभी भाग नहीं लिया। इसका मुख्य कारण यह था कि मुस्लिम लीग पाकिस्तान की माँग पर अटल थी और पाकिस्तान के लिए संविधान बनाने के लिए अलग संविधान सभा की माँग कर रही थी। अन्त में उसकी माँग स्वीकार हुई।

उधर देश को स्वाधीनता के साथ ही संविधान सभा के ऊपर ब्रिटिश शासन के नियंत्रण भी हट गए। अब वह एक पूर्ण संप्रभु संस्था के रूप में कार्य करने के लिए स्वतन्त्र थी।

विभाजन के पूर्व संविधान सभा में 389 सदस्य थे, किन्तु पाकिस्तान बन जाने के बाद संविधान सभा में 310 सदस्य रह गए।

---

1. देशी रियासतों के प्रतिनिधि बाद में चुने गए।

संविधान सभा के मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों के हट जाने का यह अर्थ नहीं था कि सभा में मुसलमानों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। वस्तुतः सभा में अनेक मुस्लिम प्रतिनिधि थे। मुसलमान ही नहीं, उसमें भारत के सभी प्रमुख संप्रदायों और वर्गों का समुचित प्रतिनिधित्व था। इस प्रकार संविधान सभा सारे राष्ट्र का एक प्रकार से लघु दर्पण थी—ऐसा दर्पण जिसमें एक उभरते राष्ट्र की पूरी प्रतिच्छवि झलकती थी।

संविधान सभा की पहली बैठक

कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव पर गठित संविधान सभा की पहली बैठक दिल्ली में 9 दिसम्बर, 1946 ई० को प्रारम्भ हुई। पहले बिहार के प्रसिद्ध बैरिस्टर सच्चिदानन्द सिन्हा संविधान सभा के अस्थायी अध्यक्ष चुने गए। उसके बाद (11 दिसम्बर, 1946 ई०) डॉ० राजेन्द्रप्रसाद संविधान सभा के अध्यक्ष चुने गए।

संविधान सभा में उद्देश्य-प्रस्ताव की प्रस्तुति

प्रत्येक सगठन, सभा या संस्था कतिपय आदर्शों पर आधारित होती है। ये आदर्श जहाँ एक ओर उसके प्रयोजन के परिचायक होते हैं, वहाँ दूसरी ओर उसके लिए एक प्रकाश-स्तम्भ और मार्ग-दर्शन का भी कार्य करते हैं। भारतीय संविधान सभा भी कतिपय आदर्शों पर आधारित थी। उसके अपने लक्ष्य थे। इन्हीं आदर्शों और लक्ष्यों को मुखर रूप देने के लिए पं० जवाहरलाल नेहरू ने सभा के प्रथम अधिवेशन में 13 दिसम्बर, 1946 ई० को उद्देश्य-सम्बन्धी प्रस्ताव ((Objective Resolution) प्रस्तुत किया। यह प्रस्ताव 22 जनवरी, 1947 ई० को सभा द्वारा पास किया गया।

इस उद्देश्य-प्रस्ताव के मुख्य लक्ष्य इस प्रकार थे—

1. भारत राज्यों का एक संघ होगा, इसमें सम्मिलित राज्य या प्रदेश स्वतन्त्र इकाई के रूप में होंगे।
2. भारत एक स्वतन्त्र प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य होगा।
3. संघ और राज्य की समस्त शक्ति का मूल स्रोत जनता होगी।
4. नागरिकों को अनेक आधारभूत अधिकार प्रदान किए जायँगे।
5. अल्पसंख्यकों, पिछड़े हुए वर्ग के लोगों तथा जनजातियों के हितों को सुरक्षा प्रदान की जायगी।
6. भारतीय गणराज्य की अखंडता का पोषण किया जायगा तथा जल, थल और वायु में इसके सम्पूर्ण अधिकारों का न्याय तथा राष्ट्रों की विधि के अनुसार पालन किया जाएगा।
7. यह प्राचीन देश (भारत) विश्व में अपना अधिकार व सम्मानपूर्ण स्थान ग्रहण करता है, यह विश्व-शांति और मानव जाति के कल्याण में अपना सम्यक् तथा स्वैच्छिक योगदान देता रहेगा।

इस प्रकार उद्देश्य-प्रस्ताव के माध्यम से भारतीय संविधान तथा भारत की भावी राजनीतिक व्यवस्था की रूपरेखा का प्रथम शब्द-चित्र प्रस्तुत किया गया था। उद्देश्य-प्रस्ताव को भारतीय स्वाधीनता का 'अमर अधिकार-पत्र', 'भारत की राजनीतिक व्यवस्था का प्रखर प्रकाश-स्तम्भ' तथा 'भारत का राजनैतिक जन्म-चक्र' (Political Horoscope) कहा गया था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय संविधान-निर्माताओं के संकल्प-स्वर का सम्यक् ज्ञान हमें इसी उद्देश्य-प्रस्ताव से मिल जाता है। भारत की संवैधानिक व्यवस्था वस्तुतः इसी उद्देश्य-प्रस्ताव की मुखर अभिव्यक्ति है। उद्देश्य-प्रस्ताव में व्यक्त भावनाओं, संकल्पों और आदर्शों को संविधान

की प्रस्तावना में देकर हमारे संविधान-निर्माताओं ने प्रस्ताव की महत्ता पर अपनी मुहर लगाई थी।

संविधान सभा की समितियाँ

संविधान सभा अपने कर्तव्य का कुशलता से पालन कर सके, इसलिए सभा ने कई समितियाँ गठित की थीं। कुल मिलाकर इन समितियों की संख्या सत्रह थी। इन समितियों में मुख्य अग्रलिखित थीं :

(1) संघीय अधिकार समिति, (2) संघीय संविधान समिति, (3) राज्य संविधान समिति, (4) मौलिक अधिकार समिति, (5) अल्पसंख्यक समिति, (6) प्रारूप समिति, (7) प्रक्रिया नियम समिति, (8) सदन समिति तथा (9) देशी रियासतों सम्बन्धी समिति।

इन समितियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रारूप समिति थी। संविधान का प्रारूप या मसविदा तैयार करना इस समिति का ही कार्य था। देश के प्रधान विधान-मर्मज्ञ डॉ० भीमराव अम्बेदकर इस समिति के अध्यक्ष थे।[1] उन्होंने बड़ी निष्ठा तथा योग्यता से अपने कार्य का सम्पादन किया।

संविधान का निर्माण

संविधान सभा की प्रारूप समिति ने बड़े परिश्रम से संविधान का प्रारूप (ड्राफ्ट या मसविदा) तैयार कर 5 नवम्बर, 1948 ई० को संविधान सभा के सामने प्रस्तुत किया। सभा में प्रारूप में संशोधन के लिए कुल 7,635 संशोधन-प्रस्ताव आये, किन्तु इनमें से केवल 2,473 संशोधन पर ही विचार हुआ। अन्त में 26 नवम्बर, 1949 ई० को प्रारूप अंतिम रूप में स्वीकृत हुआ। संविधान में 395 अनुच्छेद और आठ अनुसूचियाँ थीं। संविधान की कुछ धाराएँ उसी दिन से लागू हो गईं, किन्तु पूर्ण रूप से यह संविधान 26 जनवरी, 1950 ई० से लागू हुआ। इस प्रकार संविधान सभा के कुल ग्यारह अधिवेशन हुए। उसके निर्माण में कुल 2 वर्ष 11 महीने 18 दिन लगे तथा लगभग 64 लाख रुपये (63,96,729 रु०) खर्च हुए। इसमें 114 दिन केवल प्रारूप पर विचार करने में लगे। संविधान के आकार को देखते हुए यह समय अधिक नहीं था। इतने बृहत् आकार के संविधान को इतनी समस्याओं से घिरे परिवेश में बना लेना एक उपलब्धि ही थी। इस उपलब्धि पर प्रकाश डालते हुए संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा था कि 'मैं सभा को इतने महान् कार्य की उपलब्धि पर साधुवाद देता हूँ।'

हमारे संविधान-निर्माता

भारतीय संविधान की निर्माण-कथा पर प्रकाश डालते समय दो शब्द अपने संविधान-निर्माताओं के विषय में कह देना अनुचित न होगा। भारतीय संविधान सभा भारत के महापुरुषों की एक महासभा थी, ऐसी सभा जिसमें ज्ञान, गुण और प्रतिभा का अद्भुत संगम था, देश-भक्ति और कर्तव्य-निष्ठा का अपूर्व समन्वय था। संविधान सभा के अधिकांश सदस्य ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन में सक्रिय भूमिका निभाई थी। उसमें अनेक ऐसी प्रतिमाएँ थीं जिन्होंने ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में ख्याति अर्जित कर रक्खी थी। कानून

---

1. समिति में कुल सात सदस्य थे। डॉ० अम्बेदकर के अतिरिक्त समिति के अन्य सदस्य इस प्रकार थे : (i) डॉ० गोपालस्वामी आयंगर, (ii) श्री अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर, (iii) श्री कन्हैया माणिकलाल मुंशी, (vi) श्री एस० एम० सादुल्ला, (v) श्री माधवराव, (vi) श्री पी० एल० मित्र (vii) श्री डी० पी० खेतान।

या विधि-विधान के विद्वानों की सभा में कोई कमी नहीं थी। प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ० अम्बेदकर स्वयं कानून के माने हुए विद्वान् थे। संविधान का प्रारूप तैयार करने में तथा सभा के विचार-विनिमय में उन्होंने जो भूमिका निभाई, वह स्तुत्य है। डॉ० अम्बेदकर को 'आधुनिक भारत का मनु' तथा 'भारतीय संविधान का जनक' कहा गया है। प्रारूप समिति के अन्य सदस्यों में डॉ० कन्हैयालाल मणिकलाल मुंशी तथा अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर भी लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे। संविधान सभा के प्रक्रिया-विषयक नियम बनाने का मुख्य श्रेय डॉ० मुंशी को है। सर अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर संवैधानिक कानून के सागर थे। इसी प्रकार टी० टी० कृष्णमाचारी तथा श्री एन० गोपालस्वामी आयंगर यद्यपि वकील नहीं थे, फिर भी उन्हें विषय का अच्छा ज्ञान था। संविधान के अनेक महत्वपूर्ण प्रावधानों के निर्माण में उन्होंने अच्छा योग दिया था।

संविधान सभा के अन्य प्रभावशाली सदस्यों में डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, पं० जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल तथा मौलाना अब्दुल कलाम आजाद का अत्यन्त प्रभावशाली स्थान था। वस्तुतः उनकी प्रतिष्ठा और प्रभाव देवतुल्य था। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद संविधान सभा के अध्यक्ष थे। उन्होंने संविधान सभा की कार्यवाही का अत्यन्त योग्यता तथा निष्पक्षता से संचालन किया। अमेरिका की संविधान सभा के अध्यक्ष जार्ज वाशिंगटन की भाँति वे भारत के प्रथम राष्ट्रपति चुने गए थे। दूसरी बार वे पुनः उसी पद के लिए निर्वाचित हुए। पं० जवाहरलाल नेहरू का व्यक्तित्व, प्रभाव और योगदान अप्रतिम था। उसी प्रकार लौह-पुरुष सरदार पटेल ने संविधान की अनेक धाराओं पर अपना अमिट प्रभाव डाला था।

संविधान सभा में आलोचकों की भूमिका निभाने वाले सदस्यों में हरिविष्णु कामथ, के० टी० शाह, नाजिरुद्दीन अहमद तथा प्रो० शिब्बनलाल सक्सेना के नाम मुख्य हैं।

संविधान सभा की कार्यवाहियों में प्रभावकारी भूमिका अदा करने वाले अन्य सदस्यों में हृदयनाथ कुंजरू, ठाकुरदास भार्गव, फ्रैंक एन्थोनी, जयपाल सिंह, बृजेश्वरप्रसाद, महावीर त्यागी, रोहिनीकुमार चौधरी के नाम मुख्य हैं। महिला सदस्यों में श्रीमती सरोजनी नायडू, श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख तथा श्रीमती हंसा मेहता प्रमुख थीं।

संविधान सभा के संवैधानिक सलाहकार सर बेनेगल नरसिंह राव के योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उन्होंने कई देशों की संवैधानिक व्यवस्थाओं का पर्यवेक्षण और अध्ययन कर अपने ज्ञान से सभा को लाभान्वित किया था। उन्होंने संविधान का पहला प्रारूप तैयार किया जिस पर प्रारूप समिति ने विचार-विमर्श किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक लघु पुस्तिकाएँ और रचनाएँ प्रस्तुत कीं जिनसे संविधान सभा के सदस्यों को बड़ी सहायता मिली।

इस प्रकार भारतीय संविधान के निर्माण में अनेक सुयोग्य व्यक्तियों और प्रतिभाओं का योग रहा है। हमारा संविधान इन प्रतिभा-सम्पन्न महापुरुषों के निष्ठावान् प्रयास का एक अनुपम प्रतिफल है—ऐसा प्रतिफल जो हमारी राजनीतिक व्यवस्था का अपरिहार्य आधार बन गया है।

2

भारतीय संविधान के प्रेरक और प्रभावकारी स्रोत

कोई भी संविधान शून्य में नहीं जन्मता। प्रत्येक संविधान की रचना में अनेक साधनों और तत्वों का योग रहता है। संवैधानिक शब्दावली में इन तत्वों को संविधान के स्रोत की संज्ञा दी जाती है। भारतीय संविधान की रचना-प्रक्रिया में भी अनेक तत्वों का योग रहा है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से भारतीय संविधान के इन प्रेरक और प्रभावकारी स्रोतों को संक्षेप में हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

(क) विदेशी स्रोत

भारतीय संविधान के निर्माण में जिन विदेशी स्रोतों ने अपना प्रभाव डाला, उनमें पाश्चात्य देशों की प्रतिनिधिमूलक शासन-प्रणालियाँ मुख्य थीं। इन शासन-प्रणालियों ने भारतीय संविधान पर जो प्रभाव डाला, उसे हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—

> **भारतीय संविधान के प्रेरक और प्रभावकारी स्रोत**
>
> (क) विदेशी स्रोत
> 1. ब्रिटिश संविधान
> 2. संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान
> 3. आयरलैंड का संविधान
> 4. कनाडा का संविधान
> 5. आस्ट्रेलिया का संविधान
> 6. दक्षिण अफ्रीका का संविधान
>
> (ख) भारतीय स्रोत

(1) ब्रिटिश संविधान—भारत की संवैधानिक व्यवस्था विश्व में जिस शासन-प्रणाली या जिस संविधान से सर्वाधिक प्रभावित हुई थी, वह था ब्रिटिश संविधान। भारत पर ब्रिटेन का प्रभुत्व था, अतएव भारतीय संविधान का ब्रिटेन की शासन-व्यवस्था से प्रभावित होना स्वाभाविक ही था ब्रिटेन की संसदात्मक व्यवस्था के प्रायः प्रत्येक पक्ष ने भारतीय संविधान पर अपना प्रभाव डाला था।

2. संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान—आधुनिक युग के लिखित संविधानों में संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान का अपना महत्व है। अतएव भारतीय संविधान का संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान से प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। अमेरिकी संविधान के जिन पक्षों ने भारतीय संविधान को प्रभावित किया है, वे हैं—उपराष्ट्रपति-विषयक व्यवस्था, नागरिकों के मौलिक अधिकार, सर्वोच्च न्यायालय-विषयक प्रावधान तथा संविधान के संशोधन-विषयक उपबन्ध।

(3) आयरलैंड का संविधान—आयरलैण्ड के संविधान से भारतीय संविधान ने जो तत्व ग्रहण किए, वे हैं—

राज्य के नीति-निदेशक तत्व, राष्ट्रपति के निर्वाचक-मण्डल की व्यवस्था तथा संसद के दूसरे सदन में साहित्य, कला, विज्ञान तथा समाज-सेवा आदि के क्षेत्र में ख्याति-प्राप्त व्यक्तियों के मनोनयन-विषयक प्रावधान।

(4) कनाडा का संविधान—कनाडा के संविधान के जिस पक्ष ने भारतीय संविधान पर सर्वाधिक प्रभाव डाला है, वह है कनाडा की संघात्मक व्यवस्था। कनाडा के आदर्श पर ही भारतीय संघ को 'यूनियन' (Union) कहा गया है और अवशिष्ट शक्तियों को राज्यों की अपेक्षा केन्द्र के हाथों में सौंपा गया है।

(5) आस्ट्रेलिया का संविधान—भारतीय संविधान ने आस्ट्रेलिया के संविधान से जिन तत्वों को ग्रहण किया है, वे हैं प्रस्तावना, समवर्ती सूची के अन्तर्गत आने वाले विषय-सम्बन्धी विवादों का समाधान।

(6) दक्षिण अफ्रीका का संविधान—दक्षिण अफ्रीका के संविधान के जिस पक्ष ने भारतीय संविधान को सर्वाधिक प्रभावित किया है, वह है संविधान की संशोधन-प्रक्रिया।

(ख) भारतीय स्रोत

विदेशी स्रोत के अतिरिक्त भारतीय संविधान भारतीय स्रोतों से भी प्रभावित हुआ है। भारत के भौगोलिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक परिवेश ने भारतीय संविधान पर अपना प्रभाव डाला था। इसी प्रकार भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के आदर्शों से भी हमारा संविधान प्रभावित हुआ था।

सन् 1935 ई० के अधिनियम का प्रभाव

इन सबके अतिरिक्त भारतीय संविधान को जिस तत्व ने सर्वाधिक प्रभावित किया था, वह था सन् 1935 ई० का भारतीय स्वाधीनता अधिनियम। यह अधिनियम ब्रिटिश संसद द्वारा बनाया गया था और स्वानीधता के पूर्व देश के अधिकांश भाग में प्रभावी था। इस अधिनियम का हमारे संविधान पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इसी प्रभाव के कारण कतिपय आलोचकों ने भारतीय संविधान को सन् '1935 ई० के अधिनियम का बृहत्तर संस्करण' (Enlarged Edition of the Act of 1935) कहा है। एक अन्य आलोचक ने इसे '1935 ई० के अधिनियम का गौरवपूर्ण संस्करण' (Glorified Edition of 1935 Act) कहा था। इसी दृष्टि से विचार करते हुए प्रो० श्रीनिवासन ने कहा था कि "भाषा तथा भाव, दोनों ही दृष्टियों से वह 1935 ई० के अधिनियम की पूर्ण अनुकृति है......" इसी प्रकार डॉ० पंजावराव देशमुख ने कहा था, "संविधान वस्तुतः भारत सरकार अधिनियम है, केवल इसमें वयस्क मताधिकार को जोड़ दिया गया है।"

उपर्युक्त विचार कहाँ तक सत्य है, यह दूसरा प्रश्न है। किन्तु, इतना निर्विवाद है कि भारतीय संविधान के अनेक पक्ष 1935 ई० के अधिनियम पर आधारित हैं। भारतीय संविधान के जिन पक्षों पर इस अधिनियम का व्यापक प्रभाव पड़ा है, वे मुख्यतया निम्नलिखित हैं—

1. संघ तथा राज्यों की शासन-व्यवस्था की संरचना;
2. संघ तथा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध;
3. संघ-सूची, राज्य-सूची तथा समवर्ती सूची विषयक प्रावधान;
4. राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियाँ।

क्या भारतीय संविधान में मौलिकता का अभाव है ?

भारतीय संविधान पर अन्य शासन-प्रणालियों के व्यापक प्रभाव के आधार पर इसकी अनेक आलोचनाएँ की गई हैं। एक आलोचक के अनुसार, "भारतीय संविधान गोंद-कैंची के सफल प्रयोग का एक प्रतिफल है।" एक अन्य आलोचक के अनुसार, "भारतीय संविधान उधार ली गई वस्तुओं का संकलन-मात्र है।" इसी प्रकार संविधान को बेमेल तत्वों का अपूर्व मिश्रण या वर्णसंकर कहा गया है। इस प्रकार कतिपय लोगों की दृष्टि में भारतीय संविधान में मौलिकता का सर्वथा अभाव रहा है। यह सत्य है कि भारतीय संविधान के निर्माण में अनेक तत्वों का प्रभाव रहा है। किन्तु यह कहना कि भारतीय संविधान 'उधार ली हुई वस्तुओं का थैला' (Bag of borrowings) है, सर्वथा अनुचित है। वस्तुतः भारतीय संविधान-निर्माताओं का लक्ष्य किसी मौलिक या अभूतपूर्व संविधान का निर्माण नहीं था। उनका उद्देश्य तो एक ऐसे संविधान का निर्माण करना था जो भारतीय परिस्थितियों, परिवेश और आवश्यकताओं के अनुरूप हो और भारत के लिए व्यावहारिक तथा उपयोगी हो। यही कारण है कि उन्होंने विश्व की जिस शासन-व्यवस्था में जो उत्कृष्ट पक्ष पाया, उसे अपना लिया। किन्तु, इस अपनाने में उन्होंने किसी संविधान का अन्धानुकरण नहीं किया। उन्होंने उसे भारतीय साँचे में ढालकर अधिक परिष्कृत, अधिक परिपूर्ण और अधिक उपयोगी बनाने का प्रयास किया। इस प्रयास में उन्होंने जिस संविधान को प्रस्तुत किया, वह एक गहन चिन्तन, सुविचारित योजना तथा प्रखर प्रतिभा का प्रतीक था, न कि किसी विदेशी व्यवस्था की अन्धानुकृति।

3

भारतीय संविधान के विकास में सहायक तत्व

संविधान एक जीवन्त उपादान होता है, फलतः युग की बदलती हुई परिस्थितियों

भारतीय संविधान के विकास में सहायक तत्व

1. संवैधानिक संशोधन
2. संसद द्वारा पारित अधिनियम
3. संवैधानिक परम्पराएँ
4. न्यायालयों के निर्णय
5. विधि के विद्वानों की रचनाएँ

और आवश्यकताओं के अनुरूप अपने विकास-पथ पर निरन्तर बढ़ता रहता है। भारतीय संविधान भी इसका अपवाद नहीं। अपने जन्म से लेकर आज तक भारतीय संविधान विकास-पथ पर बढ़ता रहा है। उसकी इस विकास-यात्रा में अनेक तत्वों का योग रहा है। संवैधानिक संशोधन, भारतीय संसद में पारित संविधियाँ, संवैधानिक परम्पराएँ, न्यायालयों के निर्णयों तथा विधि के विद्वान् व्याख्याताओं की टीकाएँ और संवैधानिक कृतियाँ ऐसे ही तत्वों में से हैं। यहाँ हम संक्षेप में भारतीय संविधान के विकास में इन्हीं तत्वों के योगदान पर प्रकाश डालेंगे।

(1) संवैधानिक संशोधन—संवैधानिक संशोधन संविधान के विकास के सबसे प्रभावशाली साधन होते हैं। भारतीय संविधान के लागू होने से लेकर अब तक 56 संशोधन हो चुके हैं। इन संशोधनों में से अधिकांश का सम्बन्ध नागरिक के मौलिक अधिकारों, राज्यों के पुनर्गठन, देश की राष्ट्रभाषा तथा अनुचित जातियों की स्थिति से रहा है। इन संवैधानिक संशोधनों ने भारतीय संविधान के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है।

(2) संसद द्वारा पारित अधिनियम—भारतीय संविधान के विकास में दूसरा महत्वपूर्ण योग भारतीय संसद द्वारा पारित अधिनियम रहे हैं। देश की संवैधानिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समय-समय पर भारतीय संसद अनेक अधिनियम पारित करती रही है। इन अधिनियमों में मुख्य निम्नलिखित हैं—

1. जन प्रतिनिधित्व कानून 1950 ई०,
2. राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन-विषयक कानून 1952 ई०,
3. भारतीय नागरिकता कानून 1955 ई०,
4. राज्य पुनर्गठन अधिनियम 1956 ई०,
5. विधान परिषद कानून 1955 ई०,
6. राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति पद की रिक्तता-विषयक अधिनियम 1969 ई०,
7. राष्ट्रपति-उपराष्ट्रपति निर्वाचन संशोधन अधिनियम 1974 ई०।

ये अधिनियम भारतीय संविधान के अभिन्न अंग बन चुके हैं।

(3) संवैधानिक परम्पराएँ या रीति-रिवाज—संवैधानिक परम्पराएँ या रीति-रिवाज संवैधानिक विकास के अन्य महत्वपूर्ण तत्व माने जाते हैं। कोई भी संविधान कितना पूर्ण क्यों न हो, कालान्तर में उसमें कतिपय ऐसे स्थल दिखाई पड़ने लगते हैं जिनके विषय में संविधान मौन रहता है। संविधान के इन मौन या रिक्त स्थानों की पूर्ति के लिए संवैधानिक परम्पराओं या रीति-रिवाजों का विकास हो जाता है। डॉ० आइवर जेनिंग्स ने रीति-रिवाजों या संवैधानिक परम्पराओं की इसी दृष्टि से व्याख्या करते हुए कहा है कि "संवैधानिक परम्पराएँ संविधान के शुष्क कंकाल (ढाँचे) को मांसल कलेवर प्रदान करती हैं।"

भारत की संवैधानिक व्यवस्था में भी अनेक परम्पराओं का विकास हुआ है। इन परम्पराओं ने भारतीय संविधान के विकास में अपना योग दिया है।

भारत की संवैधानिक व्यवस्था से सम्बन्धित कुछ परम्पराएँ इस प्रकार हैं—

1. राष्ट्रपति लोकसभा में बहुमत दल के नेता को ही प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त करेगा।

2. संविधान राष्ट्र को किसी भी मन्त्री को अपदस्थ करने का अधिकार देता है, किन्तु

यह परम्परा वन गई है कि प्रधानमन्त्री की सलाह से ही किसी मन्त्री को अपदस्थ करेगा।

3. राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की सलाह से लोकसभा को भंग करेगा।

4. संविधान में 'मंत्रिपरिषद' (कौंसिल ऑफ मिनिस्टर्स) शब्द का प्रयोग किया गया है, पर मंत्रिपरिषद के अन्तर्गत 'मंत्रिमण्डल' (कैबिनेट) का विकास परम्परा के अनुसार हो गया है।

5. राज्यपालों की नियुक्ति में राज्य के मुख्यमन्त्री की सलाह ली जाती है, यद्यपि संविधान में इस प्रकार का कोई प्रावधान नहीं है।

6. लोकसभा का अध्यक्ष चुन लिए जाने के बाद अध्यक्ष दल से अपना सम्बन्ध अलग कर लेता है और एक निर्दलीय व्यक्ति के रूप में अपने कर्तव्य का पालन करता है।

7. भारत की समस्त संसदात्मक पद्धति राजनैतिक परम्पराओं पर ही विकसित हुई है।

(4) न्यायालयों का निर्णय -- किसी देश के संवैधानिक विकास में न्यायालयों के निर्णयों का भी अपना योग रहता है। भारतीय संविधान के विकास में भी न्यायिक निर्णयों का महत्वपूर्ण योग रहा है। भारत में सर्वोच्च न्यायालय को संविधान-विषयक विवादों के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय देने तथा संविधान की व्याख्या का अधिकार प्राप्त है। इस अधिकार के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय ने समय-समय पर अनेक निर्णय दिए हैं। इन निर्णयों में व्यक्त संविधान की व्याख्या ने संविधान की विकास-यात्रा में अपना योग दिया है।

(5) विधि के विद्वानों की रचनाएँ--संविधान के विकास में विधि के विद्वानों की रचनाओं का अपना योग रहा है। ये रचनाएँ संवैधानिक विधि की प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत कर संविधान के विकास में सहायक रही हैं। विगत दशकों में भारतीय संविधान पर अनेक महत्वपूर्ण कृतियाँ आई हैं। इन कृतियों में व्यक्त व्याख्याओं ने भारतीय संविधान की व्याख्या पर उपयुक्त प्रकाश डालकर उसके विकास में स्तुत्य योग दिया है। इन कृतियों में दुर्गादास की 'कमेण्ट्री ऑन द इण्डियन कांस्टीट्यूशन', ग्रेनविल ऑस्टिन की 'द इण्डियन कांस्टीट्यूशन : कार्नर स्टोन ऑफ द नेशन', अलेक्जेण्ड्रोविच की 'कान्स्टीट्यूशनल डेवलपमेण्ट्स ऑफ इण्डिया' तथा सीरवाई की 'कांस्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया' विशेष महत्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार अपने जन्म से लेकर आज तक भारतीय संविधान ने एक महत्वपूर्ण विकास-यात्रा तय की है। इस विकास-यात्रा में अनेक तत्वों ने योग दिया है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारतीय संविधान की निर्माण-कथा पर एक निबन्ध लिखिए।

2. भारतीय संविधान की रचना में किन तत्वों का प्रमुख योग रहा है ? संक्षेप में प्रकाश डालिए।

3. क्या आप इस कथन से सहमत हैं कि भारतीय संविधान में मौलिकता का अभाव है ?

4. भारतीय संविधान के विकास में किन तत्वों का योग रहा है ?

5. 'भारतीय संविधान ली हुई वस्तुओं के संकलन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।' व्याख्या कीजिए।

"भारतीय संविधान की संशोधन-प्रक्रिया भारतीय संविधान का अत्यन्त सुविचारित पक्ष है।"

—ग्रेनविल ऑस्टिन

अध्याय 2

भारतीय संविधान की संशोधन-प्रक्रिया तथा संशोधन-अधिनियम

• भारतीय संविधान में संशोधन की तीन प्रणालियाँ • भारतीय संविधान की संशोधन-प्रक्रिया की विशेषताएँ • भारतीय संविधान के प्रमुख संशोधन।

आमुख

प्रत्येक संविधान अपने राष्ट्र की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों और आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति होता है। राष्ट्र की आवश्यकताएँ और आकांक्षाएँ युगानुसार बदलती रहती हैं। अतएव कोई भी संविधान अपरिवर्तनशील होकर अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता। राष्ट्रीय जीवन में परिवर्तन के साथ उसमें भी विकास और परिवर्तन होना आवश्यक होता है, इसलिए प्रत्येक लिखित संविधान में उस संविधान के परिवर्तन की, उसमें संविधान की निश्चित और स्पष्ट प्रक्रिया का उल्लेख रहता है। भारतीय संविधान भी इसका अपवाद नहीं है। एक लिखित संविधान होने के नाते भारतीय संविधान में भी संशोधन की स्पष्ट प्रक्रिया का उल्लेख है। इस अध्याय में हम भारतीय संविधान के संशोधन की इसी प्रक्रिया पर प्रकाश डालेंगे।

1

भारतीय संविधान में संशोधन की तीन प्रणालियाँ

भारतीय संविधान में संशोधन की प्रक्रिया का उल्लेख संविधान के बीसवें खण्ड में अनुच्छेद 368 के अन्तर्गत किया गया है।

इसके अनुसार यदि हम संविधान की संशोधन-प्रक्रिया का विवेचन करें तो देखेंगे कि भारतीय संविधान में संशोधन-प्रक्रिया के तीन रूप हैं—

1. संसद के साधारण बहुमत से संविधान में संशोधन।
2. संसद के विशिष्ट बहुमत से संविधान में संशोधन।
3. संसद के विशिष्ट बहुमत तथा राज्यों की व्यवस्थापिकाओं की स्वीकृति से संविधान में संशोधन।

भारतीय संविधान में संशोधन-प्रक्रिया के तीन रूप

संसद के साधारण बहुमत द्वारा संशोधन	संसद के विशिष्ट बहुमत द्वारा संशोधन	संसद के विशिष्ट बहुमत तथा राज्यों की व्यवस्थापिकाओं की स्वीकृति द्वारा संशोधन

1. संसद के साधारण बहुमत द्वारा संशोधन—संविधान-संशोधन की पहली प्रक्रिया के

अनुसार यदि संसद के दोनों सदन अपने-अपने सदन के साधारण बहुमत से संविधान में संशोधन का प्रस्ताव पास कर देते हैं और इस प्रकार पास किए हुए प्रस्ताव पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर हो जाते हैं तो संविधान में संशोधन हो जाता है।

संविधान में अनेक विषय ऐसे है जिनमें इस प्रक्रिया के अनुसार संशोधन किया जा सकता है। राज्यों की सीमा, क्षेत्र और नामों में परिवर्तन, राज्य की व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन का निर्माण और समाप्ति, नागरिकता, अनुसूचित जातियों और क्षेत्रों से सम्बन्धित विषय आदि इस प्रक्रिया के अन्तर्गत आते हैं।

संविधान में वर्णित संशोधन की पहली प्रक्रिया अत्यन्त सरल प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया भारतीय संविधान की नमनशीलता की द्योतक हैं। इस प्रक्रिया में संवैधानिक विधि (कांस्टीट्यूशनल लॉ) और साधारण विधि में कोई अन्तर नहीं रखा गया है, इसीलिए इस प्रक्रिया द्वारा संशोधित विषयों को पूर्ण अर्थों में संवैधानिक संशोधन की संज्ञा दी गई है। किन्तु, व्यावहारिक दृष्टि से इस प्रक्रिया का संशोधन एक प्रकार का संवैधानिक संशोधन ही है।

2. संसद के विशिष्ट बहुमत द्वारा संशोधन—संविधान में संशोधन की दूसरी महत्वपूर्ण प्रक्रिया संसद के विशिष्ट बहुमत द्वारा संशोधन है। इस कोटि के अन्तर्गत आने वाले संशोधन-विधेयक संसद के दोनों सदनों में से किसी में भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इस प्रकार, संशोधन की इस प्रक्रिया के अनुसार पहले संविधान-संशोधन विधेयक किसी एक सदन में प्रस्तावित किया जाता है। यदि संसद का वह सदन कुल सदस्य-संख्या के बहुमत तथा उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से उस विधेयक को पारित कर देता है तो उसे दूसरे सदन में भेज दिया जाता है। जब उस सदन में भी वह इसी प्रकार कुल सदस्य-संख्या के बहुमत तथा मतदान में भाग लेने वाले एवं उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पास हो जाता है तो वह विधेयक संसद द्वारा पास माना जाता है। इसके बाद उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। राष्ट्रपति के हस्ताक्षर हो जाने पर वह संशोधन अधिनियम के रूप में लागू हो जाता है। इस प्रकार संशोधन की दूसरी प्रक्रिया में संसद के दोनों सदनों का विशिष्ट बहुमत आवश्यक है। इस बहुमन के न होने पर विधेयक पास नहीं हो सकता।

नागरिकों के मौलिक अधिकार तथा राज्य के नीति-निर्देशक तत्व जैसे उपबन्ध इस कोटि के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार संविधान के इन उपबन्धों के संशोधन के लिए संसद के विशिष्ट बहुमत का समर्थन आवश्यक है।

संविधान के संशोधन की यह प्रक्रिया पहली प्रक्रिया से भिन्न है।

3. संसद के विशिष्ट बहुमत तथा राज्यों की व्यवस्थापिकाओं की स्वीकृति द्वारा सशोधन—संशोधन की तीसरी प्रक्रिया में संसद के विशिष्ट बहुमत के साथ ही राज्यों की आधी से अधिक व्यवस्थापिकाओं का अनुसमर्थन आवश्यक है। इस प्रकार इस कोटि में आने वाले विषयों से सम्बन्धित विधेयक पहले संसद के दोनों पृथक्-पृथक् अपने कुल बहुमत तथा उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पास होता है। फिर इसे राज्यों के विधान-मण्डलों की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। जब उसे राज्यों के कुल विधान-मण्डलों में से कम-से-कम आधे द्वारा स्वीकृति मिल जाती है तो उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है।

इस प्रकार संविधान-संशोधन की तीसरी प्रक्रिया के तीन चरण हैं—

प्रथमत: संशोधन-विधेयक को संसद के दोनों सदनों का स्पष्ट बहुमत तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई का समर्थन प्राप्त होना चाहिए। दूसरे, संसद द्वारा इस प्रकार पास हो जाने के उपरान्त उस विधेयक को राज्य के कुल विधान-मण्डलों में से कम-से-कम आधे विधान-मंडलों का अनुसमर्थन मिलना चाहिए। तीसरे, इन प्रक्रियाओं के उपरान्त उस पर

राष्ट्रपति के हस्ताक्षर होने चाहिए।

संविधान-संशोधन की तीसरी प्रक्रिया के अन्तर्गत आने वाले विषयों में मुख्यतया निम्न-लिखित हैं—

(1) राष्ट्रपति का निर्वाचन, (2) संघ की कार्यपालिका-शक्ति, (3) राज्यों की कार्य-पालिका-शक्ति में विस्तार, (4) संघीय न्यायपालिका, (5) राज्यों के उच्च न्यायालय, (6) केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्र के लिए उच्च न्यायालय, (7) संघ तथा राज्यों के विधायी सम्बन्ध, (8) संसद में राज्यों का प्रतिनिधित्व, (9) सातवीं अनुसूची, (10) संविधान-संशोधन की प्रक्रिया।

संविधान-संशोधन की यह तीसरी प्रक्रिया संशोधन की अन्य विधियों की अपेक्षा अधिक जटिल है। यह जटिलता प्रधानतया इस दृष्टि से की गई है कि भारतीय संविधान की संघात्मक व्यवस्था तथा उसके आधारभूत संस्थान सुरक्षित रहें। संशोधन की यह प्रक्रिया कतिपय अन्य संघात्मक देशों तथा संयुक्त राज्य अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया में प्रचलित संशोधन-प्रक्रिया के अनुरूप है।

भारतीय संविधान की संशोधन-प्रक्रिया की विशेषताएँ

भारतीय संविधान के संशोधन की प्रक्रिया के विवेचन से हमें उसकी कतिपय विशेष-ताओं का बोध होता है। इन विशेषताओं को हम संक्षेप में अग्रलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. संविधान के संशोधन के लिए किसी पृथक् संस्था, यथा संविधान सभा या संविधान समिति का प्रावधान नहीं है।
2. संशोधन का प्रस्ताव केवल संसद में ही प्रस्तुत किया जा सकता है।
3. संशोधन-प्रस्ताव-सम्बन्धी विधेयक संसद के किसी भी सदन में पेश किया जा सकता है।
4. संविधान में संशोधन के सम्बन्ध में संसद के दोनों सदनों को समान अधिकार प्राप्त हैं।
5. संशोधन की तीसरी प्रक्रिया के अन्तर्गत आने वाले विषयों में ही राज्यों के विधान-मंडलों के अनुसमर्थन का अधिकार है।
6. संविधान के समस्त उपबन्धों का संशोधन हो सकता है। संविधान का कोई भाग ऐसा नहीं है जो संशोधित न किया जा सके।
7. संविधान के संशोधन के लिए जनता का अनुमोदन प्राप्त करने का प्रावधान नहीं है।[1]

संशोधन-प्रक्रिया : कठोर एवं नमनशील तत्वों का संगम

भारतीय संविधान की संशोधन-प्रक्रिया का उपर्युक्त विवेचन यह स्पष्ट कर देता है कि संशोधन-प्रक्रिया में कठोर एवं नमनशील दोनों तत्वों का संगम और समन्वय है। यह समन्वय जहाँ भारतीय संविधान के अनेक पक्षों को नमनशील बनाता है, वहाँ दूसरी ओर अनेक पक्षों को अनमनीय या कठोर बनाता है। इन्हीं तत्वों के समन्वय के कारण भारतीय संविधान कठोर और नमनशील तत्वों का समन्वित रूप कहलाता है। इस प्रकार भारतीय संविधान न तो इतना नमनशील है कि उसमें आए दिन परिवर्तन किए जा सकें और न ही इतना कठोर है कि उसमें

1. जनता पार्टी की सरकार ने संविधान के 44 वें संशोधन विधेयक द्वारा यह प्रयास किया था कि संवैधानिक संशोधनों में जनमत-संग्रह का प्रावधान हो। किन्तु, इस संशोधन विधे-यक का यह पक्ष संसद द्वारा नहीं पारित किया जा सका।

परिवर्तन करना असम्भव हो। संविधान में संशोधन की इस प्रक्रिया का समर्थन करते हुए पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था, "यद्यपि जहाँ तक सम्भव है, हम इस संविधान को एक ठोस और स्थायी संविधान का रूप देना चाहते हैं, परन्तु संविधान में कोई स्थायित्व नहीं होता। इसमें कुछ लचीलापन भी होना चाहिए। यदि आप इसे कठोर और स्थायी बनाते हैं तो आप एक राष्ट्र की प्रगति पर, जीवन्त एवम् प्राणवान व्यक्तियों की प्रगति पर रोक लगाते हैं।"

भारतीय संविधान की संशोधन-प्रक्रिया : एक मूल्यांकन

भारतीय संविधान की संशोधन-प्रक्रिया की कुछ आलोचकों ने कटु आलोचना की है। उनकी आलोचना के मुख्य पक्ष अग्रलिखित हैं--

1. संशोधन-प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है, इतनी जटिल कि भारतीय संविधान 'वकीलों का स्वर्ग' (Lawyer's Paradise) बन गया है।
2. संशोधन-प्रक्रिया में राज्यों का योगदान अत्यन्त सीमित है। संशोधन-प्रक्रिया में उन्हें केन्द्र के समान भागीदार नहीं बनाया गया है।
3. संशोधन-प्रक्रिया में जनमत-संग्रह का प्रावधान नहीं है।

आलोचना के इन तर्कों में कुछ तथ्य अवश्य है, किन्तु भारतीय इतिहास, भारत की राजनैतिक व्यवस्था तथा भारतीय परिस्थितियों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि हमारे संविधान-निर्माताओं ने संशोधन-प्रक्रिया बहुत सोच-समझकर निर्धारित की थी। उन्होंने संसद को संशोधन की व्यापक शक्ति देकर संवैधानिक व्यवस्था के विकास का समुचित अवसर प्रदान किया था। संशोधन-प्रक्रिया में राज्यों को सीमित अधिकार देकर या जनमत-संग्रह का प्रावधान न कर उन्होंने देश की संवैधानिक व्यवस्था को स्थायी आधार देने का प्रयास किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारतीय संविधान की संशोधन-प्रक्रिया की अपनी विशेषता है, अपना महत्व है। अन्त में हम ग्रेनविल ऑस्टिन के शब्दों में कह सकते हैं कि "संविधान की संशोधन-प्रक्रिया वस्तुतः संविधान के उन पक्षों में से है जिसे अत्यन्त योग्यता के साथ निर्धारित किया गया हैं।"

महत्वपूर्ण प्रश्न

अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—भारतीय संविधान की संशोधन-प्रक्रिया का उल्लेख संविधान के किस खण्ड और किस अनुच्छेद में किया गया है?

उत्तर—बीसवाँ खण्ड और 368वाँ अनुच्छेद।

प्रश्न 2—भारतीय संविधान में संशोधन का प्रस्ताव संसद के किस सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है? **(उ० प्र० 1984)**

उत्तर—संसद के किसी सदन में।

प्रश्न 3—दो उन विषयों का नाम बताइए जिनके संशोधन के लिए संसद के विशिष्ट बहुमत तथा राज्यों की विधानसभाओं की स्वीकृति आवश्यक होती है।

उत्तर—(1) राष्ट्रपति का निर्वाचन (2) संघ की कार्यपालिका शक्ति।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारतीय संविधान की संशोधन-प्रक्रिया पर प्रकाश डालिए।

2. 'भारतीय संविधान की संशोधन-प्रक्रिया संविधान को कठोर और नमनशील तत्वों का अनुपम मिश्रण बनाती है'—व्याख्या कीजिए।

3. 'भारतीय संविधान की संशोधन-प्रक्रिया ने संविधान को वकीलों का स्वर्ग बना दिया है।' क्या आप इस कथन से सहमत हैं ?

4. भारतीय संविधान की संशोधन-प्रक्रिया की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

5. भारतीय संविधान की संशोधन-प्रक्रिया के प्रमुख पक्षों पर प्रकाश डालिए और बतलाइए कि इस प्रक्रिया की आलोचना में कौन-से मुख्य तर्क दिए जाते हैं।

"संविधान की प्रस्तावना संविधान के आदर्शों का ज्ञानकोष है।"

—पी० बी० गजेन्द्र गडकर

अध्याय 1 भूमिका

भारतीय संविधान की प्रस्तावना : संविधान का मंगलाचरण

● भारतीय संविधान की प्रस्तावना ● प्रस्तावना की व्याख्या ● प्रस्तावना में घोषित सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने के लिए संविधान में प्रावधान ● प्रस्तावना की वैधानिक स्थिति ● प्रस्तावना की उपयोगिता : महत्व।

आमुख

प्रस्तावना का शाब्दिक अर्थ होता है—परिचय, भूमिका या आमुख; किन्तु वैधानिक या राजनीतिक शब्दावली में उसका विशिष्ट अर्थ होता है। वैधिक या राजनीतिक शब्दावली में प्रस्तावना से आशय किसी विधि या वैधिक अभिलेख के प्रारम्भ होने के पूर्व दिए गए उन वाक्यों या वाक्य-खण्डों से होता है जो उस विधि या वैधिक अभिलेख के उद्देश्य या प्रयोजन पर प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार प्रस्तावना का उद्देश्य वैधिक अभिलेख के मूल मन्तव्यों, आदर्शों या उसमें निहित सिद्धान्तों पर प्रकाश डालना होता है।

कतिपय अन्य देशों के संविधानों की भाँति भारतीय संविधान के प्रारम्भ में भी एक प्रस्तावना का उल्लेख है। यह प्रस्तावना संविधान का वैधिक अंग नहीं है। किन्तु संविधान के निहित आदर्शों, उसके सिद्धान्तों के परिचय के लिए संविधान की प्रस्तावना का अपना महत्व है। वस्तुतः संविधान की प्रस्तावना संविधान की आत्मा है, उसका प्राण है, उसका अन्तःकरण है। हमारे संविधान की प्रस्तावना हमारे संवैधानिक आदर्शों का ज्ञानकोष है, उसके निहित सिद्धान्तों की मंजूषा है, उसके पावन प्रयोजन का प्रकाश-स्तम्भ है।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना

हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतंत्रात्मक **धर्म निरपेक्ष समाजवादी** गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार-अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए, उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई० को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।

प्रस्तावना की व्याख्या : प्रस्तावना में निहित संविधान के मौलिक सिद्धान्त

भारतीय संविधान की प्रस्तावना को संविधान का मंगलाचरण तथा उसके मौलिक सिद्धान्तों की मंजूषा कहा जा सकता है। प्रस्तावना की प्रत्येक पंक्ति, उसका प्रत्येक शब्द संविधान में निहित सिद्धान्तों और इच्छित आदर्शों का संकेत देता है। अतएव संविधान के

मौलिक सिद्धान्तों तथा उसके आदर्शों के परिचय के लिए प्रस्तावना की व्याख्या करना आवश्यक है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित रूप में प्रस्तावना की व्याख्या कर सकते हैं—

सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य—प्रस्तावना की प्रथम पंक्ति में ही 'हम भारत के लोग,' 'सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक' जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है।

प्रस्तावना की व्याख्या

1. सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य
2. धर्म-निरपेक्षता
3. समाजवाद
4. न्याय
5. स्वतन्त्रता
6. समानता
7. व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता तथा अखंडता
8. बन्धुत्व

'हम भारत के लोग' शब्द-पदों का प्रयोग कर संविधान-निर्माताओं ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया था कि जनता की इच्छा से संविधान की उत्पत्ति हुई है।

संविधान लोकमत की प्रभुसत्ता के सिद्धान्त पर आधारित है और फलतः अन्तिम सत्ता जनता में ही निहित है। यह जनता भारत के किसी एक भाग की नहीं, प्रत्युत सारे भारत की है। इस प्रकार जाति, धर्म, भाषा, प्रदेश, क्षेत्र इत्यादि की संकुचित सीमाओं से ऊपर उठकर समस्त भारतीय जनता को संविधान का स्रोत और आधार बनाया गया है।

'हम भारत के लोग' शब्द का एक अन्तर्निहित अभिप्राय यह भी है कि क्योंकि भारतीय जनता ने संविधान को निर्मित तथा स्वीकृत किया है, इसीलिए भारत संघ का कोई एक राज्य अथवा भारतीय संघ की इकाइयों का कोई समूह न तो संविधान को समाप्त कर सकता है और न संविधान द्वारा निर्मित संघ से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है।

---

1. ऊपर दी गई यह प्रस्तावना मूल प्रस्तावना का संशोधित रूप है। यह संशोधन संविधान के 42वें संशोधन-अधिनियम द्वारा किया गया था। इस संशोधन द्वारा रेखांकित शब्द, यथा 'धर्म-निरपेक्ष' और 'समाजवादी' तथा 'अखंडता' जोड़े गए हैं। मूल प्रस्तावना में ये शब्द नहीं थे।

इसी प्रकार संविधान की प्रस्तावना में 'एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न' शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये शब्द-पद इस बात के सूचक हैं कि भारत एक स्वतन्त्र राजनीतिक शक्ति है। भारत एक ऐसी राजनीतिक सत्ता है जिसके ऊपर भारत के सीमान्तर्गत कोई दूसरी सत्ता नहीं है। फलतः भारत की सीमा के अन्तर्गत रहने वाले किसी भी मनुष्य, मानव-समुदाय या संगठन को यह कहने का अधिकार नहीं है कि वह राज्य के आज्ञापालन के लिए बाध्य नहीं है। एक सम्प्रभु राज्य आन्तरिक क्षेत्र में ही नहीं, प्रत्युत बाह्य क्षेत्रों में भी स्वतन्त्र तथा सार्वभौम होता है। अतएव भारत केवल आन्तरिक क्षेत्र में ही नहीं, प्रत्युत बाह्य क्षेत्रों में भी पूर्णतः स्वतन्त्र तथा सार्वभौम सत्ता है। इस दृष्टि से वह किसी भी अन्य देश या सत्ता के कानून-नियन्त्रण से पूर्णतः मुक्त है। इसकी सीमा के बाहर कोई भी ऐसी सत्ता या शक्ति नहीं है जिसकी आज्ञा का पालन इसके लिए अनिवार्य हो। इस प्रकार भारत आन्तरिक तथा बाह्य, दोनों क्षेत्रों में पूर्णतया स्वतन्त्र है।

प्रस्तावना में भारत को 'लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' कहा गया है। ये दोनों शब्द दो राजनैतिक आदर्शों तथा राजनैतिक व्यवस्थाओं के सूचक हैं। जहाँ तक 'लोकतन्त्रात्मक' शब्द का प्रश्न है, सामान्य अर्थों में 'लोकतन्त्रात्मक' से आशय शासन की प्रतिनिधिमूलक या उत्तरदायी व्यवस्था से है, एक ऐसी व्यवस्था जिसमें कि शासन जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के

हाथों संचालित होता है। इसके अतिरिक्त लोकतन्त्र का एक व्यापक अर्थ भी है। वह यह कि लोकतन्त्र एक राजनैतिक व्यवस्था के अतिरिक्त एक आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का भी द्योतक होता है। हमारे संविधान की प्रस्तावना में 'लोकतन्त्र' शब्द का प्रयोग इन्हीं दोनों अर्थों में किया गया है।

लोकतन्त्र के साथ ही 'गणराज्य' शब्द का भी प्रयोग किया गया है। गणराज्य लोकतन्त्र का ही एक रूप है। गणराज्य की प्रमुख विशेषता यह होती है कि गणराज्य का प्रधान निर्वाचित होता है, इसमें सार्वजनिक पद या सार्वजनिक शक्ति पर किसी व्यक्ति का वंशानुगत अधिकार नहीं होता, प्रस्तावना के प्रकाश में भारतीय संविधान की अन्य धाराओं में देश में गणतन्त्रात्मक व्यवस्था की स्थापना का प्रावधान किया गया है। फलत: भारत का प्रधान राष्ट्रपति होता है जो जनता द्वारा परोक्ष रूप से निर्वाचित किया जाता है। इस प्रकार भारत एक लोकतन्त्रात्मक गणराज्य है। इंग्लैंड की शासन-व्यवस्था भी लोकतन्त्रात्मक है, लेकिन वहाँ गणतन्त्र नहीं, प्रत्युत राजतन्त्र है, क्योंकि वहाँ राज्य का प्रधान राजा होता है और उस पद पर उसका अधिकार वंशानुगत होता है।

2. धर्म-निरपेक्षता—धर्म-निरपेक्षता भारतीय संविधान का अन्य मौलिक सिद्धान्त है। संविधान के 42वें संशोधन द्वारा प्रस्तावना में 'धर्म-निरपेक्ष' (सेक्युलर) शब्द का समावेश कर भारतीय संविधान के इस मौलिक आधार पर प्रकाश डाला गया है। एक धर्म-निरपेक्ष राज्य धार्मिक मामलों में पूर्णत: तटस्थ होता है। वह धर्म या सम्प्रदाय आदि के आधार पर व्यक्तियों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करता। प्रस्तावना तथा संविधान की अन्य धाराओं में धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त को अपना कर भारत की संवैधानिक व्यवस्था को धर्म-निरपेक्ष राज्य के आदर्श को प्राप्त करने का प्रयास किया गया है। भारत जैसे देश में जहाँ अनेक धर्मों पर और सम्प्रदायों के लोग रहते हैं, धर्म-निरपेक्षता का प्रावधान विशेष महत्व रखता है।

3. समाजवाद—42वें संशोधन अधिनियम (1976 ई०) के अनुसार धर्म-निरपेक्ष के साथ ही प्रस्तावना में 'समाजवाद' शब्द का भी समावेश किया गया है। समाजवाद क्या है, यह कहना कठिन है। समाजवाद के विविध रूप हैं, विविध व्याख्याएँ हैं, विविध विचारकों और जननायकों ने समाजवाद की विविध धारणाएँ प्रस्तुत की हैं। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में समाजवाद की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि "समाजवाद वह नीति या सिद्धान्त है जिसका उद्देश्य जनतांत्रिक केन्द्रीय सत्ता के कार्यों द्वारा विद्यमान स्थिति से श्रेष्ठतर वितरण तथा उसके अनुरूप उत्पादन की प्राप्ति है।" प्रो० हर्नशा के अनुसार समाजवाद के छह तत्व हैं—(1) व्यक्ति की तुलना में समाज की महत्ता की स्थापना; (2) मानवीय परिस्थितियों की समानता की स्थापना; (3) पूंजीवाद का उन्मूलन; (4) भूपतियों का अन्त; (5) निजी उद्योगों का अन्त तथा (6) प्रतियोगिता का अन्त।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में समाजवाद का उल्लेख कर भारतीय लोकतन्त्र को निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ने का संकेत दिया गया है। इस प्रकार प्रस्तावना में 'समाजवाद' शब्द का प्रवेश कर राजनीतिक लोकतन्त्र के साथ ही आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना का लक्ष्य प्रस्तुत किया है। आर्थिक लोकतंत्र के बिना राजनीतिक लोकतन्त्र अधूरा होता है। समाजवाद को आदर्श और आधार मानकर देश राजनीतिक लोकतन्त्र के साथ आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना में सफल हो सकता है।[1]

---

1. इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि संविधान-सभा के कुछ सदस्यों, यथा श्री दामोदरस्वरूप सेठ, मौलाना हसरत मोहानी आदि ने भारत को समाजवादी गणराज्य घोषित किये जाने का प्रस्ताव रखा था, किन्तु उस समय यह प्रस्ताव पास नहीं हो सका था। 1976 ई० के 42वें संशोधन-अधिनियम द्वारा ही वह पास हो सका।

4. न्याय : सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक—प्रस्तावना में न्याय के तीन रूपों पर जोर दिया गया है—सामाजिक न्याय, आर्थिक न्याय तथा राजनीतिक न्याय। सामाजिक न्याय सामाजिक समता के आदर्श को लेकर चलता है। फलतः सामाजिक न्याय कृत्रिम सामाजिक दीवारों को हटाकर सामाजिक समता पर आधारित समाज की स्थापना करने में विश्वास करता है।

आर्थिक न्याय सामाजिक न्याय का ही परिपूरक है। आर्थिक न्याय इस मान्यता पर आधारित होता है कि आर्थिक मूल्यों के आधार पर व्यक्तियों में कोई भेद न किया जाय, सम्पत्ति का सम्बन्ध सीधे श्रम और कर्तव्य-पालन से होना चाहिए, विशेषाधिकार, परम्परा या उत्तराधिकार पर नहीं। सामाजिक सम्पत्ति का न्यायोचित वितरण हो, शोषण और अन्याय को उसमें कोई स्थान न मिले। समाज के आर्थिक साधनों पर किसी एक वर्ग या कुछ व्यक्तियों का ही अधिकार न होकर समस्त समाज का आधिपत्य हो। इस प्रकार सामाजिक-आर्थिक न्याय ऐसे समाज में विश्वास करता है जिसमें तीव्र सामाजिक विषमताओं तथा आर्थिक शोषण के लिए कोई स्थान नहीं रहता। राजनीतिक न्याय राजनीतिक स्वतन्त्रता के आदर्श को लेकर चलता है। फलतः वह राजनीतिक जीवन में लोगों की मुक्त और स्वच्छ भागीदारी पर आधारित होता है। इस रूप में वह धर्म, जाति, वंश, लिंग, वर्ण आदि का भेदभाव किए बिना सरकारी या राजनैतिक पदों के द्वार समस्त नागरिकों के लिए खोल देता है। राजनीतिक न्याय पर आधारित व्यवस्था में समस्त वयस्क नागरिकों को मतदान का अधिकार प्राप्त होता है तथा निश्चित योग्यता रखने वाला कोई भी व्यक्ति ऊँचे-से-ऊँचे राजनीतिक पदों पर पहुँचने का अधिकारी होता है। इस प्रकार प्रस्तावना में सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक न्याय के आदर्श को अपना कर स्वस्थ और प्रगतिशील समाज की स्थापना की संकल्पना की गई है। इस प्रसंग में अपने विचार व्यक्त करते हुए पं० नेहरू ने संविधान सभा में कहा था कि, "मुझे विश्वास है कि संविधान स्वतः हमें सच्ची स्वतन्त्रता की ओर ले जायगा, वह स्वतन्त्रता जिसकी हम बहुत दिनों से कामना करते रहे हैं। इस वास्तविक स्वतन्त्रता के आने पर हमारे भूखे लोगों को भोजन मिलेगा, उन्हें वस्त्र मिलेंगे, उन्हें निवास की सुविधाएँ मिलेंगी तथा वे समस्त अवसर सुलभ होंगे जो उनकी प्रगति के लिए आवश्यक हैं।"

5. स्वतन्त्रता : विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की—भारतीय संविधान की प्रस्तावना में इंगित दूसरा महत्वपूर्ण आदर्श स्वतन्त्रता का है। कोलम्बिया इन्साइक्लोपीडिया के अनुसार, "स्वतन्त्रता व्यक्ति की स्वाधीनता तथा धार्मिक स्वतन्त्रता, राजनीतिक स्वतन्त्रता, भाषण की स्वतन्त्रता तथा आत्मरक्षा जैसे अधिकारों का सामूहिक नाम है।" भारतीय संविधान की प्रस्तावना इसी व्यापक अर्थ में भारत के नागरिकों को विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता देने का आदर्श प्रस्तुत करती है। इस प्रकार भारतीय संविधान स्वतन्त्रता के निषेधात्मक एवं सकारात्मक दोनों सिद्धान्तों को अपना आदर्श मानकर चलता है। इस आदर्श को व्यवहार में परिणत करने के लिए संविधान में मौलिक अधिकारों का प्रावधान किया गया है।

6. समानता—समानता भारतीय संविधान का अन्य मौलिक सिद्धान्त है। समानता स्वतन्त्रता की सहचरी होती है। समता के बिना स्वतन्त्रता का कोई महत्व नहीं होता। समता के इसी महत्व को दृष्टि-पथ में रखते हुए भारतीय संविधान की प्रस्तावना तथा कतिपय अन्य उपबन्धों में समता के आदर्श को स्वीकार किया गया है। इस आदर्श के अनुसार भारतीय संविधान में नागरिकों के लिए समता का प्रावधान किया गया है। फलतः भारतीय नागरिकों को कानून की दृष्टि में समानता, अवसर की समता तथा सामाजिक समता सुलभ है। समता के आदर्श को अपना कर भारतीय संविधान ने लोकतन्त्र की प्रमुख आधार-शिला को सुदृढ़ करने का प्रयास किया है।

7. व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता तथा अखण्डता—प्रस्तावना में भारतीय समाज में रहने वाले व्यक्ति की गरिमा तथा राष्ट्र की एकता और अखण्डता बनाने का भी उद्देश्य प्रस्तुत किया गया है। जहाँ तक कि व्यक्ति की गरिमा का प्रश्न है, प्रस्तावना इस सिद्धान्त को इंगित करती है कि भारत की संवैधानिक व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्ति होने के नाते अपना महत्व है। व्यक्ति के व्यक्तित्व की अपनी महत्ता है, उसकी अपनी पवित्रता है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के सम्यक् विकास के लिए पूर्ण अवसर मिलना चाहिए।

इसी प्रकार व्यक्ति की गरिमा के साथ राष्ट्र की एकता तथा राष्ट्रीय एकीकरण की बात कही गई है। इस आदर्श के द्वारा संविधान के माध्यम से व्यक्ति और राष्ट्र के मध्य एक तादात्म्य और सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही भारत की 'विविधताओं के मध्य एकता' (Unity in Diversity) के तथ्य को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय एकता के आधारों को मजबूत बनाने का संकल्प प्रस्तुत किया गया है। दूसरे शब्दों में इसके द्वारा यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र आदि की विभिन्नताओं के बावजूद भारत एक राष्ट्र है। भारत के समस्त नागरिक उस राष्ट्र के अभिन्न अंग हैं, अतएव हम सभी को उस राष्ट्र की एकता बढ़ाने और राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया को विकसित करने के लिए प्रयास करना चाहिए। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े हमारे संविधान-निर्माता राष्ट्रीय एकता के महत्व को कितना समझते थे, इसका संकेत हमें प्रस्तावना की इसी शब्दावली से मिलता है।

8. बन्धुत्व—व्यक्ति की गरिमा तथा राष्ट्र की एकता के लिए बन्धुत्व की भावना नितान्त आवश्यक होती है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में इसी दृष्टि से बन्धुत्व के आदर्श को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। बन्धुत्व के आदर्श का सर्वप्रथम उल्लेख फ्रांसीसी क्रान्ति (1789 ई०) से सम्बन्धित फ्रांसीसी अधिकारों की घोषणा में मिलता है। इसके बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ की घोषणा में भी यह कहा गया है कि 'मनुष्यों को एक-दूसरे के साथ भ्रातृभाव से व्यवहार करना चाहिए।' जैसा कि डॉ० एम० वी० पायली ने लिखा है कि "भारत जैसे देश में, जहाँ जाति व सम्प्रदाय, वर्गभेद, स्थानीय एवं क्षेत्रीय संकीर्णता, भाषा एवं संस्कृति की परस्पर विभिन्नताओं जैसी समाज को खण्ड-खण्ड कर देने वाली शक्तियाँ विद्यमान हैं, देश की एकता बनाये रखने के लिए इस देश के नागरिकों में भ्रातृत्व-भावना होनी आवश्यक है। न्याय, स्वतंत्रता एवं बन्धुत्व के आधार पर निर्मित इस नवीन राष्ट्र के समस्त नागरिक यह अनुभव करें कि वे एक ही धरती के शिशु हैं, उनकी एक ही मातृभूमि है और उनका एक ही भ्रातृत्व है।'

प्रस्तावना में घोषित सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने के लिए संविधान में प्रावधान

संविधान की प्रस्तावना में जिन सिद्धान्तों और आदर्शों की घोषणा की गई है, उनको व्यवहार में परिणत करने के लिए या क्रियान्वित करने के लिए भी संविधान में प्रावधान है। उदाहरण के लिए 'हम प्रस्तावना के प्रथम आदर्श को ले सकते हैं। प्रस्तावना का यह आदर्श 'हम भारत के लोग...'शब्द-पदों से प्रारम्भ होता है। यह आदर्श लोकगत सम्प्रभुता के सिद्धान्त का संकेत देता है। इस सिद्धान्त को व्यवहार में परिणत करने के लिए संविधान में वयस्क मताधिकार (Adult Suffrage) का प्रावधान किया गया है। उदाहरण के लिए, संविधान के 326वें अनुच्छेद में कहा गया है कि लोकसभा तथा प्रत्येक राज्य की विधान-सभा के निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर सम्पन्न होंगे। इस प्रकार भारत में प्रत्येक वयस्क नागरिक को मताधिकार प्राप्त है। फलतः केन्द्र और राज्य की सरकारों की शक्ति का स्रोत जनता है जो समय-समय पर अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है। इसके साथ ही कार्यपालिका के लोगों

को व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी बनाकर भी लोकगत प्रभुसत्ता के सिद्धांत को कार्यरूप में परिणत करने का प्रयास किया गया है।

इसी प्रकार धर्म-निरपेक्षता, स्वतंत्रता, समता, न्याय जैसे सिद्धांतों को भी व्यवहार में परिणत करने के लिए संविधान में अनेक प्रावधान हैं। मौलिक अधिकारों सम्बन्धी संविधान का तृतीय अध्याय तथा राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों सम्बंधी चौथा अध्याय प्रस्तावना में वर्णित विविध सिद्धांतों को मूर्त रूप देने की दिशा में किये गये सक्रिय प्रयास हैं। जैसा कि "श्री जे० एम० शेलेट ने कहा है कि "प्रस्तावना में वर्णित न्याय, स्वतंत्रता, समता, भ्रातृत्व, मानवीय प्रतिष्ठा तथा राष्ट्रीय एकता के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संविधान के तृतीय तथा चतुर्थ भाग में दिये गये मौलिक अधिकार एवं नीति-निर्देशक तत्व सबसे बड़े साधन हैं।"

प्रस्तावना की वैधानिक स्थिति

भारतीय संविधान की प्रस्तावना, भूमिका के रूप में, संविधान की वैधिक धाराओं के प्रारम्भ होने के पूर्व दी गई है। अतएव वैधिक दृष्टि से प्रस्तावना का वह महत्व नहीं जो संविधान की अन्य धाराओं या विभिन्न अनुच्छेदों का है। फलतः प्रस्तावना के उपबंधों की उपेक्षा के लिए न्यायालय में किसी को दोषी ठहराना कठिन है। दूसरे शब्दों में जैसा कि भूतपूर्व प्रधान न्यायमूर्ति पी० बी० गजेन्द्र गडकर ने कहा था कि "प्रस्तावना न तो किन्हीं शक्तियों का स्रोत कही जा सकती है और न शक्तियों से वंचित करने का आधार।" किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि संविधान की प्रस्तावना का कोई महत्व नहीं है। वस्तुतः प्रस्तावना संविधान के निहित आदर्शों और सिद्धांतों की संकेत-सूची है। अतएव इस दृष्टि से उसकी अपनी उपयोगिता है। हमारे न्यायविदों ने समय-समय पर प्रस्तावना की इस उपयोगिता को स्वीकार किया है और प्रस्तावना के प्रकाश में अपने निर्णयों को प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए, न्यायमूर्ति महाजन ने गोपालन बनाम मद्रास राज्य' विषयक विवाद में निर्णय देते हुए कहा था कि "धारा 22 (5) की जो व्याख्या मैंने की है, उसका समर्थन संविधान की प्रस्तावना में व्यक्त शब्दों से होता है।" इसी प्रकार के विचार समय-समय पर अन्य न्यायविदों ने भी प्रस्तुत किये हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संविधान का वैधिक महत्व भले ही सीमित हो, किन्तु नैतिक दृष्टि से उसका अपना महत्व है। इस दृष्टि से प्रस्तावना न्यायविदों, व्यवस्थापकों तथा विधि-निर्माताओं के लिए प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करती है।

प्रस्तावना की उपयोगिता : महत्व

भारतीय संविधान की प्रस्तावना का वैधिक दृष्टि से भले ही सीमित महत्व हो, किन्तु उसकी संवैधानिक उपयोगिता के विषय में दो मत नहीं हो सकते। संक्षेप में हम प्रस्तावना की उपयोगिता को निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. प्रस्तावना भारतीय संविधान के निर्माताओं, मन्तव्यों और उद्देश्यों पर प्रकाश डालती है। इस नाते प्रस्तावना संविधान की भावना तथा अर्थ को समझने की एक कुंजी है।
2. प्रस्तावना उन आदर्शों और सिद्धांतों पर प्रकाश डालती है जिनके प्रकाश में संविधान के विविध उपबंधों की रचना हुई है तथा जिनके प्रकाश में भविष्य में विधियों का सृजन होना चाहिए।
3. प्रस्तावना उन राजनैतिक, धार्मिक तथा नैतिक मूल्यों पर प्रकाश डालती है जिनके विकास और विस्तार के लिए हमारी संवैधानिक व्यवस्था को प्रयास करना चाहिए।
4. प्रस्तावना संविधान के उन उपबंधों को समझने में सहायता देती है जो उपबंध कभी

सुस्पष्ट प्रतीत नहीं हो सकते। इस प्रकार प्रस्तावना न्यायाधीशों तथा सम्बन्धित अन्य व्यक्तियों के लिए प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करती है।

5. प्रस्तावना भारतीय जनता की प्रभुसत्ता पर बल देकर भारत की जनवादी व्यवस्था के आधार स्पष्ट करती है। जैसा कि डॉ० अम्बेदकर ने कहा था, "मैं समझता हूँ कि यह प्रस्तावना इस सदन के प्रत्येक सदस्य के इच्छानुसार यह स्पष्ट कर देती है कि इस संविधान का आधार जनता है एवं इसमें निहित प्राधिकार एवं प्रभुसत्ता जनता से प्राप्त हुए हैं।"
6. स्वतंत्रता, समता तथा न्याय के विविध पक्षों को अपना कर प्रस्तावना उनकी मौलिक स्वतंत्रताओं की आधार-शिला प्रस्तुत करती है।
7. प्रस्तावना भारत की संवैधानिक व्यवस्था को समाजवाद की ओर उन्मुख होने का संदेश देती है।
8. प्रस्तावना धर्म-निरपेक्ष राज्य की घोषणा कर भारत के सभी धर्मों और सम्प्रदायों को फलने-फूलने के समान अवसर प्रदान करने का आदर्श प्रस्तुत करती है।
9. प्रस्तावना व्यक्ति की गरिमा की महत्ता को स्वीकार कर संवैधानिक व्यवस्था को ऐसे आदर्शों की ओर बढ़ने का संदेश देती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का पूर्ण अवसर सुलभ हो सके।
10. प्रस्तावना भारतीयों को भ्रातृत्व के सबल बंधन में बाँधकर राष्ट्र की एकता को मजबूत करने का संदेश देती है।

उपसंहार

इस प्रकार भारतीय संविधान की प्रस्तावना संविधान का मंगलाचरण है, संविधान के मौलिक सिद्धांतों का महत्वपूर्ण दस्तावेज है। यह दस्तावेज जहाँ एक ओर भारतीय संविधान के आधारभूत सिद्धांतों पर प्रकाश डालता है, वहाँ दूसरी ओर इन सिद्धांतों के अनुरूप शासन के आदर्शों का भी संकेत देता है। इस प्रकार भारतीय संविधान की प्रस्तावना एक ऐसा प्रकाश-स्तम्भ है जिसके प्रकाश में भारतीय संविधान के प्रमुख आदर्शों का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। वह एक ऐसा दर्पण है जिसमें संविधान के मौलिक सिद्धांतों की झलक मिलती है। यह एक ऐसा उपकरण है जिसकी सहायता से संविधान के मूल मन्तव्य और निहित प्रयोजन का पता लगाया जा सकता है। जैसा कि भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश पी० बी० गजेन्द्र गडकर ने कहा है कि "संविधान की प्रस्तावना संविधान के सिद्धान्तों का ज्ञानकोष है। इसी प्रकार संविधान सभा के एक सदस्य ठाकुरदास भार्गव ने कहा था कि "प्रस्तावना संविधान का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। यह संविधान की कुंजी है···एक ऐसा रत्न है जो संविधान पर जड़ा हुआ है।"

सिद्धांतों और आदर्शों की दृष्टि से संविधान की प्रस्तावना का तो महत्व है ही, भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से भी उसका अपना महत्व है। संवैधानिक प्रस्तावना की परम्परा में यदि इसे विश्व की सर्वोत्कृष्ट प्रस्तावना कहा जाय तो असंगत न होगा। जैसा कि डॉ० पायली ने लिखा है कि "भारतीय संविधान की प्रस्तावना अब तक निर्मित प्रस्तावनाओं में सर्वोत्तम है। विश्व के संविधानों की प्रस्तावनाओं का एक सिंहावलोकन यह सिद्ध कर देगा कि विचारों, आदर्शों और अभिव्यक्ति की दृष्टि से हमारी प्रस्तावना अनुपम है।"

इसी प्रकार प्रो० बार्कर ने प्रस्तावना की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए कहा है कि "भारतीय संविधान की प्रस्तावना उदात्त राजनैतिक आदर्शों की अत्यन्त सन्तुलित अभिव्यक्ति है।"

इसी प्रकार भारतीय संविधान की प्रस्तावना संविधान का मंगलाचरण, संविधान के सिद्धान्तों की मंजूषा, आदर्शों का ज्ञानकोष तथा उसके प्रयोजन का प्रकाश-स्तम्भ है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—भारतीय संविधान की प्रस्तावना में किस संशोधन अधिनियम द्वारा संशोधन किया गया ?

उत्तर—संविधान के 42वें संशोधन-अधिनियम द्वारा।

प्रश्न 2—प्रस्तावना में संशोधन द्वारा कौन से नये शब्द जोड़े गये ?

उत्तर—धर्म निरपेक्षता, समाजवादी तथा अखण्डता।

प्रश्न 3—क्या प्रस्तावना को मानने के लिए शासन वैधिक दृष्टि से बाध्य है ?

उत्तर—शासन प्रस्तावना को मानने के लिए वैधिक दृष्टि से बाध्य नहीं है।

प्रश्न 4—प्रस्तावना का क्या लाभ है ?

उत्तर—प्रस्तावना व्यवस्थापकों, विधि-निर्माताओं, शासन की नीति निर्धारकों तथा न्यायाधीशों के लिए प्रकाश-स्तम्भ का कार्य करती है।

प्रश्न 4—भारत के अन्तिम वायसराय और गवर्नर जेनरल का नाम बताइये ?

उत्तर –लार्ड माउण्टबेटन।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. 'भारतीय संविधान की प्रस्तावना संविधान की भूमिका है, वह संविधान के उद्देश्य, संविधान के स्रोत तथा संविधान की अनुशक्ति पर प्रकाश डालती है।'—व्याख्या कीजिए।

2. संविधान की प्रस्तावना संविधान के सिद्धांतों का ज्ञानकोष है।'— विवेचन कीजिए।

3. भारतीय संविधान की प्रस्तावना के विषय में आप क्या जानते हैं ? उनका क्या महत्व है ?

4. भारतीय संविधान की प्रस्तावना के तत्वों का विश्लेषण कीजिए।

5. भारतीय संविधान की प्रस्तावना की वैधिक स्थिति क्या है ? उसकी क्या उपयोगिता है।

"भारतीय संविधान भारत की राजनीतिक प्रज्ञा का जीवन्त प्रतीक, संवैधानिक ज्ञान का गौरव-ग्रन्थ तथा प्रशासनिक प्रतिभा का कीर्ति-स्तम्भ है।"

अध्याय 4

भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएँ

● भारतीय संविधान की संवैधानिक विशेषताएँ ● राजनैतिक विशेषताएँ ● सामाजिक विशेषताएँ ● आर्थिक विशेषताएँ ● भारतीय संविधान की आलोचना

1

आमुख

आधुनिक युग के प्रसिद्ध राजशास्त्री डॉ० हरमन फाइनर के शब्दों में 'मौलिक राजनैतिक संस्थाओं की व्यवस्था का नाम संविधान है।' इस प्रकार संविधान राजनैतिक संस्थानों के सृजन, संगठन और संचालन का प्रमुख आधार होता है, पर राजनैतिक संस्थाएँ शून्य में नहीं जन्मतीं। वे कतिपय ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों की उपज होती हैं। काल और स्थान के अन्तर के कारण इन परिस्थितियों में अन्तर होता है। फलतः इन परिस्थितियों से प्रभावित संविधान, लक्षण, स्वरूप और प्रयोजन की दृष्टि से, एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। भारतीय संविधान भी इसका अपवाद नहीं है। वह भी अपनी विशिष्ट पृष्ठभूमि, परिस्थितियों और परिवेश की उपज है। भारत की इन विशिष्ट परिस्थितियों, उन परिस्थितियों से उत्पन्न समस्याओं तथा उन समस्याओं के समाधान के प्रयास और प्रक्रिया ने भारतीय संविधान को इन्द्रधनुषी व्यक्तित्व तथा सतरंगी विशेषताएँ प्रदान की हैं।

अपनी विशेषताओं के कारण भारतीय संविधान विश्व के संविधानों की गौरवमयी परम्परा का महत्वपूर्ण अंग बन गया है। इन्हीं विशेषताओं के कारण भारतीय संविधान को अनेक विशेषणों से समलंकृत किया गया है। उसे भारत की "राजनैतिक प्रज्ञा का जीवन्त प्रतीक, संवैधानिक ज्ञान का गौरव-ग्रन्थ तथा प्रशासनिक प्रतिभा का कीर्ति-स्तम्भ" कहा गया है। इसमें कोई सन्देश नहीं कि भारतीय संविधान एक अनूठा दस्तावेज है, हमारे संविधान-निर्माताओं की निष्ठा और दूरदर्शिता की मुखर अभिव्यक्ति है तथा विश्व के संवैधानिक साहित्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

भारतीय संविधान की विशेषताओं के विवेचन से हमें इन कथनों की सत्यता का बोध हो जायेगा। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम भारतीय संविधान की विशेषताओं को निम्न-लिखित चार वर्गों में रख सकते हैं—

1. भारतीय संविधान की संवैधानिक विशेषताएँ
2. भारतीय संविधान की राजनैतिक विशेषताएँ
3. भारतीय संविधान की सामाजिक विशेषताएँ
4. भारतीय संविधान की आर्थिक विशेषताएँ

संवैधानिक विशेषताएँ

1. विश्व का सबसे विशाल संविधान—संवैधानिक विशेषताओं की दृष्टि से भारतीय संविधान की सर्वप्रमुख विशेषता उसकी विशालता है। वस्तुतः भारतीय संविधान विश्व का सबसे विशाल संविधान है। आकार, अध्याय, अनुच्छेद और अनुसूचियों की दृष्टि से संसार का अन्य कोई भी संविधान इसके समकक्ष नहीं है। भारतीय संविधान में 22 खण्ड (अध्याय), 395 अनुच्छेद (धाराएँ) तथा 10

> **संवैधानिक विशेषताएँ**
> 1. सबसे विशाल संविधान
> 2. लिखित और निर्मित संविधान

3. नमनशीलता तथा अनमनशीलता का समन्वय
4. संविधान की सर्वोच्चता

अनुसूचियाँ हैं।[1] यदि हम विश्व के कुछ प्रमुख देशों के संविधानों पर दृष्टि डालें तो देखेंगे कि इन देशों के संविधान भारतीय संविधान की तुलना में कहीं अधिक छोटे हैं। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में केवल 7 अनुच्छेद हैं, कनाडा के संविधान में 147, आस्ट्रेलिया के संविधान में 128, सोवियत रूस के नए संविधान में 174 तथा चीन के संविधान में 106 अनुच्छेद हैं। इस प्रकार भारतीय संविधान अन्य देशों की तुलना में अधिक व्यापक और विशाल है। जैसा कि प्रसिद्ध संविधान-शास्त्री डॉ० आइवर जेनिंग्स ने कहा है कि "भारतीय संविधान विश्व का सबसे विशाल और व्यापक संविधान है।"

2. लिखित और निर्मित संविधान—स्रोतों और स्वरूप के आधार पर संविधान को दो प्रमुख वर्गों में विभक्त किया जाता है—(अ) लिखित और निर्मित तथा (ब) अलिखित और विकसित। लिखित और निर्मित संविधान उस संविधान को कहते हैं जिसके सिद्धान्त, स्वरूप और नियम स्पष्ट रूप से एक स्थान पर लिपिबद्ध या लिखित होते हैं तथा जिसका निर्माण किसी निश्चित संविधान सभा या समिति द्वारा होता है। अलिखित और विकसित संविधान वह संविधान होता है जिसके सिद्धान्त, स्वरूप और नियम स्पष्ट रूप से एक स्थान में संकलित और लिपिबद्ध नहीं होते तथा उसका किसी निश्चित समय में किसी निश्चित सभा या समिति द्वारा निर्माण नहीं होता। ऐसा संविधान एक ऐतिहासिक विकास का प्रतिफल होता है। वह मूलतया रीति-रिवाजों और परम्पराओं पर आधारित होता है। ग्रेट ब्रिटेन का संविधान अलिखित और विकसित संविधान का ज्वलन्त उदाहरण है।

भारतीय संविधान प्रथम कोटि के अन्तर्गत आता है। वह एक लिखित और निर्मित संविधान है। फलतः भारतीय संविधान में शासन की रचना और शक्तियों को, शासन-सम्बन्धी मौलिक नियमों को एक स्थान पर लिपिबद्ध कर दिया गया है। इसलिए संविधान की लिखित या मुद्रित (छपी हुई) प्रतियाँ प्राप्त की जा सकती हैं जिनके माध्यम से संविधान की मूल धाराओं का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। लिखित होने के साथ भारतीय संविधान निर्मित भी है। निर्मित इस अर्थ में कि भारतीय संविधान का निर्माण भारतीय संविधान-सभा द्वारा हुआ था जिसने लगभग तीन वर्षों (दो वर्ष ग्यारह महीने अठारह दिन) में इस संविधान की रचना की थी। संविधान-निर्माण के उपरान्त उसे निश्चित तिथि से लागू किया गया। इस प्रकार भारतीय संविधान की दूसरी प्रमुख विशेषता उसका लिखित और निर्मित स्वरूप है।

3. नमनशीलता तथा अनमनशीलता का समन्वय—संविधान में संशोधन-प्रक्रिया की दृष्टि से संविधान के दो वर्ग किये जाते हैं—(1) नमनशील, सुपरिवर्तनशील या लचीला संविधान तथा (2) दुष्परिवर्तनशील, अनमनीय या कठोर संविधान। जिन संविधानों में साधारण और संवैधानिक कानून के निर्माण की प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं होता, उन्हें नमनशील, सुपरिवर्तनशील या लचीला संविधान कहा जाता है। जिन संविधानों में साधारण कानून और संवैधानिक कानून-निर्माण की प्रक्रिया में अन्तर होता है तथा संवैधानिक विधि के निर्माण के लिए विशेष प्रक्रिया का वर्णन होता है, उन्हें कठोर या अनमनशील संविधान कहते हैं।

1. इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि भारतीय संविधान में समय-समय पर अनेक संशोधन हुए हैं। इन संशोधनों के फलस्वरूप संविधान की अनुसूची तथा अनुच्छेदों की संख्या में परिवर्तन होता रहा है। उदाहरण के लिए, मूल संविधान में केवल आठ अनुसूचियाँ थीं। कालान्तर में उसमें एक अनुसूची की वृद्धि हुई। बाद में एक अनुसूची (दसवीं अनुसूची) और जोड़ी गई। एक अन्य संशोधन द्वारा इस दसवीं अनुसूची को हटा दिया गया। 1985 ई० में दल-बदल को रोकने के लिए संविधान का 52वाँ संशोधन अधिनियम पास हुआ। इस अधिनियम द्वारा एक और अनुसूची जोड़ दी गई। इस प्रकार वर्तमान समय में कुल दस अनुसूचियाँ हैं।

भारतीय संविधान अंशतः कठोर या अनमनशील तथा अंशतः नमनशील या लचीला संविधान है। इस प्रकार भारतीय संविधान नमनशील तथा अनमनशील या कठोर संविधान का मिश्रित रूप है। भारतीय संविधान की अनमनशीलता पर विचार करते हुए डॉ० आइवर जेनिंग्स ने लिखा है कि "संशोधन की जटिल प्रक्रिया, संविधान का विस्तार तथा उसकी विशालता उसको अनमनशील बनाते हैं।" नागरिकों के मौलिक अधिकार, राज्य के नीति-निर्देशक तत्व, संघीय कार्यपालिका, राष्ट्रपति का निर्वाचन, संघीय न्यायपालिका, राज्यों के उच्च न्यायालय, राज्य की शक्तियों में वृद्धि आदि अनेक विषय ऐसे हैं जिनके संशोधन की विशेष प्रक्रिया है। संशोधन की इस विशेष प्रक्रिया के अपनाने के दो प्रमुख कारण थे—प्रथमतः यह कि संविधान द्वारा स्थापित व्यवस्था में स्थायित्व रहे; दूसरे यह कि भारतीय संघ का संघात्मक स्वरूप सुरक्षित रहे। किन्तु संविधान में अनमनशीलता या कठोरता के इन तत्वों के समावेश का यह अर्थ नहीं कि हमारे संविधान-निर्माता संविधान को पूर्णतया अपरिवर्तनशील बनाना चाहते थे। अनमनशीलता के साथ ही उनका यह भी प्रयोजन था कि संविधान युग की बदलती हुई परिस्थिति के अनुसार अपने को बदल सके। फलतः संविधान में नमनशीलता के तत्वों का भी समावेश किया गया। इसके अनुसार संविधान के अनेक ऐसे तत्व हैं जिनमें सरलता से संशोधन किया जा सकता है। इस प्रकार भारतीय संविधान नमनशीलता और अनमनशीलता का अपूर्व मिश्रण है।

4. संविधान की सर्वोच्चता—संविधान की सर्वोच्चता या सर्वोपरिता भारतीय संविधान की अन्य प्रमुख विशेषता है। संविधान की सर्वोच्चता से आशय यह है कि भारतीय संविधान देश की सर्वोच्च विधि है, सर्वोच्च कानून है। संविधान के अनुकूल आचरण करने के लिए सभी संस्थाएँ, अधिकारी तथा नागरिक बाध्य हैं। संघीय शासन में राष्ट्रपति और केन्द्रीय मन्त्री, राज्यों में राज्यपाल और राज्यों के मन्त्री, न्यायाधीश तथा अन्य उच्च पदाधिकारी संविधान के प्रति सत्यनिष्ठा और भक्ति की शपथ लेकर संविधान की सर्वोच्चता को स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार संघीय संसद तथा राज्यों के विधान-मण्डल संविधान के प्रतिकूल विधि-निर्माण करने के अधिकारी नहीं हैं। इस प्रकार भारत की राजनीतिक व्यवस्था संविधान की सर्वोपरिता को स्वीकार करती है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सर्वोच्चता के नाम पर संविधान देश की सामाजिक-आर्थिक प्रगति में बाधक हो और उसमें कोई परिवर्तन न किया जा सके। संविधान देश के लिए होता है, वह सामाजिक-आर्थिक प्रगति का माध्यम होता है। अतएव संविधान की सर्वोच्चता की भी अपनी सीमाएँ हैं।

राजनैतिक विशेषताएँ

संविधान एक राजनैतिक दस्तावेज है। अतएव इस नाते उसकी राजनैतिक विशेषताएँ हैं। इन विशेषताओं को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न, लोकतन्त्रात्मक गणराज्य का संस्थापक—भारतीय संविधान सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न, लोकतन्त्रात्मक गणराज्य का संस्थापक है। संविधान की प्रस्तावना में इस प्रकार के राज्य की स्थापना का संकल्प और सन्देश स्पष्ट शब्दों में अंकित है—'सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न', 'लोकतन्त्रात्मक' तथा 'गणराज्य', ये तीन शब्द भारतीय राज्य की तीन प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं। 'सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न' शब्द इस तथ्य का द्योतक है कि भारत पूर्ण रूप से एक स्वाधीन राष्ट्र है। वह आन्तरिक और बाह्य दृष्टि से किसी अन्य सत्ता के अधीन नहीं है। 'लोकतन्त्रात्मक' का अर्थ यह है कि शासन की समस्त शक्ति जनता के हाथों में निहित है। जनता इस शक्ति का प्रयोग अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से करती है। इसी प्रकार 'गणतन्त्र' शब्द का

> **राजनैतिक विशेषताएँ**
> 1. सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य का संस्थापक
> 2. संघात्मक तथा एकात्मक तत्वों का समन्वय
> 3. संसदात्मक कार्यपालिका का संस्था-

पक्ष
4. द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका
5. सर्वोच्च तथा स्वतन्त्र न्यायपालिका का प्रावधान
6. शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना
7. संकटकाल के लिए प्रावधान
8. मौलिक अधिकारों का अधिकार-पत्र
9. मूल कर्तव्यों का सन्देश-वाहक
10. एकल नागरिकता का स्थापक
11. वयस्क मताधिकार का प्रावधान
12. निष्पक्ष निर्वाचन का प्रावधान
13. नीति-निर्देशक तत्वों का सन्देश-वाहक
14. राजनैतिक एकरूपता का प्रवर्तक
15. राष्ट्रीय एकता और अखण्डता का पोषक
16. अन्तर्राष्ट्रीय शांति का समर्थक

एक विशेष अर्थ है। वह यह है कि भारतीय राष्ट्र का प्रधान जनता द्वारा निर्वाचित व्यक्ति होगा, कोई वंशानुगत राजा नहीं होगा। इस दृष्टि से भारत की जनतांत्रिक व्यवस्था इंग्लैंड से भिन्न है। इंग्लैंड में राज्य का प्रधान वंशानुगत व्यक्ति होता है। दूसरे शब्दों में इंगलैंड में लोकतन्त्र है, किन्तु गणतन्त्र नहीं है। इस प्रकार भारतीय संविधान सम्भुता-सम्पन्न जनतन्त्रात्मक गणराज्य का संस्थापक है। भारतीय संविधान की ये तीन विशेषताएँ वस्तुतः भारत की संवैधानिक व्यवस्था की तीन आधारशिलाएँ हैं जिन पर भारत की राजनीतिक व्यवस्था का भव्य भवन आधारित है।

1. संघात्मक तथा एकात्मक तत्वों का समन्वय—संघात्मक शासन दो या दो से अधिक राज्यों के स्वेच्छापूर्वक संयोग से निर्मित एक राजनैतिक संगठन है जिसका उद्देश्य विभिन्न राज्यों के सामान्य और क्षेत्रीय हितों की रक्षा और विकास करना होता है। संघात्मक शासन के मुख्यतया निम्नलिखित तत्व होते हैं—(1) लिखित संविधान, (2) संविधान की सर्वोच्चता, (3) शक्तियों का विभाजन, (4) दोहरी शासन-व्यवस्था, (5) दोहरी नागरिकता, (6) स्वतन्त्र और सर्वोच्च न्यायालय।

भारत के संघात्मक शासन में दोहरी नागरिकता को छोड़कर संघात्मक शासन के अन्य सभी तत्वों का समावेश है। उदाहरण के लिए, भारत का संविधान एक लिखित संविधान है, देश की राजनैतिक व्यवस्था में संविधान को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है, केन्द्र और राज्यों के मध्य शक्तियों का विभाजन है, केन्द्र और राज्यों की अलग-अलग शासन-व्यवस्था है, देश में एक स्वतन्त्र और सर्वोच्च न्यायालय है। इस प्रकार भारत की संवैधानिक व्यवस्था एक संघात्मक व्यवस्था है। किन्तु संघात्मक तत्वों के अतिरिक्त भारत की संघात्मक व्यवस्था में अनेक ऐसे प्रावधान हैं जो उसे एकात्मक आधार प्रदान करते हैं। शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना राज्यों पर केन्द्र का प्रभुत्व, संविधान के संकटकालीन प्रावधान, कानून और न्याय-व्यवस्था की एक-रूपता, इकहरी नागरिकता, अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवाएँ आदि कुछ ऐसे प्रावधान हैं जो भारत की राजनीतिक व्यवस्था को एकात्मक बनाते हैं। इन तत्वों के कारण कतिपय राज-शास्त्रियों ने भारत की संघात्मक व्यवस्था को 'अर्द्धसंघात्मक व्यवस्था' कहा है। इस प्रकार भारत की संघात्मक व्यवस्था वस्तुतः संघात्मक और एकात्मक व्यवस्था का मिश्रित रूप है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'भारत की राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप तो संघात्मक है, किन्तु उसकी आत्मा एकात्मक है।"

3. संसदात्मक कार्यपालिका का संस्थापक—भारतीय संविधान संसदात्मक कार्यपालिका की स्थापना करता है। संसदात्मक कार्यपालिका में कार्यपालिका के दो पक्ष होते हैं—एक, वास्तविक कार्यपालिका; और दूसरे, नाममात्र की कार्यपालिका। इसके अतिरिक्त कार्यपालिका व्यवस्थापिका का अंग होती है तथा अपनी नीति और कार्यों के लिए कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है।

भारतीय व्यवस्था में इसी प्रकार की संसदात्मक कार्यपालिका का प्रावधान किया गया है। यहाँ वास्तविक कार्यपालिका के रूप में मन्त्रिपरिषद है जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री होता है।

मन्त्रिपरिषद के सदस्य संसद के सदस्य होते हैं। मन्त्रिपरिषद अपनी नीति और कार्यों के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी होती है। औपचारिक कार्यपालिका प्रधान राष्ट्रपति है। वह राज्य करता है, किन्तु शासन नहीं। केन्द्र की भाँति राज्यों में भी संसदात्मक कार्यपालिका का प्रावधान है। राज्यों में वास्तविक कार्यपालिकीय शक्तियाँ राज्य के मन्त्रिपरिषद के हाथों में निहित होती हैं, जबकि राज्यपाल कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान होता है। इस प्रकार भारतीय संविधान की एक विशेषता संसदात्मक कार्यपालिका का प्रावधान है।

4. द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का प्रावधान—भारतीय संविधान की अन्य विशेषता द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का प्रावधान है। भारतीय संविधान में संघ में द्विसदनात्मक, अर्थात् दो सदन वाली व्यवस्थापिका का प्रावधान किया गया है। इनमें से एक सदन लोकसभा कहलाता है और दूसरा सदन राज्य-सभा। लोकसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या 547 है तथा राज्य-सभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या 250 है। लोकसभा के सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा होता है, जबकि राज्यसभा के 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जाते हैं तथा शेष राज्यों की व्यवस्थापिकाओं द्वारा निर्वाचित किए जाते हैं। भारतीय संसद को राष्ट्र का लघु दर्पण तथा भारतीय राजनैतिक गतिविधियों का गुरुत्वाकर्षण-केन्द्र कहा जा सकता है। संघ की भाँति राज्यों में भी संसदात्मक पद्धति का अनुगमन किया गया है।

5, सर्वोच्च और स्वतन्त्र न्यायपालिका का प्रावधान—स्वतन्त्र, सुगठित और स्वस्थ न्यायपालिका किसी भी राजनीतिक व्यवस्था की स्थिति और प्रगति की मानदण्ड होती है। न्यायपालिका की इस महत्ता को दृष्टि-पथ में रखकर भारत की संवैधानिक व्यवस्था में एक स्वतन्त्र और सर्वोच्च न्यायपालिका का प्रावधान किया गया है। यह न्यायपालिका भारत के सर्वोच्च या उच्चतम न्यायालय के नाम से विश्रुत है। उच्चतम न्यायालय में एक प्रधान न्यायाधीश तथा कुछ अन्य न्यायाधीश होते हैं। वर्तमान समय में न्यायाधीशों की कुल संख्या अधिनियम द्वारा 26 निश्चित की गई है। आवश्यकता पड़ने पर तदर्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति की जा सकती है। सर्वोच्च न्यायालय को तीन प्रकार के अधिकार-क्षेत्र प्राप्त हैं—(1) मौलिक क्षेत्राधिकार, (2) अपीलीय क्षेत्राधिकार तथा (3) परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार। सर्वोच्च न्यायालय के नीचे राज्यों के उच्च न्यायालय हैं। देश को न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा करने की संविधान में पूरी व्यवस्था की गई है।

6. शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना—भारतीय संविधान का अन्य प्रमुख लक्षण शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना है। एक संघात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना भारतीय संविधान की विशिष्ट उपलब्धि है। केन्द्र को शक्तिशाली बनाने के लिए भारतीय संविधान में अनेक प्रावधान हैं। संक्षेप में इन प्रावधानों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. शक्तियों के वितरण की जो प्रक्रिया संविधान में दी गई है, वह केन्द्र के पक्ष में है।
2. प्रशासन के क्षेत्र में केन्द्र को व्यापक अधिकार प्राप्त हैं।
3. आपातकालीन शक्तियों का प्रावधान केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बनाता है।
4. देश की वित्तीय व्यवस्था पर केन्द्र का पूरा प्रभुत्व और नियन्त्रण है।
5. राज्यों की शक्तियाँ सीमित हैं। कई दृष्टियों से राज्य केन्द्र की कृपा पर निर्भर रहते हैं।

इस प्रकार हमारे संविधान-निर्माताओं ने एक शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना की है। शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना का मुख्य प्रयोजन भारत की राष्ट्रीय एकता तथा स्वतन्त्रता की रक्षा करना था।

7 संकटकाल के लिए आपातकालीन प्रावधान—प्रत्येक समाज, राष्ट्र या शासन के सामने समय-समय पर अनेक प्रकार के संकट उत्पन्न होते रहते हैं। इन संकटों का सामना करने

के लिए शासन को पूरी तरह सक्षम होना चाहिए। सामाजिक-राजनीतिक जीवन में संकट की इसी सम्भावना को दृष्टि-पथ में रखते हुए भारतीय संविधान के अठारहवें खण्ड में संकटकालीन अधिकारों का प्रावधान किया गया है। इन अधिकारों का प्रयोग भारतीय राष्ट्रपति मन्त्रि-मण्डल की सहायता से करता है। भारत की संवैधानिक व्यवस्था में संकटकालीन प्रावधानों की कटु आलोचना की गई है। उन्हें स्वाधीनता का निषेध, जनतन्त्र का शत्रु तथा निरंकुशता का प्रवर्तक कहा गया है। एक आलोचक के शब्दों में "संकटकालीन प्रावधान दो-नली बन्दूक की भाँति हैं जिसका प्रयोग नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए भी किया जा सकता है तथा विनाश के लिए भी।"

8. **मौलिक अधिकारों का अधिकार-पत्र**—भारतीय संविधान को भारतीयों के मौलिक अधिकारों का अधिकार-पत्र (चार्टर) कहा जा सकता है। भारतीय संविधान के तीसरे अध्याय में विस्तार से नागरिकों के मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया गया है। वे अधिकार इस प्रकार हैं—(1) समता का अधिकार, (2) स्वतन्त्रता का अधिकार, (3) शोषण के विरुद्ध अधिकार, (4) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार, (5) सांस्कृतिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी अधिकार तथा (6) संवैधानिक उपचारों का अधिकार। इन मौलिक अधिकारों में पहले एक अन्य अधिकार और भी था—यह था सम्पत्ति का अधिकार, किन्तु 44वें संवैधानिक संशोधन के अनुसार सम्पत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकारों से अलग कर दिया गया है। अब सम्पत्ति का अधिकार केवल एक वैधिक अधिकार रह गया है।

9. **मूल कर्तव्यों का संदेशवाहक**—भारतीय संविधान की अन्य प्रमुख विशेषता मूल कर्तव्यों का समावेश है। ये मूल कर्तव्य इस प्रकार हैं—(1) देश के संविधान, राष्ट्र-ध्वज तथा राष्ट्रगीत का सम्मान करना, (2) स्वतंत्रता-संग्राम के आधारभूत आदर्शों का आदर करना, (3) राष्ट्रीय सम्प्रभुता, एकता तथा अखण्डता की रक्षा और विकास में योग देना, (4) देश की रक्षा करना तथा राष्ट्र-सेवा के लिए सदैव तैयार रहना, (5) देशवासियों में बन्धुत्व की भावना को प्रोत्साहन देना तथा ऐसी प्रथाओं का परित्याग करना जो स्त्रियों की मर्यादा के विरुद्ध हों, (6) राष्ट्र की सामाजिक संस्कृति तथा गौरवशाली परम्परा को जीवंत बनाये रखना, (7) प्राकृतिक पर्यावरण की सुरक्षा करना तथा सभी जीवों के प्रति सहानुभूति बनाए रखना, (8) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करना, (9) सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा करना तथा हिंसा से दूर रहना, (10) व्यक्तिगत तथा सामूहिक क्रिया-कलापों को उत्कृष्ट बनाने का प्रयास करना।

इस प्रकार भारतीय संविधान हमारे कर्तव्यों का संदेशवाहक है। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि हमारे संविधान में पहले इन कर्तव्यों का समावेश नहीं था। ये कर्तव्य संविधान के 42वें संशोधन-अधिनियम द्वारा बाद में जोड़े गए।

10. **एकल नागरिकता का स्थापक**—एकल (इकहरी) नागरिकता भारतीय संविधान की अन्य विशेषता है। भारतीय संविधान देश में संघात्मक शासन की स्थापना करता है। संघात्मक शासन में सामान्यतया दो प्रकार की नागरिकता का प्रावधान होता है: एक ओर संघ की नागरिकता और दूसरी ओर संघ की इकाइयों या राज्यों की नागरिकता। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा स्विट्जरलैण्ड में इसी प्रकार की दोहरी नागरिकता का प्रावधान है। किन्तु भारतीय संविधान इकहरी या एकल नागरिकता (Single Citizenship) का प्रावधान करता है। जैसा कि डॉ० अम्बेडकर ने कहा था, "पूरे भारत के लिए एक नागरिकता है। वह भारतीय नागरिकता है। राज्यों की पृथक् नागरिकता की व्यवस्था नहीं है। प्रत्येक भारतीय नागरिक को, चाहे वह किसी भी राज्य का रहने वाला क्यों न हो, एक प्रकार की नागरिकता का अधिकार प्राप्त है।" इस प्रकार सारे देश के लिए एक-सी नागरिकता का प्रावधान किया गया है, राज्यों की अलग नागरिकता की व्यवस्था नहीं। एकल नागरिकता के माध्यम से सारे भारत के नागरिकों को एक राष्ट्रीयता के सूत्र में बाँधने का स्तुत्य प्रयास किया गया है।

11. वयस्क मताधिकार का प्रावधान—वयस्क मताधिकार स्वाधीन भारत के संविधान की अन्य विशेषता है। वयस्क मताधिकार के अनुसार भारत का प्रत्येक नागरिक, जिसकी आयु 18 वर्ष की है, मतदान का अधिकारी हो जाता है। इस प्रकार मतदाता होने के लिए आयु के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की अर्हता या योग्यता का प्रावधान नहीं किया गया। जैसा कि प्रो० श्रीनिवास ने लिखा है कि "किसी भी प्रकार की अर्हता से रहित वयस्क मताधिकार का सूत्रपात करके संविधान सभा ने अत्यन्त साहस का कदम उठाया है, एक निष्ठा का कार्य किया है।"

12. निष्पक्ष निर्वाचन का प्रावधान निर्वाचन जनतन्त्र का सामूहिक समारोह या एक राष्ट्रीय पर्व होता है। निर्वाचन की स्वच्छ और सुगठित व्यवस्था के अभाव में जनतन्त्र प्रगति-पथ पर आगे नहीं बढ़ सकता। निष्पक्ष और स्वच्छ निर्वाचन की व्यवस्था की दृष्टि से संविधान में एक पृथक् निर्वाचन आयोग (Election Commission) का प्रावधान है। यह आयोग अपने कार्य में स्वतन्त्र है। देश के निर्वाचन-सम्बन्धी समस्त कार्यों का संचालन इसी आयोग द्वारा होता है। अब तक देश में अनेक महानिर्वाचन, मध्यावधि निर्वाचन तथा उप-निर्वाचन हो चुके हैं। इन निर्वाचनों की सफलता इस बात की साक्षी है कि निष्पक्ष निर्वाचन के माध्यम से भारत अपने जनतन्त्र की रथयात्रा को कितना आगे बढ़ाने में सफल हुआ है।

13. नीति-निर्देशक तत्वों का सन्देशवाहक— व्यक्ति, समाज या राज्य सभी को अपनी जीवन-यात्रा को सार्थक बनाने के लिए निश्चित आदर्शों का अनुगमन करना आवश्यक होता है। ये आदर्श या सिद्धान्त उसका लक्ष्य निश्चित कर उसके विकास की गति-दिशा निर्धारित करते हैं। आदर्शों की इसी महत्ता को ध्यान में रखकर भारतीय संविधान में राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का समावेश किया गया है। संविधान के चौथे अध्याय में इन नीति-निर्देशक तत्वों का उल्लेख किया गया है। इन नीति-निर्देशक तत्वों का मुख्य प्रयोजन सरकार को उन आदर्शों से अवगत कराना है जिनका अनुगमन करना उसका लक्ष्य होना चाहिए। इस प्रकार नीति-निर्देशक तत्व एक प्रकाश-स्तम्भ की भाँति हैं जिनके प्रकाश में सरकार शासन और विधायन विषयक नीति और कार्यों का अनुगमन करेगी। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि नीति-निर्देशक तत्वों का संविधान में समावेश अवश्य है, किन्तु उन्हें वैधिक बल या कानूनी शक्ति प्राप्त नहीं है। फलतः उनके उल्लंघन या उपेक्षा के लिए न्यायालय की शरण नहीं ली जा सकती। किन्तु फिर भी नीति-निर्देशक सिद्धान्तों के रूप में उनका अपना महत्व है।

14. राजनैतिक एकरूपता का प्रवर्तक—राजनैतिक एकरूपता की स्थापना भारतीय संविधान की अन्य उपलब्धि है। भारतीय संविधान द्वारा निश्चित और निर्धारित आदर्शों और प्रावधानों के अनुसार सारे भारत में राजनैतिक एकता स्थापित करने का प्रयास किया गया है। इस दृष्टि से नागरिक-विधि, दण्ड-विधि, न्याय-व्यवस्था, लोकसेवाओं इत्यादि का इस प्रकार गठन किया गया है जिससे कि समस्त भारत में एक राजनैतिक एकरूपता का विकास हो।

15. राष्ट्रीय एकता और अखंडता का पोषक—भारतीय संविधान भारतीय राष्ट्र की आकांक्षाओं और आदर्शों की मुखर अभिव्यक्ति है। अतएव भारतीय संविधान के माध्यम से राष्ट्रीय एकता तथा अखण्डता की रक्षा और विकास का पूरा प्रयास किया गया है। संविधान की प्रस्तावना, नागरिकों के कर्तव्य तथा संविधान के कतिपय अन्य प्रसंग इस राष्ट्रीय एकता और अखण्डता में हमारे विश्वास का संकेत देते हैं।

16. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का समर्थक—भारत कभी भी संकुचित राष्ट्रीयता का पक्ष-पोषक नहीं रहा। उसका आदर्श तो "वसुधैव कुटुम्बकम्" (अर्थात् समस्त धरती ही अपना कुटुम्ब है) रहा है। इस प्रकार विश्व-बन्धुत्व, विश्व-प्रेम तथा विश्व-शांति भारतीयों के आदर्श रहे हैं। अपनी इन्हीं गौरवशालिनी परम्पराओं के प्रकाश में भारतीय संविधान अन्तर्राष्ट्रीय शांति में विश्वास करता है। भारत की अन्तर्राष्ट्रीय शांति की यह आस्था मुख्यतया राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत मिलती है। इन तत्वों में स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि

'भारत अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण तरीके से निपटाने का प्रयास करेगा, विविध राष्ट्रों के मध्य मैत्री की भावना का विकास करेगा, अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के प्रति सम्मान रखेगा तथा विश्व-शांति एवं विश्व-सहयोग की दिशा में सक्रिय योग देगा।' इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय शांति को भारतीय संविधान की विशेषताओं का अन्य महत्वपूर्ण पक्ष कहा जा सकता है।

सामाजिक विशेषताएँ

भारतीय संविधान न केवल भारत की राजनीतिक व्यवस्था की रचना पर प्रकाश डालता है, प्रत्युत वह स्वाधीन भारत के लिए एक नये समाज की स्थापना का प्रयास करता है। जैसा कि प्रसिद्ध संविधान-शास्त्री ग्रनविल ऑस्टिन ने लिखा है कि "भारतीय संविधान एक सामाजिक दस्तावेज है। उसकी अधिकांश धाराएँ या तो प्रत्यक्षतः सामाजिक क्रांति के लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयास करती हैं या इस क्रांति के अनुकूल वातावरण के सृजन के साधन प्रस्तुत करती हैं।" इस प्रकार भारतीय संविधान को भारत में नये समाज की स्थापना का सन्देशवाहक कहा जा सकता है। इस नाते भारतीय संविधान की अपनी सामाजिक विशेषताएँ हैं। इन सामाजिक विशेषताओं को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

> **सामाजिक विशेषताएँ**
> 1. धर्म-निरपेक्ष राज्य का संस्थापक
> 2. सामाजिक समता का संस्थापक
> 3. अस्पृश्यता के अन्त का उद्घोषक
> 4. अल्पसंख्यकों तथा पिछड़े वर्ग के लोगों के अधिकारों का संरक्षक
> 5. स्त्रियों और पुरुषों की समानता का पोषक

1. **धर्म-निरपेक्ष राज्य का संस्थापक**—धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना भारतीय संविधान की अन्य प्रमुख विशेषता है। चक्रवर्ती श्री राजगोपालाचार्य ने भारतीय संविधान की धर्म-निरपेक्षता पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि "धर्म-निरपेक्ष भारत धर्म को न तो हतोत्साहित करेगा, न उसका विरोध ही। वह सभी धर्मों तथा उनकी संस्थाओं के प्रति निष्पक्ष व्यवहार रखेगा।" इस प्रकार भारतीय संविधान एक धर्म-निरपेक्ष राज्य का आदर्श प्रस्तुत करता है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना तथा कतिपय अन्य प्रसंग भारतीय संविधान की धर्म-निरपेक्षता पर प्रकाश डालते हैं। एक धर्म-निरपेक्ष राज्य के नाते भारत न तो किसी धर्म-विशेष को प्रोत्साहन देता है और न ही धर्म के आधार पर नागरिकों में किसी प्रकार का भेदभाव करता है। भारत को एक धर्म-निरपेक्ष राज्य बनाने के लिए संविधान में जो प्रावधान किये गये हैं, उनके मुख्य पक्ष अग्रलिखित हैं—

1. धर्म के आधार पर राज्य नागरिकों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करेगा।
2. प्रत्येक व्यक्ति को उसकी निष्ठा और विश्वास के अनुसार उपासना, पूजा, अर्चना इत्यादि करने की स्वतन्त्रता होगी।
3. सभी नागरिकों को अपने धार्मिक विचारों के प्रचार की स्वतन्त्रता होगी।
4. किसी शिक्षण-संस्थान में धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए किसी को बाध्य नहीं किया जायेगा।
5. राज्य किसी भी धर्म के अनुयायी से कोई धार्मिक कर नहीं लेगा।
6. राज्य किसी भी धार्मिक संस्था को धार्मिक आधार पर कोई आर्थिक सहायता नहीं देगा।
7. राज्य द्वारा सहायता-प्राप्त या संचालित शिक्षण-संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा पर प्रतिबन्ध होगा।
8. धर्म के नाम पर राज्य नागरिकों को उनके अधिकारों से वंचित नहीं करेगा।

इस प्रकार संविधान के उपर्युक्त प्रावधान भारत को एक धर्म-निरपेक्ष राज्य बनाते

धर्म-निरपेक्षता को अपना कर भारतीय संविधान अपनी धार्मिक सहिष्णुता की गौरवशाली परम्परा का पुनः परिचय दिया है।

2. सामाजिक समता का संस्थापक—भारतीय संविधान को सामाजिक समता का संस्थापक कहा जा सकता है। भारतीय संविधान में सामाजिक समता की स्थापना के लिए आवश्यक प्रावधान विद्यमान हैं। इसके अनुसार राज्य, धर्म, मूलवंश, जाति तथा जन्म-स्थान के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जायेगा। दुकान, होटल सार्वजनिक भोजनालय, मनोरंजन के स्थान सभी नागरिकों के लिए समान रूप से खुले रहेंगे। इसी प्रकार जाति, धर्म, वंश आदि के आधार पर किसी नागरिक को कुओं, तालाबों, स्नानघरों, जनमार्गों या राज्य से सहायता-प्राप्त अन्य सार्वजनिक स्थानों के प्रयोग से रोका नहीं जायेगा। इस प्रकार भारतीय संविधान समता के मार्ग की बाधाओं को दूर कर सामाजिक समता की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करता है। इस दृष्टि से भारतीय संविधान देश की सामाजिक क्रांति का अग्रदूत कहा जा सकता है।

3. अस्पृश्यता के अन्त का उद्घोषक—अस्पृश्यता भारत के सामाजिक जीवन का एक अत्यन्त विकृत पक्ष रहा है। भारतीय समाज के इस कलंक को दूर करने के लिए हमारे जन-नायक और समाज-सुधारक वर्षों प्रयत्नशील रहे, पर भारतीय समाज इस कलंक से मुक्त न हो सका। इस कलंक को दूर करने का श्रेय भारतीय संविधान को है। भारतीय संविधान के 17वें अनुच्छेद में स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि "अस्पृश्यता का अन्त किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण वर्जित किया जाता है। अस्पृश्यता से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।" इस प्रकार भारतीय संविधान अस्पृश्यता के अन्त का उद्घोषक है।

4. अल्पसंख्यकों तथा पिछड़े वर्ग के लोगों के अधिकारों का संरक्षक—सामाजिक समता में विश्वास करने वाला भारतीय संविधान अल्पसंख्यकों तथा पिछड़े वर्ग के लोगों के अधिकारों का संरक्षक है। संविधान के अनेक प्रावधान इस तथ्य के साक्षी हैं। उदाहरण के लिए, संविधान के 21वें तथा 30वें अनुच्छेद में कहा है कि 'अल्पसंख्यकों को अपनी भाषा, लिपि या संस्कृति को बनाए रखने तथा अपनी रुचि की शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना का अधिकार होगा।' इसी प्रकार संविधान के 15वें अनुच्छेद में यह प्रावधान किया गया है कि 'राज्य किसी भी पिछड़े वर्ग—विशेषकर अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों की उन्नति की विशेष व्यवस्था करेगा।' इस प्रकार अल्पसंख्यकों तथा पिछड़े वर्ग के लोगों के हितों की रक्षा कर भारतीय संविधान ने भारत की सामाजिक संस्कृति की परम्पराओं की रक्षा का मार्ग प्रशस्त किया है।

5. स्त्रियों और पुरुषों की समानता का पोषक—प्राचीन भारतीय मनीषियों का यह विश्वास था कि 'जहाँ नारियों की पूजा होती है, अर्थात् उन्हें आदर से देखा जाता है, वहाँ देवता निवास करते हैं।' प्राचीन भारतीयों के इसी आदर्श को चरितार्थ करते हुए भारतीय संविधान ने स्त्रियों और पुरुषों की समानता को वैधानिक आधार प्रदान किया है। इसके अनुसार नारियों को पुरुषों के समान अधिकार सुलभ हैं। फलतः आज स्वाधीन भारत में नारियों को पुरुषों के समान हर क्षेत्र में प्रगति-पथ पर बढ़ने के समान अवसर सुलभ हैं। शिक्षा, समाज, संस्कृति, विज्ञान, साहित्य, कला, राजनीति इत्यादि सभी क्षेत्रों में भारतीय नारियों को अपनी प्रतिभा-प्रदर्शन का पूरा अवसर प्राप्त है।

आर्थिक विशेषताएँ

आर्थिक लोकतन्त्र के बिना राजनीतिक लोकतन्त्र अधूरा रहता है। भारत में राजनीतिक

भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएँ

संवैधानिक विशेषताएँ

1. भारतीय संविधान सबसे विशाल संविधान है।
2. लिखित और निर्मित संविधान है।
3. नमनशीलता और अनमनशीलता का समन्वय है।
4. संविधान की सर्वोच्चता है।

राजनैतिक विशेषताएँ

1. सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य का संस्थापक।
2. संघात्मक तथा एकात्मक तत्वों का समन्वय
3. संसदात्मक कार्यपालिका का संस्थापक
4. द्विसदनात्मक व्यवस्था का स्थापक
5. सर्वोच्च तथा स्वतन्त्र न्यायपालिका का स्थापक
6. शक्तिशाली केन्द्र का संस्थापक
7. संकटकाल के लिए विशेष व्यवस्था का संस्थापक
8. मौलिक अधिकारों का प्रदाता
9. मूल कर्तव्यों का सन्देशवाहक
10. एकल नागरिकता का स्थापक
11. वयस्क मताधिकार का प्रदाता
12. निष्पक्ष निर्वाचन-व्यवस्था का स्थापक
13. नीति-निर्देशक तत्वों का सन्देशवाहक
14. राजनैतिक एकरूपता का प्रवर्तक।

सामाजिक विशेषताएँ

1. धर्म-निरपेक्ष राज्य का संस्थापक
2. सामाजिक समता का संस्थापक
3. अस्पृश्यता के अन्त का उद्घोषक
4. अल्पसंख्यक तथा पिछड़े वर्ग के लोगों का संरक्षक
5. स्त्रियों और पुरुषों की समता का पोषक।

आर्थिक विशेषताएँ

1. लोक-कल्याणकारी राज्य का संस्थापक
2. लोकतांत्रिक राज्यवाद का सन्देशवाहक
3. सामाजिक और आर्थिक न्याय का पक्षपोषक
4. शोषण का विरोधी
5. धन के केन्द्रीकरण का विरोधी
6. आर्थिक प्रगति का सन्देशवाहक।

लोकतन्त्र का स्थापक भारतीय संविधान आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना का आदर्श प्रस्तुत करता है। भारतीय संविधान के अनेक प्रावधानों में आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना का सन्देश निहित है। संविधान की आर्थिक विशेषताओं का विवेचन हमें इस सन्देश से अवगत कराता है। संविधान की आर्थिक विशेषताओं को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

आर्थिक विशेषताएँ

1. लोक-कल्याणकारी राज्य का संस्थापक
2. लोकतांत्रिक समाजवाद का सन्देश-वाहक
3. सामाजिक और आर्थिक न्याय का पक्षपोषक
4. शोषण का विरोधी
5. धन के केन्द्रीकरण का विरोधी
6. आर्थिक प्रगति का सन्देशवाहक

1. लोक-कल्याणकारी राज्य का संस्थापक—लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषता है। एक लोक-कल्याणकारी राज्य अपने नागरिकों की जान-माल की रक्षा के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व के चतुर्मुखी विकास के अनुकूल अवसर का सृजन करता है। भारतीय संविधान भी भारत में एक लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना के आदर्श को स्वीकार करता है। इस दृष्टि से भारतीय संविधान आन्तरिक शान्ति-व्यवस्था तथा वाह्य सुरक्षा बनाए रखने के साथ ही उन सब कार्यों को करने का सन्देश देता है जो कि व्यक्ति के व्यक्तित्व के सम्यक् विकास के लिए आवश्यक हैं। भारतीय संविधान की प्रस्तावना तथा राज्य के नीति-निदेशक तत्व भारत में लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना का सन्देश देते हैं। उदाहरण के लिए, संविधान के 38वें अनुच्छेद में कहा गया है कि 'राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की—जिसमें कि सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की समस्त संस्थाओं को अनुप्राणित करे—यथाशक्ति स्थापना और संरक्षण कर उसके माध्यम से लोक-कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा।'

2. लोकतांत्रिक समाजवाद का सन्देशवाहक—भारतीय संविधान को लोकतांत्रिक समाजवाद का सन्देशवाहक कहा जा सकता है। संविधान-निर्माण के समय संविधान सभा में कतिपय सदस्यों ने संविधान में 'समाजवाद' शब्द के समावेश की वकालत की थी, किन्तु लोकतांत्रिक समाजवाद में आस्था रखने वाले पंडित नेहरू जैसे लोकनायकों के होते हुए भी संविधान में 'समाजवाद' शब्द का स्पष्ट उल्लेख नहीं हो सका। अन्त में 42वें संशोधन-अधिनियम द्वारा संविधान की प्रस्तावना में 'समाजवाद' शब्द का समावेश कर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि भारत का लक्ष्य लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना है। इस प्रकार भारत लोकतांत्रिक साधनों के माध्यम से लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना करने के लिए कृत-संकल्प है।

3. सामाजिक और आर्थिक न्याय का पक्षपोषक—भारतीय संविधान की अन्य विशेषता उसका सामाजिक तथा आर्थिक न्याय में विश्वास है। राजनीतिक न्याय के साथ भारतीय संविधान सामाजिक और आर्थिक न्याय में भी आस्था रखता है। संविधान की प्रस्तावना में स्पष्ट शब्दों में सामाजिक और आर्थिक न्याय की प्राप्ति का सन्देश दिया गया है। इसके अतिरिक्त राज्य के नीति-निर्देशक तत्व तथा मौलिक अधिकार-विषयक कतिपय प्रावधान भी सामाजिक और आर्थिक न्याय पर प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार के प्रावधानों में कुछ इस प्रकार हैं—

1. राज्य इस बात का प्रयास करेगा कि सभी नागरिकों—पुरुषों तथा स्त्रियों—को जीवन-निर्वाह के पर्याप्त साधन सुलभ हों।
2. पुरुषों तथा स्त्रियों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले।
3. राज्य इस बात का प्रयास करेगा कि नागरिकों को बेकारी, वृद्धावस्था तथा अंग-हानि आदि की दशाओं में सहायता प्राप्त हो।

4. शोषण का विरोधी—भारतीय संविधान मानव की स्थिति का अनुचित लाभ उठाने वाले मानवी शोषण का विरोध करता है। उदाहरण के लिए, संविधान में यह कहा गया कि राज्य इस बात का प्रयास करेगा कि श्रमिक पुरुषों, स्त्रियों, बालकों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बच्चों की सुकुमारावस्था का दुरुपयोग न हो। इसी प्रकार राज्य यह प्रयास करेगा कि बालक-बालिकाओं का अन्य किसी प्रकार का शोषण न हो।

5. धन के केन्द्रीकरण का विरोधी—भारतीय संविधान में पूंजी के विकेन्द्रीकरण के आदर्शों को दृष्टिपथ में रखकर धन के केन्द्रीकरण का विरोध किया गया है कि राज्य सार्वजनिक हित के विरुद्ध धन के केन्द्रीकरण को रोकेगा। इस प्रकार इसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि राज्य इस बात का प्रयास करेगा कि सार्वजनिक कल्याण के लिए समाज के भौतिक साधनों के स्वामित्व और नियंत्रण का समुचित वितरण हो।

6. आर्थिक प्रगति का सन्देशवाहक—भारतीय संविधान को आर्थिक प्रगति का सन्देशवाहक कहा जा सकता है। राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत स्पष्ट शब्दों में आर्थिक प्रगति के निर्देशन दिए गए हैं। उदाहरण के लिए, इस प्रसंग में यह कहा गया है कि राज्य कृषि एवं पशुपालन का आधुनिक तथा वैज्ञानिक ढंग से विकास करेगा तथा लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए प्रयास करेगा।

कुछ अन्य विशेषताएँ

भारतीय संविधान की उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ अन्य विशेषताएँ भी हैं जिन्हें हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. भारतीय संविधान ग्राम-पंचायतों की स्थापना में विश्वास करता है तथा ग्रामीण स्वराज के स्वप्न को साकार करना चाहता है।
2. भारतीय संविधान हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकार करता है, साथ ही वह प्रादेशिक भाषाओं के अस्तित्व और विकास में भी विश्वास करता है।
3. भारतीय संविधान शिक्षा और संस्कृति का संरक्षक है। संविधान के कतिपय प्रसंगों में इस तथ्य का स्पष्ट संकेत है।

इस प्रकार भारतीय संविधान अनेक विशेषताओं से समलंकृत है। ये विशेषताएँ भारतीय संविधान को विश्व की संवैधानिक परम्परा में गौरवपूर्ण स्थान प्रदान करती हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण भारतीय संविधान को भारत के राजनैतिक विवेक की उत्कृष्ट कृति तथा संवैधानिक साहित्य का अनुपम प्रणयन कहा गया है।

भारतीय संविधान की आलोचना

भारतीय संविधान की विशेषताओं के उपर्युक्त विवेचन से भारत की संवैधानिक व्यवस्था की रूपरेखा का एक शब्दचित्र मिल जाता है। इन विशेषताओं के प्रकाश में हम कह सकते हैं कि भारतीय संविधान संवैधानिक साहित्य-रत्नालय का एक अनुपम रत्न है, भारतीय संविधान-शास्त्रियों, विधि-विशारदों तथा जननायकों की अनुपम उपलब्धि है। पर जहाँ एक ओर संविधान के प्रशंसक भारतीय संविधान को एक उत्कृष्ट संवैधानिक कृति कहकर उसका स्वस्ति-वादन करते हैं, वहाँ दूसरी ओर उसके आलोचकों की भी संख्या कम नहीं है। इन आलोचकों के अनुसार भारतीय संविधान में अनेक दोष और असंगतियाँ हैं जिनके कारण उसे श्रेष्ठ संविधान की संज्ञा देना संगत नहीं है। इन आलोचकों ने अपने विचारों के समर्थन में कई तर्क दिये हैं। इन तर्कों में से मुख्य निम्नलिखित हैं—

1. संविधान अत्यन्त विशाल है—भारतीय संविधान की आलोचना के प्रसंग में प्रस्तुत पहला तर्क उसकी विशालता से सम्बन्धित है। आलोचकों के अनुसार भारतीय संविधान अनावश्यक

भारतीय संविधान की आलोचना
1. संविधान अत्यन्त विशाल है
2. संविधान अत्यन्त जटिल है
3. संविधान अपरिवर्तनशील है
4. संविधान में मौलिकता का अभाव है
5. संविधान में भारतीयता का अभाव है

रूप से विशाल है। संविधान-सभा के एक प्रमुख सदस्य श्री हरिविष्णु कामथ ने संविधान की विशालता पर व्यंग्य करते हुए कहा था कि "हमें इस तथ्य पर गर्व होना चाहिए कि हमारा संविधान दुनिया का सबसे विशाल संविधान है।.... संविधान सभा ने अपना प्रतीक हाथी को चुना है। संविधान को हाथी के समान विशाल बनाकर हमारे संविधान-निर्माताओं ने इस प्रतीक की सार्थकता को सिद्ध कर दिया है।"

2. संविधान अत्यन्त जटिल है—भारतीय संविधान की आलोचना का दूसरा प्रमुख आधार संविधान की जटिलता या दुरूहता है। आलोचकों का कहना था कि संविधान अत्यन्त जटिल है, इतना जटिल कि जन-साधारण उसे जरा भी समझ नहीं सकता। इस दुरूहता या जटिलता के कारण संविधान-सम्बन्धी विवादों की बाढ़ आ जायगी और संविधान एक प्रकार से 'वकीलों का स्वर्ग' (Paradise of the Lawyers) बन जायगा। इस प्रकार संविधान की जटिलता का लाभ वकीलों को मिलेगा और जन-साधारण इस जटिलता का शिकार बनेगा।

3. संविधान अपरिवर्तनशील है—भारतीय संविधान की आलोचना का तीसरा आधार उसकी अपरिवर्तनशीलता है। डॉ० आइवर जेनिंग्ज ने संविधान की अपरिवर्तनशीलता की आलोचना करते हुए लिखा था कि संविधान का एक प्रमुख दोष उसकी अपरिवर्तनशीलता है। आलोचकों के अनुसार, भारतीय संविधान इतना जटिल है कि उसमें सरलता से संशोधन नहीं किया जा सकता। इस अपरिवर्तनशीलता के कारण संविधान युग की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार अपने को सरलता से बदल नहीं सकता।

4. संविधान में मौलिकता का अभाव है—भारतीय संविधान की आलोचना का अन्य मुख्य आधार संविधान की मौलिकता से सम्बन्धित है। आलोचकों के अनुसार भारतीय संविधान में मौलिकता का सर्वथा अभाव है। इस दृष्टि से आलोचकों ने भारतीय संविधान को 'उधार ली गई वस्तुओं का संकलन' (Bag of Borrowings), 'गोंद और कैंची का परिणाम' (Result of Scissors and Paste) तथा 'वर्णसंकर संविधान' (Hybrid) आदि की संज्ञा दी है।

5. संविधान में भारतीयता का अभाव है—भारतीय संविधान की आलोचना का अन्य तर्क यह है कि भारतीय संविधान में भारतीयता का अभाव है। भारतीय संविधान पाश्चात्य देशों के संवैधानिक आधारों, आदर्शों और संस्थाओं पर आधारित है। वह एक प्रकार से यूरोप, अमेरिकी संवैधानिक व्यवस्था की प्रतिलिपि है, उसमें भारतीय संस्थाओं तथा भारतीय परम्पराओं और भारतीय आदर्शों का अभाव है।

ये तर्क कहाँ तक उचित हैं ?

भारतीय संविधान की आलोचना के प्रसंग में उपर्युक्त विचारों का यदि हम विश्लेषण करें तो देखेंगे कि उपर्युक्त आलोचनाओं में से अधिकांश एकांगी, अतिरंजित और शिथिल हैं। उदाहरण के लिए, हम आलोचना के पहले तर्क तथा संविधान की विशालता को ले सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय संविधान विश्व का सबसे विशाल संविधान है। किन्तु इस विशालता के पीछे कई कारण थे। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि भारत की विशालता, संघात्मक शासन की व्यवस्था, केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन, मौलिक अधिकारों तथा राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का उल्लेख, राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकारों का वर्णन, राज्यों की शासन-व्यवस्था का वर्णन आदि अनेक तत्व ऐसे थे जिनका विस्तार से उल्लेख करना आवश्यक था। फिर, हमारे संविधान-निर्माता देश की संवैधानिक व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करना चाहते थे, इसलिए वे संवैधानिक व्यवस्था-सम्बन्धी किसी

महत्वपूर्ण बात को संयोग पर नहीं छोड़ना चाहते थे। ऐसी स्थिति में संविधान का विशाल होना स्वाभाविक था। इसी प्रकार आलोचना का यह तर्क कि संविधान अत्यन्त दुरूह या जटिल है, उचित नहीं। संविधान एक वैधानिक कृति होता है, वह गहन चिंतन-मनन तथा युक्तिसंगत विचार-विमर्श का प्रतिफल होता है। संविधान पर आधारित व्यवस्था के संचालन का दायित्व सुशिक्षित, सुयोग्य तथा प्रबुद्ध लोगों पर होता है, न कि अशिक्षित और अयोग्य व्यक्तियों पर। अतएव संविधान की दुरूहता-विषयक तर्क थोथा और असंगत है।

संविधान की आलोचना का तीसरा तर्क उसकी अपरिवतनशीलता से सम्बन्धित है, पर यह तर्क भी उचित नहीं है। हमारा संविधान वस्तुतः नमनशीलता और अनमनशीलता का अपूर्व मिश्रण है। वह न तो इतना अपरिवर्तनशील या कठोर है कि उसमें परिवर्तन न हो सके और न इतना परिवर्तनशील कि आये दिन उसमें परिवर्तन कर उसके स्वरूप को विकृत कर दिया जाय।

भारतीय संविधान पर अन्य आरोप यह है कि भारतीय संविधान में मौलिकता का अभाव है। यह सत्य है कि भारतीय संविधान के सृजन में अनेक स्रोतों का योग रहा है। भारतीय संविधान-निर्माताओं ने विश्व की शासन-प्रणाणियों से प्रेरणा ग्रहण करके उनके उत्कृष्ट तत्वों को संविधान में अन्तस्थ करने का प्रयास किया। पर इस प्रयास का यह अर्थ नहीं कि भारतीय संविधान विदेशी संविधानों की अन्ध अनुकृति है।

इसी प्रकार भारतीय संविधान की यह आलोचना कि संविधान में भारतीयता का अभाव है, अतिरंजित है। भारतीय संविधान भारत में पाश्चात्य पद्धति की संसदात्मक व्यवस्था की स्थापना करता है। फलतः भारतीय राजनीतिक संस्थाओं का पाश्चात्य संस्थाओं की अनुकृति लगना स्वाभाविक है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि हमारा संविधान भारतीयता से वंचित है। वस्तुतः हमारी संवैधानिक व्यवस्था स्वरूप में भले ही विदेशी लगे, किन्तु उसकी आत्मा भारतीय है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि भारतीय संविधान भारतीयों की कृति है, वह भारतीय धरती पर, भारतीयों द्वारा, भारतीयों के लिए निर्मित संविधान है। इसलिए उसे 'अभारतीय' या विदेशी कहना सर्वथा अनुचित है।

उपसंहार

वस्तुतः भारतीय संविधान विश्व के श्रेष्ठ संविधानों का समन्वित नवनीत है, भारतीयों की राजनैतिक चेतना की सम्यक् अभिव्यक्ति है, संवैधानिक ज्ञान की अप्रतिम उपलब्धि है। हमारा संविधान हमारी स्वाधीनता का रक्षा-कवच, हमारे संसदीय जनतंत्र का आधार-स्तम्भ तथा भावी भारत के निर्माण का सशक्त माध्यम है। इसी संविधान की छाँह में विगत वर्षों में हमने भारत के राजनैतिक लोकतंत्र की रक्षा और व्यवस्था की है। भविष्य में इसी की छाँह में आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना कर हम भावी भारत का निर्माण कर सकते हैं।

आज हमारी संवैधानिक व्यवस्था में जो कतिपय शिथिलताएँ दिखलाई पड़ रही हैं, वह अनेक प्रश्न-चिह्नों से घिरी प्रतीत हो रही हैं, पर इसका दोष हमारे संविधान का नहीं, प्रत्युत हमारा अपना ही है। इस प्रसंग में हमें डॉ० अम्बेदकर के वे शब्द याद आते हैं जो उन्होंने संविधान-सभा में भारतीय संविधान के मूल्यांकन के प्रसंग में कहे थे। उनके शब्दों में, "मैं समझता हूँ कि यह एक व्यवहार-योग्य, परिवर्तनशील संविधान है और इतना सशक्त है कि शान्ति तथा युद्धकाल, दोनों में देश को सुरक्षित रख सकता है। वास्तव में यदि मैं यह कहूँ कि यदि इस नए संविधान के अन्तर्गत चीजें बिगड़ती हैं तो उसका कारण यह नहीं होगा कि हमारा संविधान बुरा था, वरन् हमें यह कहना पड़ेगा कि मनुष्य ही बुरा था।"

2

भारतीय संविधान की संसदात्मक विशेषताएँ

संसदात्मक शासन-प्रणाली शासन की वह प्रणाली होती है जिसमें कार्यपालिका व्यवस्थापिका का अंग होने के साथ ही अपनी नीति और कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है। भारतीय संविधान भारत में संसदात्मक व्यवस्था का प्रावधान करता है। अतएव भारत की संवैधानिक व्यवस्था में हमें वे सब तत्व मिलते हैं जो कि संसदात्मक शासन में सुलभ होते हैं। यदि हम भारतीय संविधान के संसदात्मक लक्षणों का विवेचन करें तो इस कथन की सत्यता स्पष्ट हो जायेगी।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम भारतीय संविधान के संसदात्मक लक्षणों को निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1 **कार्यपालिका के दो पक्ष**—संसदात्मक शासन में कार्यपालिका के दो पक्ष होते हैं: नाम-मात्र की कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका। वास्तविक कार्यपालिका का कार्य मंत्रिपरिषद् करती है; नाम-मात्र की कार्यपालिका शासन की वैधानिक प्रधान होती है। भारत की संसदात्मक व्यवस्था में भी कार्यपालिका के दो पक्ष हैं: वास्तविक कार्यपालिका और नाम-मात्र की कार्यपालिका। मंत्रिपरिषद् वास्तविक कार्यपालिका है और राष्ट्रपति नाम-मात्र की कार्यपालिका है। राष्ट्रपति राज्य का प्रधान है, शासन का प्रधान नहीं है। जिस प्रकार केन्द्र में राष्ट्रीय स्तर पर कार्यपालिका के दो पक्ष हैं, उसी प्रकार राज्यों में भी कार्यपालिका के दो पक्ष होते हैं। राज्यों में राज्यपाल कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान होता है, जबकि राज्य की मंत्रिपरिषद् वास्तविक कार्यपालिकीय शक्तियों का उपभोग करती है।

2. **शक्तियों का संकेन्द्रण**—संसदात्मक शासन में शासन की प्रमुख शक्तियों (कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका) में शक्तियों का विभाजन नहीं होता। इसके विपरीत शक्तियों का संकेन्द्रण होता है। फलतः संसदात्मक शासन में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होती हैं। भारत की संसदात्मक व्यवस्था में भी कार्यपालिका और व्यवस्थापिका एक-दूसरे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। भारतीय कार्यपालिका (मंत्रिपरिषद्) भारतीय व्यवस्थापिका (केन्द्र में और राज्यों में राज्यों के विधान-मण्डल) से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् के सदस्य संघीय संसद (यूनियन पार्लियामेण्ट) के सदस्य होते हैं। यदि कोई व्यक्ति मंत्रिपद पर नियुक्त होने के समय व्यवस्थापिका का सदस्य नहीं होता तो उसे मन्त्री बनने के समय से लेकर 6 महीने के अन्तर्गत व्यवस्थापिका का सदस्य होना आवश्यक होता है। इस प्रकार व्यवस्थापिका के सदस्य मन्त्रिपरिषद् के सदस्य होते हैं। मन्त्रिपरिषद् के सदस्य व्यवस्थापिका की गतिविधियों में भाग लेते हैं। इसके विपरीत अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका एक-दूसरे से पृथक् होती हैं। उदाहरण के लिए, अमेरिका में राष्ट्रपति की मन्त्रिपरिषद् के सदस्य वहाँ की व्यवस्थापिका (कांग्रेस) के सदस्य नहीं होते और न उसकी गतिविधियों में किसी प्रकार भाग लेने के अधिकारी होते हैं।

3. **मन्त्रिपरिषद्—शासन का मुख्य कर्णधार**—संसदात्मक शासन में मन्त्रिपरिषद् का सर्वोपरि महत्व होता है। संसदात्मक शासन में वह एक धुरी का कार्य करती है जिसके चारों ओर संसदात्मक शासन आवृत्तियाँ लेता है। भारत की संसदात्मक व्यवस्था भी इसका अपवाद नहीं है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 74 (1) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "राष्ट्रपति को उसके कार्य में सलाह देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद् होगी जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री होगा।" इसी प्रकार राज्यों के संसदात्मक शासन के लिए संविधान के अनुच्छेद 163 (1) में कहा गया है कि "राज्य में राज्यपाल को शासन में सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद

होगी।" इस प्रकार भारत की संसदात्मक व्यवस्था में मंत्रिपरिषद् का महत्वपूर्ण स्थान है। मंत्रिपरिषद् की इसी महत्ता को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि 'मंत्रिपरिषद् भारत की संसदात्मक व्यवस्था की आधारशिला है।'

4. मंत्रिपरिषद् की एकरूपता—संसदात्मक व्यवस्था मंत्रिपरिषद् का एकरूप होना आवश्यक होता है। मंत्रिपरिषद् की एकरूपता का आशय यह है कि मंत्रिपरिषद् के सदस्य सामान्यतया एक ही राजनैतिक दल, एक राजनैतिक सिद्धान्त तथा एक से राजनैतिक आदर्श या कार्यक्रम में विश्वास करते हैं। भारत की संसदात्मक व्यवस्था भी मंत्रिपरिषद् की एकरूपता पर आधारित है। भारत में केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् का निर्माण उसी दल के लोगों से होता है जिसका लोकसभा में बहुमत होता है। यदि लोकसभा में किसी एक दल का बहुमत नहीं होता तो कई दल मिलकर अपना नेता चुनते और उसके नेतृत्व में मिल-जुल कर मंत्रिपरिषद् का गठन होता है। ऐसी स्थिति में मंत्रिपरिषद् में सम्मिलित होने वाले राजनैतिक दल समान नीति और समान कार्यक्रम में सहमत होते हैं। उनकी यह सहमति मंत्रिपरिषद् को एकरूपता प्रदान करती है।

5. मन्त्रिपरिषद् का सामूहिक उत्तरदायित्व—मंत्रिपरिषद् का सामूहिक उत्तरदायित्व संसदीय व्यवस्था का अन्य प्रमुख लक्षण होता है। फलतः संसदात्मक शासन में मंत्रिपरिषद् का प्रत्येक सदस्य व्यक्तिगत रूप से तथा सारा मंत्रिपरिषद् सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता है। वह अपने पद पर तब तक बना रहता है जब तक कि उसे व्यवस्थापिका का विश्वास प्राप्त रहता है। भारत की संसदात्मक व्यवस्था भी इस सिद्धांत को स्वीकार करती है। संविधान के अनुसार केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। केन्द्रीय मंत्रि-परिषद् तभी तक अपने पद पर बनी रहती है जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त रहता है। लोकसभा के विश्वास से वंचित होने पर मंत्रिपरिषद् को त्यागपत्र देना पड़ता है। इसी प्रकार राज्यों में मंत्रिपरिषद् राज्य की विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी होती है।

6. प्रधानमन्त्री की प्रधानता—संसदात्मक शासन-व्यवस्था में प्रधानमन्त्री का विशिष्ट स्थान होता है। वह मंत्रिपरिषद् का अध्यक्ष, संसद में बहुमत दल का नेता तथा देश की राज-नैतिक शक्तियों का प्रधान आकर्षण-केन्द्र होता है। भारत की राजनैतिक व्यवस्था भी इसका अपवाद नहीं है। भारत की संसदात्मक शासन-व्यवस्था में प्रधानमंत्री सबसे प्रधान और प्रभाव-शाली तत्व है। वही भारत की संसदात्मक व्यवस्था का प्रधान संचालक है।

7. संसदीय सम्प्रभुता—संसदात्मक शासन का अन्य प्रमुख लक्षण संसद की सम्प्रभुता या सर्वोच्चता है। भारत के संसदात्मक शासन में यही लक्षण विद्यमान है। भारत में संसद को संविधान के अनुसार अनेक महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हैं। भारतीय संसद को संविधान में संशो-धन करने का, समस्त महत्त्वपूर्ण विषयों पर विधि-निर्माण का अधिकार प्राप्त है। संसद द्वारा बनाई गई विधियों को देश की विधि-व्यवस्था में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। इसके अतिरिक्त संसद केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् पर नियंत्रण रखती है। राष्ट्र की वित्तीय व्यवस्था पर भी संसद का पूर्ण प्रभुत्व रहता है। इस प्रकार भारत की संसदात्मक व्यवस्था में संसद को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत की शासन-व्यवस्था संसदात्मक शासन-व्यवस्था है। यह व्यवस्था ग्रेट-ब्रिटेन की शासन-व्यवस्था से मिलती-जुलती है। किन्तु भारत की संसदात्मक व्यवस्था ग्रेट-ब्रिटेन की संसदात्मक व्यवस्था का अन्धानुकरण नहीं है। भारत की संसदात्मक व्यवस्था में कतिपय ऐसे तत्व भी विद्यमान हैं जिन्हें अध्यक्षात्मक शासन का लक्षण कहा जा सकता है। संक्षेप में इनमें से कुछ लक्षण इस प्रकार हैं—

1. भारतीय संघ के राष्ट्रपति की विशिष्ट स्थिति
2. संसद की सर्वोच्चता पर सीमाएँ

3. भारतीय संविधान की संकटकालीन व्यवस्था
4. न्यायपालिका का स्वतन्त्र अस्तित्व

इनमें से सर्वप्रथम हम पहले लक्षण को ले सकते हैं। भारतीय राष्ट्रपति भारत की संसदात्मक व्यवस्था का वैधानिक प्रधान है। किन्तु ब्रिटेन की महारानी की भाँति भारतीय राष्ट्रपति मात्र शोभा की वस्तु नहीं है। वह मात्र 'स्वर्णिम शून्य' (गोल्डेन जीरो) या रवर की मुहर (रवर स्टैम्प) नहीं है। उसे अनेक ऐसे अधिकार प्राप्त हैं जिनके आधार पर शासन के क्षेत्र में वह महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।

इसी प्रकार हम दूसरे लक्षण, अर्थात् संसद की सर्वोच्चता पर सीमाओं को ले सकते हैं। संसदात्मक व्यवस्था में संसद सर्वोच्च शक्ति-सम्पन्न होती है, किन्तु भारत की शासन-व्यवस्था में संसद सम्प्रभु होते हुए भी अनेक सीमाओं से प्रतिवन्धित है।

तीसरे, भारतीय संविधान की संकटकालीन व्यवस्था भी उसके अध्यक्षात्मक लक्षण का संकेत देती है।

चौथे, भारत की शासन-व्यवस्था में स्वतन्त्र न्यायपालिका का प्रावधान है। स्वतन्त्र न्यायपालिका अध्यक्षात्मक शासन का मुख्य लक्षण होती है।

ऐसे ही तत्व के कारण कतिपय विद्वानों ने यह कहा है कि भारतीय संविधान संसदात्मक और अध्यक्षात्मक तत्वों का मिश्रित रूप है। उदाहरण के लिए, न्यायमूर्ति पी० बी० मुखर्जी ने कहा था कि 'भारतीय संविधान में संसद से सम्बन्धित उत्तरदायी कार्यपालिका के साथ ही अध्यक्षात्मक पद्धति को मिलाया गया है।'

निष्कर्ष—यह सत्य है कि भारतीय संविधान में कतिपय ऐसे तत्व हैं जिन्हें अध्यक्षात्मक शासन के तत्व कहा जा सकता है। किन्तु ये तत्व नगण्य हैं, वस्तुतः भारत की शासन-व्यवस्था संसदात्मक शासन-व्यवस्था है।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न और उनके उत्तर

[लघु उत्तरीय प्रश्न का उत्तर पाँच पंक्तियों में होना चाहिए।]

प्रश्न 1—भारतीय संविधान में कुल कितने अनुच्छेद और कितनी अनुसूचियाँ हैं?
उत्तर—भारतीय संविधान में कुल 395 अनुच्छेद और दस अनुसूचियाँ हैं।

प्रश्न 2—भारतीय संविधान के स्थायी अध्यक्ष कौन थे?
उत्तर—डॉ० राजेन्द्रप्रसाद।

प्रश्न 3—भारतीय संविधान के निर्माण में कुल कितना समय लगा?
उत्तर—2 वर्ष, 11 महीने, 18 दिन।

प्रश्न 4 भारत के अन्तिम वायसराय और गवर्नर जर्नल का नाम बताइये?
उत्तर—लार्ड माउण्टबेटन।

प्रश्न 5 भारत के अन्तिम गवर्नर जेनरल का नाम बताइये।
उत्तर—चक्रवती राजगोपालाचार्य।

प्रश्न 6—भारतीय संविधान सभा की प्रारूप समिति के कौन अध्यक्ष थे?
उत्तर—डॉ० भीमराव अम्बेदकर।

प्रश्न 7—भारतीय सभा की पहली बैठक कब हुई थी?
उत्तर—9 दिसम्बर, 1946 ई०।

प्रश्न 8—भारतीय संविधान सभा के अस्थायी अध्यक्ष कौन थे?
उत्तर—डॉ० सच्चिदानन्द सिन्हा।

प्रश्न-9 भारतीय संविधान के निर्माण में कुल कितना रुपया व्यय हुआ ?

उत्तर—63 लाख, 96 हजार, 729 रुपये (लगभग 64 लाख रुपये)

प्रश्न 10—भारतीय संविधान 26 जनवरी, 1950 ई० को क्यों लागू किया गया ?

उत्तर—कांग्रेस ने 31, दिसम्बर, 1929 ई० को रावी तट पर पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव पास किया था तथा प्रति वर्ष 26 जनवरी को स्वाधीनता-पर्व मनाने का निश्चय किया था। 26 जनवरी की इसी महत्ता के कारण भारतीय संविधान 26 जनवरी 1950 ई० को लागू किया गया।

प्रश्न 11—भारतीय संविधान में वर्तमान समय में कुल कितनी अनुसूचियाँ हैं ?

उत्तर—दस अनुसूचियाँ।

प्रश्न 12—भारत को लोकतन्त्रात्मक गणराज्य क्यों कहा गया है ?

उत्तर—भारतीय राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी राष्ट्रपति अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित किया जाता है, इसलिए भारत को गणतन्त्र कहा जाता है।

प्रश्न 13—भारतीय संविधान के मुख्य स्रोत क्या हैं ?

उत्तर—भारतीय संविधान के मुख्य स्रोतों में ब्रिटिश संविधान, संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान, कनाडा का संविधान, दक्षिण अफ्रीका का संविधान तथा 1935 ई० का भारतीय अधिनियम।

प्रश्न 14—भारतीय संविधान की दो राजनैतिक विशेषताएँ बताइए।

उत्तर—(1) लिखित और निर्मित (2) सबसे विशाल संविधान।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारतीय संविधान की संवैधानिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विशेषताओं का विवेचन कीजिए। (उ० प्र०, 1977)

2. भारत के संविधान में कौन-कौन-सी राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक विशेषताएँ हैं ? स्पष्ट कीजिए।

3. भारतीय संविधान की मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए। (उ० प्र०, 1983, 86)

4. भारतीय संविधान की विशालता के क्या कारण हैं ? क्या इसे 'वकीलों की स्वर्ग' कहना उचित है ?

5. भारतीय संविधान के विरुद्ध आलोचकों के क्या तर्क हैं ? क्या उनके तर्क उचित है ?

अध्याय 5

भारतीय संविधान का स्वरूप : संविधान की संघात्मक व्यवस्था

● संघात्मक शासन किसे कहते हैं ● संघात्मक शासन के मूल तत्व ● भारतीय संविधान के संघात्मक तत्व ● भारतीय संविधान पूर्ण रूप से संघात्मक नहीं है ● संविधान के एकात्मक आधार ● भारतीय संविधान संघात्मक और एकात्मक तत्वों का संगम ● उपसंहार : भारत की संघात्मक व्यवस्था की मौलिक विशेषताएँ—एक अनूठी व्यवस्था।

आमुख

भारतीय संविधान के प्रवर्तन से लेकर आज तक भारत की संवैधानिक व्यवस्था से सम्बन्धित एक प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद रहा है, वह यह कि भारतीय संविधान का स्वरूप क्या है, वह संघात्मक है अथवा एकात्मक ? विविध राजशास्त्रियों, विधि-विशारदों तथा संविधान-मनीषियों ने इस प्रश्न पर विविध विचार व्यक्त किए हैं। एक ओर विद्वानों का वह वर्ग रहा है जिसके अनुसार भारत की संवैधानिक व्यवस्था संघात्मक है; दूसरी ओर वे विद्वान् हैं जिनके अनुसार भारतीय संविधान एकात्मक है। इनके विपरीत विद्वानों का वह वर्ग है जिसने यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि भारतीय संविधान स्वरूप में तो संघात्मक है, किन्तु उसकी आत्मा एकात्मक है।

भारतीय संविधान के सम्यक् ज्ञान के लिए इन विविध विचारों का विश्लेषण आवश्यक है।

संघात्मक शासन किसे कहते हैं ?

भारतीय संविधान के संघात्मक स्वरूप का विवेचन करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि संघात्मक शासन से क्या आशय है ?

सुप्रसिद्ध राजशास्त्री प्रो० ए० वी० डायसी ने संघात्मक शासन की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "संघात्मक राज्य एक राजनैतिक विधा है जिसका उद्देश्य राज्य के अधिकारों तथा राष्ट्रीय शक्ति एवं एकता के मध्य सामंजस्य स्थापित करना है।" इसी प्रकार डॉ० के० सी० वियर के अनुसार, 'संघात्मक सिद्धान्त से आशय शक्तियों के विभाजन की उस पद्धति से है जिसमें कि केन्द्रीय और क्षेत्रीय सरकारें अपने-अपने क्षेत्र के अन्तर्गत रहते हुए स्वतंत्र तथा परस्पर सम्बन्धित होती हैं।" डॉ० फाइनर तथा प्रोफेसर सी० एफ० स्ट्रांग जैसे विद्वानों ने भी संघात्मक शासन की इसी प्रकार की मिलती-जुलती परिभाषाएँ की हैं। इन परिभाषाओं के अनुसार हम कह सकते हैं कि संघात्मक शासन एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था है जो दो या दो से अधिक राज्यों के स्वेच्छापूर्वक सहयोग से निर्मित होती है तथा जिसका उद्देश्य क्षेत्रीय और राष्ट्रीय हितों के मध्य सामंजस्य स्थापित करना होता है।

संघात्मक शासन के मूल तत्व

संघात्मक शासन की उपर्युक्त परिभाषाओं के प्रकाश में यदि हम संघात्मक शासन के मूल तत्वों का विश्लेषण करें तो कह सकते हैं कि संघात्मक शासन में मुख्यतया निम्नलिखित तत्व होते हैं—

1 लिखित संविधान

3. शक्तियों का विभाजन
4. दोहरी शासन-व्यवस्था
5. स्वतंत्र न्यायापालिका

भारतीय संविधान के संघात्मक तत्व

संघात्मक शासन के इन लक्षणों के प्रकाश में भारत की संघात्मक व्यवस्था के प्रमुख लक्षणों का विवेचन हम यहाँ करेंगे।

1. लिखित संविधान—संघात्मक शासन का एक प्रमुख लक्षण लिखित-संविधान होता है। लिखित संविधान के बिना संघात्मक शासन की कल्पना नहीं की जा सकती। भारतीय संविधान एक लिखित संविधान है। इस प्रकार भारत संघात्मक शासन के प्रथम आवश्यक तत्व की पूर्ति करता है।

भारतीय संविधान के संघात्मक तत्व
1. लिखित संविधान
2. संविधान की श्रेष्ठता
3. शक्तियों का विभाजन
4. दोहरी शासन-व्यवस्था
5. स्वतंत्र न्यायपालिका

2. संविधान की श्रेष्ठता--संघात्मक शासन का अन्य मुख्य लक्षण संविधान की श्रेष्ठता है। इसके अनुसार संघात्मक व्यवस्था में संविधान एक श्रेष्ठ और सर्वोपरि विधि माना जाता है। अन्य समस्त विधियाँ, समस्त संस्थाएँ और समस्त निकाय संविधान के अधीन होते हैं। भारत की संघात्मक व्यवस्था भी संघात्मक शासन के इस तत्व की परिपूर्ति करती है। भारत में भारतीय संविधान सर्वश्रेष्ठ विधि है। समस्त विधियाँ, समस्त संस्थाएँ संविधान के अन्तर्गत आती हैं। संसद या राज्यों के विधान मण्डल द्वारा बनाई गई विधियाँ संविधान के प्रावधानों की उपेक्षा नहीं कर सकतीं। केन्द्रीय तथा राज्यों की सरकारें संविधान की व्यवस्थाओं को मानने के लिए बाध्य होती हैं। भारत की संवैधानिक व्यवस्था के समस्त पदाधिकारी तथा राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, अन्य मन्त्री, संसद-सदस्य आदि सभी संविधान के प्रति निष्ठा रखने के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। पद-ग्रहण के पूर्व संविधान में वर्णित शपथ ग्रहण करके संविधान के प्रति अपनी निष्ठा का वचन देते और इस प्रकार संविधान की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार संविधान की श्रेष्ठता स्थापित कर भारत की राजनैतिक व्यवस्था संघात्मक शासन के दूसरे प्रमुख लक्षण की पूर्ति करती है।

3. शक्तियों का विभाजन--शक्तियों का विभाजन संघात्मक शासन का अन्य अपरिहार्य लक्षण माना जाता है। भारत की संघात्मक व्यवस्था संघात्मक शासन के इस लक्षण के सर्वथा अनुरूप है। भारतीय संविधान केन्द्र तथा राज्यों के मध्य शक्तियों का विभाजन करता है। इस दृष्टि से भारतीय संविधान में तीन सूचियों का उल्लेख है। ये सूचियाँ इस प्रकार हैं : (1) संघीय सूची, (2) राज्य-सूची तथा (3) समवर्ती सूची। संघीय सूची (Union List) में 97 विषय हैं। इन विषयों पर केवल संघ-सरकार को विधि-निर्माण करने और व्यवस्था करने का अधिकार प्राप्त है। राज्य-सूची के अन्तर्गत 62 विषय हैं। मूल संविधान में इस सूची के अन्तर्गत 66 विषय थे। संविधान के 42वें संशोधन द्वारा इसमें से चार विषय हटाकर समवर्ती सूची के अन्तर्गत कर दिए गए। इसी प्रकार समवर्ती सूची में एक अन्य विषय जोड़ा गया। फलतः समवर्ती सूची के अन्तर्गत इस समय 52 विषय हैं। समवर्ती सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर संघ और राज्य दोनों को कानून बनाने का अधिकार है। इस प्रकार संघवाद के सिद्धान्त को अपनाते हुए भारतीय संविधान ने विस्तार से शक्तियों के वितरण का उल्लेख किया है। शक्तियों का इतना स्पष्ट और व्यापक वितरण विश्व के अन्य किसी भी संघात्मक व्यवस्था में नहीं दिखलाई पड़ता।

4. **दोहरी शासन-व्यवस्था**—दोहरी शासन-व्यवस्था संघवाद का अन्य प्रमुख लक्षण होती है। इस व्यवस्था के अनुसार संघात्मक शासन में दो प्रकार की सरकारें होती हैं—एक ओर संघीय सरकार और दूसरी ओर उसकी इकाइयों की सरकारें। भारतीय संविधान संघवाद को पूरी तरह स्वीकार करता है। जैसा कि डॉ० अम्बेदकर ने कहा है कि "भारतीय संविधान दोहरी शासन-पद्धति की स्थापना करता है, केन्द्र में संघ की सरकार है तथा क्षेत्रों में राज्य की सरकारें हैं। प्रत्येक को संविधान द्वारा अपने-अपने क्षेत्र में अपनी सम्प्रभु-शक्ति का प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त है।"

5 **स्वतन्त्र न्यायपालिका**—स्वतंत्र और सर्वोच्च न्यायपालिका संघात्मक व्यवस्था का अन्य महत्वपूर्ण तत्त्व मानी जाती है। भारतीय संविधान भी इस तत्व के अनुरूप देश में एक सर्वोच्च और स्वतंत्र न्यायपालिका की व्यवस्था करता है। हमारा सर्वोच्च न्यायालय इस व्यवस्था का प्रतीक है। सर्वोच्च न्यायालय-सम्बन्धी प्रावधान भारतीय न्यायपालिका को स्वतंत्र, सर्वोच्च और निष्पक्ष बनाते हैं। यही न्यायालय देश का वह सर्वोच्च न्यायपीठ है जिसमें संघ और राज्यों अथवा विविध राज्यों के पारस्परिक विवाद पर विचार किया जाता है। इसके निर्णय अन्तिम होते हैं, उनके विरुद्ध अन्यत्र कहीं अपील नहीं की जा सकती। सर्वोच्च न्यायालय की निष्पक्षता और स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिए संविधान में निश्चित प्रावधान किए गए हैं।

इस प्रकार भारतीय संविधान संघवाद के समस्त मूल आधारों को स्वीकार करता है। भारतीय संविधान के इन्हीं संघात्मक पक्षों के प्रकाश में उसे संघात्मक संविधान की संज्ञा दी गई। उदाहरण के लिए, प्रो० एलेक्जेण्ड्रोविच ने कहा है कि "भारतीय संविधान निश्चित रूप से संघात्मक व्यवस्था है जिसमें सम्प्रभुता केन्द्र और राज्यों में विभक्त है।" डॉ० महादेव-प्रसाद शर्मा ने लिखा है कि "भारतीय संविधान संघात्मक संविधान है। वह संघवाद के दो प्रमुख तत्वों की पूर्ति करता है : प्रथमतः संघ की इकाइयों का अस्तित्व ; तथा दूसरे, शक्तियों का विभाजन।" इसी प्रकार पाल एन० एपेल्बी ने कहा है कि "भारतीय संविधान पूरी तरह संघात्मक है।"

भारतीय संविधान पूर्ण रूप से संघात्मक नहीं है

भारतीय संविधान के उपर्युक्त पहलू उसे संघात्मक संविधानों की पंक्ति में खड़ा करते हैं। किन्तु भारत की संवैधानिक व्यवस्था में कतिपय ऐसे तत्व हैं जिनके कारण विद्वानों ने भारत की संघात्मक व्यवस्था को पूर्ण संघात्मक व्यवस्था की संज्ञा देना उचित नहीं समझा है। उदाहरण के लिए, डॉ० के० वी० राय का कहना है कि "भारत की संवैधानिक व्यवस्था में संघवाद के आवश्यक तत्वों का अस्तित्व नहीं है।" इसी प्रकार डॉ० के० पी० मुखर्जी ने अपने एक निबन्ध में लिखा है कि भारत की संघात्मक व्यवस्था संघवाद के एक भी सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करती। प्रो० के० सी० वियर तथा जी० एन० जोशी जैसे विद्वानों ने भारत की संघात्मक व्यवस्था को 'अर्द्ध-संघात्मक व्यवस्था' (Quasi-federal Systen) कहना अधिक उचित समझा है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय संविधान संघवाद की पारम्परिक परिभाषा के अक्षरशः अनुरूप नहीं है। इसके कई कारण हैं—

प्रथमतः हमारे संविधान-निर्माता स्वतः देश के इतिहास और देश की परिस्थितियों से भली-भाँति परिचित थे। इसलिए वे देश को पूर्ण संघात्मक व्यवस्था देने के पक्ष में नहीं थे।

दूसरे, भारत विविधता में एकता (Unity in Diversty) का देश रहा है। यहाँ विविध भाषा, धर्म, विविध आचार-विचार, रहन-सहन तथा विविध भौगोलिक परिस्थितियों

के लोग रहते हैं। अतएव हमारे 'संविधान-निर्माता एक ऐसी व्यवस्था को जन्म देना चाहते थे जो इस विविधता के साथ एकता को बनाए रख सके।

तीसरे, जिस समय देश स्वाधीन हुआ तथा देश के संविधान का निर्माण हो रहा था, उस समय देश में छह सौ से ऊपर देशी रियासतें थीं। इन रियासतों के अधिकांश शासक सामान्यतया देश की राष्ट्रीय धारा से कटे हुए थे और अपनी स्वायत्तता का राग अलाप रहे थे। ऐसी स्थिति में एक शिथिल संघात्मक व्यवस्था इन पर नियंत्रण नहीं रख सकती थी।

चौथे, वर्तमान युग की संघात्मक व्यवस्थाओं का झुकाव केन्द्रीकरण की ओर रहा है।

इस प्रकार इन आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में हमारे संविधान-निर्माताओं ने देश की व्यवस्था को संघवाद के कठोर कठघरे में रखने का प्रयास नहीं किया। इस तथ्य को स्वतः डॉ० अम्बेदकर ने स्वीकार करते हुए कहा था कि "भारतीय संविधान संघवाद के कठोर ढांचे में ढाला नहीं गया है।"

भारतीय संविधान के एकात्मक आधार

भारतीय संविधान में अनेक आधार हैं, अनेक एकात्मक प्रवृत्तियां हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन आधारों और प्रवृत्तियों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. संघ के लिए 'यूनियन' शब्द का प्रयोग—भारतीय संविधान की संघात्मक व्यवस्था पर विचार करते समय हमारा सर्वप्रथम ध्यान उस शब्द पर जाता है जो भारतीय संघ के लिए प्रयुक्त किया गया है। संविधान में भारतीय संघ के लिए 'फेडरेशन' (Federation) के स्थान पर 'यूनियन' (Union) शब्द का प्रयोग किया गया है। संविधान के प्रथम अनुच्छेद में ही कहा गया है कि 'भारत राज्यों का एक संघ होगा।' भारतीय संघ के 'यूनियन' शब्द का प्रयोग इस तथ्य का संकेत देता है कि भारतीय संविधान-निर्माता एक शिथिल संघ नहीं बनाना चाहते थे। उनका लक्ष्य एक ऐसे संघ का सृजन था जिसका स्वरूप तो संघात्मक हो, किन्तु आधार एकात्मक हो।

डॉ० अम्बेदकर ने 'यूनियन' शब्द के प्रयोग पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि 'यूनियन शब्द के प्रयोग के दो प्रयोजन हैं—प्रथमतः यह कि भारतीय संघ की इकाइयों द्वारा किए गये समझौते का प्रतिफल नहीं है। दूसरे, यह कि भारतीय संघ की इकाइयाँ संघ से पृथक् होने का अधिकार नहीं रखतीं।

2. शक्तिशाली केन्द्र का सृजन—भारत की संघात्मक व्यवस्था का अन्य प्रमुख आधार शक्तिशाली केन्द्र का सृजन है। इस दृष्टि से संविधान में अनेक प्रावधान किये गयेहैं। शक्तिशाली केन्द्र का समर्थन करते हुए डॉ० अम्बेदकर ने कहा था कि "मैं शक्तिशाली सुगठित केन्द्र चाहता हूँ, इतना शक्तिशाली कि वह उस केन्द्रीय सरकार से भी अधिक सशक्त हो जिसका सृजन 1935 ई० के अधिनियम द्वारा किया गया था।" इस प्रकार शक्तिशाली केन्द्र का समर्थन करते हुए श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने कहा था कि शक्तिशाली केन्द्र भारतीय स्वाधीनता की रक्षा की दृष्टि से आवश्यक है। उनके

> **भारतीय संविधान के एकात्मक आधार**
>
> 1. संघ के लिए 'यूनियन' शब्द का प्रयोग
> 2. शक्तिशाली केन्द्र का सृजन
> 3. शक्तियों का विभाजन, केन्द्र के पक्ष में
> 4. केन्द्र को राज्य के स्वरूप और सीमा में परिवर्तन का अधिकार
> 5. राज्यों के स्वतंत्र संविधान का अभाव
> 6. राज्यों को संविधान में संशोधन का सीमित अधिकार
> 7. इकहरी नागरिकता
> 8. एकीकृत न्याय-व्यवस्था

9. संकटकालीन प्रावधान
10. सारे देश के लिए एक-सी शासन-सम्बन्धी सेवाएँ
11. विशेष नियुक्तियों का अधिकार राष्ट्रपति के हाथों में
12. आर्थिक मामलों में राज्यों की केन्द्र पर निर्भरता
13. राज्य-सभा में राज्यों के समान प्रतिनिधित्व का अभाव
14. राज्य-सूची के विषयों पर विधि-निर्माण में केन्द्र का नियंत्रण
15. अन्तर्राज्य-परिषद् तथा क्षेत्रीय परिषदों की व्यवस्था
16. योजना आयोग तथा अन्य केन्द्रीय अधिकरणों का अस्तित्व
17. केन्द्र-शासित राज्यों की व्यवस्था
18. कुछ अन्य एकात्मक प्रवृत्तियाँ

शब्दों में "भारतीय इतिहास के गौरवशाली दिन वे थे जबकि देश में एक शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता थी और भारत के अत्यन्त दु:खदायी दिन वे थे जबकि प्रान्तों के विरोध के कारण केन्द्रीय सत्ता नष्ट हो गई थी।"

3. शक्तियों का विभाजन, केन्द्र के पक्ष में––भारतीय संविधान में शक्ति-विभाजन की जो प्रक्रिया अपनाई गई है, उसका सन्तुलन केन्द्र के पक्ष में है। केन्द्र को 97 ऐसे विषय दिये गये हैं जिन पर विधि-निर्माण तथा जिनके प्रशासन का एकमात्र अधिकार केन्द्र को है। इसके अतिरिक्त समवर्ती सूची भी केन्द्र की परिधि में है। विशिष्ट दशाओं में राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर भी केन्द्र का नियन्त्रण स्थापित हो जाता है। इस प्रकार शक्ति-वितरण की प्रक्रिया और व्यवस्था एकात्मक आधारों को सबल बनाती है।

4. केन्द्र को राज्य के स्वरूप और सीमा में परिवर्तन का अधिकार––भारतीय संविधान केन्द्रीय शासन को राज्य के स्वरूप और सीमा में परिवर्तन का पूरा अधिकार देता है। संविधान के तीसरे अनुच्छेद में कहा गया है कि संसद कानून बनाकर (1) दो या दो से अधिक राज्यों को मिलाकर, या किसी राज्य का कोई क्षेत्र अलग कर नये राज्य का निर्माण कर सकती है। (2) वह किसी राज्य के क्षेत्र को घटा या बढ़ा सकती है। वह राज्य की सीमाओं को बदल सकती है। (3) वह राज्य के नाम में परिवर्तन कर सकती है। संसद ने इस शक्ति के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया है, नये राज्यों को जन्म दिया है तथा राज्यों का नाम बदला है। राज्यों की स्थिति में परिवर्तन का यह अधिकार निश्चित रूप से केन्द्र को श्रेष्ठतर स्थिति प्रदान करता है।

5. राज्यों के स्वतन्त्र संविधान का अभाव––कतिपय संघात्मक व्यवस्थाओं में राज्यों को अपना पृथक् संविधान बनाये रखने का अधिकार दिया गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस तथा स्विट्जरलैंड की संघात्मक व्यवस्थाएँ इसकी उदाहरण हैं, किन्तु भारतीय संविधान राज्यों का अपना पृथक् संविधान बनाने का अधिकार नहीं देता। राज्यों की शक्तियों और संगठन-विषयक समस्त व्यवस्थाओं का संविधान में उल्लेख कर दिया गया है। इस प्रकार देश की संवैधानिक व्यवस्था से अलग राज्य किसी अन्य संविधान का निर्माण नहीं कर सकते।

6. राज्यों को संविधान में संशोधन का सीमित अधिकार––कतिपय संघात्मक व्यवस्थाओं में राज्यों को संविधान में संशोधन का महत्वपूर्ण अधिकार दिया गया है। किन्तु भारतीय संवैधानिक व्यवस्था में राज्यों को संविधान में संशोधन का सीमित अधिकार ही प्राप्त है।

7. इकहरी नागरिकता––कुछ संघात्मक व्यवस्थाओं में दोहरी नागरिकता का प्रावधान होता है। एक ओर संघ की नागरिकता होती है और दूसरी ओर राज्यों की। संयुक्त राज्य अमेरिका की व्यवस्था इसका उदाहरण है, किन्तु भारतीय संविधान इकहरी नागरिकता का प्रावधान करता है। इसके अनुसार सारे देश के लिए एक ही नागरिकता है, वह है भारतीय नागरिकता।

8. **एकीकृत न्याय-व्यवस्था**—संविधान सारे देश के लिए एकीकृत न्याय-व्यवस्था का प्रावधान करता है। इस न्याय-व्यवस्था के शीर्ष पर सर्वोच्च न्यायालय है और राज्यों में उच्च न्यायालय। इन न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा होती है। एकीकृत न्याय-व्यवस्था के साथ ही सारे देश के फौजदारी और दीवानी कानूनों में एकरूपता लाने का प्रयास किया गया है।

9. **संकटकालीन प्रावधान**—भारतीय संविधान को एकात्मक आधार प्रदान करने में संकटकालीन प्रावधानों का विशिष्ट महत्व है। ये प्रावधान संकटकालीन स्थिति में केन्द्रीय सरकार को अत्यन्त शक्तिशाली बना देते हैं। एक प्रकार से संकटकाल में शासन का सारा रूप एकात्मक हो जाता है।

10. **सारे देश के लिए एक-सी शासन-सम्बन्धी सेवाएँ**—अखिल भारतीय सेवाओं, यथा 'भारतीय प्रशासकीय सेवा' और 'भारतीय पोलिस सेवा' का प्रावधान कर सारे देश के लिए एक-सी सेवाओं की व्यवस्था की गई है। ये सेवाएँ भारत की राजनीतिक व्यवस्था को एकात्मक आधार प्रदान करती हैं।

11. **विशेष नियुक्तियों का अधिकार राष्ट्रपति के हाथों में**—केन्द्र के हाथों में राज्य-प्रशासन से सम्बन्धित अनेक उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार देकर एकात्मक शासन की प्रवृत्ति को और सबल बनाया गया है। उदाहरण के लिए, राज्यपाल की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को ही है। इसी प्रकार उच्च न्यायालय के न्यायाधीश भी राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त होते हैं।

12. **आर्थिक मामलों में राज्यों की केन्द्र पर निर्भरता**—राष्ट्र के समस्त प्रधान आर्थिक सूत्र केन्द्र के हाथों में सौंपे गये हैं। संविधान द्वारा राज्यों को जो वित्तीय साधन प्रदान किए गए हैं, उनसे राज्यों का पूरा कार्य नहीं चल सकता। फलतः वित्तीय मामलों में राज्य पूरी तरह केन्द्र पर निर्भर रहते हैं। केन्द्र पर राज्यों की यह निर्भरता भी देश में एकात्मक शासन की प्रवृत्तियों को सशक्त बनाती है।

13. **राज्य-सभा में राज्यों के समान प्रतिनिधित्व का अभाव**—संघात्मक व्यवस्था में संघात्मक सिद्धांत के अनुसार संघीय व्यवस्थापिकाओं के दूसरे सदन में संघ की इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है। उदाहरणार्थ, संयुक्त राज्य अमेरिका के द्वितीय सदन—सीनेट में प्रत्येक राज्य को दो सदस्य भेजने का अधिकार है। किन्तु भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्य सभा में राज्यों को समान प्रतिनिधित्व नहीं दिया है। उदाहरण के लिए, राजस्थान को 10 सदस्य, मध्य प्रदेश को 16 तथा उत्तर प्रदेश को 34 सदस्य भेजने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति को राज्य सभा में 12 सदस्यों के मनोनीत करने का अधिकार है। राज्यों का उसमें कोई हाथ नहीं होता। इस प्रकार राज्य-सभा में राज्यों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था संविधान की एकात्मक प्रवृत्ति की परिचायक है।

14. **राज्य-सूची के विषयों पर विधि-निर्माण में केन्द्र का नियन्त्रण**—विशिष्ट परि-स्थितियों में राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर विधि-निर्माण का अधिकार केन्द्र को प्राप्त है। उदाहरण के लिए, संविधान के 250वें अनुच्छेद में कहा गया है कि आपातकाल में संसद को राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर विधि-निर्माण का पूरा अधिकार है। इसी प्रकार 252वें अनुच्छेद में कहा गया है कि यदि दो या दो से अधिक राज्य केन्द्र से राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले विषय पर विधि-निर्माण का निवेदन करते हैं तो संसद उस विषय पर विधि-निर्माण कर सकती है।

15. **योजना आयोग तथा वित्तीय आयोग जैसे केन्द्रीय अभिकरणों का अस्तित्व**—भारत की राजनीतिक व्यवस्था में योजना आयोग तथा वित्तीय आयोग जैसे कतिपय अभिकरणों का अस्तित्व है। ये अभिकरण पूर्णतया केन्द्रीय सरकार द्वारा गठित किये जाते हैं तथा केन्द्रीय सरकार

के नियन्त्रण और निर्देशन में रहकर अपना कार्य करते हैं। इनके द्वारा निर्धारित नीति का राज्यों पर पूरा प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी इन आयोगों की नीतियों और कार्यों का इतना व्यापक प्रभाव पड़ता है कि ये आयोग 'सुपर कैबिनेट' जैसे प्रतीत होते हैं। इस प्रकार इन केन्द्रीय अभिकरणों ने भी एकात्मक प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया है। जैसा कि के० सन्थानम ने लिखा है कि "आयोजन (प्लानिंग) ने संघ को पीछे छोड़ दिया है और हमारा देश कई दृष्टियों से एकात्मक शासन की भाँति कार्य कर रहा है।"

16. अन्तर्राज्य परिषद् तथा क्षेत्रीय परिषदों की व्यवस्था—भारत की संघात्मक व्यवस्था में अन्तर्राज्य परिषद् तथा क्षेत्रीय परिषदों (zonal councils) की स्थापना की गई है। इन परिषदों का प्रमुख प्रयोजन भारत की संघात्मक व्यवस्था को स्वस्थ दिशा प्रदान करना है। किन्तु इन परिषदों की रचना और कार्यविधि ने एकात्मक प्रवृत्तियों को बल प्रदान किया है।

17. केन्द्र-शासित राज्यों की व्यवस्था—भारत की संघात्मक व्यवस्था में संघ की दो प्रकार की इकाइयाँ हैं—(1) राज्य तथा (2) केन्द्र-शासित राज्य। जहाँ तक राज्यों का प्रश्न है, संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार राज्यों के अन्तर्गत आने वाले विषयों के शासन का राज्यों को महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त है। किन्तु केन्द्र-शासित राज्य, जैसा कि उनके नाम से स्पष्ट है, पूर्णतया केन्द्र द्वारा शासित होते हैं। भारतीय संघ के अन्तर्गत इस प्रकार के केन्द्र-शासित राज्यों की संख्या कुल 7 है। इन केन्द्र-शासित राज्यों का अस्तित्व तथा उनकी व्यवस्था भारत की संघात्मक व्यवस्था के एकात्मक आधारों के प्रमुख पक्ष हैं। जैसा कि डॉ० महादेवप्रसाद शर्मा ने लिखा है कि "संघ के सम्बंध में इन क्षेत्रों की स्थिति वही है जो एकात्मक राज्य में उसके प्रदेशों की होती है।"

18. कुछ अन्य एकात्मक प्रवृत्तियाँ—भारत की संघात्मक व्यवस्था के उपर्युक्त एकात्मक आधारों या प्रवृत्तियों के अतिरिक्त कुछ अन्य एकात्मक प्रवृत्तियाँ भी हैं। इन्हें हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. सारे देश के लिए निर्वाचन-व्यवस्था का संचालन एक निर्वाचन आयोग द्वारा होता है। इस आयोग के प्रधान की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है।
2. राष्ट्रपति के महाभियोग में राज्यों का कोई स्वर नहीं है।
3. संविधान के संशोधन में राज्यों को सीमित अधिकार प्राप्त है।
4. राज्यों के आय-व्यय की जाँच का कार्य आडीटर जनरल तथा उसके अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा होता है। वे अधिकारी केन्द्र के अधीन होते हैं।
5. एक लम्बी अवधि तक केन्द्र तथा अधिकांश राज्यों में एक राजनैतिक दल की प्रधानता ने भी एकात्मक आधारों को मजबूत बनाया है।

भारत की संघात्मक व्यवस्था की एकात्मक प्रवृत्तियों के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत की संघात्मक व्यवस्था के एकात्मक आधार अत्यन्त सबल हैं। इन्हीं आधारों के कारण भारत की संघात्मक व्यवस्था को अनेक विद्वानों ने 'एकात्मक व्यवस्था' की संज्ञा दी है। प्रो० के० वी० राव ने भारत की संघात्मक व्यवस्था को 'केन्द्रीकृत संघ' (Centralised Federation) कहा है। इसी प्रकार प्रो० वी० के० आर० वी० राव ने कहा है कि "हमारा राज्य एक एकात्मक राज्य है जिसमें कि राज्य केन्द्रीय सरकार के एजेण्ट के रूप कार्य कर रहे हैं, जैसा कि ब्रिटिश शासन में था।" इसी प्रकार एक अन्य विद्वान् ने भारत की संघात्मक व्यवस्था को 'पैरामाउण्ट फेडरेशन' (Paramount Federation) कहा है।

भारत की संघात्मक व्यवस्था का वास्तविक स्वरूप : संघात्मक और एकात्मक व्यवस्था का संगम

भारत की संघात्मक व्यवस्था के उपर्युक्त एकात्मक आधारों को देखते हुए सामान्यतया यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत की संघात्मक व्यवस्था एक एकात्मक व्यवस्था है।

भारतीय संविधान की संघात्मक व्यवस्था की विशेषताएँ

संविधान के संघात्मक तत्व

1. लिखित संविधान का प्रावधान
2. संविधान की श्रेष्ठता
3. शक्तियों का संघ और उसकी इकाइयों में विभाजन
4. दोहरी शासन-व्यवस्था, अर्थात् एक ओर केन्द्र तथा दूसरी ओर राज्यों के पृथक् शासन का प्रावधान
5. स्वतन्त्र न्यायपालिका का प्रावधान।

संविधान के एकात्मक आधार

1. भारतीय संघ के लिए 'यूनियन' शब्द का प्रयोग।
2. शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना।
3. केन्द्र के पक्ष में शक्तियों का वितरण।
4. केन्द्र को राज्यों के स्वरूप और सीमा में परिवर्तन का अधिकार।
5. राज्यों के स्वतन्त्र संविधान का अभाव।
6. राज्यों को संविधान में संशोधन का सीमित अधिकार।
7. सारे देश के लिए इकहरी नागरिकता की व्यवस्था।
8. संकटकाल के लिए विशेष प्रावधान।
9. सारे देश के लिए एकीकृत न्याय व्यवस्था।
10. सारे देश के लिए एक-सी शासन-सम्बन्धी सेवाओं की व्यवस्था।
11. आर्थिक मामलों में राज्यों की केन्द्र पर निर्भरता।
12. राष्ट्रपति द्वारा राज्य के राज्यपालों की नियुक्ति।

संविधान में शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना-विषयक प्रावधान

1. केन्द्रीय शासन सरकार को शासन के क्षेत्र में व्यापक अधिकारों का प्रावधान।
2. संविधान के संकटकालीन प्रावधान।
3. केन्द्र को राज्य के स्वरूप और सीमा में परिवर्तन का अधिकार।
4. केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य के राज्यपालों की नियुक्ति।
5. संघ शासित क्षेत्रों पर केन्द्र का पूर्ण नियन्त्रण।
6. केन्द्र द्वारा राज्य की सरकारों को शासन-सम्बन्धी मामलों में निर्देश देने का अधिकार।
7. विधि-निर्माण के क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार को व्यापक अधिकार।
8. सारे देश के लिए एकीकृत न्याय-व्यवस्था।
9. केन्द्रीय सरकार के हाथों में आर्थिक शक्तियों का केन्द्रीकरण।
10. राज्यों की केन्द्र पर आर्थिक दृष्टि से निर्भरता।

किन्तु क्या वास्तव में भारत की संघात्मक व्यवस्था को संघात्मक पद्धति न कहकर एकात्मक व्यवस्था कहा जाना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत की संघात्मक व्यवस्था में एकात्मक तत्वों की प्रधानता है। परन्तु इन एकात्मक तत्वों की प्रधानता के कतिपय कारण थे। इन कारणों में सर्वोपरि कारण राष्ट्रीय हित था। हमारे संविधान-निर्माताओं ने राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि मानते हुए प्रादेशिक या क्षेत्रीय आवश्यकताओं तथा राष्ट्र के व्यापक हित के मध्य एक समन्वय, एक सामञ्जस्य स्थापित किया है। संघात्मक आधारों के साथ एकात्मक प्रवृत्तियों का प्रवेश समन्वय के इसी प्रयास का प्रतिफल है। इस प्रयास के फलस्वरूप देश को जो व्यवस्था मिली है, वह न तो पूर्णरूप से संघात्मक है और न पूर्णरूप से एकात्मक। वस्तुत: वह संघात्मक तथा एकात्मक तत्वों का समन्वय तथा संगम है। जैसा कि देश-प्रसिद्ध विधिशास्त्री श्री दुर्गादास बसु ने लिखा है कि "भारत का संविधान न तो पूर्णतया संघात्मक है और न पूर्णतया एकात्मक, अपितु वह दोनों का समन्वय है।" इसी प्रकार के विचार प्रसिद्ध राजशास्त्री डॉ० आइवर जेनिंग्स के हैं। जेनिंग्स महोदय के अनुसार, "भारत की संघात्मक व्यवस्था एक ऐसी संघात्मक व्यवस्था है जिसमें समस्त केन्द्रात्मक प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं।" ऐसे ही विचार संविधान सभा के एक सदस्य ने भारत की संघात्मक व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि "भारतीय व्यवस्था 75 प्रतिशत एकात्मक है और 25 प्रतिशत संघात्मक है।" इसी प्रकार भारत के उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री पी० बी० गजेन्द्र गडकर ने लिखा था कि 'भारतीय संविधान समय और परिस्थितियों के आवश्यकतानुसार एकात्मक और संघात्मक दोनों हैं।" उपर्युक्त विवेचन और विचारों के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारत की संघात्मक व्यवस्था का स्वरूप तो संघात्मक है, किन्तु आत्मा एकात्मक है।

उपसंहार : भारत की संघात्मक व्यवस्था की मौलिक विशेषताएँ

भारत की संघात्मक व्यवस्था के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत की संघात्मक व्यवस्था वस्तुत: संघात्मक और एकात्मक तत्वों का समन्वित रूप है। इस दृष्टि से भारत की संघात्मक व्यवस्था 'एक अनूठी व्यवस्था' है।-

भारत की संघात्मक व्यवस्था के प्रमुख आधारों के प्रकाश में हम कह सकते हैं कि भारत की संघात्मक व्यवस्था की अपनी विशेषताएँ हैं। इन विशेषताओं को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं--

1. प्रथमत: भारत की संघात्मक व्यवस्था के लिए 'फेडरेशन' शब्द का प्रयोग न कर 'यूनियन' शब्द का प्रयोग किया गया है।

2 भारतीय संघ का निर्माण स्वतन्त्र राज्यों द्वारा न होकर देश की जनता या जन-प्रतिनिधियों द्वारा हुआ है। जिस संविधान सभा ने देश को संविधान दिया, उसी संविधान सभा ने संघात्मक व्यवस्था भी प्रदान की।

3. भारत की संघात्मक व्यवस्था में स्थायित्व का प्रावधान है। इसके फलस्वरूप संघात्मक व्यवस्था को नष्ट नहीं किया जा सकता। भारतीय संघ (यूनियन) तथा राज्य इस संघात्मक व्यवस्था के अभिन्न तथा अपरिहार्य अंग हैं।

4. भारत की संघात्मक व्यवस्था में संघ और राज्यों की शासन-व्यवस्था का प्रावधान एक ही संविधान में किया गया है। इस प्रकार राज्यों के लिए अपने अलग संविधान नहीं हैं।

5. भारत की संघात्मक व्यवस्था में सारे देश के लिए समान नागरिकता का प्रावधान है। इस प्रकार भारत में दोहरी नागरिकता का प्रावधान नहीं है, जैसा कि प्राय: संघात्मक व्यवस्था में होता है।

6. भारत की संघात्मक व्यवस्था में संघ की इकाइयों की सीमाओं और स्वरूप में परिवर्तन का अधिकार केन्द्रीय सरकार को प्राप्त है। इस प्रकार का प्रावधान अन्य संघात्मक व्यवस्थाओं में नहीं है।

7. भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्यों को संघ से पृथक् होने का कोई अधिकार नहीं है।

8. भारत की संघात्मक व्यवस्था में शक्तियों का वितरण केन्द्र के पक्ष में है। साथ ही केन्द्रपरक तत्वों की पर्याप्त प्रधानता है।

9. भारत की संघात्मक व्यवस्था में अखिल भारतीय सिविल सेवाओं तथा न्याय की व्यवस्था के माध्यम से शासन में एकरूपता स्थापित करने का प्रयास किया गया है।

10. भारतीय संघात्मक व्यवस्था की अन्य प्रमुख विशेषता यह है कि संघीय संसद के दूसरे सदन में संघ की इकाइयों को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है।

11. भारतीय संघात्मक व्यवस्था की अन्य विशेषता उसकी गतिशीलता या नमनशीलता है। यह व्यवस्था शान्ति-काल में तो संघात्मक तत्वों की रक्षा और विकास में योग देती है, किन्तु संकट-काल में यह एकात्मक हो जाती है। जैसा कि एक विद्वान् ने कहा है कि "हमारे संविधान द्वारा लचीली संघात्मक व्यवस्था अपनाई गई है जिसे इतना मोड़ा या झुकाया जा सकता है कि वह असाधारण परिस्थितियों का सामना कर सके और उसका स्वरूप भी नष्ट न हो।"

लघु और अति लघु प्रश्न तथा उनके उत्तर

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1—भारतीय संविधान के संघात्मक तत्वों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—भारतीय संविधान के संघात्मक तत्व इस प्रकार हैं : भारतीय संविधान लिखित संविधान है। भारतीय संविधान में संघ और उसकी इकाइयों के मध्य शक्तियों के वितरण का प्रावधान है। संघात्मक व्यवस्था के अनुरूप यहाँ दोहरी शासन-व्यवस्था है। एक ओर केन्द्रीय शासन है और दूसरी ओर संघ की इकाइयों की सरकार है। इसके अतिरिक्त संघात्मक व्यवस्था की अन्य आवश्यकता एक स्वतन्त्र सर्वोच्च न्यायपालिका के रूप में सर्वोच्च न्यायालय है।

प्रश्न 2—भारतीय संविधान के एकात्मक आधारों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—भारतीय संघ के लिए 'फेडरेशन' की अपेक्षा 'यूनियन' शब्द का प्रयोग किया गया है। शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना की गई है। केन्द्र को अधिक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। केन्द्र को राज्यों के स्वरूप और सीमा में परिवर्तन का अधिकार है। सारे देश के लिए एकीकृत न्यायपालिका और इकहरी नागरिकता का प्रावधान है।

अति लघु प्रश्न

प्रश्न 1—भारतीय संघ और राज्यों में शक्ति-वितरण के लिए कितनी सूचियाँ हैं ?

उत्तर—तीन सूचियाँ हैं : संघ-सूची, राज्य-सूची और समवर्ती सूची।

प्रश्न 2—संघ-सूची, राज्य-सूची और समवर्ती सूची में कितने विषय हैं ?

उत्तर—संघ-सूची में 97 विषय हैं, राज्य-सूची में 62 विषय और समवर्ती सूची में 52 विषय हैं।

प्रश्न 3—संघ सूची के अन्तर्गत आने वाले पाँच मुख्य विषयों के नाम बताइए।

उत्तर—(1) वैदेशिक सम्बन्ध (2) प्रतिरक्षा (3) देशीकरण और नागरिकता (4) डाक, तार व टेलीफोन (5) मुद्रा-निर्माण।

प्रश्न 4—राज्य सूची के अन्तर्गत आने वाले चार विषयों के नाम बताइए।

उत्तर—(1) पुलिस (2) न्याय (3) जेल (4) कृषि।

प्रश्न 5—समवर्ती सूची के अन्तर्गत आने वाले तीन विषयों के नाम बताइए।

उत्तर—(1) फौजदारी विधि तथा प्रक्रिया (2) विवाह और विवाह विच्छेद (3) सामाजिक सुरक्षा।

प्रश्न 6—उन चार विषयों के नाम बताइए जो 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा राज्य सूची से हटाकर समवर्ती सूची में डाले गए।

उत्तर—(1) शिक्षा (2) वन (3) जंगली जानवर तथा पक्षियों की रक्षा (4) नाप-तौल।

प्रश्न 7—भारतीय संविधान के दो संघात्मक तत्व बताइए।

उत्तर—(1) शक्तियों का विभाजन (2) दोहरी शासन-व्यवस्था।

प्रश्न 8—भारतीय संविधान के दो एकात्मक तत्व बताइए।

उत्तर—(1) संघ के हाथों में अधिक शक्ति होना, (2) संघ की इकाइयों की केन्द्र पर निर्भरता।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारतीय संविधान के संघात्मक लक्षणों पर प्रकाश डालिए। (उ० प्र०, 1978)
2. भारतीय संविधान के एकात्मक आधारों का विवेचन कीजिए। (उ० प्र०, 1984)
3. भारतीय संविधान में केन्द्र को सशक्त बनाने के लिए क्या प्रावधान किया गया है? भारत के लिए सशक्त केन्द्रीय सरकार की क्यों आवश्यकता हुई? (उ० प्र०, 1985)
4. 'भारत अर्द्ध-संघ है'—क्या आप इस कथन से सहमत हैं?
5. भारतीय संविधान संघात्मक और एकात्मक तत्वों का अनूठा मिश्रण है।—व्याख्या कीजिए। (उ० प्र०, 1978, 82, 87)
6. यह कहना कहाँ तक ठीक है कि यद्यपि भारतीय संविधान का रूप संघात्मक है, उसकी आत्मा एकात्मक है? (उ० प्र०, 1983, 87)
7. 'भारत की संघात्मक व्यवस्था एक अनूठी संघात्मक व्यवस्था है'—विवेचन कीजिए।
8. 'भारतीय संघ एक स्वयं-भू संघ है जो अन्य संघों से भिन्न है।' समझा कर लिखें और भिन्नता के कारण बतलाएँ।
9. भारत की संघात्मक व्यवस्था की मौलिक विशेषताओं का विवेचन कीजिए।

अध्याय 6

भारत-एक धर्म-निरपेक्ष राज्य

• धर्म-निरपेक्ष राज्य का अर्थ • धर्म-निरपेक्ष राज्य के मूल तत्व • धर्म-निरपेक्ष राज्य और धर्म-सापेक्ष राज्य में अन्तर • भारतीय संविधान में धर्म-निरपेक्षता-विषयक प्रावधान • भारत के धर्म-निरपेक्ष राज्य की कतिपय विशेषताएँ।

आमुख

भारतीय संविधान के प्रमुख लक्षणों में एक लक्षण भारत की राजनैतिक व्यवस्था का धर्म-निरपेक्ष स्वरूप है। धर्मप्रधान भारत में धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना कर हमारे संविधान-निर्माताओं ने भारतीय संस्कृति के उन सुकुमार तत्वों का परिचय दिया है जिनके लिए भारत संसार में विश्रुत रहा है। धार्मिक सहिष्णुता, शांति, सद्भावना, सहयोग, सह-अस्तित्व तथा सब धर्मों को समान आदर से देखना भारत की गौरवशाली परम्परा के अभिन्न आधार रहे हैं। धर्म-निरपेक्षता को स्वीकार कर भारतीय संविधान ने इसी आधार को सुदृढ़ बनाने का स्तुत्य प्रयास किया है। अतएव इस प्रयास के विविध पक्षों से अवगत होना हमारे लिए आवश्यक है।

धर्म-निरपेक्ष राज्य से क्या आशय है ?

धर्म-निरपेक्ष राज्य अंग्रेजी के 'सेक्युलर स्टेट' (Secular State) शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। 'सेक्युलर स्टेट' का दूसरा शाब्दिक अर्थ होता है 'लौकिक राज्य'; किन्तु 'लौकिक राज्य' की अपेक्षा हमारे संविधान-निर्माताओं ने 'धर्म-निरपेक्ष राज्य' शब्द को श्रेयस्कर समझा है। 'सेक्युलर स्टेट' या धर्म-निरपेक्ष राज्य की विविध विद्वानों ने विविध परिभाषाएँ की हैं। इन परिभाषाओं में मुख्य इस प्रकार हैं—

एरिक एस० वाटरहाउस के अनुसार, "धर्म-निरपेक्षता (Secularism) जीवन और आचरण का वह दर्शन है जो उस व्यवस्था के प्रतिकूल होता है जो धर्म पर आधारित होती है।"

डोनाल्ड स्मिथ के मतानुसार, "धर्म-निरपेक्ष राज्य वह राज्य होता है जो व्यक्ति तथा संस्थानों को धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करता, व्यक्ति को धार्मिक संदर्भ से मूल स्थिति में स्वीकार करता, संवैधानिक दृष्टि से किसी विशिष्ट धर्म से न तो सम्बन्धित होता और न ही धर्म को प्रोत्साहित करता या उनमें हस्तक्षेप करता है।"

पं० जवाहरलाल नेहरू के अनुसार, "धर्म-निरपेक्ष राज्य का अर्थ है स्वतन्त्रतापूर्वक प्रत्येक धर्म का फलना-फूलना, परन्तु शर्त यह है कि वे एक-दूसरे के धार्मिक मामलों में या राज्य की बुनियादी धारणाओं में दखलन्दाजी न करने पाएँ।"

इसी प्रकार संविधान सभा में धर्म-निरपेक्षता पर बोलते हुए श्री लक्ष्मीकान्त मैत्र ने कहा था कि "धर्म-निरपेक्ष राज्य का अर्थ यह है कि धर्म के किसी भी रूप में विश्वास रखने वाले व्यक्ति को राज्य उसके मजहब के कारण किसी प्रकार की भेदभाव की नीति से नहीं देखेगा। वस्तुतः इसका अर्थ यह हुआ कि कोई भी मजहब किसी भी प्रकार से राज्य की विशेष संरक्षता प्राप्त नहीं करेगा।"

धर्म-निरपेक्ष राज्य के मूल तत्व

धर्म-निरपेक्ष राज्य की उपर्युक्त अवधारणाओं के प्रकाश में हम कह सकते हैं कि एक धर्म-निरपेक्ष राज्य के मूल तत्व मुख्यतया निम्नलिखित होते हैं—

1. धर्म-निरपेक्ष राज्य में नागरिकों को अपने विश्वास के अनुसार अपने धर्म, मजहब, सम्प्रदाय आदि के मानने की स्वतन्त्रता होती है।
2. धर्म-निरपेक्ष राज्य में प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को अपने धार्मिक उपासना-केन्द्र, यथा देवालय, मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च इत्यादि के बनवाने तथा उनकी व्यवस्था करने का अधिकार होता है।
3. धर्म-निरपेक्ष राज्य में प्रत्येक धर्मावलम्बियों को अपने धार्मिक विचारों की अभिव्यक्ति तथा धर्म के प्रचार-प्रसार की स्वतन्त्रता होती है।
4. धर्म-निरपेक्ष राज्य में राज्य धर्म के नाम पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करता।
5. धर्म-निरपेक्ष राज्य में राज्य किसी धर्म-विशेष को न तो प्रोत्साहन देता है, न संरक्षण देता है और न ही नागरिकों पर किसी धर्म-विशेष को आरोपित करने का प्रयास करता है।
6. धर्म-निरपेक्ष राज्य धार्मिक मामलों में पूर्णतया तटस्थ होता है।
7. धर्म-निरपेक्ष राज्य सभी धर्मों को समान भाव से देखता है, अर्थात् वह 'सर्व धर्म सम भावः' में विश्वास करता है।

धर्म-निरपेक्ष राज्य और धर्म-सापेक्ष राज्य में अन्तर

(Difference between a Secular State and Theocratic State)

धर्म-निरपेक्ष राज्य (सेक्युलर स्टेट) तथा धर्म-सापेक्ष (थियोक्रेटिक स्टेट) में पर्याप्त अन्तर होता है। अन्तर के मुख्य बिन्दुओं को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. धर्म-निरपेक्ष राज्य किसी धर्म-विशेष को अपना संरक्षण प्रदान नहीं करता जबकि धर्म-सापेक्ष राज्य किसी धर्म-विशेष को संरक्षण प्रदान करता है।
2. धर्म-निरपेक्ष राज्य में धर्म के नाम पर राज्य नागरिकों में भेदभाव नहीं करता जब कि धर्म-सापेक्ष राज्य में इस प्रकार का भेदभाव किया जाता है।
3. धर्म-निरपेक्ष राज्य में शासन के समस्त उच्च पद सभी धर्मों के अनुयायियों के लिए समान रूप से खुले रहते हैं जबकि धर्म-सापेक्ष राज्य में केवल राज्य द्वारा संरक्षित धर्म के अनुयायी ही शासन के उच्च पदों पर नियुक्त या निर्वाचित हो सकते हैं।
4. धर्म-निरपेक्ष राज्य में किसी विशेष धर्म के अनुसार शासन-व्यवस्था का संचालन नहीं होता जबकि धर्म-सापेक्ष राज्य में संरक्षित धर्म के अनुसार शासन-संचालन का प्रयास किया जाता है।

इस प्रकार धर्म-निरपेक्ष राज्य और धर्म-सापेक्ष राज्य में मौलिक अन्तर होता है। हमारा पड़ोसी पाकिस्तान धर्म-सापेक्ष राज्य का जीवन्त उदाहरण है जबकि भारत धर्म-निरपेक्ष राज्य का प्रतिनिधि उदाहरण है।

भारतीय संविधान में धर्म-निपेरक्षता-विषयक प्रावधान

भारतीय संविधान में धर्म-निरपेक्ष राज्य का प्रथम संकेत संविधान की प्रस्तावना में मिलता है। संविधान की मूल प्रस्तावना में धर्म-निरपेक्ष (सेक्युलर) राज्य का कोई उल्लेख नहीं

था। प्रस्तावना में धर्म-निरपेक्ष राज्य का उल्लेख 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा किया गया।

भारतीय संविधान में धर्म-निरपेक्षता-विषयक प्रावधान

1. सभी नागरिकों को धार्मिक उपासना की स्वतन्त्रता
2. सभी धर्मों की संस्थाओं की स्थापना और प्रबन्ध की स्वतन्त्रता
3. सभी धर्मानुयायियों को अपने धार्मिक विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता
4. धर्म के नाम पर नागरिकों में भेदभाव का अभाव
5. किसी धर्म-विशेष को संरक्षण का अभाव
6. धार्मिक मामलों में तटस्थता
7. सभी धर्मों के प्रति समान भावना
8. राज्य द्वारा धर्म-विशेष को आरोपित न करना
9. राज्य द्वारा सहायता-प्राप्त संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा पर रोक
10. अल्पसंख्यक वर्ग के लोगों को विशेष संरक्षण
11. अस्पृश्यता का अन्त

प्रस्तावना में 'धर्म-निरपेक्ष' शब्द का बाद में उल्लेख हुआ, किन्तु संविधान में अनेक ऐसे प्रावधानों का पहले से ही समावेश कर दिया गया था जिन्होंने भारत में धर्म-निरपेक्ष राज्य का प्रवर्तन किया। इन प्रावधानों में से अधिकांश नागरिकों के मूल अधिकार-विषयक प्रकरण में मिलते हैं।

भारत में धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना-विषयक आधारों को हम अग्रलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. सभी नागरिकों को धार्मिक उपासना की स्वतन्त्रता—भारत की धर्म-निरपेक्षता का प्रथम सार्थक आधार नागरिकों को धार्मिक उपासना की स्वतन्त्रता है। संविधान की प्रस्तावना में धार्मिक स्वतन्त्रता की उद्घोषणा कर नागरिकों को धर्म, विश्वास और पूजा की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। इसके अतिरिक्त संविधान के 25वें (1) अनुच्छेद में कहा गया है कि सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के दूसरे उपबन्धों के अधीन रहते हुए, सभी व्यक्तियों को अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा कोई भी धर्म स्वीकार करने का, उसका अनुसरण एवं प्रचार का अधिकार प्राप्त होगा।

2. सभी धर्मों की संस्थाओं की स्थापना और प्रबन्ध की स्वतन्त्रता—धर्म-निरपेक्ष राज्य में सभी धर्मों के लोगों को अपनी धार्मिक संस्थानों की स्थापना और प्रबन्ध की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। भारतीय संविधान भी नागरिकों को इस प्रकार का अधिकार प्रदान करता है। संविधान के 26वें अनुच्छेद में इस प्रकार के अधिकार का स्पष्ट उल्लेख है। इस अनुच्छेद में कहा गया है कि (1) नागरिकों को धार्मिक संस्थाओं तथा दान से स्थापित जनसेवी संस्थाओं की स्थापना तथा पोषण का अधिकार होगा तथा (2) धर्म-सम्बन्धी निजी मामलों के प्रबन्ध का अधिकार होगा।

3. सभी धर्मानुयायियों को अपने धार्मिक विचारों की अभिव्यक्ति तथा प्रचार की स्वतन्त्रता—भारतीय संविधान सभी नागरिकों को अपने धार्मिक विचारों की अभिव्यक्ति तथा प्रचार की स्वतन्त्रता प्रदान करता है। इस प्रकार भारत का प्रत्येक धार्मिक धर्मावलम्बी अपनी धार्मिक मान्यताओं, विश्वासों और विचारों का प्रचार कर सकता है।

4. धर्म के नाम पर नागरिकों में भेदभाव का अभाव—भारतीय संविधान में मूल अधिकारों के प्रसंग में यह स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि राज्य नागरिकों में धर्म, जाति, वर्ण, लिंग आदि के नाम पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करेगा। इस प्रकार भारत में ऐसा नहीं है कि किसी धर्म-विशेष के मानने वालों को राज्य कोई विशेष सुविधाएँ प्रदान करे या उन पर विशेष प्रतिबन्ध लगाए। राज्य की दृष्टि में सभी नागरिक समान हैं, चाहे वे किसी भी धर्म के अनुयायी हों। यहाँ तक कि वे लोग जो नास्तिक हैं, किसी धर्म में विश्वास नहीं करते, वे भी समान समझे जाते हैं।

5. किसी धर्म-विशेष को संरक्षण का अभाव—एक धर्म-निरपेक्ष राज्य में किसी धर्म-विशेष को न तो विशेष प्रोत्साहन दिया जाता है और न विशेष संरक्षण। भारतीय संविधान भी धर्म-निरपेक्ष राज्य की इस शर्त को पूरी करता है। अपने को धर्म-निरपेक्ष घोषित कर भारत ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भारत की दृष्टि में सभी धर्म समान हैं। भारत न तो नागरिकों पर किसी धर्म को थोपने का प्रयास करेगा और न ही किसी धर्म-विशेष को संरक्षण प्रदान करेगा।

6. धार्मिक मामलों में तटस्थता—धर्म-निरपेक्ष राज्य की अन्य विशेषता धार्मिक मामलों में तटस्थता है। इसका अर्थ यह है कि धर्म-निरपेक्ष राज्य में धार्मिक मामलों में राज्य अनुचित हस्तक्षेप नहीं करता। भारत की संवैधानिक व्यवस्था भी इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

7. सभी धर्मों के प्रति समान भावना—धर्म-निरपेक्ष भारत की संवैधानिक व्यवस्था में राज्य की दृष्टि से सभी धर्म समान हैं। राज्य किसी धर्म-विशेष के साथ विशेष पक्षपात का व्यवहार नहीं करता।

8. राज्य द्वारा धर्म विशेष या विशिष्ट संस्कृति को आरोपित न करना—भारतीय संविधान के 29वें तथा 30वें अनुच्छेद में स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया है कि राज्य किसी समुदाय पर, समुदाय की संस्कृति के प्रतिकूल अन्य कोई संस्कृति थोपने का प्रयास नहीं करेगा। ये प्रावधान यह स्पष्ट कर देते हैं कि भारत की संवैधानिक व्यवस्था लोगों को किसी धर्म-विशेष को मानने के लिए बाध्य नहीं करती।

9. राज्य द्वारा संचालित या सहायता-प्राप्त संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा पर रोक—संविधान के 28वें अनुच्छेद में इस दृष्टि से कई प्रावधान किए गए हैं। इसके अनुसार (1) राज्य-निधि से पूरी तरह पोषित किसी शिक्षण-संस्थान में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायगी, (2) राज्य द्वारा सहायता-प्राप्त किसी शिक्षण-संस्था में धार्मिक शिक्षा के लिए किसी को वाध्य नहीं किया जायगा। किन्तु इस सम्बंध में एक यह व्यवस्था की गई है किसी धर्मस्व या न्याय में (जिसके लिए विशेष कर उसकी स्थापना की गई है) धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था हो सकेगी, भले ही उसकी व्यवस्था राज्य के हाथों में हो।

10. अल्पसंख्यक वर्ग के लोगों को विशेष संरक्षण—धर्म-निरपेक्षता को अधिक अर्थवान् बनाने के लिए भारतीय संविधान में अनेक प्रावधान किये गये हैं। इस प्रावधानों के अनुसार अल्पसंख्यक वर्ग के लोग सरलता से अपनी धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

11. अस्पृश्यता का अन्त—अस्पृश्यता मूलतया एक सामाजिक अभिशाप थी, किन्तु धार्मिक जीवन पर भी उसका प्रभाव था। भारतीय संविधान में अस्पृश्यता का अंत कर धर्म-निरपेक्षता के आधारों को मजबूत बनाया गया है। इस प्रकार जैसा कि प्रसिद्ध विधिशास्त्री श्री दुर्गादास बसु ने कहा है कि "भारतीय संविधान के उपर्युक्त प्रावधान भारत को एक धर्म-निरपेक्ष राज्य बनाते हैं।"

भारतीय धर्म-निरपेक्ष राज्य की कतिपय विशेषताएँ

भारत के धर्म-निरपेक्ष राज्य के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारतीय धर्म-निरपेक्षता की कतिपय विशेषताएँ हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन विशेषताओं को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं.

1. भारतीय धर्म-निरपेक्षता इस सिद्धान्त पर आधारित है कि सभी धर्म समान हैं। अतएव सभी धर्मों के प्रति समान भावना (सर्व धर्म सम भावः) रखनी चाहिए।

2. भारतीय धर्म-निरपेक्षता की दूसरी विशेषता यह है कि धर्म और राज्य को एक दूसरे से पृथक् होना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार का पृथक्करण जनतन्त्र के उदात्त आदर्शों पर आधारित है।

3. भारतीय धर्म-निरपेक्षता ईश्वर-विरोधी या धर्म-विरोधी नहीं है। वह धर्म को मानव-जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग मानती है। जैसा कि श्री हरिविष्णु कामथ ने कहा था कि "हमने निश्चित रूप से भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित किया है, किन्तु मेरी मान्यता यह है कि धर्म-निरपेक्ष राज्य ईश्वर-विहीन, अधार्मिक या धर्म-विरोधी नहीं है।" इसी प्रकार सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन ने कहा था कि "भारत की धर्म-निरपेक्षता को नास्तिकता का पर्याय नहीं कहा जा सकता।" इसी प्रसंग में भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश पी० बी गजेन्द्र गडकर ने कहा था कि "भारतीय धर्म-निरपेक्षवाद ईश्वर-विरोधी या धर्म-विरोधी नहीं है, प्रत्युत वह इस तथ्य को स्वीकार करता है कि धर्म का मानव-जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है तथा सभी धर्मों में सत्यता का अंश है।"

4. भारतीय धर्म-निरपेक्षता धार्मिक मामलों में तटस्थता के सिद्धान्त को स्वीकार करती है, जैसा कि चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने लिखा है कि 'धर्म-निरपेक्ष भारत धर्म को न तो हतोत्साहित करेगा और न उसका विरोध ही। वह सभी धर्मों तथा उनकी संस्थाओं के प्रति निष्पक्षता बरतेगा।" इस प्रकार भारतीय धर्म-निरपेक्षता धार्मिक तटस्थता की नीति पर आधारित है।

5. भारतीय धर्म-निरपेक्षता सकारात्मक है। सकारात्मक धर्म-निरपेक्षता के मुख्यतया दो अर्थ हैं—(1) यह राज्य/राष्ट्र की सुरक्षा, समाज के हित तथा नागरिकों की उन्नति के लिए धार्मिक स्वतंत्रता को प्रतिबंधित कर सकता है। (2) यह कि भारतीय धर्म-निरपेक्षता व्यापक आधारों पर आधारित है। इस दृष्टि से धर्म-निरपेक्षता को सार्थक बनाने के लिए संविधान ने अस्पृश्यता का अन्त कर दिया है तथा धर्म, जाति, लिंग या जन्म-स्थान के आधार पर किसी भेदभाव को समाप्त कर दिया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में सही अर्थों में धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना का स्तुत्य प्रयास किया गया है—ऐसा प्रयास जो भारत की गौरवशाली परम्परा के अनुरूप है तथा जो भावी भारत के निर्माण में स्तुत्य योग दे सकता है।

लघु और अति लघु उत्तरीय प्रश्न और उनके उत्तर

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1—धर्म-निरपेक्ष राज्य और धर्म-सापेक्ष राज्य में क्या अन्तर है ?

उत्तर—धर्म-सापेक्ष राज्य में किसी धर्म-विशेष को संरक्षण प्रदान किया जाता है जब कि धर्म-निरपेक्ष राज्य में किसी धर्म-विशेष को संरक्षण प्रदान नहीं किया जाता। धर्म-सापेक्ष राज्य में किसी धर्म-विशेष के अनुसार शासन का संचालन किया जाता है जबकि धर्म-निरपेक्ष राज्य में किसी धर्म-विशेष के अनुसार शासन का संचालन नहीं किया जाता।

प्रश्न 2—भारतीय संविधान में धर्म-निरपेक्षता-विषयक क्या प्रावधान किए गए हैं ?

उत्तर—भारत में सभी नागरिकों को धार्मिक उपासना की तथा धार्मिक संस्थाओं की स्थापना की स्वतन्त्रता दी गई है। भारत में किसी धर्म-विशेष को संरक्षण नहीं दिया गया है। राज्य धर्म के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करता।

अति लघु प्रश्न

प्रश्न 1—धर्म-निरपेक्ष राज्य और धर्म-सापेक्ष राज्य में क्या अन्तर है ?

उत्तर—धर्म-निरपेक्ष राज्य में किसी धर्म-विशेष को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता जबकि धर्म-सापेक्ष राज्य में किसी धर्म-विशेष को संरक्षण दिया जाता है।

प्रश्न 2—भारतीय संविधान की प्रस्तावना में 'धर्म-निरपेक्ष' शब्द का समावेश किस संशोधन अधिनियम द्वारा किया गया ?

उत्तर—42वें संशोधन अधिनियम द्वारा।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. धर्म-निरपक्षता का क्या आशय है ? भारत में धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना के लिए संविधान में क्या प्रावधान किये गये हैं ? (उ० प्र०, 1976)
2. धर्म-निरपेक्ष राज्य किसे कहते हैं ? भारतीय संविधान में वर्णित धर्म-निरपेक्षता-विषयक प्रावधानों पर प्रकाश डालिए।
3. 'भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है'—व्याख्या कीजिए। (उ० प्र०, 1981)
4. भारतीय संविधान की धर्म-निरपेक्षता पर एक निबन्ध लिखिए।

लघु प्रश्न

1. धर्म-निरपेक्ष राज्य के मूल तत्व बताइये।
2. भारतीय संविधान के धर्म-निरपेक्षता-सम्बन्धी प्रावधानों पर पाँच पंक्तियाँ लिखिए।
3. धर्म-सापेक्ष-राज्य और धर्म-निरपेक्ष राज्य का अन्तर बताइये।

अति लघु प्रश्न

1. धर्म-निरपेक्ष राज्य किसे कहते हैं ?
2. क्या भारत एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है ?
3. भारतीय धर्म-निरपेक्ष राज्य की दो विशेषताएँ बताइए।

"भारतीय संविधान में वर्णित नागरिकता-विषयक प्रावधानों की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि ये भारत में एकल नागरिकता की स्थापना करते हैं।"

—एम० वी० पायली

अध्याय 7

भारतीय नागरिकता

● भारतीय संविधान में नागरिकता की व्यवस्था ● 1955 ई० का भारतीय नागरिकता अधिनियम ● भारतीय नागरिकता-प्राप्ति के प्रमुख आधार ● भारतीय नागरिकता का अन्त कैसे होता है ?

आमुख

नागरिकता नागरिक की भाववाचक संज्ञा है। यह व्यक्ति की वह विशिष्ट स्थिति है जो उसे राज्य की ओर से प्राप्त होती है तथा जिसके आधार पर व्यक्ति राज्य की ओर से अनेक सुविधाओं और अधिकारों को प्राप्त करता है। नागरिकता की इसी उपयोगिता और आवश्यकता को दृष्टि-पथ में रखकर प्रत्येक राज्य नागरिकता-विषयक नियमों का सृजन और व्यवस्था करता है। भारत की संवैधानिक व्यवस्था भी इसका अपवाद नहीं है। भारतीय संविधान के अध्ययन के प्रसंग में भारतीय नागरिकता-विषयक नियमों का जानना आवश्यक है। भारतीय नागरिकता का ज्ञान हमें मुख्यतया दो स्रोतों से मिलता है—

1. भारतीय संविधान तथा
2. भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955।

भारतीय संविधान में नागरिकता की व्यवस्था

भारतीय संविधान के द्वितीय खण्ड में 5वें अनुच्छेद से लेकर 11वें अनुच्छेद तक भारतीय नागरिकता-विषयक प्रावधानों का उल्लेख है। इन प्रावधानों के अनुसार भारतीय संविधान के लागू होने के समय नागरिकों को मुख्यतया निम्नलिखित वर्गों में रखा गया—

1. जन्मजात नागरिक।
2. भारत में पाकिस्तान से आये हुए शरणार्थी।
3. विदेशों में रहने वाले भारतीय।

1. जन्मजात नागरिक—इस वर्ग के अन्तर्गत उन लोगों को भारतीय नागरिकता प्राप्त हुई—

(अ) जो 26 जनवरी, 1950 ई० को भारत के निवासी थे।

(ब) जिनके माता-पिता में से कोई भी भारत में पैदा हुए थे।

(स) जो संविधान प्रारम्भ होने के पाँच वर्ष पहले से भारत के निवासी थे।

नागरिकता-विषयक इस प्रावधान के अनुसार भारत में निवास करने वाले अधिकांश व्यक्ति भारतीय नागरिकता के अधिकारी हो गए। साथ ही उन विदेशियों को भी भारतीय नागरिकता प्राप्त हो गई जो यहाँ संविधान लागू होने के पाँच वर्ष पहले से रह रहे थे।

2. भारत में पाकिस्तान से आये हुए शरणार्थी—दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे नागरिक आये जो देश के विभाजन के फलस्वरूप निर्मित पाकिस्तान से शरणार्थी के रूप में भारत आए

थे। इस वर्ग के नागरिकों के लिए भारतीय संविधान में निम्नलिखित प्रावधान किये गये—

(क) जो व्यक्ति 19 जुलाई, 1948 ई० के पहले पाकिस्तान से भारत आ गये थे, वे संविधान लागू होने पर भारतीय नागरिक मान लिए गये। परन्तु उनके लिए यह शर्त रखी गई कि—

1. उनके माता या पिता अथवा पितामह या पितामही का जन्म अविभाजित भारत में हुआ हो,
2. भारत में आने के बाद साधारणत: इसी देश में रहे हों।

(ख) 19 जुलाई, 1948 ई० के बाद भारत में आने वाले लोगों के लिए भी भारतीय नागरिकता-प्राप्ति का अवसर दिया गया, परन्तु उनके लिए कुछ शर्तें पूरी होनी आवश्यक थीं। ये शर्तें इस प्रकार थीं—

1. उनके माता या पिता अथवा उनके पितामह या पितामही का जन्म अविभाजित भारत में हुआ हो।
2. उनका नाम भारत में 26 जनवरी, 1950 तक भारत सरकार द्वारा नियुक्त अधिकारी के सामने पंजीकृत (रजिस्टर्ड) करा लिया गया हो।
3. नागरिकता के लिए प्रार्थना-पत्र देने के पूर्व कम से कम 6 महीने से भारत में रह रहे हों।

3. **विदेशों में रहने वाले भारतीयों से सम्बन्धित नागरिकता-विषयक व्यवस्था**—संविधान में विदेशों में रहने वाले भारतीयों के लिए नागरिकता-विषयक अग्रलिखित व्यवस्था की गई—

इस व्यवस्था के अनुसार विदेशों में रहने वाले वे भारतीय नागरिक हो सकते थे—

1. जो अथवा जिनके माता-पिता में से कोई एक अथवा जिनके पितामह या पितामही में से कोई एक भारत में पैदा हुआ हो।
2. जिस देश में वे रहते थे, उस देश में स्थित भारत के राजनैतिक प्रतिनिधि के कार्यालय में उन्होंने अपना नाम पंजीकृत (रजिस्टर्ड) करा लिया हो। पंजीकरण के लिए एक निश्चित प्रक्रिया निर्धारित की गई थी।

1955 ई० का भारतीय नागरिकता अधिनियम

भारतीय संविधान में वर्णित उपर्युक्त व्यवस्था मुख्यतया तत्कालीन परिस्थितियों के प्रकाश में निर्धारित की गई थी। यह व्यवस्था व्यापक नहीं थी। उदाहरण के लिए, संविधान लागू होने (26 नवम्बर, 1949 ई०) के पश्चात् उत्पन्न होने वाले शिशुओं के नागरिकता प्राप्त करने के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बनाए गए। इसी प्रकार ऐसी महिलाओं जिन्होंने 26 नवम्बर, 1950 ई० के पश्चात् भारतीय नागरिकों से विवाह किया था तथा जो स्वत: विवाह के समय भारतीय नागरिक नहीं थीं, के लिए भी नागरिकता का कोई प्रावधान नहीं था। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि संविधान-निर्माता इन कमियों से अपरिचित थे। उन्हें भारतीय नागरिकता के इन पक्षों का पूरा बोध था। इसलिए उन्होंने नागरिकता के लिए आवश्यक कानून बनाने का अधिकार संसद को सौंप दिया था। अतएव संसद ने इन्हीं आवश्यकताओं के प्रकाश में सन् 1955 ई० का भारतीय नागरिकता अधिनियम का निर्माण कर भारतीय नागरिकता के समस्त आवश्यक पक्षों पर प्रकाश डाला।

भारतीय नागरिकता-प्राप्ति के प्रमुख आधार

सन् 1955 ई० के अधिनियम में जो व्यवस्था की गई, उसके अनुसार निम्नलिखित आधारों और स्थितियों में भारतीय नागरिकता प्राप्त हो सकती है—

भारतीय नागरिकता-प्राप्ति के प्रमुख आधार

1. जन्म से
2. वंशाधिकार से
3. विवाह द्वारा
4. पंजीकरण द्वारा
5. देशीयकरण द्वारा
6. भूमि-विस्तार द्वारा

1. जन्म से—26 जनवरी, 1950 ई० को या उसके बाद भारत में जन्मा व्यक्ति भारत का नागरिक माना जायेगा। परन्तु विदेशी दूतावास के उन लोगों के बच्चे जो भारतीय नागरिक नहीं हैं अथवा वे बच्चे जो विदेशी शत्रु के क्षेत्र में पैदा हुए हैं, भारतीय नागरिक नहीं माने जायेंगे।

2. वंशाधिकार से—कोई व्यक्ति जो 26 जनवरी, 1950 ई० को किसी दूसरे देश में जन्मा हो, किन्तु उस बच्चे के जन्म के समय उसका पिता भारतीय नागरिक रहा हो तो ऐसा बच्चा भारतीय नागरिक हो सकता है।

2. विवाह द्वारा—कोई विदेशी स्त्री यदि किसी भारतीय नागरिक से विवाह कर लेती है तो वह स्त्री भारतीय नागरिक हो सकती है।

पंजीकरण द्वारा—निम्नांकित लोगों के लिए पंजीकरण द्वारा भारतीय नागरिकता की व्यवस्था की गई—

(अ) 26 जनवरी, 1949 ई० को या उसके बाद पाकिस्तान से आने वाले व्यक्ति उसी दशा में भारतीय नागरिक माने जायँगे जब कि वे आवेदन-पत्र देकर सक्षम अधिकारी के पास अपना नाम पंजीकृत करा लें। किन्तु ऐसे व्यक्तियों के लिए यह आवश्यक था कि वे आवेदन-पत्र देने के कम-से-कम एक वर्ष पहले भारत में रह चुके हों अथवा उनके माता-पिता या मातामही एवं पितामही (दादा-दादी) का जन्म अविभाजित भारत में हुआ हो।

(ब) विदेशों में बसे हुए भारतीय वहाँ स्थित दूतावासों में आवेदन-पत्र देकर भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं।

(स) वे विदेशी स्त्रियाँ जिन्होंने भारतीयों से विवाह कर लिया है, आवेदन-पत्र देकर भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकती हैं।

(द) राष्ट्रमंडलीय देशों के नागरिक जो भारत में निवास करते हों अथवा भारत सरकार की नौकरी में रह रहे हों, आवेदन-पत्र देकर भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं।

5. देशीयकरण द्वारा—विदेशी व्यक्ति के देशीयकरण द्वारा निम्नलिखित स्थितियों में भारतीय नागरिकता प्राप्त की जा सकती है—

1 वह किसी ऐसे देश का नागरिक न हो जहाँ भारतीयों को वहाँ की नागरिकता ग्रहण करने पर रोक हो;

2. उसने अपने देश की नागरिकता का परित्याग कर दिया हो और केन्द्रीय सरकार को इस बात की सूचना दे दी हो;

3. वह देशीकरण के लिए आवेदन करने की तिथि के पहले 12 वर्ष तक या तो भारत में रहा हो या भारत सरकार की सेवा में रहा हो; या

4. उपर्युक्त 12 वर्षों में से कम-से-कम 4 वर्ष तक उसने भारत में निवास किया हो या भारत सरकार की सेवा में रहा हो;

5. वह एक अच्छे चरित्र का व्यक्ति हो;

6. वह भारतीय राज्य के प्रति निष्ठा की शपथ ग्रहण करे;

7. उसे भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत किसी भाषा का ज्ञान हो;

8. देशीकरण के प्रमाणपत्र की प्राप्ति के बाद उसका भारत में निवास करने या भारत सरकार की नौकरी में रहने, या ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था जिसका सदस्य भारत भी हो में काम करने का इच्छुक हो।

विशिष्ट व्यक्तियों के लिए नागरिकता-प्राप्ति के लिए कुछ छूट—भारतीय नागरिकता-विषयक नियमों में कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के लिए विशेष छूट दी गई है। इसके अनुसार वे व्यक्ति जो दर्शन, विज्ञान, कला, साहित्य, विश्व-शांति अथवा मानव-विकास के क्षेत्र में विशेष कार्य कर चुके हैं, उन्हें किसी विशेष या सभी शर्तों को पूरा किये बिना ही देशीयकरण द्वारा नागरिकता प्रदान की जा सकती है।

देशीकृत नागरिक के लिए शपथ का प्रावधान—प्रत्येक देशीयकृत नागरिक को भारतीय संविधान के प्रति सत्यनिष्ठा की शपथ लेनी पड़ती है और प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि वह पूरी निष्ठा से भारतीय कानूनों का पालन करेगा तथा भारतीय नागरिक के नाते अपने कर्तव्यों का पालन करेगा।

6. **भूमि-विस्तार द्वारा**—उपर्युक्त व्यवस्थाओं के अतिरिक्त भूमि-विस्तार द्वारा भी भारतीय नागरिकता की प्राप्ति का प्रावधान है। इसके अनुसार यदि कोई क्षेत्र भारत में सम्मिलित कर लिया जाता है तो भारत सरकार एक आदेश द्वारा उस क्षेत्र के व्यक्तियों को नागरिकता प्रदान कर सकती है। पुर्तगाली शासन से मुक्ति के बाद गोवा, दमन तथा ड्यू के लोगों को इसी प्रकार नागरिकता प्राप्त हुई थी।

भारतीय नागरिकता का लोप (अन्त) कैसे होता है ?

नागरिकता के लोप का अर्थ है किसी व्यक्ति का नागरिकता से वंचित होना। विभिन्न देशों में नागरिकता-लोप के विभिन्न नियम हैं। भारत में नागरिकता-लोप के मुख्य नियम इस प्रकार हैं—

1. **स्वयं परित्याग द्वारा**—यदि कोई नागरिक स्वेच्छा से नागरिकता का परित्याग कर देता है तथा इस परित्याग की सूचना पंजीकरण अधिकारी द्वारा पंजीकृत कर ली जाती है तो वह व्यक्ति पंजीकरण की तिथि के दिन से भारतीय नागरिकता से वंचित माना जायेगा।

> भारतीय नागरिकता का लोप (अन्त) कैसे होता है ?
> 1. स्वयं परित्याग द्वारा
> 2. अन्य देश की नागरिकता स्वीकार कर लेने पर
> 3. सरकार द्वारा नागरिकता से वंचित किये जाने पर

2. **अन्य देश की नागरिकता स्वीकार कर लेने पर**—यदि कोई भारतीय नागरिक किसी अन्य देश की नागरिकता ग्रहण कर लेता है तो वह भारतीय नागरिकता से उस तिथि से वंचित माना जायेगा जिस तिथि को उसने किसी अन्य देश की नागरिकता ग्रहण की है।

3. सरकार द्वारा नागरिकता से वंचित किये जाने पर—सरकार को विशिष्ट वर्गों के नागरिकों को नागरिकता से वंचित करने का अधिकार है। इन वर्गों के लोगों में मुख्यतया देशीकृत नागरिक तथा पंजीकृत नागरिक आते हैं। भारत सरकार निम्नलिखित दशाओं में पंजीकृत या देशीकृत नागरिकों को वंचित कर सकती है—

1. यदि नागरिक ने व्यवहार या भाषण से भारतीय संविधान के प्रति अनिष्ठा व्यक्त की है।
2. यदि नागरिक ने गलत बयान देकर अथवा धोखा देकर अपना पंजीकरण करवा लिया है।
3. यदि भारत के साथ किसी अन्य देश के युद्ध में उसने विदेशी शत्रु का साथ दिया है।
4. यदि भारतीय नागरिकता ग्रहण करने के प्रथम पाँच वर्ष के अन्दर उसे देश में किसी अपराध के लिए कम से कम पाँच वर्ष की सजा मिली है।
5. यदि सात वर्षों तक उसने भारत के बाहर निवास किया है और इस बीच उसने भारत की नागरिकता बनाये रखने के लिए निर्धारित नियमों का पालन नहीं किया है।
6. 1969 ई० के नागरिकता नियम के अनुसार कोई भी भारतीय नागरिक जो कि यात्रा-सम्बन्धी अनुमति और भारत सरकार द्वारा जारी किए गए आवश्यक पत्र इत्यादि लिए बिना भारत से बाहर चला गया है तथा तीन वर्षों से अधिक तक विदेश में बना रहता है तो वह व्यक्ति भारतीय नागरिकता से वंचित मान लिया जायगा।

उपसंहार

भारतीय नागरिकता-विषयक उपर्युक्त नियमों और प्रावधानों के विवेचन से कई तथ्य सामने आते हैं। प्रथमतः यह कि भारत की संवैधानिक व्यवस्था में एकल नागरिकता का प्रावधान किया गया है। दूसरे, यह कि नागरिकता-विषयक नियम अत्यन्त उदार हैं। इतने उदार नियम सामान्यतया अन्य देशों में नहीं दिखलाई पड़ते। तीसरे, नागरिकता के लोप-विषयक नियमों में भी कतिपय शिथिलताएँ हैं।

इस प्रकार भारतीय नागरिकता की अपनी विशेषताएँ भी हैं और शिथिलताएँ भी हैं। किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी हमें यह स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए कि भारत की संवैधानिक व्यवस्था का अत्यन्त सुविचारित और महत्वपूर्ण पक्ष है।

लघु तथा अति लघु उत्तरीय प्रश्न और उनके उत्तर

लघु प्रश्न

प्रश्न 1—भारतीय नागरिकता किस प्रकार प्राप्त होती है ?

उत्तर—(1) जन्म से, (2) वंशाधिकार द्वारा, (3) विवाह द्वारा, (4) आवेदन-पत्र द्वारा, (5) पंजीकरण द्वारा।

प्रश्न 2—आवेदन-पत्र द्वारा भारतीय नागरिकता-प्राप्ति के लिए कौन-सी शर्तें आवश्यक हैं?

उत्तर—(1) नागरिकता प्राप्त करने का इच्छुक व्यक्ति सच्चरित्र हो। (2) संविधान में वर्णित भारत की कोई एक भाषा जानता हो। (3) पिछले 12 वर्षों में कम-से-कम चार

वर्ष तक भारत में रह रहा हो। (4) वह भारत में स्थायी रूप से निवास करने का वि
रखता हो।

प्रश्न 3—भारतीय नागरिकता का लोप कैसे होता है ?

उत्तर—(1) यदि नागरिक ने दूसरे देश की नागरिकता प्राप्त कर ली हो। (2)
किसी भारतीय स्त्री ने दूसरे देश के नागरिक से विवाह कर लिया हो। (3) यदि उसने देश
किया हो। (4) यदि नागरिकता-सम्बन्धी नियमों का उलंघन किया हो।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1—भारतीय नागरिकता किस अधिनियम द्वारा नियंत्रित होती है ?

उत्तर—भारतीय नागरिकता अधिनियम 1956 ई० द्वारा।

प्रश्न 2—कोई भारतीय स्त्री किस स्थिति में नागरिकता से वंचित हो जाती है ?

उत्तर—जब वह किसी विदेशी नागरिक से विवाह कर लेती है।

प्रश्न 3—देशीकरण द्वारा भारतीय नागरिकता प्राप्ति की दो आवश्यक दशाएँ बताइए।

उत्तर—(1) वह देशीकरण के आवेदन की तिथि के पहले 12 वर्ष तक या तो भारत में रहा हो या भारत सरकार की सेवा में रहा हो, (2) वह भारत राज्य के प्रति निष्ठा की शपथ ले।

प्रश्न 4—भारतीय नागरिकता प्राप्त करने के लिए दो शर्तें बताइए। (उ० प्र० 1985)

उत्तर—(1) जन्म या वंश द्वारा, (2) पंजीकरण द्वारा।

प्रश्न 5—भारतीय नागरिकता के लोप होने की दो दशाएँ बताइए।

उत्तर—(1) विदेशी नागरिक बनने पर (2) लम्बी अवधि तक देश में अनुपस्थित रहने पर।

प्रश्न 6—कोई भारतीय नागरिक जिसने देश के प्रति द्रोह (देशद्रोह) किया है नागरिकता से वंचित किया जा सकता है।

उत्तर—हाँ, देशद्रोही सिद्ध होने पर किसी भी भारतीय को नागरिकता से वंचित किया जा सकता है।

प्रश्न 7—भारतीय नागरिकता की दो विशेषताएँ बताइए।

उत्तर—(1) इकहरी नागरिकता, (2) नागरिकता विषयक नियमों की अत्यधिक उदारता।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत में नागरिकता-प्राप्ति के क्या नियम हैं ?

2. भारतीय नागरिकता किस प्रकार प्राप्त की जाती है और किस प्रकार उसका अन्त होता है ?

3. भारतीय संविधान में वर्णित नागरिकता-सम्बन्धी उपबन्धों का उल्लेख कीजिए।

हमारे मौलिक अधिकार

● मौलिक अधिकार का अर्थ और लक्षण ● भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों की विशेषताएँ ● मौलिक अधिकारों का वर्गीकरण ● समता का अधिकार ● स्वतन्त्रता का अधिकार ● शोषण के विरुद्ध अधिकार ● धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार ● संस्कृति तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकार ● संवैधानिक उपचारों का अधिकार ● मौलिक अधिकारों की आलोचना।

आमुख

भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक अधिकार भारतीय संविधान के सर्वाधिक गौरवशाली पक्ष हैं। इन्हें भारतीय संविधान का कंठहार, नागरिक स्वतंत्रताओं का रक्षा-कवच तथा स्वाधीन भारत की राजनैतिक चेतना, राजनैतिक उपलब्धियों और आदर्शों का प्रकाश-स्तम्भ कहा जा सकता है। हमारे संविधान-निर्माताओं ने इन्हें संविधान का अन्तःकरण, संविधान का हृद-स्थल तथा संविधान की आत्मा की संज्ञा दी थी। इंग्लैंड के संवैधानिक इतिहास में जो महत्व 'मैग्नाकार्टा' या 'बिल ऑव राइट्स' का है, फ्रांस के इतिहास में जो महत्व 'अधिकारों के घोषणा-पत्र' का है तथा अमेरिका के इतिहास में जो महत्व 'स्वाधीनता की घोषणा' या 'अटलांटिक चार्टर' का है, हमारे संवैधनिक इतिहास में वही स्थान हमारे इन मौलिक अधिकारों का है।

मौलिक अधिकार का अर्थ और लक्षण

जीवन के लिए मौलिक या अपरिहार्य वे अधिकार, जिनका किसी देश के संविधान में समावेश होता है, मौलिक या मूल अधिकार कहलाते हैं। इस प्रकार मौलिक अधिकार अन्य अधिकारों से भिन्न होते हैं। उनकी अपनी विशेपताएँ होती हैं। संक्षेप में हम इन विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. मौलिक अधिकार व्यक्ति के जीवन और विकास के लिए परम आवश्यक होते हैं। उनके अभाव में व्यक्ति अपने अस्तित्व और उन्नति की आशा नहीं कर सकता।

2. मौलिक अधिकार देश की संवैधानिक व्यवस्था के आधारभूत अंग होते हैं। उनका संविधान में स्पष्ट उल्लेख होता है।

3. मौलिक अधिकारों का सामान्यतया उल्लंघन नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में विधानपालिका या कार्यपालिका उनका अतिक्रमण नहीं कर सकतीं।

4. मौलिक अधिकारों को न्यायपालिका का संरक्षण मिला होता है। फलतः मौलिक अधिकारों की उपेक्षा या उल्लंघन होने पर न्यायालय की शरण ली जा सकती है।

5. मौलिक अधिकारों में संविधान द्वारा निर्धारित संशोधन-प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

मौलिक अधिकारों की उपर्युक्त विशेषताओं के विवेचन से मौलिक अधिकारों की उपयोगिता और आवश्यकता का संकेत मिल जाता है। मौलिक अधिकारों की उपयोगिता और महत्ता के कारण आधुनिक विश्व की अनेक जनतांत्रिक व्यवस्थाओं में मूल अधिकारों को संविधान का अपरिहार्य अंग बना लिया गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस, आयरलैंड आदि देशों के संविधान इसके उदाहरण हैं। भारतीय संविधान ने आधुनिक लोकतंत्र की गौरवशाली परम्परा का अनुगमन करते हुए अपने संविधान में एक पृथक् अध्याय के रूप में मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया है।

भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों की विशेषताएँ

भारतीय संविधान में वर्णित मूल अधिकारों के विवेचन के पूर्व उनकी प्रमुख विशे ताओं पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से संविधान वर्णित मूल अधिकारों की प्रमुख विशेषताओं को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में सकते हैं—

1. सर्वाधिक विस्तृत अधिकार-पत्र—भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक अधिका की एक प्रमुख विशेषता उनका विस्तृत और व्यापक स्वरूप है। हमारे इन अधिकारों के लि संविधान में एक पृथक् अध्याय है तथा उन 23 अनुच्छेदों (अनुच्छेद 12 से 30 और 3 से 35 तक) में विवेचन किया गया है। इन से कुछ अनुच्छेद तो काफी लम्बे हैं। मौलि अधिकारों का इस प्रकार का व्यापक औ विशद विवेचन विश्व के अन्य किसी भी संविधान में नहीं मिलता।

मूल अधिकारों की विशेषताएँ

1. सर्वाधिक विस्तृत अधिकार-पत्र
2. नकारात्मक और साकारात्मक अधिकार
3. राज्य द्वारा निर्मित सामान्य विधियों से श्रेष्ठतर
4. ये अधिकार निर्बन्धनहीं हैं
5. अधिकार नागरिक व विदेशियों में अन्तर स्वीकार करते हैं
6. प्रवर्तन के लिए संवैधानिक व्यवस्था
7. मौलिक अधिकारों के निलम्बन का प्रावधान
8. मौलिक अधिकारों में संशोधन
9. गैर-सरकारी एजेन्सियों और व्यक्तियों पर लागू

2. नकारात्मक और सकारात्मक अधिकार—हमारे मूल अधिकारों की दूसरी विशेषता उनका नकारात्मक और सका रात्मक स्वरूप है। इसका आशय यह है कि इन मूल अधिकारों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—निषेधात्मक औ सकारात्मक। निषेधात्मक अधिकार राज्य की शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाते हैं और सकारात्मक अधिकार व्यक्ति को विशिष्ट स्वतन्त्रताएँ प्रदान करते हैं।

3. अधिकार राज्य द्वारा निर्मित सामान्य विधियों से श्रेष्ठतर—मूल अधिकारों की अन्य प्रमुख विशेषता यह है कि ये अधिकार राज्य द्वारा निर्मित अन्य सामान्य विधियों से श्रेष्ठ हैं। जैसा कि भारत के सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश पातञ्जलि शास्त्री ने कहा था कि "संविधान के प्रारम्भ में ही मौलिक अधिकारों का उल्लेख तथा व्यवस्थापिकाओं पर इन अधिकारों में हस्तक्षेप का प्रतिबंध तथा इन अधिकारों के प्रवर्तन के लिए संवैधानिक अनुशास्ति इस तथ्य के स्पष्ट सूचक हैं कि ये अधिकार राज्य द्वारा निर्मित सामान्य विधि से श्रेष्ठ हैं।"

4. ये अधिकार निर्बन्धनहीं हैं—कोई अधिकार निरपेक्ष अथवा निर्वन्ध नहीं होते अधिकार सदा सापेक्ष होते हैं और उनका उपभोग सामाजिक प्रसंग में होता है। अतः जनता कल्याण, नैतिक मान्यताओं, सार्वजनिक सुरक्षा तथा राष्ट्र की सुरक्षा की दृष्टि से उन पर अने प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। भारतीय संविधान के मूल अधिकार भी निर्वन्ध या निरपेक्ष नहीं उन पर अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये हैं।

5. अधिकार नागरिकों एवं विदेशियों में अन्तर स्वीकार करते हैं—संविधान में वर्णि मूलाधिकार नागरिक एवं विदेशियों के अन्तर को स्वीकार करते हैं। फलतः इस दृष्टि से मौलिक अधिकारों के दो पक्ष हैं। एक वे जो समस्त लोगों के लिए हैं, फलतः उनका लाभ विदेशी भी उठा सकते हैं और दूसरे वे जो केवल भारतीय नागरिकों के लिए हैं। भारत में रहने वाले या आने वाले विदेशी नागरिक इन अधिकारों के उपभोग के अधिकारी नहीं हैं।

6. प्रवर्तन के लिए संवैधानिक अवस्था—मौलिक अधिकारों के प्रवर्तन के लिए संविधान में निश्चित प्रावधान किये गये हैं। अनुच्छेद 32 के अनुसार नागरिकों को यह अधिकार दिया

गया है कि वे अधिकारों के संरक्षण के लिए कानून की शरण ले सकते हैं। इस प्रकार मौलिक अधिकारों के पीछे वैधिक शक्ति है।

7. मौलिक अधिकारों के निलम्बन का प्रावधान—विशिष्ट परिस्थितियों, यथा आपात-काल में कुछ मौलिक अधिकारों का निलम्वन किया जा सकता है। किन्तु इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा यह प्रावधान किया गया है कि जीवन और स्वतन्त्रता के अधिकार को आपात-काल में भी निलम्बित नहीं किया जा सकता।

8. मौलिक अधिकारों में संशोधन—मौलिक अधिकार संशोधन की प्रभाव-परिधि से बाहर नहीं हैं। उनमें संशोधन किया जा सकता है। यही कारण है कि मौलिक अधिकारों में समय-समय पर संशोधन होते रहे हैं। मौलिक अधिकारों में संशोधन का एक प्रमुख लक्ष्य सम्पत्ति का अधिकार रहा है जिसे 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा मौलिक अधिकारों की पंक्ति से पृथक् कर वैधिक अधिकारों के रूप में प्रतिस्थापित किया गया है।

9. गैर-सरकारी एजेन्सियों और व्यक्तियों पर भी लागू—हमारे मौलिक अधिकारों की अन्य प्रमुख विशेषता यह है कि ये अधिकार राज्य और उसकी एजेन्सियों पर ही लागू नहीं होते, प्रत्युत गैर-सरकारी संस्थाओं या प्राइवेट व्यक्तियों पर भी लागू होते हैं।

संविधान में वर्णित मूल या मौलिक अधिकारों का वर्गीकरण

भारतीय संविधान के तीसरे खंड में भारतीय नागरिकों के मूल अधिकारों का विवेचन किया गया है। इस खंड में मूलतया नागरिकों के सात मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया गया था। किन्तु 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा सम्पत्ति के अधिकार (31वाँ अनुच्छेद) को मौलिक अधिकार के रूप में समाप्त कर दिया गया। सम्पत्ति का अधिकार अव केवल एक वैधिक या कानूनी अधिकार रह गया है। इस प्रकार वर्तमान समय में भारतीय संविधान में छह मौलिक अधिकार आते हैं—

1. समता का अधिकार
2. स्वतन्त्रता का अधिकार
3. शोपण के विरुद्ध अधिकार
4. धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार
5. संस्कृति तथा शिक्षा सम्वन्धी अधिकार
6. संवैधानिक उपचारों का अधिकार

हमारे मूल अधिकार

- समता का अधिकार (अनुच्छेद 14-18)
- स्वतन्त्रता का अधिकार (अनुच्छेद 19-22)
- शोषण के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद 23-24)
- धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद 25-28)
- संस्कृति तथा शिक्षा संबंधी अधिकार (अनुच्छेद 29-30)
- संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनुच्छेद 32)

समता का अधिकार (Right to Equality) (अनुच्छेद 14-18)

समता लोकतंत्र की आधारशिला है। फलत: प्रत्येक जनतांत्रिक व्यवस्था में समता के अधिकार को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहता है। समता के अधिकार की इसी महत्ता को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान में समता के अधिकार को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। संविधान में समता के अधिकार का उल्लेख अनुच्छेद 14 से लेकर 18 तक में किया गया है।

समता के अधिकार के अन्तर्गत मुख्यतया निम्नलिखित अधिकार आते हैं : (1) कानून के समक्ष समता, (2) सामाजिक समता, (3) अवसर की समता, (4) अस्पृश्यता का अन्त, (5) उपाधियों का अन्त।

समता का अधिकार

- कानून के समक्ष समता (अनुच्छेद 14)
- सामाजिक समता (अनुच्छेद 15)
- अवसर की समता (अनुच्छेद 16)
- अस्पृश्यता का अन्त (अनुच्छेद 17)
- उपाधियों का अंत (अनुच्छेद 18)
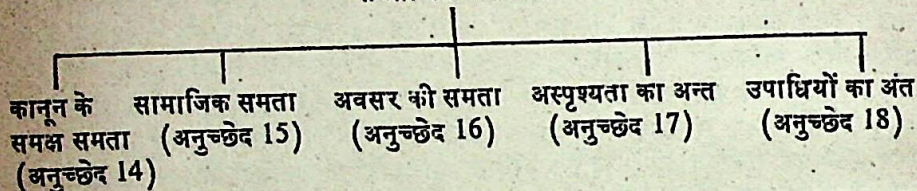
1. कानून के समक्ष समता—समता की अधिकार-शृंखला की पहली कड़ी कानून के समक्ष समता है। इस समता का उल्लेख संविधान के 14वें अनुच्छेद में किया गया है। इस अनुच्छेद में कहा गया है कि 'भारत राज्य-क्षेत्र में, राज्य किसी भी व्यक्ति को कानून के समक्ष समता अथवा कानून द्वारा समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा।'

इस प्रकार यह अधिकार भारत राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को कानून का समान संरक्षण प्रदान करता है। इसके अनुसार कानून के सामने सभी लोग समान हैं; न कोई छोटा है और न कोई बड़ा, न कोई कुलीन है और न कोई नीच। न कोई विशेष [illegible]कार-प्राप्त वर्ग है और न कोई अधिकारों से वंचित वर्ग। राज्य के सभी वर्ग के लोग देश के सामान्य कानून के अधीन हैं। सबके ऊपर एक-जैसा कानून लागू है और न्यायालय में समान परिस्थितियों में सबको समान व्यवहार का आश्वासन दिया गया है। भारतीय संविधान का यह मौलिक अधिकार ग्रेट-ब्रिटेन की भाँति देश में विधि के शासन (Rule of Law) की स्थापना करता है।

2. सामाजिक समता—भारतीय संविधान के अनुच्छेद 15 (i) के अनुसार, 'राज्य-किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर भेदभाव नहीं करेगा।' इसी अनुच्छेद के अगले खंडों में यह कहा गया है कि केवल धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर किसी भी नागरिक को दूकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों, मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश करने से नहीं रोका जायेगा। इसी प्रकार राज्य-विधि द्वारा पूर्ण या आंशिक रूप से सहायता-प्राप्त सर्वसाधारण के लिए बनवाए गए कुओं, घाटों, स्नानघाटों, सड़कों तथा सार्वजनिक समागम के स्थानों के उपभोग से किसी को उपर्युक्त आधारों पर वंचित नहीं किया जायेगा। इस प्रकार इन प्रावधानों द्वारा सामाजिक समता की स्थापना का प्रयास किया गया है।

3. अवसर की समता - संविधान के 16वें अनुच्छेद के अनुसार सभी नागरिकों को राज्य के अन्तर्गत सभी नौकरियों तथा पदों की प्राप्ति का समान अवसर दिया गया है। साथ ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि केवल धर्म, मूल वंश, जाति, लिंग और जन्म-स्थान के आधार पर अथवा इनमें से किसी एक के आधार पर राज्य भेदभाव नहीं करेगा और न उपर्युक्त आधार पर किसी व्यक्ति को राज्य के अन्तर्गत किसी पद या नौकरी के लिए अयोग्य ठहराया जायगा।

4. अस्पृश्यता का अन्त—संविधान के 17वें अनुच्छेद में अस्पृश्यता के अन्त का प्रावधान है। इसमें स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की गई है कि किसी भी रूप में अस्पृश्यता का आचरण निषिद्ध, वर्जित तथा दण्डनीय है। इस अनुच्छेद में कहा गया है कि 'अस्पृश्यता का अन्त किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। अस्पृश्यता से उपजी किसी निर्योग्यता को करना लागू अपराध होगा जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।'

5. **उपाधियों का अन्त**—संविधान के 18वें अनुच्छेद के अनुसार राज्य की ओर से सैनिक तथा शिक्षा सम्बन्धी उपाधियों को छोड़कर अन्य सभी उपाधियों का अन्त कर दिया गया है। इसी प्रकार किसी भी भारतीय नागरिक को विदेशी सरकार से उपाधि ग्रहण करने का अधिकार नहीं है। यदि कोई व्यक्ति भारत सरकार की सेवा में है तो वह राष्ट्रपति की स्वीकृति लेकर विदेशी सरकार की उपाधि ग्रहण कर सकता है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि भारत सरकार द्वारा दिए जाने वाले 'भारत-रत्न', 'पद्म-विभूषण', 'पद्मश्री' इत्यादि पदक विशिष्ट सेवाओं के प्रतीक और पुरस्कार माने गए हैं। इन्हें पदवी की संज्ञा नहीं दीं गई है।

समता के अधिकार के कुछ अपवाद और प्रतिबन्ध (सीमाएँ)

समता के अधिकार के कतिपय अपवाद और प्रतिबन्ध हैं। संक्षेप में इनको हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

(क) यद्यपि सार्वजनिक स्थानों में प्रवेश का सभी को समान अवसर दिया गया है, फिर भी सरकार स्त्रियों और बच्चों के हित के लिए विशेष नियम बना सकती है।

(ख) पिछड़ी हुई जातियों को अन्य जातियों के समकक्ष लाने के लिए सामाजिक तथा शैक्षणिक आधार पर सरकार नियम बना सकती है।

(ग) जिन सेवाओं या नौकरियों के लिए स्थानीय भाषा या परिस्थिति का ज्ञान होना आवश्यक है, उनके लिए आवश्यकतानुसार निवास-सम्बन्धी योग्यता निर्धारित की जाती है।

(घ) पिछड़ी जातियों के लिए, जिनका सरकारी नौकरियों में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है, सरकार उनकी स्थिति को ध्यान में रखते हुए स्थान सुरक्षित रख सकती है।

(ङ) अनेक धार्मिक संस्थाओं, यथा मन्दिर, धार्मिक ट्रस्ट आदि सरकार के हाथ में होते हैं। इन संस्थाओं की प्रबन्ध-समितियों में सरकार उन्हीं धर्मों के अनुयायियों को नियुक्त करती है। सरकार का इस प्रकार का कार्य समता के अधिकारों के विरुद्ध नहीं माना जायगा।

समता के अधिकार की आलोचना

समता के अधिकार कीं अनेक आधारों पर आलोचना की गई है। आलोचकों के अनुसार भारतीय संविधान में वर्णित समता का अधिकार एक निरर्थक और निष्प्राण अधिकार है। उनके अनुसार समता के अधिकार का मुख्य स्तम्भ आर्थिक समता होती है। किन्तु भारतीय संविधान में आर्थिक समता का कोई संकेत नहीं है। इस प्रसंग में डॉ० जेनिंग्स के व्यंग्यात्मक विचार उल्लेखनीय हैं। उनके शब्दों में 'ऐसा प्रतीत होता है कि यदि श्री जॉन ब्राउन डॉ० जॉन ब्राउन या जनरल जॉन ब्राउन बन जाते हैं—या वे स्वर्ण-जटित मोटर में घूमते हैं या वे अपनी स्त्री को जवाहरात और सिल्क की साड़ियों से लाद देते हैं तो समता के अधिकार का खण्डन नहीं होता, परन्तु यदि प्रस्तुत प्राध्यापक (सर आइवर जेनिंग्स) के सदृश (लोग) 'नाइट' की निःशुल्क उपाधि प्राप्त कर लेते हैं तो समता के अधिकार का खण्डन होता है।'

2. स्वतन्त्रता का अधिकार (Right to Freedom) (अनुच्छेद 19, 20, 21 और 22)

व्यक्तिगत स्वतंत्रता मौलिक अधिकारों में सर्वाधिक मौलिक अधिकार है। इस अधिकार के अभाव में अन्य मौलिक अधिकार निरर्थक हो जाते हैं। स्वतंत्रता के इसी महत्व को ध्यान में रखकर भारतीय संविधान में स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार को उपयुक्त स्थान दिया गया है। संविधान के 19 से लेकर 22 अनुच्छेद तक में स्वतंत्रता के अधिकार का विवेचन किया गया है।

स्वतंत्रता के इस अधिकार के अन्तर्गत संविधान का 19वाँ अनुच्छेद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस अनुच्छेद की मूल व्यवस्था के अनुसार नागरिकों को सात स्वतंत्रताएँ प्रदान की गई थीं। ये सात स्वतंत्रताएँ इस प्रकार थीं : (1) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, (2) बिना हथियार के शान्तिपूर्वक सभा करने की स्वतंत्रता, (3) समुदाय और संघ बनाने की स्वतंत्रता, (4) भारत की सीमा के अन्तर्गत आने-जाने की स्वतंत्रता, (5) निवास की स्वतंत्रता, (6) सम्पत्ति के अर्जन, धारण एवं व्यय की स्वतंत्रता, (7) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार करने की स्वतंत्रता। इन सात स्वतंत्रताओं में से छठी स्वतंत्रता, अर्थात् सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्यय की स्वतंत्रता को 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा हटा दिया गया है। इस प्रकार सात स्वतंत्रताओं के स्थान पर केवल छह स्वतंत्रताएँ रह गयी हैं। इन छह स्वतंत्रताओं के अतिरिक्त स्वतंत्रता के अधिकार के अन्तर्गत तीन अन्य स्वतंत्रताएँ भी आती हैं। ये हैं : कानून का उल्लंघन होने तक दण्ड से स्वतंत्रता, जीवन तथा शरीर की स्वतंत्रता, वन्दीकरण की अवस्था में अधिकार।

इस प्रकार स्वतंत्रता के अधिकार को हम तालिका की दृष्टि से अग्रांकित रूप में रख सकते हैं—

स्वतन्त्रता का अधिकार

- विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता (अनु० 19)
- शान्तिपूर्वक सभा करने की स्वतन्त्रता (अनु० 19)
- संघ बनाने की स्वतन्त्रता (अनु० 19)
- आने-जाने की स्वतन्त्रता (अनु० 19)
- निवास की स्वतन्त्रता (अनु० 19)
- वृत्ति, व्यापार या रोजगार की स्वतन्त्रता (अनु० 19)
- कानून का उल्लंघन न होने तक दण्ड की स्वतन्त्रता
- जीवन तथा शरीर की स्वतन्त्रता
- वन्दीकरण की अवस्था में अधिकार
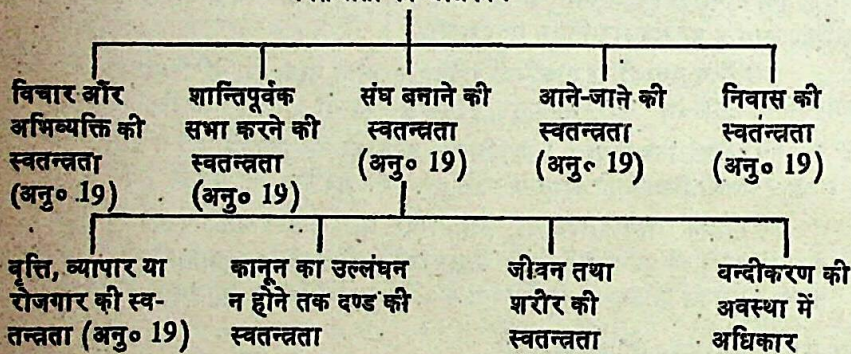
1. विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता—इस अधिकार के अनुसार भारत के प्रत्येक नागरिक को भाषण और विचारों की अभिव्यक्ति का अधिकार है। इसी कोटि के अन्तर्गत अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए पुस्तकें लिखने तथा समाचार-पत्रों आदि की स्वतन्त्रता आती है। इस प्रकार विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रदान कर भारतीय संविधान ने स्वतन्त्र जनमत के निर्माण का मार्ग खोल दिया है।

2. बिना हथियार के सभा करने की स्वतन्त्रता—भारत के नागरिकों को शान्तिपूर्ण तथा बिना हथियार के एकत्रित होने तथा सभा करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। जनतन्त्र की सफलता के लिए स्वतन्त्रता आवश्यक है। इस स्वतन्त्रता के बिना भाषण और विचारों की स्वतन्त्रता का कोई महत्व नहीं रह जाता।

3. समुदाय, संस्था या संघ बनाने की स्वतन्त्रता—संविधान प्रत्येक नागरिक को समुदाय, संस्था या संघ बनाने की स्वतन्त्रता देता है। इस अधिकार के आधार पर भारतीय नागरिक अपनी आवश्यक आकांक्षा, रुचि, अपने लाभ या परोपकार के लिए समुदाय, संस्था या संघ आदि की स्थापना कर सकते हैं।

4. भ्रमण या आने-जाने की स्वतन्त्रता—इस अधिकार के अनुसार भारतीय नागरिकों को अपनी इच्छानुसार या अपनी आवश्यकतानुसार भारत में भ्रमण या आने-जाने की स्वतंत्रता दी गई है।

5. निवास की स्वतन्त्रता—इस स्वतन्त्रता के अनुसार भारत राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत निवास या रहने या स्थायी रूप से बस जाने का अधिकार है।

6. वृत्ति, व्यापार या रोजगार की स्वतन्त्रता—इस स्वतन्त्रता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार कोई भी उचित पेशा चुनने तथा व्यापार व कारोबार करने की स्वतंत्रता दी गई है।

7. कानून का उल्लंघन न होने तक दण्ड की स्वतन्त्रता—संविधान के अनुच्छेद में यह कहा गया है कि कोई व्यक्ति किसी अपराध के लिए उस समय तक अपराधी नहीं ठहराया जा सकता जब तक कि उसने अपराध के समय में लागू किसी कानून का उल्लंघन न किया हो। इसके साथ यह व्यवस्था की गई है कि कोई भी व्यक्ति एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक दंडित और अभियोजित न हो और न ही किसी अपराध में अभियुक्त को स्वयं अपने विरुद्ध गवाही (साक्षी) देने के लिए बाध्य किया जायेगा।

8. जीवन तथा शरीर की स्वतन्त्रता—इस स्वतन्त्रता का प्रावधान संविधान के इक्कीसवें अनुच्छेद में किया गया है। इस अनुच्छेद में कहा गया है कि 'किसी व्यक्ति को अपने प्राण एवं शरीर की स्वतन्त्रता से विधि द्वारा पुरस्थापित प्रक्रिया (Procedure established by law) को छोड़कर अन्य किसी प्रकार वंचित नहीं किया जायगा।' दूसरे शब्दों में किसी व्यक्ति के जीवन तथा उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का राज्य की ओर से तब तक अपहरण नहीं किया जा सकता जब तक ऐसा करने के लिए किसी कानून का निर्माण न किया गया हो।

44वें संशोधन अधिनियम (1979) द्वारा इस स्वतन्त्रता को और सुरक्षित करने का प्रयास किया गया है। इस संशोधन अधिनियम के अनुसार अब आपात-काल में भी जीवन और शरीर-रक्षण के अधिकार से किसी को वंचित नहीं किया जायगा।

9. बन्दीकरण की अवस्था में संरक्षण—संविधान के अनुच्छेद 22 द्वारा बन्दीकरण की अवस्था में कुछ अधिकार प्रदान किये गये हैं। ये अधिकार इस प्रकार हैं—

1. बन्दी को बन्दी बनाने के कारणों या उसके अपराध के बारे में बताये बिना बन्दीगृह में अधिक समय तक नहीं रखा जा सकेगा।
2. अपराधी को यह अधिकार दिया गया है कि वह अपनी इच्छानुसार किसी वकील से परामर्श ले और उसके द्वारा अपनी प्रतिरक्षा का प्रबन्ध करे।
3. यह प्रावधान किया गया है कि जो व्यक्ति बन्दी बनाया जाय, उसे 24 घंटे के भीतर ही निकटतम न्यायाधीश के सामने उपस्थित किया जाय।[1]
4. न्यायाधीश की आज्ञा के बिना किसी व्यक्ति को इन 24 घंटों से अधिक कैद में नहीं रखा जा सकता।

स्वतन्त्रता के अधिकार पर प्रतिबन्ध

स्वतन्त्रता के जिस अधिकार का विवेचन किया गया है, वह निर्बन्ध नहीं है, उस पर अनेक प्रतिबन्ध हैं। उदाहरण के लिए, हम विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को ले सकते हैं। संविधान के अनुसार राज्य को यह अधिकार है कि वह राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, सार्वजनिक सुव्यवस्था, भद्रता या नैतिकता, न्यायालयों की मानहानि, व्यक्तियों के अपमान और अपराध को रोकने के हित में इन अधिकारों पर उचित प्रबन्ध लगा सकती है।

---

1. इन 24 घण्टों में बन्दीगृह से न्यायालय तक जाने का समय सम्मिलित नहीं है।

इसी प्रकार बिना हथियार शान्तिपूर्वक सभा करने की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध है। संविधान में कहा गया है कि राज्य 'सार्वजनिक सुव्यवस्था के हित' में तथा 'नैतिकता के हित में' 'युक्तिसंगत प्रतिबन्ध' (Reasonable Restrictions) लगा सकता है। इसी भाँति संघ बनाने, आने-जाने, निवास या वृत्ति अथवा रोजगार करने की स्वतन्त्रता प्रतिबन्धित है। उदाहरण के लिए, संघ बनाने के अधिकार को 'सार्वजनिक व्यवस्था' तथा नैतिकता के हित में प्रतिबन्धित किया जा सकता है। आने-जाने तथा निवास की स्वतन्त्रता 'सर्वसाधारण के हित में' तथा अनुसूचित 'जनजातियों के हित में' प्रतिबन्धित की जा सकती है। वृत्ति, उपजीविका या व्यापार की स्वतन्त्रता पर भी साधारण जनता के हित में राज्य 'युक्तिसंगत प्रतिबन्ध' लगा सकता है।

इसी प्रकार बन्दीकरण की अवस्था में प्राप्त अधिकारों के विषय में कहा गया है कि बन्दी बनाये गये व्यक्तियों को प्राप्त संरक्षण की स्वतन्त्रता दो प्रकार के अपराधियों पर लागू नहीं होगी : प्रथम, शत्रु देश के निवासियों पर; तथा दूसरे, निवारक निरोध अधिनियम के अन्तर्गत गिरफ्तार व्यक्तियों पर। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतन्त्रता के अधिकार पर अनेक प्रतिबन्ध हैं।

निवारक निरोध (Preventive Detention)—स्वतन्त्रता के अधिकार के प्रतिबन्धों के विवेचन के प्रसंग में निवारक निरोध के विषय में दो शब्द कह देने आवश्यक हैं। संविधान के अनुच्छेद 22 के खण्ड 4 में निवारक निरोध की चर्चा की गई है। निवारक निरोध का उद्देश्य किसी व्यक्ति को अपराध करने के पहले ही शंका होने पर गिरफ्तार कर लेना है। इसके अनुसार किसी व्यक्ति को कुछ समय के लिए बिना मुकदमा चलाये नजरबन्द किया जा सकता है।

संविधान में निवारक निरोध-सम्बन्धी प्रावधान अत्यन्त विवादास्पद रहा है। संविधान-सभा में जब यह अनुच्छेद पास हो रहा था, तब इसकी कटु आलोचना की गई थी। संविधान-सभा के एक प्रमुख सदस्य श्री एच० वी० कामथ ने कहा था कि "यह दिन लज्जा और दुःख का है। ईश्वर ही भारतीय जनता की रक्षा करे।" इसी प्रकार एक सदस्य ने इसे अत्याचार का घोषणा-पत्र (Declaration of Tyranny) कहा था। इसी प्रकार समय-समय पर अन्य लोगों द्वारा भी इसकी आलोचना की गई है।

संविधान में वर्णित निवारक निरोध-व्यवस्था के अनुसार सन् 1950 ई० में ही निवारक निरोध अधिनियम' पास हो गया था। समय-समय पर इसकी अवधि बढ़ाई जाती रही जिसके परिणामस्वरूप वह 1969 ई० तक चलता रहा। 1969 ई० में इसकी अवधि न बढ़ाई जा सकी। 1971 ई० में जब पाकिस्तान के शरणार्थियों का संकट उत्पन्न हुआ, तब आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था अधिनियम (Maintenance of Internal Security Act, 1971) के नाम से इसे पुनः पास किया गया। साधारण बोलचाल की भाषा में इसे मीसा (MISA) कहा जाता रहा। आपात-काल में कतिपय अधिकारियों ने इसका दुरुपयोग किया। फलतः इसकी कटु आलोचना हुई। जब जनता पार्टी सत्ता में आई तो उसने इस प्रकार के दुरुपयोग को रोकने के लिए 44वें संशोधन अधिनियम (1979 ई०) में कुछ प्रावधान किये। इसके अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि निवारक निरोध कानून के अन्तर्गत किसी व्यक्ति को तभी दो माह से अधिक अवधि के लिए नजरबन्द किया जा सकता है जबकि परामर्शदाता मण्डल यह प्रतिवेदन दे दे कि दो मास से अधिक नजरबन्दी के पर्याप्त आधार हैं। इस प्रकार के 'परामर्शदाता मण्डल' (एडवाइजरी बोर्ड) का अध्यक्ष आवश्यक रूप से उच्च न्यायालय का एक पदासीन न्यायाधीश होगा तथा परामर्शदाता मण्डल का गठन सम्बन्धित राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की सिफारिशों के अनुसार किया जायगा।

1971 ई० का आन्तरिक सुरक्षा अधिनियम 44वें संशोधन के प्रतिकूल था। अतएव वह स्वतः अवैध हो गया।

बाद में बढ़ती हुई महँगाई तथा आर्थिक अपराधों को रोकने के लिए तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री चरणसिंह के मंत्रिमण्डल के परामर्श पर अक्टूबर, 1979 ई० में राष्ट्रपति ने निवारक निरोध-सम्बन्धी अध्यादेश जारी किया। 1980 ई० की सातवीं लोकसभा के निर्वाचन में इन्दिरा कांग्रेस को बहुमत मिला। उसने अध्यादेश को अधिनियम का रूप देने का प्रयास किया। फलतः 1980 ई० की फरवरी में राष्ट्रीय सुरक्षा कानून (National Security Act) बना।

स्वतंत्रता के अधिकार की आलोचना

भारतीय संविधान भारतीय नागरिकों की स्वतंत्रता का महत्वपूर्ण अधिकार प्रदान करता है। उन्हें एक प्रकार से सभी महत्वपूर्ण और मौलिक स्वतंत्रताएँ प्रदान की गई हैं। किन्तु इस अधिकार में जो अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए गए हैं, वे इस अधिकार के महत्व को कम करते हैं। आलोचकों के अनुसार ये प्रतिबंध बहुत ही संदेहपूर्ण, अनिश्चित और लचीले हैं। इसी प्रकार निवारक निरोध-विषयक प्रावधान की भी कटु आलोचना की गई। इसे 'दमन और निरंकुशता का पत्र', 'दासता का चार्टर' तथा अप्रजातांत्रिक कहा गया है। आलोचना के इन तर्कों में कुछ सत्य है, किन्तु देश की परिस्थिति को देखते हुए हमें यह स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए कि भारतीय संविधान-निर्माताओं ने बहुत सोच-समझकर स्वतंत्रता-विषयक प्रावधान बनाए थे।

3. शोषण के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद 23, 24) (Right Against Exploitation)

भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों के अन्तर्गत एक अन्य महत्वपूर्ण अधिकार शोषण के विरुद्ध अधिकार है। इस अधिकार के अन्तर्गत मुख्यतया तीन निम्नलिखित अधिकार हैं—

1. छोटी आयु के बालकों के शोषण पर रोक,
2. मनुष्यों के क्रय-विक्रय पर रोक,
3. बेगार लेने पर रोक।

छोटी आयु के बालकों का शोषण न हो, इसके लिए संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि चौदह वर्ष से कम आयु वाले किसी बालक को किसी कारखाने या खान में नौकर नहीं रखा जायगा और न किसी अन्य कष्टकारक मजदूरी में लगाया जायगा।

इसी प्रकार संविधान में यह स्पष्ट रूप से कह दिया गया है कि मनुष्यों की खरीद-बिक्री अवैध या गैर-कानूनी होगी।

बेगार पर रोक लगाने के लिए भी संविधान में समुचित व्यवस्था की गई है। यदि कोई नागरिक किसी से बेगार लेता है तो वह अपराधी समझा जायगा।

शोषण के अधिकार के अपवाद और प्रतिबन्ध—इस अधिकार में भी प्रतिबन्ध है। संविधान के अनुसार राज्य सार्वजनिक प्रयोजन हेतु अनिवार्य सेवा अधिनियम कार्यान्वित कर सकता है। इस प्रकार यदि देश पर किसी प्रकार का संकट उपस्थित होता है तो राज्य अपने देश के नागरिकों को सेना में भर्ती होने के लिए बाध्य कर सकता है।

4. धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद 25, 26, 27 एवं 28) (Right to Freedom of Religion)

भारतीय संविधान धार्मिक स्वतंत्रता के महत्व को स्वीकार करता है और अपने नागरिकों को महत्वपूर्ण धार्मिक स्वतंत्रताएँ प्रदान करता है। धार्मिक स्वतंत्रता के अन्तर्गत मुख्यतया अग्रलिखित स्वतंत्रताएँ आती हैं—

- 1. समता का अधिकार
  - कानून के समक्ष समता
  - सामाजिक समता
  - अवसर की समता
  - अस्पृश्यता का अन्त
  - उपाधियों का अन्त
- 2. स्वतंत्रता का अधिकार
  - विचार और अभि-व्यक्ति की स्वतंत्रता
  - शान्तिपूर्वक सभा करने की स्वतंत्रता
  - संघ बनाने की स्वतंत्रता
  - निवास और आवागमन की स्वतंत्रता
  - वृत्ति, व्यापार की स्वतंत्रता
  - जीवन की सुरक्षा तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता
- 3. शोषण के विरुद्ध अधिकार
- 4. धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार
- 5. संस्कृति एवं शिक्षा सम्बन्धी अधिकार
- 6. संवैधानिक उपचारों का अधिकार
  - बन्दी-प्रत्यक्षीकरण
  - परमादेश
  - प्रतिषेध
  - अधिकार-पृच्छा
  - उत्प्रेषण
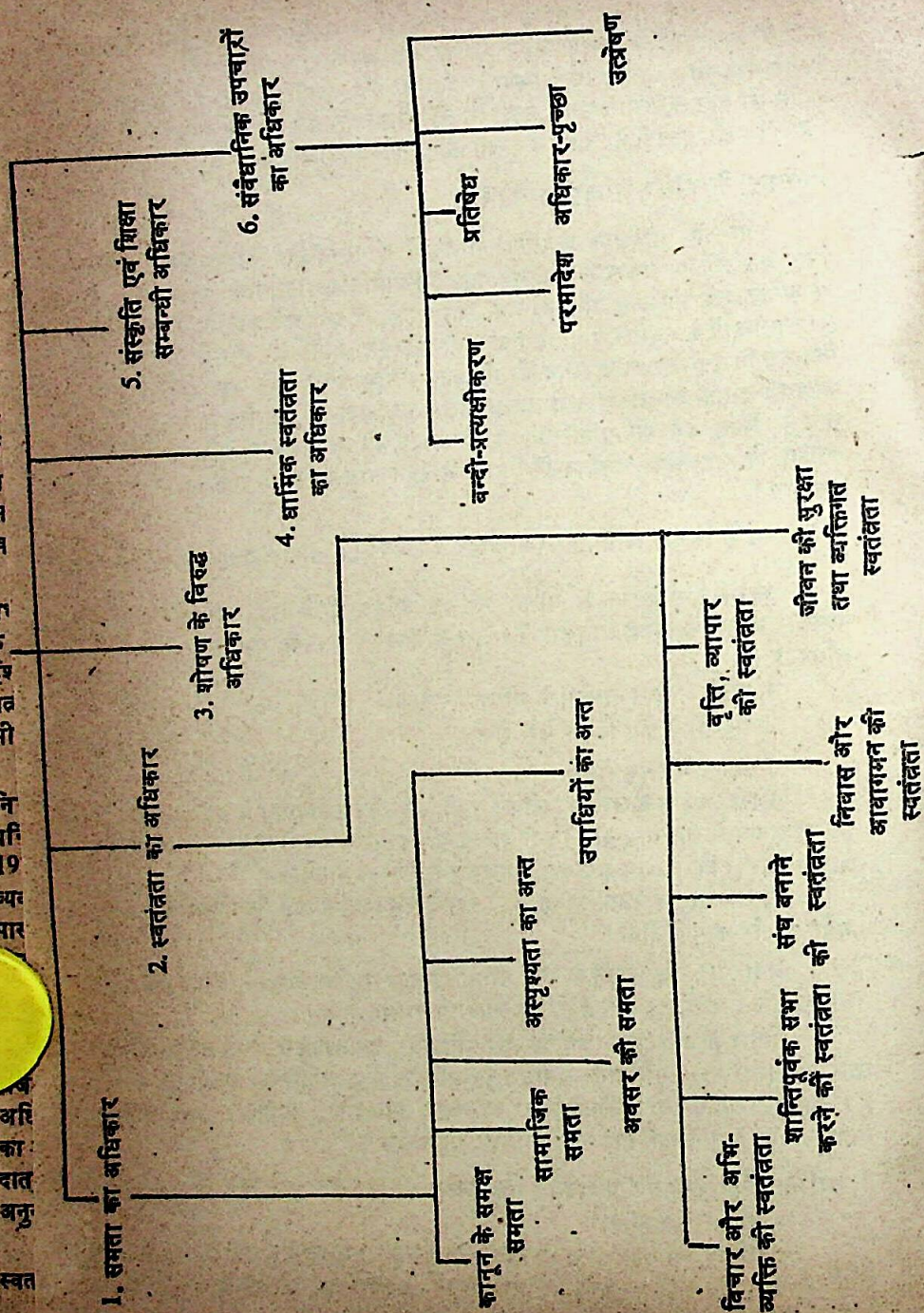
1. प्रत्येक व्यक्ति को सार्वजनिक सुव्यवस्था, नैतिकता तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी नियमों के रहते हुए अन्तःकरण की स्वतंत्रता है।

2. प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म को मानने, उपासना की कोई विधि अपनाने; अपने धर्म का प्रचार करने का अधिकार है।

3. धर्म-प्रचार के लिए व्यक्ति अपनी पृथक् धार्मिक संस्थाएँ और संगठन बना सकता है तथा उनका प्रबन्ध कर सकता है।

4. राज्य अपनी ओर से किसी धर्म को प्रोत्साहित नहीं कर सकता और न धार्मिक प्रयोजन के लिए किसी व्यक्ति को कर देने को बाध्य कर सकता है।

5. राज्य द्वारा संचालित शिक्षण-संस्थाओं में (जिनका पूरा खर्च राज्य की ओर से जाता है) धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकती।

धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार पर प्रतिबन्ध

इस प्रकार संविधान सभी आवश्यक धार्मिक स्वतंत्रताएँ प्रदान करता है। धार्मिक स्वतंत्रता-सम्बन्धी इन धाराओं को धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार-पत्र' (Charter of religious liberty) कहा गया है।

अन्य अधिकारों की भाँति धार्मिक स्वतंत्रता पर भी अनेक प्रतिबन्ध हैं। इन प्रतिबन्धों को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. राज्य सार्वजनिक हित, नैतिकता तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से धार्मिक स्वतंत्रता को नियंत्रित कर सकता है।
2. राज्य आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक दृष्टि से धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है।

5. संस्कृति तथा शिक्षा-सम्बन्धी अधिकार (अनुच्छेद 21 और 30) (Cultural and Educational Rights)

भारतीय संविधान सभी भारतीय नागरिकों को संस्कृति तथा शिक्षा-सम्बन्धी अधिकार प्रदान करता है। इस अधिकार के मुख्य पक्ष निम्नलिखित हैं—

1. भारत या उसके किसी भी भाग में रहने वाले नागरिकों के प्रत्येक ऐसे वर्ग को जिसकी अपनी पृथक् भाषा, लिपि या संस्कृति हो, उसे बनाये रखने का अधिकार दिया गया है।

2. धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना तथा प्रशासन का अधिकार दिया गया है।

3. राज्य या राज्य की सहायता से संचालित विद्यालयों में मूल वंश, धर्म और भाषा आदि के आधार पर किसी का भेदभाव नहीं किया जायगा।

4. राज्य द्वारा विभिन्न वर्गों की शिक्षण-संस्थाओं इत्यादि को आर्थिक सहायता देने से किसी प्रकार का भेदभाव नहीं जायगा।

3. संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनुच्छेद 32) (Right to Constitutional Remedies)

मूल अधिकार के अन्तर्गत अन्तिम, किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण मूल अधिकार संवैधानिक उपचारों का अधिकार है। डॉ० अम्बेदकर ने इस अधिकार को 'संविधान का प्राण और उसकी आत्मा' कहा था। इस प्रकार भारत के भूतपूर्व प्रधान न्यायाधीश पी० बी० गजेन्द्र गडकर ने इन उपचारों को 'भारतीय संविधान की जनतांत्रिक व्यवस्था की आधार-शिला' कहा है।

वास्तव में संवैधानिक उपचारों का अधिकार नागरिकों के मूल अधिकारों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष है। इसके अभाव में अन्य मौलिक अधिकारों का कोई महत्व नहीं रह जाता है। इस दृष्टि से संवैधानिक उपचारों के अधिकार को यदि भारतीय नागरिकों के मूल अधिकारों का मूर्धन्य अंग कहा जाय तो असंगत न होगा। भारतीय संविधान में इस अधिकार का समावेश कर मूल अधिकारों की सुरक्षा की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार अधिकारों की सुरक्षा को भी एक अधिकार मान लिया गया है।

संवैधानिक उपचारों के अधिकार के अनुसार यदि कोई सरकार, संस्था या व्यक्ति मनमाने रूप में किसी नागरिक के मूल अधिकारों का अपहरण करता है तो वह नागरिक न्यायालय की शरण ले सकता है। न्यायालय ऐसी स्थिति में अधिकार की रक्षा के लिए आवश्यक आदेश दे सकता है। संवैधानिक शब्दावली में इन आदेशों को 'रिट' (Writ) कहा जाता है। हिन्दी में इन्हें आदेश तथा लेख की संज्ञा दी गई है। ये 'रिट' या लेख कुल पाँच प्रकार के हैं—

1. बन्दी-प्रत्यक्षीकरण (हैबियस कार्पस),
2. परमादेश (मैण्डमस),
3. प्रतिषेध (प्रोहिबिशन),
4. अधिकार-पृच्छा (को-वारण्टो) तथा
5. उत्प्रेषण (सर्शियोरारी)

यहाँ हम इन पाँच प्रकार के लेखों या आदेशों पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे। इन आदेशों के विषय में यह बात ध्यान देने की है कि इन आदेशों के जारी करने का अधिकार केवल सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों को है।

1. बन्दी-प्रत्यक्षीकरण (Writ of Habeas Corpus)—बन्दी-प्रत्यक्षीकरण लैटिन भाषा के 'हैबियस कार्पस' (Habeas Corpus) शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। 'हैबियस कार्पस' का शाब्दिक अर्थ है शारीरिक रूप में उपस्थिति। इस प्रकार 'बन्दी-प्रत्यक्षीकरण लेख' का अर्थ होता है 'बन्दी के शरीर को न्यायालय के सामने उपस्थित करो।' यह लेख उस व्यक्ति की प्रार्थना पर लागू किया जाता है जो यह मानता है कि उसे अवैध रूप से बन्दी बनाया गया है।

बन्दी की प्रार्थना पर न्यायालय गिरफ्तार किए गए व्यक्ति को अपने समक्ष प्रस्तुत करने का आदेश दे सकता है और इस बात की जाँच कर सकता है कि व्यक्ति को कानून के विरुद्ध गिरफ्तार किया गया है या कानून के अनुसार। यदि बन्दी को कानून के विरुद्ध गिरफ्तार किया जाता है तो न्यायालय उसे तुरन्त रिहा करने का आदेश दे सकता है।

> **संवैधानिक उपचारों का अधिकार**
> 1. बन्दी-प्रत्यक्षीकरण
> 2. परमादेश
> 3. प्रतिषेध
> 4. अधिकार-पृच्छा
> 5. उत्प्रेक्षण

2. परमादेश (Writ of Mandemus)—परमादेश लैटिन भाषा के "मैण्डमस' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। मैण्डमस' का शाब्दिक अर्थ है—हम आज्ञा देते हैं—We command.

इस आदेश द्वारा न्यायालय किसी अधिकारी या प्राधिकारी को उस कर्तव्य-पालन के लिए आदेश देता है जिसके पालन के लिए वह कानून द्वारा बाध्य है। यह आदेश किसी व्यक्ति

की प्रार्थना पर उस समय जारी किया जाता है जब कि कोई अधिकारी या प्राधिकारी अपने कर्तव्य-पालन की उपेक्षा करता है और उसकी उस उपेक्षा से उस व्यक्ति के मूल अधिकार का उल्लंघन होता है।

उदाहरण के लिए, रेलवे के नियम के अनुसार किसी व्यक्ति को रेलवे द्वारा क्षति होने पर क्षतिपूर्ति मिलनी चाहिए। किन्तु सम्बन्धित रेलवे पदाधिकारी किसी कारण से उस व्यक्ति को क्षतिपूर्ति की धनराशि नहीं देता। ऐसी स्थिति में क्षतिग्रस्त नागरिक न्यायालय से परमादेश जारी करने की प्रार्थना कर सकता है और न्यायालय उस अधिकारी को समादेश द्वारा अपने कर्तव्य-पालन के लिए वाध्य कर सकता हैं।

3. प्रतिषेध (Writ of Prohibition)—प्रतिषेध का अर्थ है रोकना या मना करना। जब कोई न्यायालय या अर्द्ध-न्यायिक संस्था अपने अधिकार-क्षेत्र के बाहर कार्य करती है तो उसे रोकने के लिए यह आदेश जारी किया जाता है। इस प्रकार प्रतिषेध का आदेश उच्च न्यायालय द्वारा निम्न न्यायालय या अर्द्ध-न्यायिक निकाय (Quasi-judicial body) को किसी नागरिक की प्रार्थना पर उस समय जारी किया जाता है जब कि न्यायालय या अर्द्ध-न्यायिक निकाय या संस्था अपने अधिकार का अतिक्रमण करता/करती है।

4. अधिकार-पृच्छा (Writ of Quo-Warranto)—अधिकार-पृच्छा या 'को-वारण्टो' का शाब्दिक अर्थ है किस अधिकार से—By what authority ? जब कोई व्यक्ति ऐसे पदाधिकारी के रूप में कार्य करने लगता है जिसका उसे वैधानिक अधिकार प्राप्त नहीं होता तो न्यायालय अधिकार-पृच्छा लेख या आदेश जारी कर उस व्यक्ति से यह पूछता है कि किस अधिकार से वह सम्बन्धित पद पर कार्य कर रहा है। इस प्रकार यह आदेश उस व्यक्ति के विरुद्ध जारी किया जाता है जिसका पद या नियुक्ति विवादास्पद होती है। यदि न्यायालय को यह विश्वास हो जाता है कि वह व्यक्ति अवैध रूप से किसी पद पर कार्य कर रहा है तो न्यायालय उस व्यक्ति को उस पद से अलग होने का आदेश दे सकता है। अधिकार-पृच्छा आदेश किसी व्यक्ति की प्रार्थना पर सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय द्वारा जारी किए जाते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि अधिकार-पृच्छा आदेश केवल कानून द्वारा स्थापित किए गए सार्वजनिक महत्व के पदों के विरुद्ध प्रस्तुत किये जा सकते हैं, निजी संस्थाओं के विरुद्ध नहीं।

5. उत्प्रेषण-लेख (Writ of Certiorari)—इसका शाब्दि अर्थ है पूर्णरूप से सूचित होना (To be fuly informed)। इस आदेश द्वारा किसी निम्न न्यायालय या अर्द्ध-न्यायिक प्राधिकारी को उसके समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत किसी मुकदमे और उससे सम्बन्धित समस्त कागजपत्रों को ऊपर के या अन्य न्यायालय में भेजने का आदेश दिया जाता है। इस आदेश का प्रयोग मुख्यतया दो आधारों पर किया जाता है। प्रथमतः जब कि मुकदमा सम्बन्धित न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र के बाहर हो तथा दूसरे तब, जब कि उस न्यायालय में न्याय के के दुरुपयोग की आशंका हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय संविधान में मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए महत्वपूर्ण प्रयास किया गया है। इस प्रयास के प्रभाव में हमारे मौलिक अधिकार 'कोरे दस्तावेज' या मात्र उद्घोषणा के अतिरिक्त और कुछ न रहते। संवैधानिक उपचारों का यह अधिकार वस्तुतः मौलिक अधिकारों का सशक्त रक्षा-कवच है। संवैधानिक उपचारों के इन पाँच आदेशों को यदि मूल अधिकारों का पवित्र पंचामृत कहा जाय तो अनुचित न होगा।

मूल अधिकारों की सीमाएँ : प्रतिबन्ध

भारतीय संविधान में वर्णित मूल अधिकार असीमित या अमर्यादित अधिकार नहीं हैं, उन पर अनेक सीमाएँ या प्रतिबन्ध हैं। वस्तुतः प्रत्येक अधिकार किसी न किसी प्रतिबन्ध से

आच्छादित हैं। उदाहरण के लिए, समता के अधिकार को ले लीजिए। सरकार स्त्रियों, बच्चों तथा पिछड़ी हुई जातियों के हित की दृष्टि से इस अधिकार को प्रतिबन्धित कर सकती है। इसी प्रकार स्वतंत्रता के अधिकार को ले सकते हैं। संविधान हमें विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान करता है। किन्तु राज्य को यह अधिकार है कि वह राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, सार्वजनिक सुव्यवस्था, भद्रता, नैतिकता, न्यायालयों को मानहानि, व्यक्तियों के अपमान और अपराध को रोकने के लिए इन अधिकारों पर उचित प्रतिबन्ध लगा सकता है। इसी प्रकार अन्य स्वतंत्रताओं को भी प्रतिबन्धित किया जा सकता है।

शोषण के विरुद्ध अधिकार की भी अपनी सीमाएँ हैं। धार्मिक अधिकार को भी राज्य सार्वजनिक हित, नैतिकता तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से नियंत्रित कर सकता है। यही नहीं, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक स्वतंत्रता पर कतिपय प्रतिबन्ध लगाए जा सकते हैं। यही बात संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार के विषय में भी कही जा सकती है। लोक-हित की दृष्टि से इन अधिकारों को मर्यादित करने का अधिकार राज्य को प्राप्त है। जहाँ तक संवैधानिक उपचारों के अधिकार का प्रश्न है, संकट-काल में इस अधिकार के प्रयोग को स्थगित किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रायः हमारे सभी अधिकारों पर कुछ न कुछ सीमाएँ हैं। इन सीमाओं की बहुलता के कारण आलोचकों ने भारतीय संविधान के मौलिक अधिकारों को 'मौलिक अधिकारों का अध्याय' न कहकर 'मौलिक अधिकारों की सीमाओं का अध्याय' (A Chapter of Limitaions on Fundamental Rights) कहा है।

मौलिक अधिकारों का प्रयोग कब स्थगित हो सकता है ?

भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इन अधिकारों में से अनेक अधिकार विशिष्ट परिस्थितियों में निलम्बित हो सकते हैं या उनके प्रयोग को स्थगित किया जा सकता है।

1. उदाहरण के लिए संविधान के 33वें अनुच्छेद में संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह सशस्त्र सेना में अनुशासन बनाए रखने तथा सैनिक कर्तव्यों के पालन कराने की दृष्टि से भारत के रक्षा-बलों (सैनिक सेवाओं) के विषय में कानून बनाकर मौलिक अधिकारों के प्रयोग को नियंत्रित या निलम्बित कर सकती है।
2. इसी प्रकार 34वें अनुच्छेद में यह प्रावधान है कि उन भागों में जहाँ सैनिक कानून (Martial Law) लागू किया जायगा, वहाँ मूल अधिकार स्थगित रहेंगे।
3. संसद संविधान में संशोधन कर मूल अधिकारों के प्रयोग को प्रभावित, नियंत्रित या सीमित कर सकती है।
4. निवारक निरोध-सम्बन्धी अध्यादेश या अधिनियम के लागू होने की स्थिति में भी कुछ मूल अधिकार सम्बन्धित व्यक्ति के लिए अर्थहीन हो जाते हैं।
5. कार्यपालिका समय-समय पर कानून के अनुसार शान्ति-व्यवस्था बनाए रखने के लिए कुछ प्रतिबन्ध लगाती है। इन प्रतिबन्धों के लागू होने पर विचार-अभिव्यक्ति, आवागमन, संगठन या सभा करने आदि की स्वतंत्रताएँ निलम्बित हो जाती हैं।
6. संविधान के अनुसार संकट-काल की घोषणा होने पर अनेक प्रकार के मूल अधिकारों का प्रयोग स्थगित हो जाता है। इन अधिकारों में मुख्यतया भाषण, अभिव्यक्ति, शान्तिपूर्ण सम्मेलन तथा सभा करने के अधिकार आते हैं। यही नहीं, आवश्यकता पड़ने पर संकट-काल में संवैधानिक उपचारों के अधिकार को भी निलम्बित किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संविधान में नागरिकों के मौलिक अधिकारों के निलम्बन के लिए अनेक प्रावधान हैं। विशिष्ट परिस्थितियों में नागरिक अपने अनेक मौलिक अधिकारों से वंचित किए जा सकते हैं।

पर हमें यह न भूलना चाहिए कि मौलिक अधिकारों के निलम्बन-विषयक ये प्रावधान राष्ट्र के व्यापक हित को दृष्टि-पथ में रखकर किए गए हैं। अतएव इनसे सशंकित होने की आवश्यकता नहीं है। इन प्रावधानों की आड़ में संकट-काल में नागरिकों को उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता से न वंचित किया जा सके, इसके लिए भी संविधान में अनेक प्रावधान हैं। अभी हाल में इस दृष्टि से 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा एक महत्वपूर्ण कदम उठाया गया है, वह यह कि इस संशोधन के अनुसार संकट-काल में भी किसी को उसके जीवन और शरीर की रक्षा के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता।

मौलिक अधिकारों की आलोचना

मौलिक अधिकारों की अनेक विद्वानों ने अनेक आधारों पर आलोचना की है। आलोचना के मुख्य तर्कों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. मौलिक अधिकार अत्यन्त प्रतिबन्धित हैं—मौलिक अधिकारों की प्रथम प्रखर आलोचना का यह प्रमुख आधार है कि मौलिक अधिकार अत्यन्त प्रतिबन्धित हैं। आलोचकों के अनुसार प्रत्येक अधिकार पर किसी प्रतिबन्ध का कोई प्रश्नचिह्न अवश्य लगा है। इन प्रतिबंधों ने मौलिक अधिकारों को अत्यन्त सीमित कर दिया है। ये सीमाएँ इतनी व्यापक हैं कि आलोचकों ने मौलिक अधिकार-विषयक अध्याय को मौलिक अधिकार का अध्याय न कहकर उनकी सीमाओं का अध्याय कहा है। इसी प्रकार कुछ अन्य आलोचकों ने इस अध्याय को अधिकारों का निषेध (Negation of Rights) कहा है। भारत के सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व न्यायाधीश एम० सी० छागला ने इन्हीं सीमाओं के प्रकाश में मौलिक अधिकारों की आलोचना करते हुए कहा था कि "हमारा संविधान एक हाथ से मौलिक अधिकार प्रदान करता है और दूसरे हाथ से उन्हें छीन लेता है।"

मौलिक अधिकारों की आलोचना

1. मौलिक अधिकार अत्यन्त प्रतिबंधित हैं
2. आर्थिक अधिकारों का अभाव है
3. अधिकारों की भाषा क्लिष्ट और जटिल है
4. संकटकालीन प्रावधान इन अधिकारों के प्रतिकूल हैं
5. संसद को अधिकारों के संशोधन की अत्यधिक शक्ति प्राप्त है
6. कार्यपालिका द्वारा मौलिक अधिकारों का हनन किया जा सकता है
7. सिद्धांत और व्यवहार में पर्याप्त अन्तर है।

2. आर्थिक अधिकारों का अभाव—भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक अधिकार मूलतया राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अधिकार हैं। इन अधिकारों में आर्थिक अधिकारों, यथा काम पाने का अधिकार, बेकारी, बीमारी या वृद्धावस्था में आर्थिक सहायता के अधिकार आदि का उल्लेख नहीं है। इन अधिकारों के न होने से नागरिकों के अन्य मूल अधिकार भी महत्वहीन हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि "भारतीय संविधान भारत में राजनैतिक लोकतंत्र की स्थापना करता है, आर्थिक लोकतंत्र की नहीं।" पर जब तक आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना नहीं होती, तब तक राजनीतिक लोकतंत्र अधूरा रहेगा। इस प्रकार आर्थिक लोकतंत्र के स्थापक आर्थिक-अधिकारों का अभाव हमारे मौलिक अधिकार-पत्र को अधूरा और अशक्त बनाता है।

...गत अधिकारों की भाषा क्लिष्ट और जटिल है—हमारे मौलिक अधिकारों की आलोचना के प्रसंग में एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया जाता है, वह यह कि मौलिक अधिकारों की भाषा और उनकी अभिव्यक्ति जिस रूप में की गई है, वह क्लिष्ट और जटिल है। उन्हें जन-साधारण ही नहीं, प्रबुद्ध और पढ़ा-लिखा वर्ग भी सम्यक् रूप से समझने में सफल नहीं हो सकता। इस क्लिष्टता ने हमारे संविधान को 'वकीलों का स्वर्ग' (Lawyers' Paradise) बना दिया है और अनावश्यक मुकदमेबाजी को प्रोत्साहित किया है। इस प्रकार क्लिष्टता हमारे मौलिक अधिकारों का एक अत्यन्त दुर्बल पक्ष है। यदि हम अपने अधिकारों के इस पक्ष की तुलना संयुक्त राज्य अमेरिका या सोवियत रूस के संविधान के मूल अधिकारों से करें तो आलोचना के इस तर्क की सत्यता स्पष्ट हो जायेगी। इन देशों के संविधान में वर्णित मूल अधिकार जितने सुस्पष्ट, सुबोध और सुनिश्चित हैं, वैसे हमारे मूल अधिकार नहीं हैं।

4. **संकटकालीन प्रावधान मूल अधिकारों के प्रतिकूल हैं**—हमारे मूल अधिकारों की आलोचना के प्रसंग में एक यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि संकटकलीन प्रावधान मूल अधिकारों के प्रतिकूल हैं। संकटकालीन प्रावधानों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में संकटकालीन प्रावधानों की व्यवस्था ऐसी है जिससे संकट-काल की घोषणा कर नागरिकों की अनेक स्वतंत्रताओं का अपहरण किया जा सकता है। इस प्रकार संकटकालीन प्रावधान एक दृष्टि से मूल अधिकारों के प्रतिलोम हैं, शत्रु हैं।

5. **संसद को अधिकारों के संशोधन की अत्यधिक शक्ति प्राप्त है**—मौलिक अधिकारों की आलोचना में एक यह तर्क दिया जाता है कि भारतीय संसद को मूल अधिकारों के संशोधन की व्यापक शक्ति प्राप्त है। इस शक्ति का प्रयोग कर संसद मूल अधिकारों को संशोधित कर सकती है, सीमित कर सकती है तथा उन्हें प्रभावहीन बना सकती है। भारत का संवैधानिक इतिहास तथा संसद द्वारा किए गये संशोधन इस बात के प्रमाण हैं। 1979 ई० का 44वाँ संशोधन अधिनियम इस तथ्य का एक जीवंत और ताजा उदाहरण है। इस संशोधन अधिनियम द्वारा सम्पत्ति के अधिकारों को मूल अधिकारों से हटाकर एक वैधिक अधिकार बना दिया गया है। फलतः सात मूल अधिकारों के स्थान पर अब हमारे छह मूल अधिकार रह गए हैं। इस प्रकार संसद के मूल अधिकारों के संशोधन की व्यापक शक्ति मूल अधिकारों की महत्ता को धूमिल बनाती है।

6. **कार्यपालिका द्वारा मौलिक अधिकारों का हनन हो सकता है**—भारत की संवैधानिक व्यवस्था में कतिपय ऐसे प्रावधान हैं जिनके कारण कार्यपालिका अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर सकती है और इस दुरुपयोग के द्वारा वह नागरिकों के मौलिक अधिकारों का दमन कर सकती है। उदाहरण के लिए, हम निवारक निरोध को ले सकते हैं। यह एक ऐसा प्रावधान है जिसकी तुलना दो-नली बन्दूक से की गई है जिसका प्रयोग नागरिकों की स्वतंत्रताओं की रक्षा के लिए भी किया जा सकता है और उन स्वतंत्रताओं के विनाश के लिए भी। इसी प्रकार संकट-काल में भी कार्यपालिका द्वारा नागरिक स्वतंत्रताओं का दमन किया जा सकता है। इस प्रसंग में संविधान सभा में व्यक्त श्री सोमनाथ लाहिड़ी के ये विचार, कि "मूल अधिकारों का निर्माण एक पुलिस के सिपाही की दृष्टि से किया गया है, न कि एक स्वतंत्र, संघर्षशील राष्ट्र की दृष्टि से" महत्वपूर्ण हैं।

7. **सिद्धांत और व्यवहार में अन्तर**—नागरिकों के मौलिक अधिकारों की आलोचना के प्रसंग में एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया जाता है, वह यह कि मौलिक अधिकार सिद्धान्त में अत्यन्त उत्कृष्ट दिखालायी पड़ते हैं, किन्तु व्यवहार में उनकी उत्कृष्टता अर्थहीन हो जाती है। उदाहरण के लिए, हम संवैधानिक उपचारों के अधिकार को ले सकते हैं। संवैधानिक उपचारों

के इस अधिकार के अनुसार नागरिक स्वतंत्रताओं की उपेक्षा होने पर नागरिक न्यायालय की शरण ले सकता है। किन्तु भारत में न्याय महँगा है और आदमी उसकी कीमत नहीं चुका सकता। इस अधिकार का प्रयोग केवल धनवान या सम्पन्न लोग कर सकते हैं, निर्धन और विपन्न नहीं। जिस देश में चालीस प्रतिशत से अधिक जनसंख्या दरिद्रता-रेखा (Poverty Line) से नीचे रहती है, उस देश के नागरिकों के लिए नागरिकों का यह अधिकार-पत्र एक कोरे दस्तावेज के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जायगा। इसी प्रकार कतिपय अन्य अधिकारों की व्यावहारिकता भी इस बात को स्पष्ट कर देती है कि हमारे मूल अधिकार सिद्धान्त और व्यवहार के विषम अन्तर के जीवन्त दृष्टान्त हैं। जैसा कि नार्मन डी० पामर ने कहा है कि "आज का भारत का संविधान प्रत्याभूत मूल अधिकार तथा उन अधिकारों की सीमित वास्तविकता के मध्य विशाल अन्तराल प्रस्तुत करता है।"

इन आलोचनाओं का मूल्यांकन

मौलिक अधिकार-विषयक आलोचनाओं के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मौलिक अधिकार-विषयक प्रकरण भारतीय संविधान का एक अत्यन्त शिथिल पक्ष है। किन्तु यदि राष्ट्र के व्यापक हितों के परिप्रेक्ष्य में इन आलोचनाओं का मूल्यांकन करें तो देखेंगे कि भारतीय नागरिकों के मूल अधिकारों पर लगाए गए समस्त आरोप उपयुक्त नहीं हैं। उदाहरण के लिए, हम पहली आलोचना अर्थात् मौलिक अधिकारों के प्रतिन्ध-सम्बन्धी तर्कों को ले सकते है। यह सत्य है कि मौलिक अधिकारों पर अनेक प्रतिबन्ध हैं, अनेक सीमाएँ हैं। किन्तु ये समस्त सीमाएँ मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए, देश में शान्ति-व्यवस्था बनाए रखने के लिए लगाई गई हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ स्वछन्द्रता नहीं होता। देश के नागरिक सही अर्थों में स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकें, इसके लिए अनुकूल वातावरण की आवश्यकता होती है। अधिकारों पर लगाए गये प्रतिबन्धों का प्रयोजन ऐसे ही अनुकूल वातावरण का सृजन है। अतएव यह कहना कि नागरिकों के मूल अधिकारों का अध्याय अधिकारों का अध्याय न होकर अधिकारों की सीमाओं का अध्याय है, तथ्य को विकृत करना है।

इसी प्रकार यह कहा जाता है कि मूल अधिकारों की भाषा क्लिष्ट है और ये अस्पष्ट हैं। कानून की भापा और शब्दावली स्वभावतः सामान्य शब्दावली से कुछ कठिन होती है, अतएव मूल अधिकार-विषयक प्रावधानों की भाषा का कठिन होना स्वाभाविक है। जहाँ तक उनकी स्पष्टता का प्रश्न है, व्यापक विवेचन और अधिकारों के विभिन्न पक्षों के उल्लेख के कारण यदि वे जटिल प्रतीत होते हैं, तो अस्वाभाविक नहीं हैं। फिर भी सामान्यतया उनमें स्पष्टता का अभाव नहीं है।

मूल अधिकारों की आलोचना का एक अन्य तर्क यह है कि संकट-काल में मूल अधिकारों को निलम्बित किया जा सकता है। प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में संकट की घड़ियाँ आती हैं। ऐसे समय यदि शासन के पास संकट का सामना करने के लिए विशेष शक्ति नहीं होती तो राष्ट्र की स्वाधीनता प्रश्न-चिह्नों से घिर जाती है। अतएव आलोचना का यह तर्क भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता है।

इसी प्रकार मूल अधिकारों के संशोधन की शक्ति की भी आलोचना की गई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस क्षेत्र में संसद को महत्वपूर्ण शक्ति प्राप्त है, किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि कोई भी संसद जनमत की उपेक्षा कर अपने अस्तित्व को बनाए नहीं रख सकती। अतएव मूल अधिकारों में संसद तभी संशोधन करने का प्रयास करती है या भविष्य में करेगी जब कि वह यह जान लेती है कि ऐसे कार्य में उसे जनमत का समर्थन प्राप्त रहेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल अधिकार-विषयक हमारी अनेक शंकाएँ असंगत हैं। अन्त में हम डॉ०

पायली के शब्दों में कह सकते हैं कि "यद्यपि संवैधानिक संशोधन द्वारा मौलिक अधिकारों के क्षेत्र में काफी अन्तर आ गया है, फिर भी यह स्पष्ट है कि मौलिक अधिकार-विषयक अध्याय व्यक्ति-स्वातंत्र्य का प्रभावशाली अभिरक्षक, सार्वजनिक आचरण की आचार-संहिता तथा भारतीय जनतंत्र का सशक्त एवं शाश्वत आधार है।"

मौलिक अधिकारों का महत्व : संविधान में उनके समावेश से लाभ

मौलिक अधिकार हमारी स्वाधीनता के अनुपम वरदान, हमारी स्वतंत्रताओं के रक्षा-कवच तथा हमारे जनतन्त्र के आधार-स्तम्भ हैं। अतएव मौलिक अधिकारों की उपयोगिता या महत्व के विषय में दो मत नहीं हो सकते। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम मौलिक अधिकारों के महत्व को संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

मौलिक अधिकारों का महत्व

1. व्यक्तित्व के सम्यक् विकास में सहायक
2. जनतंत्र के आधार-स्तम्भ
3. नागरिक स्वतंत्रताओं के रक्षा-कवच
4. कार्यपालिका की स्वेच्छाचारिता के के अवरोधक
5. व्यवस्थापिका की निरंकुशता के नियंत्रक
6. सामाजिक संस्कृति के संरक्षक
7. सामाजिक प्रगति में सहायक
8. राजनैतिक संस्कृति के मानदण्ड

1. **व्यक्तित्व के सम्यक् विकास में सहायक**—प्रो० लास्की के अनुसार "अधिकार जीवन की वे अनिवार्य दशाएं हैं जिनके अभाव में व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के विकास की आशा नहीं कर सकता।' हमारे संविधान-निर्माताओं ने व्यक्तित्व के विकास में अधिकारों की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार कर व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक सभी अधिकारों को प्रदान करने का प्रयास किया है। इस प्रकार हमारे मूल अधिकारों की एक प्रमुख उपयोगिता उनका व्यक्तित्व के विकास में सहायक होना है।

2. **जनतंत्र के आधार-स्तम्भ**—जनतंत्र एक ऐसा जीवन-दर्शन, एक ऐसी राजनैतिक व्यवस्था होता है जिसमें नागरिकों के अधिकारों के अस्तित्व और विकास के लिए पूरा अवसर सुलभ होता है। भारतीय जनतंत्र भी इसका अपवाद नहीं है। भारतीय संविधान ने नागरिकों को मूल अधिकारों को प्रदान कर जनतन्त्र की आधारशिलाओं को सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हमारे मूलाधिकार हमारे जनतन्त्र के आधार-स्तम्भ हैं।

3. **नागरिक स्वतंत्रताओं के रक्षा-कवच**—संविधान में मूल अधिकारों का प्रावधान कर अनेक प्रकार की नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा का प्रयास किया गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हमारे मूलाधिकार हमारी स्वतंत्रताओं के रक्षा-कवच हैं।

4. **कार्यपालिका की स्वेच्छाचारिता के अवरोधक**—नागरिकों के मूल अधिकारों का संविधान में समावेश कर कार्यपालिका की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश लगाने का प्रयास किया गया है। इन अधिकारों के अभाव में कार्यपालिका स्वेच्छाचारी होकर नागरिकों की स्वतंत्रताओं का दमन कर सकती थी। अतएव हम कह सकते हैं कि हमारे मूल अधिकार कार्यपालिका की स्वेच्छाचारिता के अवरोधक हैं।

5. संसद की निरंकुशता पर अंकुश—संसद में भारी बहुमत प्राप्त कर सत्तारूढ़ दल ऐसे कानून बना सकता था जिससे नागरिक स्वतंत्रताओं का दमन हो सकता था। मूल अधिकारों के संविधान में उल्लेख होने से संसद या राज्यों के विधान-मण्डल निरंकुश नहीं हो सकते।

6. सामाजिक संस्कृति के संरक्षक—भारतवर्ष में अनेक धर्मों, सम्प्रदायों, जातियों, भाषाओं और आचार-विचारों के लोग रहते हैं। हमारे संविधान ने इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए अधिकारों का ऐसा प्रावधान किया है जिससे सभी जातियों, धर्मों, भाषा-भाषियों आदि को अपने विकास का अवसर मिले और सभी मिलकर देश की सामासिक संस्कृति (Composite Culture) के विकास में योग दे सकें। इस प्रकार नागरिकों के मौलिक अधिकारों को सामासिक संस्कृति का संरक्षक कहा जा सकता है।

7. सामाजिक प्रगति में सहायक—जिस प्रकार व्यक्ति के विकास के लिए अधिकार आवश्यक होते हैं, उसी प्रकार सामाजिक प्रगति के लिए भी उनकी आवश्यकता होती है। मौलिक अधिकारों का संविधान में समावेश कर सामाजिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया गया है।

8. राजनैतिक संस्कृति के मानदण्ड—इंगलैंड के प्रसिद्ध आदर्शवादी विचारक थॉमस हिल ग्रीन ने एक स्थल पर लिखा है कि "अधिकार सभ्यता के मानदण्ड होते हैं। किसी देश ने सभ्यता की दिशा में कहाँ तक प्रगति की है, इसका परिचय हमें इस तथ्य से मिलता है कि उस देश के नागरिकों को कितने अधिकार प्राप्त हैं।" भारतीय संविधान के मूल अधिकारों का विशद विवरण इस तथ्य का साक्षी है कि भारतीय सभ्यता प्रगति-पथ पर कितनी आगे बढ़ी है। दूसरे शब्दों में हमारे मूल अधिकार हमारी विकसित राजनैतिक चेतना के प्रकाश-स्तम्भ हैं, हमारी राजनैतिक संस्कृति के मानदण्ड हैं।

इस प्रकार हमारे मूल अधिकार हमारे संविधान के हृद-स्थल हैं, उसकी आत्मा हैं, हमारे जनतंत्र का जीवन हैं, हमारी वैयक्तिक तथा सामाजिक प्रगति के माध्यम हैं, हमारी स्वतंत्रताओं के रक्षा-कवच हैं तथा हमारी विकसित राजनैतिक चेतना के सफल मानदण्ड।

मौलिक अधिकार, संसद और संवैधानिक संशोधन : संवैधानिक संशोधनों द्वारा मौलिक अधिकारों को कहाँ तक छीना जा सकता है?

संसद संवैधानिक संशोधन के माध्यम से मौलिक अधिकारों को कहाँ तक सीमित कर सकती है, यह प्रश्न भारत की राजनैतिक व्यवस्था का एक अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न रहा है। समय-समय पर सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों तथा भारतीय विधिशास्त्रियों तथा अन्य राजशास्त्रियों द्वारा इस प्रश्न पर प्रकाश डाला गया है।

उदाहरण के लिए, इस प्रश्न पर सर्वप्रथम वैधानिक महत्व के विचार सर्वोच्च न्यायालय ने शंकरी प्रसाद बनाम बिहार राज्य (1951) नामक विवाद के प्रसंग में व्यक्त किये थे। इस विवाद में प्रथम संवैधानिक संशोधन अधिनियम को चुनौती दी गई थी और यह स्थापित करने का प्रयास किया गया था कि संसद को मूल अधिकारों में संशोधन का अधिकार नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में यह स्वीकार किया कि संसद को मूल अधिकारों में संशोधन करने का पूरा अधिकार है।

इसके बाद सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य नामक विवाद सामने आया। इस विवाद में संविधान के 16वें संशोधन अधिनियम 1964 ई० को चुनौती दी गई थी। इस विवाद के निर्णय में पुनः सर्वोच्च न्यायालय ने संसद के मूल अधिकारों में संशोधन की शक्ति को स्वीकार किया और यह कहा कि मूल अधिकारों से सम्बन्धित संविधान का सत्रहवाँ संशोधन अधिनियम वैध है।

किन्तु सन् 1667 ई० में सर्वोच्च न्यायालय का बदला हुआ दृष्टिकोण सामने आया। सर्वोच्च न्यायालय के सामने गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य नामक विवाद विचारार्थ प्रस्तुत था। इस विवाद में संविधान के चौथे और 17वें संशोधनों को चुनौती दी गई थी। 27 फरवरी, 1967 ई० को अपना ऐतिहासिक निर्णय देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि उपर्युक्त संशोधन अवैध हैं और संसद को मूल अधिकारों को संशोधित करने का अधिकार नहीं है। संसद की संशोधन-शक्ति पर प्रश्न-चिह्न लगाकर एक वैधानिक समस्या खड़ी कर दी थी। यह समस्या भारतीय संसद की संप्रभु-शक्ति को चुनौती दे रही थी। अतएव वैधानिक स्तर पर इस समस्या के समाधान का प्रयास किया गया। संविधान का 24वाँ संशोधन अधिनियम (सन् 1971 ई०) इसी प्रयास का प्रतिफल था।

24वें संशोधन अधिनियम को पास कर संसद ने मौलिक अधिकारों में संशोधन के संसदीय अधिकार की पुनः प्रतिष्ठा कर दी। इस संशोधन अधिनियम द्वारा यह बात स्पष्ट कर दी गई कि संसद को मूल अधिकारों में संशोधन करने का अनन्य अधिकार है। इसके बाद 25वें संशोधन अधिनियम द्वारा सम्पत्ति के अधिकार में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए।

इसी बीच स्वामी केशवानन्द भारती नामक विवाद पर विचार हुआ। सर्वोच्च न्यायालय ने इस विवाद पर 24 अप्रैल, 1973 ई० को अपना ऐतिहासिक निर्णय दिया। इस निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय के तेरह न्यायाधीशों में से नौ न्यायाधीशों ने निर्णय में कहा कि "हम लोग घोषित करते हैं कि इस निर्णय के बाद संसद को संविधान के खण्ड 3 (मूल अधिकार-विषयक प्रकरण) के किसी उपबन्ध में इस तरह संशोधन का अधिकार नहीं होगा जिससे कि मौलिक अधिकार छिन जायें या परिसीमित हो जायें।"

इस ऐतिहासिक निर्णय ने संसद के मूल अधिकारों-विषयक संशोधन के अधिकार पर प्रश्न-चिह्न लगा दिए। इस निर्णय की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। अनेक राज्यविज्ञों और विधि-शास्त्रियों तथा न्यायविदों ने इस निर्णय की कटु आलोचना की। उधर इस समय केन्द्र में प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस दल सत्तारूढ़ था। इन्दिरा गांधी की सरकार सामाजिक न्याय स्थापित करने के लिए कृतसंकल्प थी। बैंकों का राष्ट्रीयकरण, प्रिवी-पर्स का उन्मूलन इत्यादि के माध्यम के वह लोकतांत्रिक समाजवाद की स्थापना के लिए आगे कदम बढ़ाना चाहती थीं। मूल अधिकारों के संशोधन की शक्ति के बिना इन्दिरा सरकार अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकती थी। फिर इस निर्णय ने 'गोकुलनाथ विवाद' के प्रसंग में प्रस्तुत स्थापना को अस्वीकृत कर दिया था और स्पष्ट शब्दों में यह स्थापित किया कि संसद को संविधान तथा मूल अधिकारों में संशोधन की शक्ति प्राप्त है। किन्तु संसद ऐसा कोई संशोधन नहीं कर सकती जिससे संविधान की आधारभूत संरचना विकृत हो जाय। इस प्रकार इस निर्णय के अनुसार वर्तमान स्थिति यह है कि संसद संविधान की आधारभूत संरचना (Basic structure of the constitution) को नष्ट किए बिना मूल अधिकारों में संशोधन कर सकती है। इस प्रकार केशवानन्द भारती विवाद के निर्णय ने 24वें संशोधन की वैधानिकता की परिपुष्टि कर दी। अब संसद अपनी वैधानिक स्थिति के अनुसार संविधान और मूल अधिकारों में संशोधन करने में पूरी तरह सक्षम है। सन् 1978 ई० के 44वें संशोधन-अधिनियम ने मूल अधिकारों में महत्वपूर्ण संशोधन किए हैं। इस संशोधन का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि इस संशोधन अधिनियम द्वारा मौलिक अधिकारों में से सम्पत्ति के अधिकार को पृथक् कर दिया गया है। सम्पत्ति का अधिकार अब एक वैधिक अधिकार रह गया है। सम्पत्ति के अधिकार के निकल जाने से अब सात मूल अधिकारों के स्थान पर केवल छह मूल अधिकार रह गए हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वर्तमान संवैधानिक स्थिति यह है कि संविधान की मूल संरचना में परिवर्तन किए बिना संसद मूल अधिकारों को संशोधित कर सकती है।

सम्पत्ति का अधिकार एक वैधिक अधिकार : सम्पत्ति के अधिकार की वर्तमान स्थिति

सम्पत्ति का अधिकार संविधान की मूल व्यवस्था के अनुसार एक मौलिक अधिकार था। इस अधिकार का प्रावधान संविधान के 31वें अनुच्छेद में किया गया था। इसके अतिरिक्त 19वें अनुच्छेद (6) में भी इस अधिकार का उल्लेख था। संविधान के अनुच्छेद 31 (1) में कहा गया था कि 'विधि के प्राधिकार के बिना किसी को उसकी निजी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जायगा।' 31 (2) में यह प्रावधान था कि 'सार्वजनिक प्रयोजन के लिए किसी भी चल या अचल सम्पत्ति को सम्पत्ति के बदले में क्षतिपूर्ति या मुआवजा देकर राज्य द्वारा लिया जा सकेगा।'

बाद में सम्पत्ति के इस अधिकार में कतिपय संशोधन किए गए। उदाहरण के लिए, संविधान के प्रथम संशोधन अधिनियम 1951 ई० द्वारा यह व्यवस्था की गई कि जमींदारी उन्मूलन-सम्बन्धी कानून मुआवजे की व्यवस्था न होते हुए भी वैध समझे जायेंगे।

सम्पत्ति के अधिकार-विषयक धाराओं में अभी भी कुछ बाधाएँ विद्यमान थीं जिनके रहते सामाजिक न्याय के लिए सम्पत्ति का अधिग्रहण करना कठिन था। इन बाधाओं में सबसे बड़ी बाधा सम्पत्ति के मुआवजे से सम्बन्ध रखती थी। मुआवजे के प्रश्न को लेकर न्यायालयों में अनेक विवाद पेश हुए थे। अतएव संविधान के चौथे संशोधन अधिनियम (सन् 1955 ई०) द्वारा यह प्रावधान किया गया कि मुआवजे की राशि के निश्चय करने का पूरा अधिकार व्यवस्थापिका को होगा। इसके अतिरिक्त इस सम्बन्ध में कुछ अन्य प्रावधान भी किए गए।

सन् 1951 तथा 1955 ई० के संशोधनों के होते हुए भी अनेक विधान मण्डलों द्वारा पारित भूमि-सुधार-सम्बन्धी कुछ विधायी प्रस्तावों को न्यायालय में चुनौती दी गई थी। केरल भूमि-सम्बन्धी अधिनियम (1961 ई०), मद्रास भूमि सुधार जोत सीमा अधिनियम (1961), राजस्थान काश्तकारी अधिनियम (1955) तथा महाराष्ट्र कृषि भूमि अधिनियम (1961) न्यायालयों द्वारा अवैध घोषित कर दिए गये थे। अतएव इन परिस्थितियों में संविधान का सत्रहवाँ संशोधन अधिनियम (1961 ई०) पास हुआ। इस अधिनियम द्वारा सम्पदा (Estate) शब्द की व्याख्या की गई। 25वें संशोधन अधिनियम (1971 ई०) द्वारा सम्पत्ति के अधिकार में कुछ और परिवर्तन किए गए। इन समस्त संशोधनों के फलस्वरूप सम्पत्ति के अधिकार की जो स्थिति थी, वह इस प्रकार थी : (1) किसी व्यक्ति को कानून की सत्ता के बिना अपनी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता था। (2) कोई सम्पत्ति सार्वजनिक प्रयोजन के सिवाय तथा किसी कानून की सत्ता के बिना अर्जित या अधिगृहीत नहीं की जा सकती थी। (3) कानून में इस प्रकार अर्जित या अधिगृहीत सम्पत्ति के लिए मुआवजे का प्रावधान होना आवश्यक था। (4) कानून में या तो मुआवजे की राशि निश्चित होनी चाहिए थी या उन सिद्धान्तों का उल्लेख होना चाहिए था जिनके अनुसार मुआवजे की राशि निश्चित होनी थी। (5) उस कानून को न्यायालय में इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती थी कि मुआवजे की धनराशि अपर्याप्त है।

अनुच्छेद 31 के अतिरिक्त 19वें अनुच्छेद के खण्ड (6) में सम्पत्ति के अर्जन, व्ययन और धारण की स्वतंत्रता प्रदान की गई थी।

सन् 1978 ई० में सत्तारूढ़ जनता पार्टी ने 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा सम्पत्ति के मौलिक अधिकार को मौलिक अधिकारों से अलग कर दिया। इस प्रकार संविधान के अनुच्छेद 317 तथा 19 (6) को संविधान के तृतीय खण्ड से हटा दिया गया। इसके स्थान पर संविधान में 300 (अ) अनुच्छेद जोड़ा गया। इस अनुच्छेद में यह कहा गया हैं कि "कानून की सत्ता के बिना किसी को सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जायगा।"

इस प्रकार वर्तमान समय में सम्पत्ति का अधिकार मौलिक अधिकार न होकर एक वैधिक अधिकार है। इसलिए अब सम्पत्ति के अधिकार का मौलिक अधिकार के अन्तर्गत उल्लेख नहीं किया जाता।

एक वैधिक अधिकार हो जाने के कारण अब सम्पत्ति के अधिकार को वह कानूनी संरक्षण प्राप्त नहीं है जो कि मूल अधिकारों को है। मूल अधिकारों की उपेक्षा होने पर संविधान के संवैधानिक उपचारों (अनुच्छेद 32) के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय की सीधे शरण ली जा सकती है। सम्पत्ति के अधिकार के वैधिक अधिकार हो जाने से अब सम्पत्ति का अधिकार इस प्रकार के संवैधानिक संरक्षण से वंचित है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि अब सम्पत्ति का अधिकार महत्वहीन हो गया है या सरलता से किसी को उसकी सम्पत्ति से वंचित किया जा सकता है। वस्तुतः जैसा कि प्रसिद्ध विधिशास्त्री डॉ० पी० के० त्रिपाठी ने कहा है कि 'सम्पत्ति का अधिकार पहले की उपेक्षा और अधिक सुरक्षित है।

लघु और अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—भारतीय संविधान में कौन-कौन से मूल अधिकार दिये गए हैं ?

उत्तर—भारतीय संविधान में वर्तमान समय में मुख्यतया अग्रलिखित छह अधिकारों का उल्लेख हैं—

(i) समता का अधिकार, (ii) स्वतंत्रता का अधिकार, (iii) शोषण के विरुद्ध अधिकार, (iv) धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार, (v) संस्कृति तथा शिक्षा सम्बन्धी अधिकार, (vi) संवैधानिक उपचारों का अधिकार।

प्रश्न 2—समता के अधिकार के अन्तर्गत मुख्यतया कौन-कौन से अधिकार आते हैं ?

उत्तर (1) कानून के समक्ष समता, (2) सामाजिक समता, (3) अवसर की समता, (4) अस्पृश्यता, (5) उपाधियों का अन्त।

प्रश्न 3—स्वतन्त्रता के अधिकार के अन्तर्गत कौन-कौन से अधिकार आते हैं ?

उत्तर—(1) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, (2) शान्तिपूर्ण सभा करने की स्वतंत्रता, (3) समुदाय या संघ निर्माण करने की स्वतंत्रता, (4) भारत-क्षेत्र के अन्तर्गत आवागमन या भ्रमण की स्वतंत्रता, (5) निवास की स्वतंत्रता, (6) इच्छानुसार व्यवसाय की स्वतंत्रता।

प्रश्न 4—धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार का संक्षेप में उल्लेख कीजिए ?

उत्तर—धार्मिक स्वतंत्रता के अन्तर्गत मुख्यतया निम्नलिखित अधिकार आते हैं—

(1) प्रत्येक व्यक्ति को अपने विश्वास के अनुसार धर्म को मानने और धार्मिक आचरण करने का अधिकार है, (2) प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म का प्रचार करने का अधिकार है, (3) धर्म-प्रचार के लिए नागरिक शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना।

प्रश्न 5—संवैधानिक उपचारों के अधिकार के अन्तर्गत-न्यायपालिका को कौन-कौन आदेश (रिट) जारी करने का अधिकार है ?

उत्तर—(1) बन्दी-प्रत्यक्षीकरण, (2) परमादेश, (3) प्रतिषेध, (4) उत्प्रेषण, (5) अधिकार-पृच्छा।

प्रश्न 6—बन्दी-प्रत्यक्षीकरण का क्या अर्थ है ?

उत्तर—इसका सामान्य अर्थ है बन्दी को न्यायालय में उपस्थित करना। इसके द्वारा

न्यायालय को यह अधिकार होता है कि वह बन्दी बनाए गए किसी व्यक्ति को अपने सामने उपस्थित होने का आदेश दे। यह आदेश (रिट) उस व्यक्ति की प्रार्थना पर लागू किया जाता है जो यह मानता है कि उसे अवैध रूप से बन्दी बनाया गया है।

प्रश्न 7—सम्पत्ति के अधिकार की इस समय क्या स्थिति है ?

उत्तर—सम्पत्ति का अधिकार पहले एक मूल अधिकार था। इस अधिकार के अनुसार पहले भारत के प्रत्येक नागरिक को सम्पत्ति के अर्जित करने, उसके उपयोग करने, खरीदने तथा बेचने का अधिकार था। परन्तु संविधान के 44वें संशोधन अधिनियम के अनुसार सम्पत्ति के अधिकार को मूल अधिकारों की श्रेणी से अलग कर दिया गया है। अब सम्पत्ति का अधिकार केवल वैधिक या कानूनी अधिकार है।

प्रश्न 8—संविधान में मूल अधिकारों का क्यों उल्लेख किया गया है ?

उत्तर—भारतीय संविधान में नागरिकों के मूल अधिकारों के समावेश का मुख्य उद्देश्य नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा की व्यवस्था करना था। मूल अधिकारों का संविधान में समावेश करने से कार्यपालिका या व्यवस्थापिका या अन्य किसी व्यक्ति, संगठन या सत्ता द्वारा नागरिकों की आवश्यक स्वतंत्रताओं का हनन नहीं किया जा सकता।

प्रश्न 9•मूल अधिकारों की आलोचना के मुख्य बिन्दु बताइए।

उत्तर—(1) मूल अधिकारों के अन्तर्गत अनेक महत्वपूर्ण अधिकारों का समावेश नहीं किया गया है। उदाहरण के लिए इनमें काम पाने का अधिकार, विश्राम का अधिकार आदि, का उल्लेख नहीं है। (2) मूल अधिकारों पर अनेक सीमाएँ हैं। इसीलिए कहा गया है कि इन मूल अधिकारों को संविधान एक हाथ से देता है और दूसरे हाथ से ले लेता है।

प्रश्न 10 मूल अधिकारों का क्या महत्त्व है ?

उत्तर—मूल अधिकारों को भारतीय लोकतंत्र का आधार-स्तम्भ कहा जा सकता है। ये अधिकार नागरिकों के जीवन, सुरक्षा और विकास के लिए आवश्क स्वतंत्रताएँ प्रदान कर उनके व्यक्तित्व के चतुर्मुखी विकास का अवसर प्रदान करते हैं। साथ ही उन्हें किसी प्रकार के अनाचार, अत्याचार, दमन और शोषण से रक्षा करते हैं।

प्रश्न 11—मूल अधिकारों का प्रयोग कब स्थगित किया जा सकता है ?

उत्तर—1) संविधान का संशोधन कर मूल अधिकारों का प्रयोग प्रभावित नियंत्रित और स्थगित किया जा सकता है, (2) आपातकाल में मूल अधिकारों का प्रयोग स्थगित किया जा सकता है। (3) भारत के सैनिक सेवाओं के लोगों के लिए मूल अधिकारों का प्रयोग स्थगित किया जा सकता है, (4) जिस भाग में सैनिक कानून लागू है, वहाँ पर मूल अधिकारों का प्रयोग स्थगित किया जा सकता है।

प्रश्न 12—निवारक निरोध पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

उत्तर—निवारक निरोध का उद्देश्य किसी व्यक्ति को अपराध करने के पहले ही शंका होने पर गिरफ्तार कर लेना है। इसके अनुसार किसी व्यक्ति को मुकदमा चलाए बिना कुछ समय के लिए नजरबन्द किया जा सकता है। संविधान के अनुच्छेद 22 के खण्ड 4 में निवारक निरोध का जिक्र किया गया है। वर्तमान व्यवस्था के अनुसार किसी भी व्यक्ति को निवारक निरोध कानून के अन्तर्गत गिरफ्तार कर अधिक-से-अधिक दो महीने तक नजरबन्द किया जा

सकता है। इससे अधिक की अवधि तक नजरबन्द रखने के लिए 'सलाहकार बोर्ड' की अनुमति लेनी पड़ती है। 'सलाहकार बोर्ड का गठन उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की सलाह से किया जाता है। बोर्ड का अध्यक्ष उच्च न्यायालय का कार्यरत न्यायाधीश होता है। इसके अतिरिक्त दो अन्य सदस्य होते हैं। अन्य सदस्य उच्च न्यायालय के कार्यरत अथवा अवकाश प्राप्त न्यायाधीश होते हैं।

निवारक निरोध प्रावधान को प्रभावी बनाने के लिए समय-समय पर सम्बन्धित कानून बनाए गए। सबसे पहले 1950 ई० में 'निवारक निरोध अधिनियम' लागू हुआ। उसके समाप्त होने के बाद 'आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था अधिनियम' (मीसा MISA) लागू हुआ। उसके समाप्त होने के बाद 'राष्ट्रीय सुरक्षा कानून', 'नेशनल सेक्यूटिरी एक्ट' लागू हुआ जो अब भी लागू है।

अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—भारतीय संविधान के किस अध्याय में मूल अधिकारों का उल्लेख किया है?

उत्तर – तीसरे अध्याय में।

प्रश्न 2—भारतीय संविधान में मूल अधिकार का उल्लेख किन अनुच्छेदों में है?

उत्तर—14 से लेकर 32 अनुच्छेद तक।

प्रश्न 3—संवैधानिक उपचारों के अधिकार का उल्लेख किस अनुच्छेद में है?

उत्तर—32वें अनुच्छेद में।

प्रश्न 4—अस्पृश्यता के अन्त का उल्लेख किस अधिकार के अन्तर्गत किया गया है?

उत्तर—समता के अधिकार के अन्तर्गत।

प्रश्न 5- सम्पत्ति के अधिकार को किस संशोधन-अधिनियम द्वारा हटाया गया है?

उत्तर—44वें संशोधन-अधिनियम द्वारा।

प्रश्न 6 – किस 'रिट' (आदेश) के अनुसार बन्दी को न्यायालय के सामने उपस्थित किया जाता है?

उत्तर—बन्दी-प्रत्यक्षीकरण या 'हैबियस कार्पस'।

प्रश्न 7—जब कोई व्यक्ति, अधिकारी या संस्था अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करता, तो न्यायालय किस आदेश को जारी करता है?

उत्तर –परमादेश (रिट ऑफ मैण्डमस)

प्रश्न 8—जब कोई व्यक्ति या पदाधिकारी किसी ऐसे पद पर कार्य करता है या ऐसा कार्य करता है जिसका उसे कानूनी अधिकार नहीं है तो किस आदेश को जारी किया जाता है?

उत्तर—अधिकार-पृच्छा (रिट ऑफ को वारण्टो)

प्रश्न 9—सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय अधीनस्थ न्यायालय को कानून की प्रक्रिया के उचित रूप से पालन न होने पर कौन-सा आदेश देता है?

उत्तर— उत्प्रेषण-आदेश।

प्रश्न 10—सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय अधीनस्थ न्यायालय को इस आधार पर कि वह मामला उसके कार्यक्षेत्र के बाहर है, कौन सा आदेश जारी करता है?

उत्तर—प्रतिषेध।

प्रश्न 11—वृत्ति व्यापार या रोजगार करने की स्वतंत्रता किस मूल अधिकार के अन्तर्गत आती है ?

उत्तर—स्वतन्त्रता के अधिकार के अन्तर्गत।

प्रश्न 12—छोटी आयु के बालकों के शोषण पर रोक, मनुष्य के क्रय-विक्रय पर रोक तथा बेगार लेने पर रोक किस मूल अधिकार के अन्तगत आते हैं ?

उत्तर—शोषण के विरुद्ध अधिकार (अनुच्छेद 23, 24)

प्रश्न 13—कानून के समक्ष समता का अधिकार किन लोगों को प्राप्त है ?

उत्तर—भारतीय नागरिकों तथा अन्य समस्त भारत में रहने वाले लोगों को।

प्रश्न 14—संवैधानिक उपचारों के अन्तर्गत कौन-कौन से 'रिट' आते हैं ?

उत्तर—'बन्दी प्रत्यक्षीकरण', परमादेश, अधिकार-पृच्छा, उत्प्रेषण तथा प्रतिषेध।

प्रश्न 15—वर्तमान स्थिति में सम्पत्ति के अधिकार को क्या 'संवैधानिक उपचारों' के अन्तर्गत संरक्षण प्राप्त है ?

उत्तर—नहीं, 'संवैधानिक उपचारों' का संरक्षण केवल मूल अधिकारों को प्राप्त है।

प्रश्न 16—मूल अधिकारों और नीति निर्देशक तत्वों के मध्य एक मुख्य अन्तर बताइए। (उ० प्र० 1990)

उत्तर—मूल अधिकारों का उल्लंघन होने पर न्यायालय की शरण ली जा सकती है किन्तु नीति-निर्देशक तत्वों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निवन्धात्मक प्रश्न

1. मूल अधिकारों से आप क्या समझते हैं ? भारतीय संविधान में लिखित मूल अधिकारों का वर्णन कीजिए। (उ० प्र०, 1978)

2. भारतीय संविधान में नागरिकों को कौन-कौन से मूल अधिकार दिए गए हैं ? संवैधानिक संशोधनों द्वारा उन्हें कहाँ तक छीना जा सकता है ? (उ० प्र० 1980)

3. भारत के संविधान के अनुसार भारतीय नागरिकों को कौन-कौन से मूल अधिकार प्राप्त हैं ? संक्षेप में समझाइए। (उ० प्र०, 1985)

4. भारतीय संविधान में मूल अधिकारों तथा राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का अन्तर तथा उनका महत्व बताइए। (उ० प्र०, 1982)

5. मूल अधिकारों का अर्थ बताइए। भारतीय संविधान में वर्णित मूल अधिकारों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए। मूल अधिकार राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों से किस प्रकार भिन्न हैं ? (उ० प्र०, 1984)

6. भारतीय संविधान के अन्तर्गत प्राप्त नागरिकों के मूल अधिकार की विवेचना कीजिए एवं इनके उपभोग की सीमाएँ बताइए। (उ० प्र०, 1988 90)

"अधिकार और कर्तव्य एक ही रथ के दो चक्र हैं। कर्तव्यों की पूर्ति के बिना अधिकारों की आशा करना निरर्थक है।"

अध्याय 9

हमारे मूल कर्तव्य

• हमारे दस मूल कर्तव्य • मूल कर्तव्यों का मूल्यांकन

आमुख

अधिकारों का उपभोग करते हुए मनुष्य उनके बदले में जिन कार्यों को करता है, उन कार्यों के सामूहिक रूप का नाम कर्तव्य है। अधिकार और कर्तव्य वस्तुतः एक ही रथ के दो चक्र होते हैं। कर्तव्य की धरती पर ही अधिकार का पौधा जन्मता है। कर्तव्य के बिना अधिकार अपना महत्व खो बैठते हैं। इसलिए कर्तव्य को अधिकार का दर्पण कहा जा सकता है। अधिकारों का उपभोग करने वाले नागरिक अपने कर्तव्यों की उपेक्षा न कर सकें, इसलिए कतिपय देशों के संविधान में कर्तव्यों को संविधान का अंग बना दिया गया है। विश्व के 35 देशों के संविधानों में कर्तव्यों का समावेश किया गया है। इन देशों में सोवियत रूस, साम्यवादी चीन, जापान, इटली, युगोस्लाविया, चेकोस्लाविया, अल्बानिया, ब्राजील, क्यूबा तथा स्पेन मुख्य हैं।

हमारे दस मूल कर्तव्य

भारत के मूल संविधान में कर्तव्यों का उल्लेख नहीं था। किन्तु संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम (1976 ई०) द्वारा अपने संविधान में कर्तव्यों का समावेश किया गया। ये कर्तव्य संविधान के चौथे अध्याय, अर्थात् राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों वाले अध्याय में वर्णित हैं। इस अध्याय में अनुच्छेद 51 में 51 (अ) जोड़कर इन कर्तव्यों का प्रावधान किया गया है। इन कर्तव्यों की संख्या कुल दस है। ये दस कर्तव्य इस प्रकार हैं—

1. संविधान का पालन तथा उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर—संविधान में पहले कर्तव्य का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि "भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज तथा राष्ट्रगान का आदर करे।" इस प्रकार संविधान के पालन को नागरिकों का प्रथम मूल कर्तव्य बताया गया है। संविधान हमारे देश की सर्वोच्च विधि है। हमारा संसदात्मक जनतंत्र इसी संविधान पर आधारित है। हमारे संविधान में हमारे अतीत की उपलब्धियों की छाप है, वर्तमान के संचालन का प्रावधान है और भविष्य के निर्माण का संकेत। अतएव संविधान का पालन हमारा पावन कर्तव्य है।

प्राचीन यूनान के कतिपय नगर राज्यों में संविधान के प्रति निष्ठा व्यक्त करने के लिए प्रत्येक नागरिक शपथ लेता था। संविधान में राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यपाल, मन्त्रि-मण्डल के सदस्य, संसद और विधान-मण्डल के सदस्य तथा अन्य उच्च पदाधिकारियों के लिए शपथ का प्रावधान है। नागरिकों के प्रथम मूल कर्तव्य के माध्यम से अब सामान्य नागरिकों को भी संविधान के प्रति अपने कर्तव्य-पालन का बोध कराया गया है। अतएव एक नागरिक के नाते हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपने संविधान, उसके द्वारा निर्धारित व्यवस्था तथा उसमें निहित नियमों का पालन करें।

संविधान के पालन के अतिरिक्त संविधान में निहित आदर्शों और संविधान द्वारा स्थापित संस्थाओं का आदर करना भी हमारा कर्तव्य है। आदर्शों और संस्थाओं के अतिरिक्त प्रत्येक नागरिक को राष्ट्रीय प्रतीकों, यथा राष्ट्रध्वज तथा राष्ट्रगान का भी आदर

हमारे दस मूल कर्तव्य
1. संविधान का पालन तथा उसके आदर्शों, संस्थाओं और राष्ट्रीय प्रतीकों का आदर

2. राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रेरक आदर्शों का पालन
3 भारत की संप्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा
4. देश की रक्षा और राष्ट्र-सेवा
5. भारत के लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण
6. सामासिक संस्कृति की परम्परा की रक्षा
7. प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा और प्राणियों के प्रति दया
8. वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास
9. सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा और हिंसा से दूर रहना
10. व्यक्तिगत तथा सामूहिक उत्कर्ष का प्रयास

करना चाहिए। हमारा तिरंगा राष्ट्रध्वज[1] हमारी स्वाधीनता, हमारी राष्ट्रीय एकता, हमारे राष्ट्रीय गौरव और हमारी शक्ति का प्रतीक है। प्रत्येक देश में वहाँ के नागरिक अपने राष्ट्रध्वज की रक्षा और सम्मान के लिए अपने प्राणों की आहुति देने के लिए तत्पर रहते हैं। हमें भी इस राष्ट्रध्वज के प्रति आदर की भावना रखनी चाहिए। राष्ट्रध्वज के साथ राष्ट्रगान का आदर करना भी हमारा पावन कर्तव्य है। हमें राष्ट्रगान याद होना चाहिए, राष्ट्रगान के समय पूर्ण अनुशासन में रहना चाहिए और ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जो उसके सम्मान के प्रतिकूल हो।

2. राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रेरक आदर्शों का पालन—प्रत्येक देश के राष्ट्रीय आन्दोलन के पीछे कुछ प्रेरक आदर्श होते हैं। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन भी इसका अपवाद नहीं था। हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन अनेक उदात्त आदर्शों से प्रेरित और प्रभावित रहा है। स्वतंत्रता, समता, भ्रातृत्व, धर्म-निरपेक्षता तथा साम्राज्यवाद का विरोध हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन के कतिपय आदर्श रहे हैं। हमारा संविधान भी इन आदर्शों पर आधारित है। हमारे राष्ट्रीय जीवन में इन आदर्शों का अपना महत्व है। इसी महत्ता को दृष्टिपथ में रखते हुए संविधान में दूसरे कर्तव्य का प्रावधान किया गया है। इसके अनुसार "प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह स्वतन्त्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में सँजोए रखे और उनका पालन करे।"

3. भारत की संप्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा—सम्प्रभुता राष्ट्र की सर्वोच्च स्वाधीनता और सर्वोच्च शक्ति का प्रतीक होती है। सम्प्रभुता की रक्षा का अर्थ होता है राष्ट्र की स्वाधीनता और उसकी स्वाधीन स्थिति की रक्षा। इसी प्रकार राष्ट्र की एकता और अखण्डता की इसी महत्ता को दृष्टि-पथ में रखते हुए हमारे तीसरे कर्तव्य का प्रावधान किया गया है। इनके अनुसार "प्रत्येक भारतीय नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह भारत की सम्प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे।"

1. हमारे राष्ट्र-ध्वज की विशेषताओं पर प्रकाश डालने वाली ये पंक्तियाँ स्मरणीय हैं—

केसरिया रंग हमें बताता कभी न छोड़ो सच्चाई,
हरा रंग बतलाता है अपनी धरती की तरुणाई।
श्वेत रंग कहता है हमसे शान्ति कभी न छोड़ो,
चक्र हमें बतलाता है कि कदम कभी न मोड़ो।
सिंह हमारी शक्ति और पौरुष का ध्यान धराते हैं,
वृषभ और अश्व के जोड़े कर्तव्य पाठ पढ़ाते हैं।
'सत्यमेव जयते' यह कहता विजय सत्य की होगी,
अखिल विश्व में भारत माँ की प्राञ्जल ज्योति जलेगी।

4. देश की रक्षा और राष्ट्र-सेवा—देश की रक्षा और राष्ट्र-सेवा नागरिकों का अनन्य कर्तव्य होता है। अनेक देशों में इस कर्तव्य के लिए देश की संवैधानिक व्यवस्था या कानून में प्रावधान होता है। भारत में भी कर्तव्यों के अन्तर्गत इस आवश्यकता का समावेश किया गया है। इसके अनुसार "प्रत्येक भारतीय नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह देश की रक्षा करे और बुलाए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे।" संविधान में इस कर्तव्य का समावेश कर नागरिकों को उनके पावन दायित्व की याद दिलाई गई है—वह दायित्व जिसके लिए हमें अपना सब कुछ अर्पित करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिए।

5. भारत के लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण—संविधान में कहा गया है कि "प्रत्येक भारतीय का यह कर्तव्य होगा कि वह भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और देश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो और ऐसी प्रथाओं का परित्याग करे जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध है।" इस प्रकार इस कर्तव्य के माध्यम से दो कर्तव्यों का बोध कराया गया है—प्रथमतः यह कि समस्त भारतीयों के मध्य समरसता और भ्रातृत्व की भावना का सृजन; तथा दूसरे, नारियों का सम्मान।

जहाँ तक इनमें से पहले कर्तव्य का प्रश्न है, इसका प्रमुख प्रयोजन यह है कि प्रत्येक भारतीय को धर्म, भाषा तथा क्षेत्रीय अन्तर को भुलाकर पारस्परिक सौहार्द, समरसता और भ्रातृत्व की ऐसी भावना का विकास करना चाहिए जो हमारी गौरवमयी परम्परा के अनुरूप हो। इसी प्रकार भारत-भूमि स्त्रियों के आदर के लिए विश्व-विश्रुत रही है। यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः—'जहाँ नारियों का आदर होता है, वहाँ देवता निवास करते हैं', यह भारतीयों का पुरातन आदर्श रहा है। अतएव हमें इसी भावना के अनुरूप आचरण का प्रयास करना चाहिए। इससे हमें उन सब परम्पराओं का परित्याग करना चाहिए जो कि हमारी संस्कृति के प्रतिकूल है।

6. सामासिक संस्कृति की परम्परा की रक्षा—भारतीय संस्कृति के भव्य भवन के निर्माण में विविधि जातियों तथा विविध तत्वों का योग रहा है। यहाँ समय-समय पर अनेक जातियाँ आईं और कालान्तर में सब भारतीय मानव-समाज का अभिन्न अंग बन गईं। आज भारत में विविध जातियों, वर्णों, विचारों और धर्मों के लोग रहते हैं। भारतीय संस्कृति ने इन सब विविधताओं के मध्य एकता की स्थापना का प्रयास किया है। इस प्रयास में हमारी संस्कृति का जो रूप विकसित हुआ है, उसे मिली-जुली संस्कृति या सामासिक संस्कृति (Composite Culture) की संज्ञा दी गई है। संविधान का यह प्रावधान इसी सामासिक संस्कृति की रक्षा का सन्देश देता है। इस प्रसंग में यह कहा गया है कि "प्रत्येक भारतीय का यह कर्तव्य होगा कि वह अपनी सामासिक संस्कृति की समृद्ध विरासत के मूल्य को समझे और उसकी रक्षा करे।"

7. प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा और प्राणियों पर दया—शस्य-श्यामला मातृभूमि अपनी प्राकृतिक सुषमा के लिए विश्व-विश्रुत रही है। कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक हम भारत में प्राकृतिक छटा तथा वनश्री की अनुपम शोभा का अलौकिक दर्शन होता है। इसलिए प्रकृति की इस अनुपम देन की रक्षा करना हमारा परम धर्म है।

इसी प्रकार भारत बुद्ध, महावीर और अशोक का देश रहा है। प्रत्येक प्राणी, चाहे वह कितना ही अकिंचन क्यों न हो, अपना महत्व रखता है। अतएव हमें इस कर्तव्य के माध्यम से अपने इसी दायित्व का संदेश दिया गया है। इसके अनुसार यह कहा गया है कि "प्रत्येक भारतीय का यह कर्तव्य होगा कि वह प्राकृतिक पर्यावरण (जिसके अन्तर्गत जंगल, झील, नदी तथा वन्य जीवन आता है) की रक्षा और विकास करे तथा जीवित प्राणियों के प्रति दया का व्यवहार करे।"

8. वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास—संविधान में वर्णित आठवें कर्तव्य पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि "भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे।"

वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा मानववाद आधुनिक सभ्य जीवन के आधार-स्तम्भ माने जाते हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण का आशय यह है कि हम अन्ध-विश्वासों से ऊपर उठें और विवेक पर आधारित जीवन-दृष्टि को अपनायें। इसी प्रकार मानववाद इस सिद्धान्त पर आधारित है कि मनुष्य समस्त कार्यों का मापदण्ड है—Man is the measure of all things. फलतः इसी दृष्टिकोण से जीवन और समाज की समस्याओं का समाधान ढूंढ़ने का प्रयास करना चाहिए। मानव-जीवन में ज्ञानार्जन का भी अपना महत्व है। जिस मनुष्य में जिज्ञासा नहीं होती, ज्ञानार्जन की भावना नहीं होती, वह मनुष्य कूप-मण्डूक (कुएँ में पड़े हुए मेढक) की भाँति हो जाता है। इस प्रकार इस कर्तव्य के द्वारा भारतीय नागरिकों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने की प्रेरणा दी गई है।

9. सार्वजनिक संपत्ति की सुरक्षा और हिंसा से दूर रहना—संविधान में वर्णित नवें कर्तव्य में यह कहा गया है कि "भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि यह सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा करे और हिंसा से दूर रहे।" इस प्रकार इस कर्तव्य के अनुसार नागरिकों से यह आशा की जाती है कि वे सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा करेंगे और हिंसा से दूर रहेंगे।

कभी-कभी कुछ नागरिक अपने अधिकारों की पूर्ति के लिए कतिपय ऐसे कार्य कर बैठते हैं जिनसे सार्वजनिक सम्पत्ति को अपार क्षति पहुँचती है और हिंसा का वातावरण बन जाता है। इससे देश को नाना प्रकार की हानि उठानी पड़ती है। अतएव नागरिकों को इस कर्तव्य का बोध कराकर यह आशा की गई है कि वे इस प्रकार के राष्ट्र-विरोधी कार्यों से दूर रहेंगे।

10. व्यक्तिगत तथा सामूहिक उत्कर्ष का प्रयास—संविधान में वर्णित दसवें कर्तव्य में यह गया है कि "भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह व्यक्तिगत तथा सामूहिक गतिविधियों के क्रियाक्षेत्र में उत्कृष्टता प्राप्त करने का प्रयास करे जिससे कि राष्ट्र उत्तरोत्तर उन्नति कर प्रयास और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू ले।"

इस कर्तव्य के द्वारा नागरिकों को कर्मठ बनकर व्यक्तिगत तथा सामूहिक प्रयास के माध्यम से राष्ट्र को उन्नति के उच्चतम शिखर पर ले जाने का सन्देश दिया गया है।

मूल कर्तव्यों का मूल्यांकन

भारतीय संविधान में मूल कर्तव्यों का समावेश कर भारत की संवैधानिक युगयात्रा में एक नया कीर्तिमान जोड़ने का प्रयास किया गया है। इस प्रयास के द्वारा भारतीय संविधान की एक बड़ी कमी की पूर्ति हुई है। यह हमारी एक श्रेष्ठ उपलब्धि है। किन्तु इस उपलब्धि की हम मुक्त कण्ठ से प्रशंसा नहीं कर सकते। कारण स्पष्ट है। प्रथमतः यह कि इन मूल कर्तव्यों को नीति-निर्देशक तत्वों के साथ रखा गया है। नीति-निर्देशक तत्वों के साथ होने के कारण इन कर्तव्यों की वही वैधानिक स्थिति है जो नीति-निर्देशक तत्वों की है। जिस प्रकार हम नीति-निर्देशक तत्वों की उपेक्षा होने पर शासन को न्यायालय में दोषी नहीं ठहरा सकते, उसी प्रकार इन कर्तव्यों की उपेक्षा होने पर हम किसी नागरिक को न्यायालय में दोषी नहीं ठहरा सकते। इस प्रकार मूल कर्तव्यों का सबसे बड़ा दोष यह है कि इन कर्तव्यों के पीछे कोई कानूनी बल नहीं है, उनके उल्लंघन के लिए दण्ड का कोई प्रावधान नहीं है। फलतः मूल कर्तव्यों का पालन करने के लिए कानूनी दृष्टि से किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता।

इसके अतिरिक्त मूल कर्तव्यों का एक अन्य दोष और है, वह यह कि मूल कर्तव्यों की अभिव्यक्ति की शैली और शब्दावली सुस्पष्ट और सुबोध नहीं है। इन्हीं दोषों के कारण मूल कर्तव्यों की आलोचना की गई है। किन्तु इन दोषों के वावजूद मूल कर्तव्यों का अपना महत्व है। वे हमारे राजनैतिक जीवन के प्रेरक स्रोत हैं, राजनैतिक आचरण के मानदण्ड हैं और हैं राष्ट्र की बहुमुखी प्रगति के सशक्त माध्यम। फलतः उनका पालन करना हमारा नैतिक दायित्व है।

लघु और अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—भारतीय संविधान में वर्णित दस मूल कर्तव्य कौन से हैं ?

उत्तर—भारतीय संविधान में वर्णित दस मूल कर्तव्य इस प्रकार हैं :

(1) संविधान का पालन तथा उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर, (2) राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रेरक आदर्शों का पालन, (3) भारत की संप्रभुता, एकता, अखण्डता की रक्षा, (4) राष्ट्र-रक्षा और राष्ट्र की सेवा, (5) भारतवासियों में समरसता की भावना, (6) सामासिक संस्कृति की रक्षा, (7) प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा और प्राणियों पर दया, (8) वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास, (9) सार्वजनिक सम्पत्ति की सुरक्षा और हिंसा से दूर रहना, (10) व्यक्तिगत तथा सामूहिक उत्कर्ष का प्रयास।

अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—भारतीय संविधान में मूल कर्तव्यों का समावेश कब किया गया ?

उत्तर—भारतीय संविधान में मूल कर्तव्यों का समावेश 42वें संशोधन अधिनियम (1976) द्वारा किया गया।

प्रश्न 2—मूल कर्तव्यों का भारतीय संविधान में किस अध्याय में उल्लेख है ?

उत्तर—मूल कर्तव्यों का उल्लेख भारतीय संविधान के चौथे अध्याय (नीति निर्देशक तत्व वाले अध्याय) में दिया गया है।

प्रश्न 3.—क्या मूल कर्तव्यों का पालन करने के लिए वैधानिक दृष्टि से किसी नागरिक को बाध्य किया जा सकता है।

उत्तर—मूल कर्तव्यों का पालन करने के लिए किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता।

प्रश्न 4. - किन्हीं दो मूल कर्तव्यों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—(1) संविधान का पालन तथा उसके आदर्शों, संस्थाओं और राष्ट्रीय प्रतीकों का आदर, (2) भारत की संप्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संविधान में हमारे किन मूल कर्तव्यों का वर्णन किया गया है ?
2. मूल कर्तव्यों का उल्लेख कीजिए और बतलाइए कि क्या उनका पालन करना कानूनी दृष्टि से आवश्यक है ?

लघु प्रश्न

1. पाँच मूल कर्तव्यों का उल्लेख कीजिए।

"राज्य के नीति-निर्देशक तत्व कार्यपालिका के दिग्दर्शक, व्यवस्थापिका के पथ-प्रदर्शक तथा न्यायपालिका के लिए प्रकाश-स्तम्भ की भाँति हैं।"

अध्याय 10

राज्य के नीति निर्देशक तत्व

● नीति-निर्देशक तत्वों के समावेश का उद्देश्य ● नीति-निर्देशक तत्वों का अर्थ, स्वरूप और लक्षण ● नीति-निर्देशक तत्वों और मूल अधिकारों में अन्तर ● नीति-निर्देशक तत्व और मूल अधिकारों में कौन श्रेष्ठ है ● नीति-निर्देशक तत्वों का वर्गीकरण ● नीति-निर्देशक तत्वों की आलोचना ● नीति-निर्देशक तत्वों का महत्व ● नीति-निर्देशक तत्वों का क्रियान्वयन

आमुख

व्यक्ति हो या समाज, राज्य हो या शासन, उसे अपनी जीवन-यात्रा को सफल और सार्थक बनाने के लिए किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों या आदर्शों को लेकर चलना आवश्यक होता है। ये सिद्धान्त या आदर्श उसके विकास की गति-दिशा निर्धारित कर उसे अपने लक्ष्य तक पहुँचने में योग देते हैं। वैयक्तिक, सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन में आदर्शों की इसी महती भूमिका को दृष्टिपथ में रखकर भारतीय संविधान-निर्माताओं ने शासन के आदर्शों के रूप में एक पृथक् अध्याय का प्रावधान किया है।[1] संविधान का चौथा अध्याय ऐसा ही अध्याय है। इस अध्याव के 16 अनुच्छेद (36 से लेकर 51 तक) राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों पर प्रकाश डालते हैं।

राज्य के नीति-निर्देशक तत्व राज्य की भावी नीति के सन्देशवाहक हैं। ये वे मौलिक आदर्श हैं जिनका पालन करना शासन का कर्तव्य होगा; ये वे प्रकाश-स्तम्भ हैं जिनके प्रकाश में कार्यपालिका अपनी नीति का निर्धारण करेगी; ये वे मानदण्ड हैं जिनके अनुसार व्यवस्थापिका विधियों का निर्माण करेगी; ये वे दर्पण हैं जिनकी सहायता से न्यायपालिका अपने न्यायिक दायित्व का निर्वहन करेगी। राज्य की नीति के ये निर्देशक तत्व देश में आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना के सबल माध्यम हैं, लोक-कल्याणकारी राज्य की संस्थापना के प्रभावपरक उपकरण हैं तथा लोकतांत्रिक समाजवाद के प्रवर्तन के समस्त साधन हैं।

राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का संविधान में समावेश का उद्देश्य : संविधान में राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का समावेश क्यों किया गया ?

हमारे संविधान का कोई प्रावधान निष्प्रयोजन नहीं है। संविधान के प्रत्येक अनुच्छेद का, प्रत्येक वाक्य का, प्रत्येक शब्द का अपना अर्थ है, अपना प्रयोजन है, अपना उद्देश्य है। राज्य के नीति-निर्देशक तत्व भी इसके अपवाद नहीं हैं। संविधान में उनके समावेश के कई उद्देश्य थे। संक्षेप में इन उद्देश्यों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का प्रमुख प्रयोजन' उन सिद्धान्तों और आदर्शों की अभिव्यक्ति करना है जिन्हें भारतीय संविधान का सैद्धान्तिक या बौद्धिक आधार कहा जा सकता है। इन सैद्धान्तिक आधारों का एक संकेत संविधान की प्रस्तावना

1. जिन अन्य देशों के संविधानों में नीति-निर्देशक तत्वों का प्रावधान है, उनमें कुछ इस प्रकार हैं : आयरलैण्ड (1937 ई०), ब्राजील (1942 ई०), फ्रांस (1946 ई०), इटली (1947 ई०) तथा बर्मा (1948 ई०)।

में दिया गया है। राज्य के नीति-निर्देशक तत्व इसी प्रस्तावना की व्यापक व्याख्या करते हैं।

2. इन सिद्धान्तों का उद्देश्य भावी विधायकों, विधि-निर्माताओं और कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग करने वाले लोगों को यह बतलाना था कि भविष्य में उन्हें अपनी शक्ति का प्रयोग किस प्रकार करना चाहिए।
3. भारत में संसदात्मक शासन की स्थापना की गई है। संसदात्मक शासन में सत्ता विभिन्न राजनैतिक दलों के हाथ में बदलती रहती है। कोई भी राजनैतिक दल संविधान के आदर्शों के प्रतिकूल आचरण न करे, इसीलिए संविधान-निर्माताओं ने उन आदर्शों का स्पष्ट उल्लेख किया है जिन पर संविधान आधारित है। जैसा कि पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि "चूँकि भारत में जनतंत्र एक नई वस्तु है, अतएव आवश्यक है कि इसके कुछ सिद्धान्त हों जो आगामी राजनैतिक दलों को संविधान की भावना का निरन्तर स्मरण दिलाते रहें।"
4. जी० एन० जोशी के अनुसार "इनका उद्देश्य ऐसा वातावरण उत्पन्न करना हैं जो लोकतांत्रिक गणराज्य के विकास के अनुकूल हो।"
5. इनका उद्देश्य भारत की राजनैतिक व्यवस्था की भावी गति-दिशा का स्वरूप निश्चित करना है। दूसरे शब्दों में इनका उद्देश्य यह बतलाना है कि भारत का लक्ष्य राजनैतिक लोकतन्त्र के साथ आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना करना है। अतएव भारत के भावी कर्णधार इस लक्ष्य की उपेक्षा न कर उसे प्राप्त करने का प्रयास करें।

राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का अर्थ, स्वरूप और लक्ष्य

राज्य के नीति-निर्देशक तत्व संविधान के आधारभूत सिद्धांतों और आदर्शों के वे संचित रूप हैं जिनका उद्देश्य भावी भारत की राजनीति तथा आर्थिक नीति का निरूपण करना है। दूसरे शब्दों में संविधान के सिद्धान्तों और आदर्शों की संचित उस ज्ञानराशि का नाम राज्य के नीति-निदेशक तत्व हैं जिसका प्रयोजन यह बतलाना है कि राज्य की क्या नीति होनी चाहिए और उसे भावी भारत के निर्माण के लिए क्या कदम उठाना चाहिए।

जैसा कि एल० जी० खेडेकर ने लिखा है कि "ये सिद्धान्त वे आदर्श हैं जिनकी उपलब्धि के लिए शासन प्रयास करेगा।" जी० एन० जोशी के अनुसार "राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्त मुख्यतया वे सिद्धान्त हैं जिन्हें संविधान-निर्माता नई सामाजिक-आर्थिक सिद्धान्त-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्त मानते थे, किन्तु जिन्हें वे देश की मौलिक विधि में स्थान देने में असमर्थ थे।"

डॉ० पायली के अनुसार, "ये सिद्धान्त उन सिद्धान्तों का शिलान्यास करते हैं जिनकी आधारशिला पर नये जनतांत्रिक भारत का निर्माण किया जायगा। ये भारतीय जनता के आदर्शों व आकांक्षाओं का वह अंश है जिन्हें वह एक युक्तिसंगत अवधि के अन्तर्गत प्राप्त करना चाहती है।"

प्रो० श्रीनिवासन के अनुसार "राज्य के नीति-निर्देशक तत्व इस बात के संकल्प हैं कि राज्य की नीतियाँ लोक-कल्याणकारी राज्य के लक्ष्यों को प्राप्त करने की ओर सतत उन्मुख रहेंगी।"

श्री अमरनन्दी के अनुसार "ये ऐसे आदेश हैं जो जनता ने राज्य को दिए हैं।"

ग्रेनविल आस्टिन के मतानुसार "ये निर्देशक सिद्धान्त उन मानवीय सामाजिक आदर्शों की व्यवस्था करते हैं जो भारतीय सामाजिक क्रान्ति का लक्ष्य है।"

डॉ० महादेव प्रसाद शर्मा के अनुसार "ये सरकार तथा जनता को इस बात का निरन्तर याद दिलाने वाले अनुस्मारक हैं कि क्या किया जाना चाहिए।"

राज्य के नीति-देशक तत्वों के उपर्युक्त विवेचन से उनके अर्थ, स्वरूप और लक्षणों का आभास मिल जाता है। इनके स्वरूप और लक्ष्य सम्बन्धी विशेषताओं को हम संक्षेप के निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. राज्य के नीति-निर्देशक तत्व उन सिद्धान्तों का संकेत देते हैं जिन पर कि हमारा संविधान आधारित है।
2. नीति-निर्देशक तत्व उन आदर्शों का बोध कराते हैं जिनके अनुसार शासन को कार्य करना चाहिए।
3. नीति-निर्देशक तत्व अनुदेश-पत्र (Instrument of Instructions) की भांति हैं।
4. इन नीति-निर्देशक तत्वों के पीछे कानून की शक्ति नहीं है। फलत: इनकी उपेक्षा या उल्लंघन होने पर कानून या न्यायालय की शरण नहीं ली जा सकती।
5. नीति-निर्देशक तत्व के पीछे कानून की शक्ति नहीं है, किन्तु संविधान यह आशा करता है कि राज्य उनका पालन करेगा। जैसा कि संविधान के 37वें अनुच्छेद में कहा गया है कि देश के शासन के आधारभूत सिद्धान्त और कानून बनाने में इन तत्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा।

राज्य के नीति-निर्देशक तत्व और मौलिक अधिकारों में अन्तर

राज्य के नीति-निर्देशक तत्व और मौलिक अधिकार भारतीय संविधान के दो महत्वपूर्ण अध्याय हैं। दोनों का समावेश दो भिन्न प्रयोजनों से किया गया है। फलत: दोनों की वैधानिक स्थिति में स्वरूप और प्रयोजन की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर है। इस अन्तर के मुख्य बिन्दुओं को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. मूल अधिकारों और राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का प्रथम प्रमुख अन्तर यह है कि मूल अधिकारों को कानून का संरक्षण प्राप्त है, उनकी उपेक्षा या उल्लंघन होने पर न्यायालय की शरण ली जा सकती है जबकि नीति-निर्देशक तत्वों को कानून का संरक्षण प्राप्त नहीं है, उनकी उपेक्षा होने पर न्यायालय की शरण नहीं मिल सकती। इस प्रकार मूल अधिकार न्यायाविष्ट (justiciable) हैं जब कि राज्य के नीति-निर्देशक तत्व न्यायाविष्ट नहीं हैं।
2. मौलिक अधिकारों और राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों में दूसरा अन्तर यह है कि मौलिक अधिकार निषेधात्मक हैं जब कि राज्य के नीति-निर्देशक तत्व सकारात्मक हैं। जैसा कि एलेन ग्लेडहिल ने लिखा है कि "मूल अधिकार निषेधात्मक आज्ञाएँ हैं जो सरकार को कुछ कार्यों को करने से रोकते हैं जब कि निर्देशक तत्व सकारात्मक आदेश हैं जो सरकार को कुछ करने का आदेश देते हैं।"
3. मौलिक अधिकार और राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का तीसरा अन्तर यह है कि मौलिक अधिकार की स्थिति साध्य की है और राज्य के नीति-निर्देशक तत्व साधन की भाँति हैं। जैसा कि एक विद्वान् ने कहा है कि "मौलिक अधिकारों का अध्याय साध्य है, नीति-निर्देशक तत्वों का अध्याय साधन है। यदि एक उत्तम जीवन का दर्शन है तो दूसरा उसका व्यावहारिक स्वरूप है।"

4. मूल अधिकारों और नीति-निर्देशक तत्वों का चौथा अन्तर यह है कि मूल अधिकारों का विषय व्यक्ति है। इनमें व्यक्ति और राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का उल्लेख है जब कि नीति-निर्देशक तत्वों का सम्बन्ध मुख्यतया राज्य से है।
5. मूल अधिकार सीमित और मर्यादित हैं जब कि नीति-निर्देशक तत्व व्यापक और असीमित हैं।
6. मूल अधिकार वर्तमान की वस्तु हैं, वे नागरिकों को प्राप्त हो चुके हैं जब कि राज्य के नीति-निर्देशक तत्व भविष्य केआश्वासन हैं।
7. मूल अधिकारों का प्रयोजन देश में राजनैतिक लोकतन्त्र की स्थापना करना है जब कि राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का प्रयोजन देश में आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना है।
8. मूल अधिकार मुख्यतया वैधिक मान्यताओं पर आधारित हैं जब कि राज्य के नीति-निर्देशक तत्व मूलतया नैतिक मान्यताओं पर आधारित हैं।
9. मूल अधिकार नागरिकों के अधिकारों का बोध कराते हैं जब कि राज्य के नीति-निर्देशक तत्व राज्य के कर्तव्यों पर प्रकाश डालते हैं।

मूल अधिकार और राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों के अन्तर-विषयक उपर्युक्त विवेचन को चार्ट के रूप में हम निम्नलिखित प्रकार से रख सकते हैं—

मूल अधिकार	राज्य के नीति-निर्देशक तत्व
1. कानून का संरक्षण प्राप्त है।	1. कानून का संरक्षण प्राप्त नहीं है। इनके पीछे जनमत तथा नैतिक शक्ति है।
2. निषेधात्मक हैं।	2. सकारात्मक हैं।
3. साध्य हैं।	3. साधन हैं।
4. इनका संबंध व्यक्ति और राज्य से है।	4. इनका सम्बन्ध राज्य से है।
5. सीमित और मर्यादित हैं।	5. असीमित और व्यापक हैं।
6. वर्तमान की वस्तु हैं।	6. भविष्य के आश्वासन हैं।
7. इनका उद्देश्य राजनैतिक लोकतन्त्र की स्थापना है।	7. इनका उद्देश्य आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना है।
8. वैधिक मान्यताओं पर आधारित हैं।	8. नैतिक मान्यताओं पर आधारित हैं।
9. नागरिकों के अधिकार का बोध कराते हैं।	9. राज्य के कर्तव्यों पर प्रकाश डालते हैं।

राज्य के नीति-निर्देशक तत्व तथा मूल अधिकारों की तुलनात्मक स्थिति : मूल अधिकार और राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों में से कौन श्रेष्ठ माना जायगा ?

राज्य के नीति-निर्देशक तत्व और मूल अधिकार दोनों भारतीय संविधान के दो गौरव-पूर्ण अध्याय हैं। देश की संवैधानिक व्यवस्था में दोनों का अपना महत्व है, किन्तु संवैधानिक स्थिति की दृष्टि से दोनों में मौलिक अन्तर है। यह अन्तर प्रायः इस विवाद का मूल कारण रहा है कि राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों और मूल अधिकारों में से किसे प्राथमिकता दी जानी चाहिए, किसे श्रेष्ठ माना जाय ? समय-समय पर न्यायाधीशों, विधिशास्त्रियों तथा राजनयिकों ने इस प्रश्न पर अपने विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं।

उदाहरण के लिए, 'मद्रास राज्य बनाम चम्पकम दोराई राजन' (1951) नामक विवाद में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री एस० आर० दास ने अपने निर्णय में यह स्थापित किया था कि "मूल अधिकार-विषयक अध्याय पवित्र है, उसे किसी विधायी कार्य या कार्यपालकीय आदेश द्वारा सीमित या कम नहीं किया जा सकता। राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों को इन अधिकारों के अनुरूप होकर चलना होगा।"

इस बीच सम्पत्ति के अधिकार को लेकर कई विवाद खड़े हुए। उनमें दिये गये निर्णयों के कारण संविधान में संशोधन करना आवश्यक हो गया।

संविधान के प्रथम तथा चौथे संशोधन अधिनियम इस आवश्यकता के प्रतिफल थे। चौथे संशोधन विधयेक को प्रस्तुत करते हुए प्रधान मन्त्री पं० नेहरू ने कहा था कि "यदि नीति-निर्देशक तत्वों तथा मूल अधिकारों में अंतर्विरोध हो, तो नीति-निर्देशक तत्व को ही प्राथमिकता दी जायगी और संसद का यह कर्तव्य होगा कि संविधान में संशोधन कर इस अन्तर्विरोध का अन्त कर दे।"

इन संशोधनों के बाद न्यायालय द्वारा जो निर्णय दिये गए, उनमें न्यायालयों ने राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों की महत्ता स्वीकार की, किन्तु मूल अधिकारों की तुलना में राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों को वरीयता नहीं दी गई। 'बिहार राज्य बनाम कामेश्वर सिंह', 'केरल शिक्षा विधेयक विवाद', 'कुरेशी बनाम बिहार राज्य' नामक विवाद कुछ ऐसे ही विवाद थे। सन् 1973 ई० के 'केशवानन्द भारती' नामक विवाद में सर्वोच्च न्यायालय ने पुनः यह स्थापित किया कि वैधानिक दृष्टि से मूल अधिकारों की स्थिति राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों की तुलना में श्रेष्ठ है।

उधर कांग्रेस सरकार सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए कृतसंकल्प थी। उदाहरण के लिए, 26 वें संशोधन विधेयक को प्रस्तुत करते हुए यह कहा था कि "हम नीति-निर्देशक तत्वों को क्रियान्वित करने के लिए कृतसंकल्प हैं और इस हेतु यदि मौलिक अधिकार को संशोधित भी करना पड़ा तो हम करेंगे।"

राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों को उचित संवैधानिक स्थिति प्रदान किये बिना सामाजिक न्याय की दिशा में कोई क्रान्तिकारी कदम उठाना कठिन था। अतएव इस दृष्टि से संविधान में अपेक्षित संशोधन करना आवश्यक था। फलतः संविधान का 42वाँ संशोधन अधिनियम (सन् 1976 ई०) पारित हुआ। इस संशोधन अधिनियम द्वारा मूल अधिकारों की तुलना में राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों को प्राथमिकता दी गई। इस संशोधन अधिनियम में यह प्रावधान किया गया कि "संसद संविधान के चौथे भाग के किसी एक या सभी सिद्धान्तों को लागू करने के लिए जिन कानूनों का निर्माण करेगी, उन्हें इस आधार पर न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकेगी कि ये कानून संविधान में दिये गये मूल अधिकार को परिसीमित या समाप्त करते हैं।" इस प्रकार 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों तथा मौलिक अधिकारों में वरीयता या प्राथमिकता नीति-निर्देशक तत्वों को दी जायगी।

मई, सन् 1980 ई० में 'मिनर्वा मिल्स बनाम भारत सरकार' नामक मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने पुनः एक ऐतिहासिक निर्णय दे दिया। इस निर्णय द्वारा 42वें संशोधन अधिनियम के उस प्रावधान को अवैध घोषित कर दिया गया जिसमें यह कहा गया था कि नीति-निर्देशक तत्वों को मूल अधिकारों की तुलना में वरीयता दी जायगी। इस निर्णय ने राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों की श्रेष्ठता पर पुनः प्रश्न-चिह्न लगा दिये हैं।

मिनर्वा मिल्स बनाम भारत सरकार नामक विवाद के निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय के पाँच न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने बहुमत से यह स्थापित किया कि नीति-निर्देशक तत्वों को क्रियान्वित करने के लिए मूल अधिकारों को समाप्त या सीमित करना आवश्यक नहीं है। इस निर्णय के अनुसार नीति-निर्देशक तत्व और मूल अधिकार दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों का

सन्तुलन भारतीय संविधान की आधारशिला है। अतएव नीति-निर्देशक तत्व या मूल अधिकारों में से किसी को प्राथमिकता देने का अर्थ होगा उस सन्तुलन को नष्ट करना। इस प्रकार इस निर्णय के अनुसार नीति-निर्देशक तत्वों को मूल अधिकारों से श्रेष्ठतर नहीं माना जा सकता।

राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का वर्गीकरण

राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का किस प्रकार वर्गीकरण किया जाय, इस प्रश्न पर विद्वानों ने विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं। प्रसिद्ध राजशास्त्री डॉ० महादेवप्रसाद शर्मा ने राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों को तीन वर्गों में विभक्त किया है—

1. समाजवादी तत्व,
2. गांधीवादी तत्व तथा
3. उदारवादी बौद्धिक तत्व।

यह नीति-निर्देशक तत्वों का बौद्धिक या वैचारिक वर्गीकरण रहा। राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों की व्यापकता को देखते हुए इस वर्गीकरण को सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता।

नीति-निर्देशक तत्वों का वर्गीकरण

1. सामान्य नीति-विषयक तत्व
2. स्वास्थ्य तथा सामाजिक विकास सम्बन्धी तत्व
3. प्रशासकीय सुधार-सम्बन्धी तत्व
4. आर्थिक विकास-सम्बन्धी तत्व
5. शिक्षा तथा सांस्कृतिक विकास सम्बन्धी तत्व
6. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी तत्व

नीति-निर्देशक तत्वों के वर्गीकरण का दूसरा प्रतिनिधि दृष्टिकोण भारत के सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व प्रधान न्यायाधीश पी० बी० गजेन्द्र गडकर का है। उनके अनुसार राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों को मुख्यतया चार वर्गों में विभक्त किया जाना चाहिए। ये चार वर्ग इस प्रकार हैं—

1. सामाजिक नीति के सामान्य सिद्धांत
2. प्रशासकीय नीति के सिद्धान्त
3. सामाजिक-आर्थिक नीति-संबंधी सिद्धान्त
4. अन्तर्राष्ट्रीय नीति-विषयक सिद्धांत।

अध्ययन की सुविधा से हम राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का निम्नलिखित रूप में वर्गीकरण कर अध्ययन कर सकते हैं—

राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का वर्गीकरण

- सामान्य नीति-विषयक तत्व
- स्वास्थ्य तथा सामाजिक विकास सम्बन्धी तत्व
- प्रशासकीय सुधार-सम्बन्धी तत्व
- आर्थिक विकास-सम्बन्धी तत्व
- शिक्षा तथा सांस्कृतिक विकास सम्बन्धी तत्व
- अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी तत्व
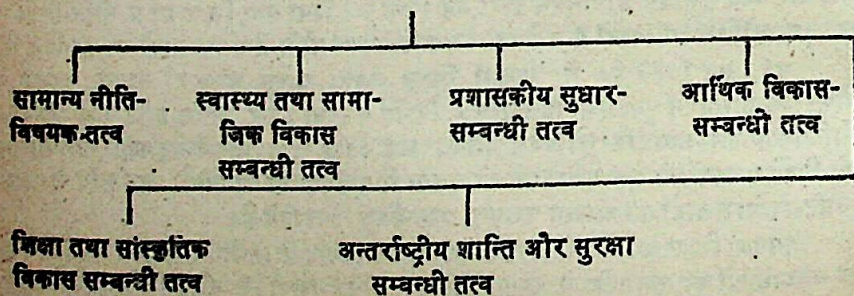
1. सामान्य नीति-विषयक तत्व—संविधान के तृतीय अध्याय (राज्य के नीति-विषयक तत्व-संबंधी प्रकरण) के 37वें तथा 38वें अनुच्छेद में प्रशासन के सामान्य सिद्धान्त-संबंधी तत्वों

पर प्रकाश डाला गया है। ये सिद्धांत उस शासन-नीति का संकेत देते हैं जिसे शासन द्वारा अपनाया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए 37वें अनुच्छेद में यह कहा गया है कि तृतीय खण्ड के प्रावधान न्यायालय द्वारा प्रयुक्त नहीं किये जायेंगे, किन्तु ये शासन के आधारभूत अंग हैं, अंतएव विधियों के निर्माण में इन सिद्धान्तों को व्यवहार में लाना राज्य का कर्तव्य होगा। इसी प्रकार 38वें अनुच्छेद में कहा गया है कि "राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था का प्रभावी रूप से संरक्षण करेगा जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं के के लिए सुरक्षित रहे।"

2. स्वास्थ्य तथा सामाजिक सुधार सम्बन्धी तत्व—दूसरे वर्ग में स्वास्थ्य तक सामाजिक सुधार सम्बन्धी तत्व आते हैं। संक्षेप में इस वर्ग के अन्तर्गत आने वाले तत्वों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. राज्य उपयुक्त सामाजिक व्यवस्था द्वारा जनता के कल्याण का प्रयास करेगा।
2. राज्य जनता के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास करेगा।
3. राज्य लोगों के आहार के स्तर को उन्नत करेगा तथा लोक-स्वास्थ्य के सुधार का प्रयास करेगा।
4. राज्य पर्यावरण की रक्षा और सुधार का प्रयास करेगा।
5. राज्य इस बात का प्रयास करेगा कि स्त्रियों और बालकों के स्वास्थ्य और शक्ति तथा उनकी सुकुमारावस्था का दुरुपयोग न हो। वह ऐसी परिस्थितियों का विरोध करेगा जिसमें नागरिकों को अपनी सामर्थ्य एवं आयु के प्रतिकूल रोजगार का अनुसरण करने के लिए बाध्य होना पड़े।
6. राज्य इस बात का प्रयास करेगा कि शिशुओं और किशोरों का शोषण न हो तथा नैतिक और भौतिक परित्याग से उनका संरक्षण हो।
7. राज्य चिकित्सा के प्रयोजन को छोड़कर अन्य कार्यों के लिए मादक द्रव्यों के प्रयोग का निषेध करेगा।
8. राज्य समाज के दुर्बलदार लोगों, विशेषकर हरिजनों और अनुसूचित जनाजातियों के शैक्षणिक तथा आर्थिक हितों की वृद्धि का प्रयास करेगा।

3. प्रशासकीय सुधार-सम्बन्धी तत्व—प्रशासकीय सुधार-सम्बन्धी तत्वों के अन्तर्गत वे तत्व आते हैं जिनका प्रमुख प्रयोजन प्रशासन में सुधार तथा देश की राजनैतिक एकता से है। इन तत्वों में से मुख्य निम्नलिखित हैं—

1. राज्य समस्त भारतीय क्षेत्र में नागरिकों के लिए एक समान व्यवहार-संहिता (Civil Code) बनाने का प्रयास करेगा।
2. राज्य देश की न्यायापालिका को कार्यपालिका से पृथक् करने का प्रयास करेगा।
3. राज्य ग्राम पंचायतों का संगठन करेगा और उन्हें ऐसी शक्तियाँ प्रदान करेगा जिससे वे स्वायत्त शासन की इकाई के रूप में कार्य कर सकें।

4. आर्थिक विकास-सम्बन्धी तत्व—राज्य के नीति-निर्देशक तत्व देश में आर्थिक लोकतत्व की स्थापना का सन्देश देते है। इस दृष्टि से अनेक आर्थिक तत्वों का प्रावधान किया गया है। ये प्रावधान मुख्यतया इस प्रकार हैं—

1. राज्य अपनी नोति इस प्रकार निर्धारित करे जिससे कि सभी नागरिकों, को चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, जीविका के साधन प्राप्त करने का समान अवसर मिले।
2. समाज में आर्थिक वितरण ऐसा हो कि समस्त समाज का कल्याण हो।
3. समाज की आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार की हो कि देश के धन और उत्पादन के साधनों का अहितकर केन्द्रीकरण न हो।

4. पुरुषों और स्त्रियों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले।
5. पुरुषों तथा स्त्रियों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बच्चों की सुकुमारावस्था का दुरुपयोग न हो। आर्थिक आवश्यकताओं के कारण नागरिक ऐसा व्यवसाय अपनाने के लिए बाध्य न हों जो कि उनकी आयु तथा शक्ति के प्रतिकूल हो।
6. बालकों तथा नवयुवकों की शोषण और अनैतिकता से रक्षा हो।
7. राज्य ऐसी व्यवस्था करे जिससे नागरिकों को मानवोचित रूप से कार्य करने का अवसर मिले तथा प्रसूति के समय नागरिकों को सहायता मिले।
8. राज्य कानून तथा आर्थिक संगठन द्वारा ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करे जिससे कि कृषि, उद्योगों तथा अन्य क्षेत्रों में श्रमिकों को कार्य तथा निर्वाह योग्य मजदूरी मिले। उन्हें जीवन-स्तर को ऊँचा करने, अवकाश-काल का पूर्ण उपभोग करने तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास का पूरा अवसर मिले।
9. राज्य कृषि, पशुपालन आदि के क्षेत्र में आधुनिक तथा वैज्ञानिक तरीकों का प्रयोग कर उनकी दशा में सुधार करे, गोवध का निषेध करे तथा अन्य दुधारू पशुओं के वध को रोके।
10. राज्य ग्रामीण उद्योगों को प्रोत्साहित कर ग्रामों की आर्थिक दशा में सुधार लाने का प्रयास करे।
11. राज्य अपनी आर्थिक स्थिति और आर्थिक विकास के अनुसार इस बात का प्रयास

करेगा कि लोगों को काम का अधिकार मिले, शिक्षा का अधिकार मिले और बेरोजगार होने की स्थिति में बेरोजगारी का भत्ता मिले।

5. **शिक्षा तथा सांस्कृतिक विकास सम्बन्धी तत्व**—शिक्षा तथा संस्कृति सम्बन्धी तत्वों में मुख्य निम्नलिखित हैं—

1. राज्य संविधान के आरम्भ होने से 10 वर्ष के अन्तर्गत 14 वर्ष की आयु तक के बालकों के लिए निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करे। इस प्रकार राज्य निरक्षरता को दूर करने का प्रयास करे।
2. राज्य का यह कर्तव्य होगा कि वह ऐतिहासिक अथवा कलात्मक महत्व के प्रत्येक स्मारक या वस्तु को, जिसे संसद राष्ट्रीय महत्व का घोषित करे, दूषित होने, नष्ट होने, स्थानान्तर किए जाने अथवा बाहर भेजे जाने से रक्षा करे।

6. **अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा विषयक तत्व**—राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा के लिए निम्नांकित प्रयास करना चाहिए—

1. राज्य को राष्ट्रों के बीच न्याय तथा सम्मानपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए।
2. राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा बनाए रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा सन्धि की शर्तों का पालन करे।
3. राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता द्वारा हल करने का प्रयत्न करे।

राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों की आलोचना

राज्य के नीति-निर्देशक तत्व संविधान के सर्वाधिक विवादास्पद पक्ष रहे हैं। उनके स्वरूप और संवैधानिक स्थिति के कारण उनकी कटु आलोचना की गई है। संविधान सभा में जब इन तत्वों पर विचार हो रहा था, तब एक सदस्य ने इन्हें 'नव वर्ष के बधाई-सन्देश' (A set

of New Year Resolutions) कहकर इनकी आलोचना की थी। इसी प्रकार इन्हें 'संवैधानिक महत्व से वंचित राजनैतिक घोषणा-पत्र' (Political manifesto devoid of constitutional importance), 'नैतिक उपदेश' (Moral precepts), 'शुभ इच्छाएं' (Pious Wishes), 'पवित्र अतिरंजनाएं' (Pious superfluities) आदि की संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार एक आलोचक ने इन्हें "उदात्त लगने वाली भावनाओं का आवश्यक शब्दाडम्बर' कहा था। एक दूसरे आलोचक ने इन्हें 'कूड़े-कचरे' की ऐसी पेटी कहा था जिस पर अपने आकांक्षा-अश्व पर बैठकर कोई भी चल सकता था। प्रो० के० टी० शाह ने इनकी तुलना एक ऐसे चेक से की है जिसका भुगतान बैंक की सुविधा पर छोड़ दिया गया है।[1]

इस प्रकार राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों की अनेक आलोचकों द्वारा अनेक आलोचनाएँ की गई हैं। आलोचना के मुख्य पक्षों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

नीति-निर्देशक तत्वों की आलोचना
1. न्यायिक संरक्षण से वंचित
2. अस्पष्ट तथा अतार्किक रूप से क्रमबद्ध
3. अव्यावहारिक
4. असंगत
5. साधनों की उपेक्षा
6. संवैधानिक गत्यवरोध की आशंका

1. न्यायिक संरक्षण से वंचित राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों की आलोचना का सर्वप्रमुख तर्क यह है कि इन नीति-निर्देशक तत्वों को न्यायिक संरक्षण प्राप्त नहीं है। फलतः इन्हें लागू करने के लिए न्यायालय राज्य को बाध्य नहीं कर सकता। न्यायिक संरक्षण से वंचित होने के कारण इनकी स्थिति पवित्र आकांक्षाओं या आदर्शों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

2. अस्पष्ट तथा अतार्किक रूप से क्रमबद्ध—राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों की आलोचना का अन्य तर्क यह है कि ये नीति-निर्देशक तत्व अस्पष्ट हैं तथा अतार्किक रूप से क्रमबद्ध हैं। जैसा कि प्रो० श्रीनिवासन ने लिखा है कि "राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों की व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं है। इनमें कई बातें अस्पष्ट हैं और कइयों को बार-बार दोहराया गया है। इसके अतिरिक्त निर्देशक सिद्धान्तों का न तो उचित ढंग से वर्गीकरण किया गया है और न ही उनको किसी ठोस आधार पर क्रमबद्ध किया गया है।"

3. अव्यावहारिक हैं—राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों के विरुद्ध एक अन्य आरोप यह लगाया जाता है कि इनमें में अनेक तत्व ऐसे हैं जो अव्यावहारिक हैं। उन तत्वों को कार्यरूप में परिणत करना सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए, हम 'मद्य-निषेध' को ले सकते हैं। मद्य-निषेध के प्रावधान को पूर्ण रूप से व्यावहारिक रूप प्रदान करना सम्भव नहीं है। कारण स्पष्ट है कि नैतिकता अपने अन्तःकरण की वस्तु होती है, उसे किसी पर जबर्दस्ती थोपा नहीं जा सकता।

4. असंगत हैं—राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों की अन्य आलोचना यह की जाती है कि ये तत्व असंगत हैं। असंगत इस अर्थ में कि जिस समय इनका संविधान में समावेश किया गया था, उस समय परिस्थितियाँ भिन्न थीं। आज परिस्थितियाँ दूसरी हैं और आने वाले समय में परिस्थितियाँ और भी बदल जायेंगी। अतएव बदलती हुई परिस्थितियों के सन्दर्भ में ये नीति-निर्देशक तत्व पुराने पड़ जायेंगे। इस प्रसंग में डॉ० आइवर जेनिंग्स के ये विचार उल्लेखनीय हैं, "नीति-निर्देशक तत्व इंग्लैंड की उन्नीसवीं शताब्दी के राजनैतिक अनुभवों पर आधारित हैं। वे बीसवीं शताब्दी के मध्य में भारत के लिए अनुपयुक्त हैं।"

5. साधनों की उपेक्षा—राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों की आलोचना में एक अन्य तर्क यह प्रस्तुत किया जाता है कि ये तत्व साध्य पर तो प्रकाश डालते हैं, किन्तु उस साध्य को प्राप्त

1. "A cheque payable by the bank concerned at its convenience."
—K. T. Shah.

करने के लिए किन साधनों का प्रयोग किया जायगा, इस पर प्रकाश नहीं डालते। जैसा कि एक विद्वान् ने लिखा है कि "संविधान का यह अध्याय केवल लक्ष्य की चर्चा करता है, लक्ष्य-प्राप्ति के लिए साधनों का नहीं। यह फेबियन समाजवाद के विचारों को अपनाता है, किन्तु उसके मुख्य साधन उत्पादन, विनिमय तथा वितरण के राष्ट्रीयकरण को नहीं अपनाता।"

6. **संवैधानिक गत्यवरोध की आशंका**—कुछ आलोचकों के अनुसार राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का प्रावधान कुछ परिस्थितियों में देश की संवैधानिक व्यवस्था में गत्यवरोध खड़ा कर सकता है। राष्ट्रपति, मंत्रिमण्डल, संसद और सर्वोच्च न्यायालय के प्रश्नों को लेकर संवैधानिक समस्याएँ खड़ी हो सकती हैं।

राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का महत्व : उपयोगिता

यह सत्य है कि राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों में कतिपय दोष तथा शिथिलताएँ हैं। पर इन शिथिलताओं या दोषों का यह अर्थ नहीं कि राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का देश की संवैधानिक व्यवस्था में कोई महत्व नहीं है। जैसा कि डॉ० अम्बेदकर ने कहा था कि "मैं यह स्वीकार नहीं कर सकता कि कानून की शक्ति न प्राप्त होने के कारण नीति-निर्देशक तत्व व्यर्थ हैं। ये तत्व विधान-मण्डल एवं कार्यकारिणी के लिए आदेश-पत्र हैं जिनके आधार पर उन्हें भविष्य में देश का शासन करना है।" अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों के महत्व को निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. **संविधान की प्रस्तावना के पूरक**—भारतीय संविधान की प्रस्तावना सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, बहुमुखी स्वतन्त्रता तथा विश्व बन्धुत्व जैसे उच्च आदर्शों को भारतीय संवैधानिक व्यवस्था का लक्ष्य मानती है। राज्य के नीति-निर्देशक तत्व इन्हीं आदर्शों की विशद व्याख्या करते हैं। इस प्रकार राज्य के नीति-निर्देशक तत्व संविधान की प्रस्तावना के पूरक हैं। यदि संविधान की प्रस्तावना संविधान का मंगलाचरण है तो राज्य के नीति-निर्देशक तत्व उस मंगलाचरण के वृहत्तर संस्करण हैं।

नीति-निर्देशक तत्वों का महत्व

1. संविधान की प्रस्तावना के पूरक
2. मूल अधिकारों के परिपूरक
3. कार्यपालिका के दिग्दर्शक
4. व्यवस्थापिका के पथ-प्रदर्शक
5. न्यायपालिका के प्रकाश-स्तम्भ
6. कार्यपालिका और व्यवस्थापिका की स्वेच्छाचारिता से नागरिकों के रक्षक
7. आर्थिक लोकतंत्र के सन्देश-वाहक
8. लोक-कल्याणकारी राज्य के संस्थापक
9. मध्यवर्ती मार्ग के प्रवर्तक
10. जनमत के मानदण्ड
11. विश्व-शान्ति के पोषक

2. **मूल अधिकारों के परिपूरक**—राज्य के नीति-निर्देशक तत्व मूल अधिकारों के परिपूरक हैं। यदि मूल अधिकार राजनैतिक लोकतंत्र की स्थापना करते हैं तो राज्य के नीति-निर्देशक तत्व आर्थिक लोकतंत्र का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। "यदि मूल अधिकार निषेधात्मक आज्ञाएँ हैं जो सरकार को कुछ कार्यों को करने से रोकते हैं तो निर्देशक तत्व सकारात्मक आदेश हैं जो सरकार को कुछ करने का आदेश देते हैं। यदि मूल अधिकार का अध्याय साध्य है तो नीति-निर्देशक तत्वों का अध्याय साधन है। यदि एक उत्तम जीवन का दर्शन है तो दूसरा उसका व्यावहारिक स्वरूप है।"

3. **कार्यपालिका के दिग्दर्शक**—राज्य के नीति-निर्देशक तत्व कार्यपालिका को उसके कर्तव्य का बोध कराते हैं। वे ये बताते हैं कि कार्यपालिका को किस दिशा में चलना चाहिए, जन-कल्याण के लिए किस नीति का अनुगमन करना चाहिए, लोक-कल्याण के लिए कौन से कार्य करने चाहिए। इस प्रकार राज्य के नीति-निर्देशक तत्व भारतीय सरकार-रूपी नाविक के

लिए ध्रुवतारे के समान हैं जिसे देखकर नाविक यह पता लगा लेता है कि उसका पोत किस दिशा की ओर जा रहा है और किस दिशा की ओर उसे जाना चाहिए।

4. व्यवस्थापिका के पथ-प्रदर्शक—राज्य के नीति-निर्देशक तत्व व्यवस्थापिका के पथ-प्रदर्शक कहे जा सकते हैं। नीति-निर्देशक तत्वों में उन आदर्शों का उल्लेख और संकेत है जिनकी प्राप्ति का प्रयास करना राज्य का कर्तव्य होगा। राज्य इन्हीं आदर्शों के प्रकाश में कानून का निर्माण करेगा।

5. न्यायपालिका के प्रकाश-स्तम्भ—यद्यपि राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों को कानून का वैसा संरक्षण प्राप्त नहीं है, जैसा कि मूल अधिकारों को है; किन्तु फिर भी न्यायालय उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते। जैसा कि एम० सी० सीतलवाड ने लिखा है कि "राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्त कानूनी रूप से लागू न होते हुए भी न्यायालयों के लिए प्रकाश-स्तम्भ हैं। कानूनों की व्याख्या करते समय सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों की दृष्टि इन्हीं तत्वों की ओर जाती है जिसमें संविधान-निर्माताओं की वास्तविक भावनाओं का ज्ञान होता है।

6. कार्यपालिका और व्यवस्थापिका की स्वेच्छाचारिता से नागरिकों के रक्षक—संसदीय शासन में राजनैतिक सत्ता कभी एक दल के हाथों में होती है और कभी दूसरे दल के, कभी कई दलों के। ऐसी स्थिति में शासन स्वेच्छाचारी होकर मनमानी कर सकता है। राज्य के नीति-निर्देशक तत्व ऐसी स्वेच्छाचारिता पर अंकुश का कार्य करेंगे। नीति-निर्देशक तत्वों द्वारा निर्धारित लक्ष्मण-रेखा का अतिक्रमण करना उनके लिए हितकर नहीं होगा। जैसा कि डॉ० रावदाचारी ने लिखा है कि "उनको (नीति-निर्देशक तत्वों को) संविधान में रखने का औचित्य यह है कि कोई भी पार्टी राजनीतिक शक्ति प्राप्त करे, परन्तु उसे उन आदेशों का पालन करना पड़ेगा जिन्हें नीति-निर्देशक तत्व कहते हैं। कोई उनकी अवहेलना नहीं कर सकता, क्योंकि चाहे उसे न्यायालय में कानून-भंग के लिए उत्तरदायी न होना पड़े, परन्तु उसे अगले निर्वाचन में मतदाताओं के सामने अवश्य उत्तर देना पड़ेगा।"

7. आर्थिक लोकतंत्र के सन्देशवाहक—राजनैतिक लोकतंत्र आर्थिक लोकतंत्र के बिना अधूरा होता है। राज्य के नीति-निर्देशक तत्व भारत में आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना का सन्देश देते हैं। जैसा कि डॉ० अम्बेदकर ने कहा था कि "हमने राजनैतिक लोकतंत्र प्राप्त कर लिया है, हमारा लक्ष्य आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना करना है। नीति-निर्देशक तत्व आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना में सहायक होंगे।"

8. लोक-कल्याणकारी राज्य के संस्थापक—नीति-निर्देशक तत्वों में जिन आदर्शों का प्रावधान है, उनका पालन भारत में लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना में सहायक रहा है। इन सिद्धान्तों का पूरी तरह पालन कर हम अन्य कमियों को दूर कर एक सच्चे लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना करने में सफल हो सकते हैं। जैसा कि एम०सी० छागला ने लिखा है कि "यदि इन निर्देशक सिद्धान्तों का भली-भाँति पालन किया जाय तो हमारा देश पृथ्वी पर स्वर्ग बन जायगा। भारत केवल राजनैतिक दृष्टि से ही जनतंत्री नहीं होगा, प्रत्युत एक कल्याणकारी राज्य होगा जिसके नागरिकों में आर्थिक समानता होगी और प्रत्येक व्यक्ति को काम करने, शिक्षा प्राप्त करने तथा अपने परिश्रम का फल प्राप्त करने का समान अवसर मिलेगा।"

9. मध्यवर्ती मार्ग के प्रवर्तक—राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का अन्य महत्व इस तथ्य में है कि नीति-निर्देशक तत्व भारत के लिए एक ऐसे मध्यम मार्ग का पथ-प्रदर्शन करते हैं जो दो अतिशयताओं के मध्य का है। दूसरे शब्दों में यह ऐसा मार्ग है जिसमें न तो साम्यवाद के दोष होंगे और न पूंजीवाद के। जैसा कि डॉ० पायली ने लिखा है कि "राज्य के नीति-निर्देशक तत्व द्वारा भारतीय संविधान व्यक्ति-स्वातंत्र्य के विरोधी, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व तथा जन-

साधारण की आर्थिक सुरक्षा-विरोधी पूँजीवादी अल्पतंत्र, दोनों चरम सीमाओं के मध्य सन्तुलन स्थापित करता है।"

10. **जनमत के मानदण्ड**—भारतीय संविधान में नीति-निर्देशक तत्वों का प्रावधान कर संविधान-निर्माताओं ने एक ऐसे मानदण्ड का प्रावधान किया है जिसके प्रकाश में जनमत शासन के कार्यों का मूल्यांकन करेगा। राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों की अवहेलना या उपेक्षा करने वाली सरकार जनता की दृष्टि में उपयुक्त नहीं मानी जायगी। अतएव लोकप्रियता से वंचित सरकार को अगले निर्वाचन में पुनः समर्थन प्राप्त करना कठिन होगा। इस प्रकार नीति-निर्देशक तत्व जनमत के लिए एक मानदण्ड का कार्य करेंगे। साथ ही प्रबुद्ध जनमत नीति-निर्देशक तत्वों के एक प्रहरी का भी कार्य करेगा।

11. **विश्व-शान्ति के पोषक**—राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति सहयोग, सुरक्षा आदि के महत्वपूर्ण प्रावधान हैं। इन प्रावधानों का पालन कर भारत विश्व-शान्ति की स्थापना में स्तुत्य योग दे सकता है। इस प्रकार ये नीति-निर्देशक तत्व विश्व-शान्ति की स्थापना में सहायक हो सकते हैं।

इस प्रकार राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों के उपर्युक्त विवेचन से उनकी महत्ता का परिचय मिल जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नीति-निर्देशक तत्व भारतीय संविधान के गौरवशाली अंग हैं। वे कार्यपालिका के दिग्दर्शक, व्यवस्थापिका के पथ-प्रदर्शक तथा न्यायपालिका के प्रकाश-स्तम्भ हैं। भारत के भूतपूर्व प्रधान न्यायाधीश श्री केनिया के शब्दों में "राज्य के नीति-निर्देशक तत्व संविधान के अंग हैं, ये तत्व सारे राष्ट्र के सुचिन्तित ज्ञान के प्रतिफल हैं जिनकी अभिव्यक्ति उस संविधान सभा द्वारा हुई है जिसे देश की सर्वोच्च और स्थायी विधि बनाने का कार्य सौंपा गया था।"

नीति-निर्देशक तत्वों का व्यवहार में प्रयोग

नीति-निर्देशक तत्व हमारी संवैधानिक व्यवस्था की शोभा या सज्जा के ही उपकरण नहीं रहे हैं, प्रत्युत व्यवहार में उन्हें चरितार्थ करने का सक्रिय प्रयास किया जाता रहा है। इस दिशा में संविधान लागू होने के बाद से ही प्रयास प्रारम्भ हो गया था। हमारी पंचवर्षीय योजनाएँ इन नीति-निर्देशक तत्वों के प्रकाश में ही निर्मित की गई थीं। उदाहरण के लिए, हमारी प्रथम पंचवर्षीय योजना में स्पष्ट रूप से कह दिया गया था कि 'नीति-निर्देशक तत्वों के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए देश के भौतिक साधनों का स्वामित्व, नियंत्रण और वितरण इस तरह किया जाना चाहिए कि उससे जनसाधारण का हित हो तथा धन और आर्थिक शक्तियाँ कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रित न हों।' दूसरी पंचवर्षीय योजना में भी इसी तथ्य को दृष्टि-पथ में रखा गया। परवर्ती अन्य पंचवर्षीय योजनाओं में किसी न किसी रूप में नीति-निर्देशक तत्वों को अपनाने का प्रयास किया गया। इस प्रकार हमारी संघीय सरकार तथा राज्य की सरकारें संविधान लागू होने के समय से लेकर अद्यावधि इस दिशा में प्रयत्नशील रही हैं। नीति-निर्देशक तत्वों को व्यवहार में परिणत करने के लिए समय-समय पर अनेक कदम उठाए गए हैं और अभी उठाए जा रहे हैं। संक्षेप में इस दिशा में किए गए कुछ प्रयासों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. कार्यपालिका तथा न्यायपालिका का पृथक्करण राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त रहा है। इस सिद्धान्त को क्रियान्वित करने के लिए महत्वपूर्ण कदम उठाए गए हैं। उसके फलस्वरूप देश में कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ एक ही अधिकारी या अधिकारियों के हाथ में केन्द्रित नहीं हैं।

2. देश में एक ही आचार-संहिता (यूनिफार्म सिविल कोड) की व्यवस्था करने का भी प्रयास किया गया है। हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 तथा हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 ऐसे ही प्रयास के प्रतिफल हैं।

3. सामाजिक विकास-सम्बन्धी तत्वों को क्रियान्वित करने के लिए पिछड़ी जातियों और हरिजनों के कल्याण, नारियों की दशा में सुधार तथा बालकों के संरक्षण के लिए अनेक कानून बनाए गए हैं। इसी प्रकार मद्य-निषेध की दिशा में भी कुछ प्रयास किए गए हैं। अनेक राज्यों ने आंशिक या पूर्ण रूप से मद्य-निषेध लागू करने का प्रयास किया है।

4. आर्थिक तत्वों को क्रियान्वित करने के लिए समय-समय पर अनेक कदम उठाए गए हैं। संक्षेप में इन प्रयासों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

(i) कृषि और उद्योग-धन्धों के विकास के लिए निश्चित प्रयास किए गए हैं।

(ii) पशु-धन की उन्नति के लिए अनेक कदम उठाए गए हैं।

(iii) ग्रामों के समन्वित विकास के लिए ग्राम-विकास योजनाएँ क्रियान्वित की गई हैं।

(iv) सम्पत्ति का कुछ हाथों में केन्द्रीकरण न हो, इसके लिए अनेक कानून बनाए गए हैं। राजाओं के 'प्रिवीपर्स' की समाप्ति, 'बैंकों का राष्ट्रीयकरण', 'शहरी भूमि का सीमाकरण' तथा 'एकाधिपत्य-निरोधक' कतिपय अधिनियम इसी दिशा में किए गए कुछ प्रयास हैं। सरकार की औद्योगिक और आर्थिक नीति का निर्धारण भी इस प्रकार का रहा है जिससे कि सम्पत्ति का अनुचित केन्द्रीकरण न हो।

(v) भारतीयों के जीवन-स्तर को उन्नत करने के लिए भी अनेक प्रयास किए गए हैं।

5. शिक्षा और संस्कृति सम्बन्धी तत्वों को लागू करने का प्रयास किया गया है। अनेक राज्यों में निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा को सीमित रूप से लागू किया गया है। साक्षरता के लिए प्रौढ़ शिक्षा की अनेक योजनाओं को लागू किया गया है। इसी प्रकार राष्ट्रीय महत्व के स्मारकों की रक्षा के लिए अनेक कदम उठाए गए हैं।

6. स्वास्थ्य और चिकित्सा सम्बन्धी सेवाओं की दिशा में भी अनेक कार्य किए गए हैं।

7. लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में पंचायत राज की स्थापना की गई है। राज्यों ने इस दिशा में अलग-अलग कानून बनाए हैं।

8. देश के पर्यावरण के सुधार के लिए तथा वन और वन्य जीवों की सुरक्षा के लिए निश्चित नियम और कानून बनाए गए हैं।

9. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए शान्तिपूर्ण साधनों के अपनाने की दिशा में भारत ने समय-समय पर अनेक कदम उठाए हैं।

इस प्रकार इन तत्वों को क्रियान्वित कर भारत में लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना का प्रयास किया जा रहा है। किन्तु अभी हम इस प्रयास में बहुत पीछे हैं। आवश्यकता है कि हम पूरी निष्ठा और तत्परता से इन सिद्धान्तों के अनुरूप भारत की राजनैतिक व्यवस्था को बनाने का प्रयास करें, तभी हम भारत में सच्चे लोकतंत्र की स्थापना में सहायक हो सकते हैं।

राज्य के नीति निर्देशक तत्त्व

सामान्य नीति-सम्बन्धी तत्व	स्वास्थ्य तथा सामाजिक सुधार सम्बन्धी तत्त्व	प्रशासकीय सुधार-सम्बन्धी तत्व	आर्थिक विकास-सम्बन्धी तत्व	शिक्षा तथा संस्कृति सम्बन्धी तत्व	अन्तर्राष्ट्रीय शांति-संबंधी तत्व
1. राज्य विधियों के निर्माण में इन नीति-निर्देशक तत्वों का अनुसरण करेगा। 2. राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था को प्रभावी बनाने का प्रयास करेगा जिसमें लोगों को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय सुलभ हो।	1. राज्य जनकल्याण का प्रयास करेगा। 2. जीवन-स्तर को ऊँचा उठाएगा। 3. पर्यावरण की रक्षा और सुधार करेगा। 4. स्त्रियों और बालकों के स्वास्थ्य-सुधार का प्रयास करेगा। 5. शिशुओं और किशोरों के शोषण को रोकने का प्रयास करेगा। 6. मादक पदार्थों को रोकने का प्रयास करेगा। 7. हरिजनों और अनुसूचित जनजातियों के हितों की रक्षा करेगा।	1. राज्य देश के लिए समान सिविल कोड बनाने का प्रयास करेगा। 2. देश की न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् करेगा। 3. ग्राम पंचायतों का संगठन करेगा।	1. राज्य जीविका के साधन उपलब्ध कराने का प्रयास करेगा। 2. राज्य सम्पत्ति के केन्द्रीकरण को रोकने का प्रयास करेगा। 3. राज्य लोगों को उचित मजदूरी दिलाने का प्रयास करेगा। 4. राज्य कृषि, पशु-पालन तथा ग्रामीण उद्योगों के विकास का प्रयास करेगा।	1. राज्य 10 से 14 वर्ष तक की आयु की बालकों की निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करेगा। 2. राज्य ऐतिहासिक तथा कलात्मक महत्व के स्मारकों की सुरक्षा का विकास करेगा।	1. राज्य विश्व के राज्यों के मध्य सम्मानपूर्ण बनाने का प्रयास करेगा। 2. राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा बनाने में योग देगा। 3. राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता द्वारा निबटाने का प्रयास करेगा।

संविधान का 42 वाँ संशोधन अधिनियम और नीति-निर्देशक तत्व

नीति-निर्देशक तत्वों की दृष्टि से 42वें संशोधन अधिनियम का अपना महत्व है। इस संशोधन अधिनियम द्वारा राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों को मूल अधिकारों से वरिष्ठ बनाने का प्रयास किया गया था। उनके अनुसार यह प्रावधान किया गया कि नीति-निर्देशक तत्वों में से किसी एक या सभी सिद्धान्तों को लागू करने के लिए संसद जिन कानूनों का निर्माण करेगी, उन्हें इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकेगी कि ये कानून संविधान में दिए गए किसी अधिकार को सीमित या समाप्त करते हैं।

जनता पार्टी के शासन-काल में 44वें संशोधन-अधिनियम द्वारा 42वें संशोधन-अधिनियम की इस व्यवस्था को बदलने का प्रस्ताव किया गया, किन्तु राज्य सभा द्वारा यह प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया गया था। फलतः वह पास न हो सका। अतएव 42वें संशोधन द्वारा स्थापित व्यवस्था के अनुसार राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों को मूल अधिकारों की तुलना में वरीयता मिलनी चाहिए। किन्तु 1 मई, 1980 ई० के मिनर्वा मिल्स बनाम भारत सरकार नामक विवाद में जो निर्णय दिया गया है, उसके अनुसार 42वें संशोधन के इस प्रावधान को समाप्त कर दिया गया है।

42वें संशोधन अधिनियम द्वारा राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों में कुछ तत्वों को और जोड़ दिया गया था। ये तत्व इस प्रकार थे—

1. बालकों को स्वतंत्र और गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर और सुविधाएँ दी जायें। बालकों और नवयुवकों की शोषण से रक्षा की जाय।
2. राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि कानून-व्यवस्था इस प्रकार कार्य करे कि सभी लोगों को न्याय का समान अवसर सुलभ हो। इसके लिए आर्थिक दृष्टि से निर्बल लोगों को मुफ्त कानूनी सहायता देने का प्रयास किया जाय।
3. राज्य विभिन्न उद्योगों में लगे हुए श्रमिकों को इन उद्योगों के प्रबन्ध में भाग दिलाने के लिए प्रयास करेगा।
4. जाति देश के पर्यावरण की रक्षा तथा उसमें सुधार के लिए तथा वन और वन्य प्राणियों की सुरक्षा के लिए प्रयास करेगा।

लघु तथा अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—नीति-निर्देशक तत्वों का क्या अर्थ है ?

उत्तर—राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों से आशय उन सिद्धांतों से है जिनका भारतीय संविधान में उल्लेख इस दृष्टि से किया गया है कि उनके प्रकाश में भारतीय शासन अपनी नीति निर्धारित कर सके।

प्रश्न 2—नीति-निर्देशक तत्वों की क्या विशेषताएँ ?

उत्तर—(1) ये तत्व शासन के आधारभूत सिद्धांत हैं, (2) देश में लोकतंत्र के संस्थापक हैं, (3) शासन के लिए प्रकाश-स्तम्भ हैं, (4) नीति-निर्देशक तत्वों को न्यायपालिका का संरक्षण प्रथा नहीं है, (5) ये तत्व देश में आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना करते हैं।

प्रश्न 3—नीति-निर्देशक तत्वों और मूल अधिकारों में क्या अन्तर है ?

उत्तर—मूल अधिकारों और नीति-निर्देशक तत्वों में मुख्य अन्तर इस प्रकार हैं—

(1) मूल अधिकारों को कानून का संरक्षण प्राप्त है जब कि नीति-निर्देशक तत्वों को कानूनी संरक्षण प्राप्त नहीं है। (2) मूल अधिकार नकारात्मक है, नीति-निर्देशक तत्व सकारात्मक हैं। (3) मूल अधिकार वर्तमान की वस्तु हैं जब कि नीति-निर्देशक तत्व भविष्य के आश्वाशन है। (5) मूल अधिकार राजनैतिक लोकतंत्र की स्थापना करते हैं जब कि नीति-निर्देशक तत्व आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना करते हैं।

प्रश्न 4—नीति-निर्देशक तत्वों का क्या महत्व है ?

उत्तर—(1) नीति-निर्देशक तत्व शासन के लिए प्रकाश-स्तम्भ हैं, (2) नीति-निर्देशक तत्व मूल अधिकारों के परिपूरक हैं, (3) देश के विधायकों के पथ-प्रदर्शक हैं, (4) न्यायालयों के मार्गदर्शक हैं, (5) लोककल्याणकारी राज्य के संस्थापक हैं।

प्रश्न 5—नीति-निर्देशक तत्वों की संक्षिप्त आलोचना कीजिए।

उत्तर—(1) नीति-निर्देशक तत्वों को कानून का बल प्राप्त नहीं है।

(2) ये उपदेश केवल शुभ इच्छाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

(3) ये तत्व एक ऐसे बैंक के नाम चेक की भाँति हैं जिसका भुगतान बैंक की सुविधा पर छोड़ दिया गया है।

अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—नीति-निदशक तत्वों का एक वाक्य में अर्थ बताइये।

उत्तर—नीति-निर्देशक तत्व एक प्रकार के नैतिक आदर्श हैं जिनका पालन करना राज्य का धर्म होगा।

प्रश्न 2—नीति-निर्देशक तत्व और मूल अधिकारों का एक मूल अन्तर बताइये ?

उत्तर—नीति-निर्देशक तत्व और मूल अधिकारों का मूल अन्तर यह है कि जहाँ नीति-निर्देशक तत्वों को कानून का संरक्षण प्राप्त नहीं है, वहाँ मूल अधिकारों को कानून का संरक्षण प्राप्त है।

प्रश्न 3—नीति-निर्देशक तत्वों का उल्लेख किस अध्याय में किया गया है ?

उत्तर—चौथे अध्याय में।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारतीय संविधान के नीति-निर्देशक तत्वों का संक्षेप में वर्णन कीजिए तथा उनके महत्व पर प्रकाश डालिए। (उ० प्र०, 1974)

2. भारतीय संविधान में राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का क्या अर्थ है ? क्या वे मूल अधिकारों से अधिक महत्वपूर्ण हैं ? (उ० प्र०, 1979)

3. भारतीय संविधान में राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों तथा मौलिक अधिकारों का अन्तर तथा महत्व बताइए। (उ० प्र०, 1982)

4. राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का संक्षिप्त परिचय दीजिए। नीति-निर्देशक तत्वों और मौलिक अधिकारों में क्या अन्तर है ? (उ० प्र०, 1984)

5. भारतीय संविधान में राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों का वर्णन करते हुए मूल अधिकारों से उनका अन्तर स्पष्ट कीजिए। (उ० प्र०, 1987,90)

लघु प्रश्न

1. राज्य के नीति-निर्देशक तत्व और मूल अधिकारों का अन्तर बताइए।
2. नीति-निर्देशक तत्वों के मुख्य वर्ग बताइए।
3. प्रशासकीय सुधार-सम्बन्धी नीति-निर्देशक तत्वों पर पाँच पंक्तियाँ लिखिए।
4. नीति-निर्देशक तत्वों का संविधान में क्यों समावेश किया गया है ?
5. नीति-निर्देशक तत्वों की मुख्य विशेषताएँ बताइए।
6. नीति-निर्देशक तत्वों के महत्व पर पाँच पंक्तियाँ लिखिए।
7. 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा किन नीति-निर्देशक तत्वों का समावेश किया गया ?

अति लघु प्रश्न

1. नीति-निर्देशक तत्वों का उल्लेख संविधान के किस अध्याय में है ?
2. नीति-निर्देशक तत्व और मूल अधिकार का एक अन्तर बताइए।
3. नीति-निर्देशक तत्वों की दो विशेषताएँ बताइए।
4. किन्हीं दो नीति-निर्देशक तत्वों का उल्लेख कीजिए।
5. क्या नीति-निर्देशक तत्वों का पालन करने के लिए शासन को बाध्य किया जा सकता है ?

अध्याय 11

राष्ट्रपति-संघ की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान

● राष्ट्रपति का निर्वाचन कैसे होता है ? ● राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रमुख विशेताएं ● राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष क्यों ? ● राष्ट्रपति के निर्वाचन का मूल्यांकन ● राष्ट्रपति की शक्तियों का वर्गीकरण ● राष्ट्रपति के शान्तिकालीन अधिकार ● राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकार ● राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति ● राष्ट्रपति पद का महत्व।

आमुख

भारतीय संघ का राष्ट्रपति भारतीय गणतंत्र का गौरव-मुकुट, भारत की राजनैतिक व्यवस्था का शीर्षस्थ अंग, भारत की संसदात्मक कार्यपालिका का औपचारिक अध्यक्ष, राष्ट्र के रक्षा-बलों का प्रधान नायक तथा राष्ट्र की गरिमा का प्रांजल प्रतीक है। भारतीय संविधान उसके हाथों में देश की सर्वोच्च कार्यपालिकीय शक्तियाँ निहित करता है। कार्यपालिका का प्रधान होने के नाते देश के शासन के समस्त कार्य उसी के नाम से किए जाते हैं। सिद्धान्ततः देश के शासन का वही सर्वेसर्वा है। परन्तु भारत की संवैधानिक व्यवस्था एक संसदात्मक व्यवस्था है। एक संसदात्मक संविधान में सिद्धांत और व्यवहार में बहुत अन्तराल होता है। सिद्धान्त में जो सत्य प्रतीत होता है, व्यवहार में वह असत्य होता है। अतएव भारतीय राष्ट्रपति सिद्धान्ततः जिन शक्तियों का उपभोग या प्रयोग करता हुआ प्रतीत होता है, व्यवहार में उन शक्तियों का उपभोग या प्रयोग मंत्रि-परिषद् करती है। कारण स्पष्ट है। संसदात्मक कार्यपालिका में कार्यपालिका के दो पक्ष होते हैं—वैधानिक कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका। वैधानिक कार्यपालिका शासन की नाममात्र की शक्तियों का प्रयोग करती है और वास्तविक कार्यपालिकीय शक्तियाँ मंत्रि-परिषद् के हाथों में निहित होती हैं। भारत में राष्ट्रपति वैधानिक कार्यपालक है और मंत्रि-परिषद वास्तविक कार्यपालिका है। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रपति भारतीय शासन का वैधानिक प्रधान है, नाममात्र का शासक है, उसके हाथों में शासन की वास्तविक शक्तियाँ निहित नहीं हैं। डॉ० अम्बेदकर के शब्दों में, "वह राज्य का प्रधान है,[1] परन्तु कार्यपालिका का नहीं। वह राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है, परन्तु राष्ट्र पर शासन नहीं करता। वह तो केवल राष्ट्र का प्रतीक है। शासन-व्यवस्था में उसकी स्थिति रबर की मुद्रा (मुहर) की भांति है जिसके द्वारा राष्ट्र के निर्णय व्यक्त होंगे।" पर इसका अर्थ यह नहीं कि भारतीय राष्ट्रपति देश की संवैधानिक व्यवस्था का अनावश्यक उपकरण या अनुपयोगी उपांग है। वस्तुतः भारतीय राष्ट्रपति का पद भारत की संवैधानिक व्यवस्था का एक अनिवार्य, उपयोगी और अप्रतिम अंग है—ऐसा अंग जिसकी अनुपस्थिति में हम भारत की संसदात्मक व्यवस्था के समग्र रूप की परिकल्पना नहीं कर सकते। भारत की संवैधानिक व्यवस्था में राष्ट्रपति पद की भूमिका के सम्यक् ज्ञान के लिए उसके पद-सम्बन्धी विविध पक्षों का अवलोकन आवश्यक है। सुविधा की दृष्टि से राष्ट्रपति पद के प्रमुख पक्षों का अध्ययन हम निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

1. भारतीय कार्यपालिका के वैधानिक अध्यक्ष के लिए 'राष्ट्रपति' (प्रेसीडेण्ट) शब्द का प्रयोग किया गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका (यू० एस० ए०) की कार्यपालिका के प्रधान के लिए भी 'प्रेसीडेंट' (राष्ट्रपति) शब्द का प्रयोग किया जाता है। किन्तु भारतीय राष्ट्रपति और अमेरिकी राष्ट्रपति के नाम की समानता के अतिरिक्त और कोई समानता नहीं है। अमेरिका में अध्यक्षात्मक प्रणाली है, अतएव अमेरिकी राष्ट्रपति वास्तविक कार्यपालिकीय शक्तियों का प्रयोग करता है। इसी प्रकार भारतीय राष्ट्रपति की स्थिति फ्रांसीसी राष्ट्रपति से भी भिन्न है। भारतीय राष्ट्रपति की स्थिति वस्तुतः ब्रिटेन की संसदात्मक कार्यपालिका के वैधानिक प्रधान, अर्थात् सम्राट् या साम्राज्ञी से मिलती-जुलती है।

1

राष्ट्रपति का निर्वाचन कैसे होता है ?

भारतीय संविधान द्वारा भारत में गणराज्य या गणतंत्र की स्थापना की गई है। गणतंत्र का प्रधान जनता द्वारा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निर्वाचित होता है। गणतंत्र के प्रधान होने के नाते भारतीय राष्ट्रपति का पद एक निर्वाचित पद है। इसका निर्वाचन परोक्ष रूप से एक निर्वाचक मंडल द्वारा होता है। भारतीय संविधान में राष्ट्रपति पद के लिए अर्हताओं, निर्वाचन, पदावधि, पदच्युति आदि का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है।

राष्ट्रपति पद की अर्हताएँ : योग्यताएँ—संविधान में राष्ट्रपति-पद के प्रत्याशी (उम्मीदवार) के लिए कुछ अर्हताएँ या योग्यताएँ निर्धारित की गई हैं। इसके अनुसार राष्ट्रपति पद के प्रत्याशी के लिए यह आवश्यक है कि उसमें नीचे लिखी योग्यताएँ हों—

(क) वह भारत का नागरिक हो।

(ख) पैंतीस वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।

(ग) लोकसभा के लिए सदस्य निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो।

(घ) कोई भी व्यक्ति जो भारत सरकार या राज्य सरकार अथवा किसी स्थानीय प्राधिकारी के अधीन किसी सवेतन पद पर नियुक्त हो, राष्ट्रपति पद के लिए प्रत्याशी नहीं हो सकता। पर इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सरकार के अधीन कुछ ऐसे सवेतन पद हैं जिन पर यह प्रतिबन्ध लागू नहीं होता। राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, राज्यपाल, केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के मंत्रियों के पद ऐसे ही हैं। संविधान द्वारा एक अन्य प्रतिबन्ध और लगाया गया है कि राष्ट्रपति संसद के किसी सदन का अथवा किसी राज्य के विधान-मंडल के सदन का सदस्य नहीं होगा। यदि संसद या राज्य विधान-मंडल का कोई भी सदस्य राष्ट्रपति निर्वाचित हो जाता है तो पद-ग्रहण करने की उसकी सदस्यता समाप्त समझी जायेगी। अपने पद के अतिरिक्त राष्ट्रपति लाभ का अन्य कोई पद ग्रहण नहीं करेगा।

राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रक्रिया

1. राष्ट्रपति पद के लिए नामांकन : निर्वाचन का प्रथम चरण—राष्ट्रपति पद की निर्वाचन-प्रक्रिया का प्रथम चरण राष्ट्रपति का नामांकन है। सन् 1974 ई० की संशोधित व्यवस्था के अनुसार जो व्यक्ति राष्ट्रपति पद के लिए खड़ा होना चाहता है, उसका राष्ट्रपति के निर्वाचक-मण्डल के दस सदस्यों द्वारा नामांकन तथा दस सदस्यों द्वारा समर्थन होना आवश्यक है। प्रत्याशी को नामांकन के लिए 2,500 रु० की जमानत (सेक्युरिटी) जमा करना आवश्यक होता है।

2. राष्ट्रपति के निर्वाचन का निर्वाचक-मण्डल—राष्ट्रपति का निर्वाचन सीधे जनता द्वारा न होकर एक निर्वाचक-मण्डल (Electoral college) द्वारा होता है। संविधान के 54वें अनुच्छेद में कहा गया है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक-मण्डल द्वारा होगा। इस निर्वाचक-मण्डल में दो वर्गों के सदस्य होंगे। ये दो वर्ग इस प्रकार हैं—

(अ) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य, तथा

(ब) राज्यों की विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्य।

इस प्रकार निर्वाचक-मण्डल में संसद और राज्य की विधान-सभाओं के केवल निर्वाचित सदस्यों को मत देने का अधिकार होगा। फलतः राज्यसभा के न तो 12 मनोनीत सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन के अधिकारी होते हैं और न राज्य की विधान-परिषदों (Legislative Councils) के सदस्यों को ही राष्ट्रपति के निर्वाचन में मत देने का अधिकार होता है।

3. निर्वाचन की व्यवस्था तथा निर्वाचक-मंडल द्वारा राष्ट्रपति का निर्वाचन—राष्ट्रपति के नामांकन के बाद एक निश्चित तिथि को राष्ट्रपति का निर्वाचन होता है। निर्वाचन में निर्वाचक-मण्डल के सदस्य भाग लेते हैं। निर्वाचन का संचालन निर्वाचन आयोग (Election Commission) करता है। निर्वाचन आयोग ही नामांकन दाखिल करने, लौटाने तथा उनकी जाँच की तिथि तथा मतदान की तिथि का निर्धारण करता है। निर्वाचन आयोग केन्द्रीय सरकार के परामर्श से निर्वाचन-पदाधिकारी तथा सह-निर्वाचन-पदाधिकारियों की नियुक्ति करता है। राज्यों की विधान सभा के सदस्य अपने-अपने राज्यों में तथा संसद-सदस्य दिल्ली में अपना मतदान करते हैं। मतदान गुप्त होता है। इस प्रकार निर्वाचक-मण्डल के सदस्यों द्वारा राष्ट्रपति का निर्वाचन राष्ट्रपति की निर्वाचन-प्रक्रिया का दूसरा चरण है।

4. निर्वाचक-मण्डल के सदस्यों की मत-संख्या की निर्धारण-विधि—संविधान में राष्ट्रपति के निर्वाचन में जिस विधि का उल्लेख है, उसके अनुसार निर्वाचन में प्रत्येक मतदाता का मत एक से अधिक माना जाता है। निर्वाचक-मण्डल के प्रत्येक सदस्य का एक मत कितने मतों के बराबर होगा, इसके निर्धारण के लिए संविधान में एक निश्चित प्रक्रिया का उल्लेख है। इस प्रक्रिया के मुख्य दो पक्ष हैं—

(अ) राज्य की विधानसभाओं के सदस्यों के मत-निर्धारण की प्रक्रिया, तथा

(ब) संसद के निर्वाचित सदस्यों के मत-निर्धारण की प्रक्रिया।

5. राज्य की विधान-सभाओं के सदस्यों का मत-निर्धारण—राज्य की विधान-सभा के प्रत्येक सदस्य की मतसंख्या के निर्धारण के लिए संविधान में निम्नांकित सूत्र (फार्मूला) का उल्लेख है—

$$\frac{\text{राज्य की जनसंख्या}}{\text{उस राज्य की विधान-सभा के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या}} \div 1000$$

इस सूत्र के अनुसार किसी राज्य की विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों के एक मत का मूल्य निर्धारित करने के लिए राज्य की जनसंख्या में राज्य की विधान-सभा के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या का भाग दे दिया जाता है। फिर भजनफल को 1000 से विभाजित कर दिया जाता है। इस विभाजन के बाद जो भागफल आता है, उस भजनफल के बराबर ही उस राज्य की विधान-सभा के प्रत्येक सदस्य का एक मत माना जाता है। यदि शेष भाजक से आधा या आधे से अधिक (500 या उससे अधिक) बचता है तो भजनफल में एक मत और जोड़ दिया जाता है और यदि आधे से कम बचता है तो कुछ नहीं जोड़ा जाता।

इस सूत्र को एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

मान लीजिए उत्तर प्रदेश की जनसंख्या 8,83,41,144 है। उसकी विधान-सभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या 425 है।

अतः उत्तर प्रदेश की विधान-सभा के प्रत्येक सदस्य की मत-संख्या इस प्रकार होगी—

$$\frac{8{,}83{,}41{,}144}{425} \div 1000$$

इस प्रकार उपर्युक्त सूत्र के अनुसार भाग देने पर उत्तर 208 आया। फलतः उत्तर प्रदेश की विधान-सभा के प्रत्येक सदस्य का राष्ट्रपति के निर्वाचन में एकमत 208 मतों के बराबर माना जायगा।

यही प्रक्रिया भारतीय संघ के अन्य राज्यों की विधान-सभाओं के सदस्यों की मत-संख्या के निर्धारण के लिए अपनाई जाती है।

इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि केन्द्र-प्रशासित विधान-सभाओं के सदस्यों को राष्ट्रपति के निर्वाचन में मत देने का अधिकार नहीं है।

6. संसद के निर्वाचित सदस्यों के मत-निर्धारण की प्रक्रिया—संसद के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य की मत-संख्या निर्धारित करने के लिए निम्नलिखित सूत्र अपनाया जाता है—

$$\frac{\text{समस्त राज्यों की विधान सभाओं के समस्त सदस्यों की कुल मत-संख्या}}{\text{संसद के निर्वाचित सदस्यों की कुल संख्या}}$$

इस प्रकार संसद के प्रत्येक सदस्य की मत-संख्या संसद (लोकसभा और राज्य-सभा) के निर्वाचित सदस्यों की कुल सदस्य-संख्या से समस्त राज्यों की विधान सभाओं के कुल सदस्यों के लिए निर्धारित मत-संख्या में भाग देकर निकाली जाती है। यदि शेष 500 या 500 से अधिक बचता हैं तो भागफल में एक मत जोड़ दिया जाता है। पर यदि शेष 500 से कम बचता है तो उसकी गणना नहीं होती।

7. राष्ट्रपति के निर्वाचन में एकल संक्रमणीय मत-पद्धति का प्रयोग—राष्ट्रपति की निर्वाचन-प्रक्रिया का अन्य पक्ष एकल संक्रमणीय मत-पद्धति (Single Transferable Vote System) है। इस प्रक्रिया में चुनाव गुप्त मतदान द्वारा होता है और चुनाव में सफलता प्राप्त करने के लिए उम्मीदवार को न्यूनतम कोटा (Quota) प्राप्त करना आवश्यक होता है। न्यूनतम कोटा निर्धारित करने के लिए यह सूत्र अपनाया जाता है—

$$\text{न्यूनतम कोटा} = \frac{\text{दिए गए मतों की संख्या}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या} + 1} + 1$$

[उदाहरण के लिए, मान लीजिए कुल मतों की संख्या 1,00,000 है। राष्ट्रपति पद के लिए 1 व्यक्ति चुना जाना है। अतएव 1 में 1 और जोड़ दिया गया (1+1) =2। इस प्रकार दो का भाग देने पर 50,000 भजनफल आया। सूत्र के अनुसार इसमें 1 और जोड़ देने पर यह संख्या 50,001 हो जायगी। यही संख्या निर्धारित कोटा कहलायेगी। जो प्रत्याशी 50,001 मत मत प्राप्त कर लेगा, वह विजयी घोषित हो जायगा और राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचित माना जायगा।]

राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रमुख विशेषताएँ

राष्ट्रपति के निर्वाचन-विषयक उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि राष्ट्रपति की निर्वाचन-व्यवस्था की कतिपय विशेषताएँ हैं। संक्षेप में हम इन विशेषताओं को निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक-मण्डल द्वारा होता है। इस निर्वाचक-मण्डल में दो प्रकार के सदस्य होते हैं—(1) संसद के दोनों सदनों (लोकसभा और राज्यसभा) के निर्वाचित सदस्य तथा (2) राज्यों की विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्य। इस प्रकार राष्ट्रपति के निर्वाचन में केवल निर्वाचित सदस्यों को भाग लेने का अवसर मिलता है, मनोनीत सदस्यों को निर्वाचन में भाग लेने का अधिकार नहीं है।

2. निर्वाचन प्रत्यक्ष न होकर परोक्ष होता है। दूसरे शब्दों में राष्ट्रपति का निर्वाचन सीधे जनता द्वारा न होकर अप्रत्यक्ष रूप में जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा होता है।

3. निर्वाचन गुप्त मतदान-पद्धति द्वारा होता है।

4. निर्वाचन में प्रत्येक मतदाता का एक मत से अधिक माना जाता है। प्रत्येक राज्य की विधान-सभा के सदस्य का एक मत राष्ट्रपति के निर्वाचन में कितने मतों के बराबर माना जायगा, इसके निर्धारण के लिए संविधान में एक निश्चित प्रक्रिया का उल्लेख है। इसी

प्रकार संसद के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य का एक मत राष्ट्रपति के निर्वाचन में कितने मतों के बराबर होगा, इसका निर्धारण भी एक निश्चित पद्धति द्वारा किया जाता है। इस प्रकार की पद्धति के प्रयोग का प्रमुख कारण यह था कि निर्वाचित राष्ट्रपति जनता के अधिकांश का प्रतिनिधि हो।

5. राष्ट्रपति के निर्वाचन की एक अन्य विशेषता यह है कि इस पद्धति में ऐसी व्यवस्था की गई है कि देश की समस्त विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्यों के कुल मत संसद के सदस्यों के कुल मतों के बराबर रहें। इस व्यवस्था के अभाव में वही व्यक्ति राष्ट्रपति चुना जाता जिसे राज्यों की विधान-सभाओं का बहुमत प्राप्त हो जाता या जिसे विधान-सभाओं के सदस्य चाहते हैं। कारण स्पष्ट है कि विधान-सभाओं के निर्वाचित सदस्यों की संख्या संसद के निर्वाचित सदस्यों की संख्या से लगभग चार गुनी है। फलतः ऐसी स्थिति में अनेक राजनैतिक कठिनाइयों के खड़े होने की सम्भावना थी।

6. इसी प्रकार संविधान में जो पद्धति निर्धारित की गई है, उसके अनुसार भारतीय संघ के प्रत्येक राज्य को समान महत्व प्रदान करने का प्रयास किया गया है। किन्तु राज्यों की जनसंख्या और उन राज्यों की विधान-सभाओं के सदस्यों की संख्या में अन्तर होने के कारण प्रत्येक राज्य की विधान-सभा के सदस्यों की राष्ट्रपति के निर्वाचन में मत की स्थिति अलग-अलग होती है। उदाहरण के लिए, वर्तमान समय में त्रिपुरा के एक सदस्य का मत 26 मत के बराबर है जब कि उत्तर प्रदेश के प्रत्येक सदस्य का एक मत 208 मतों के बराबर माना गया है। इसी प्रकार वर्तमान समय में संसद के प्रत्येक सदस्य का एक मत 702 मतों के बराबर माना गया है।

7. राष्ट्रपति के निर्वाचन के समय यदि संसद या विधान-सभाओं के किसी या किन्हीं सदस्यों का स्थान रिक्त होता है तो उस या उन रिक्त स्थानों के कारण राष्ट्रपति का निर्वाचन अवैध नहीं माना जायगा।

उदाहरण के लिए, सन् 1974 ई० में राष्ट्रपति के निर्वाचन के समय गुजरात विधान सभा भंग थी। अतः यह प्रश्न खड़ा हुआ कि क्या गुजरात विधान सभा के भंग होने की स्थिति में राष्ट्रपति का निर्वाचन हो सकता है? इस प्रश्न पर राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श माँगा। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने परामर्श में यह स्थापित किया कि "राष्ट्रपति का निर्वाचन राष्ट्रपति का कार्यकाल समाप्त होने के पूर्व किया जाना चाहिए। अतएव एक राज्य की विधान सभा के भंग होने की स्थिति में भी राष्ट्रपति के निर्वाचन सम्पन्न हो सकते हैं।'

राष्ट्रपति का निर्वाचन : अप्रत्यक्ष क्यों ?

भारतीय संविधान में राष्ट्रपति के अप्रत्यक्ष निर्वाचन को क्यों अपनाया गया? इसके उत्तर में मुख्यतया निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं—

1. भारत में संसदात्मक प्रणाली अपनाई गई है। संसदात्मक शासन में राज्य का अध्यक्ष नाममात्र का प्रधान या वैधानिक प्रधान होता है। जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होने वाला राष्ट्रपति वास्तविक कार्यपालिका का प्रधान बनने का प्रयास करता, वह मात्र वैधानिक प्रधान की स्थिति से सन्तुष्ट न रहता। फलतः इससे संसदात्मक व्यवस्था का स्वरूप नष्ट हो सकता था।
2. राष्ट्रपति पद को निर्दलीय बनाने का प्रयास किया गया है ताकि वह राज्य के अध्यक्ष के रूप में निष्पक्ष रूप से अपने कर्तव्य का पालन कर सके। प्रत्यक्ष निर्वाचन की दशा में उसका पद निष्पक्ष न रह जाता।

3. संविधान वास्तविक शक्ति मंत्रि-परिषद को देता है। यदि राष्ट्रपति भी वास्तविक शक्ति का उपभोग करने लगता तो दोनों में संघर्ष की सम्भावना बढ़ जाती।
4. भारत में मतदाताओं की संख्या करोड़ों में है। फलतः प्रत्येक पाँच वर्ष पर ऐसे चुनाव की व्यवस्था करना एक कठिन कार्य होता। इसमें धन भी अत्यधिक व्यय होता और अनावश्यक तनाव उत्पन्न होता।

राष्ट्रपति की निर्वाचन-प्रक्रिया का मूल्यांकन

राष्ट्रपति की निर्वाचन-प्रक्रिया की कुछ विद्वानों ने कटु आलोचना की है। आलोचना के प्रसंग में मुख्यतया दो तर्क दिए गए हैं—

प्रथम, चुनाव-प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है।

दूसरे, इसमें प्रयुक्त किए गए 'आनुपातिक प्रतिनिधित्व' तथा 'एकल संक्रमणीय पद्धति' जैसे शब्दों का प्रयोग गलत है।

इन तर्कों में कुछ सत्य अवश्य है, किन्तु राष्ट्रपति के पद, निर्वाचकों के स्तर तथा भारत के राजनैतिक परिवेश को देखते हुए यह प्रक्रिया उपयोगी और सार्थक कही जायगी।

इस प्रक्रिया के पक्ष में मुख्यतया निम्नलिखित तर्क दिए जा सकते हैं—

1. यह प्रक्रिया निर्वाचन में निश्चित बहुमत का निर्णय करने में सहायक होगी।
2. इससे राज्य की विधान-सभाओं के प्रादेशिक दलों तथा संसद के छोटे राजनैतिक दलों को राष्ट्रपति के निर्वाचन में अपनी भूमिका अदा करने का समुचित अवसर मिलेगा।
3. यह प्रक्रिया संघात्मक सिद्धान्त के अनुरूप है।
4. इससे छोटे-बड़े सभी राज्यों को निर्वाचन में समान योग देने का अवसर मिलेगा।
5. डॉ० पायली के अनुसार 'यह पद्धति कागज पर भले ही जटिल प्रतीत हो, किन्तु व्यवहार में अपेक्षाकृत यह सरल प्रक्रिया है।'

राष्ट्रपति के निर्वाचन-विषयक विवाद--संविधान के 71वें अनुच्छेद के अनुसार राष्ट्रपति के निर्वाचन को लेकर यदि कोई विवाद खड़ा होता है तो उस पर विचार करने और निर्णय देने का अधिकार उच्चतम न्यायालय को है। यदि सर्वोच्च न्यायालय राष्ट्रपति के चुनाव को अवैध घोषित कर देता है तो राष्ट्रपति अपने पद से हटने के लिए बाध्य होगा। सर्वोच्च न्यायालय के इस अधिकार को 39वें संशोधन अधिनियम (सन् 1975 ई०) द्वारा समाप्त कर दिया गया था, किन्तु सन् 1978 ई० के 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा सर्वोच्च न्यायालय को पुनः यह अधिकार दे दिया गया है।

राष्ट्रपति का कार्यकाल – राष्ट्रपति का कार्यकाल 5 वर्ष है। यदि मृत्यु, त्यागपत्र अथवा महाभियोग के कारण राष्ट्रपति का पद रिक्त हो जाता है तो इस स्थिति में नए राष्ट्रपति का निर्वाचन पुनः पाँच वर्ष के लिए होता है। संविधान के अनुसार नए राष्ट्रपति का निर्वाचन छह मास के अन्दर हो जाना चाहिए।

यदि कोई राष्ट्रपति अपनी अवधि समाप्त होने के पूर्व अपने पद से त्यागपत्र देना चाहता है तो वह ऐसा कर सकता है। उसे अपना त्यागपत्र उपराष्ट्रपति को सम्बोधित करना चाहिए।

एक बार निर्वाचित हो जाने पर कोई व्यक्ति राष्ट्रपति पद के लिए दुबारा भी खड़ा हो सकता है। संविधान में किसी व्यक्ति के राष्ट्रपति पद के लिए दुबारा खड़े होने पर कोई रोक नहीं है। किन्तु यह एक प्रकार की परम्परा बन गई है कि कोई व्यक्ति दो बार से अधिक

राष्ट्रपति पद के लिए खड़ा न हो। इस परम्परा के प्रवर्तन का श्रेय भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद को है। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद राष्ट्रपति पद के लिए दो बार निर्वाचित हुए, किन्तु तीसरी बार वे निर्वाचन में नहीं खड़े हुए।

राष्ट्रपति पद के खाली होने की व्यवस्था—यदि कोई राष्ट्रपति अपना पाँच वर्ष का कार्यकाल पूरा करने के पहले ही पद-त्याग कर देता है अथवा उसकी मृत्यु हो जाती है तो उसके स्थान पर भारत का उपराष्ट्रपति तब तक राष्ट्रपति पद पर आसीन रहेगा जब तक कि दूसरा राष्ट्रपति निर्वाचित नहीं हो जाता। राष्ट्रपति अपना त्याग-पत्र उपराष्ट्रपति को देता है।

उदाहरण के लिए, 3 मई, 1969 ई० को भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ० जाकिर हुसेन की मृत्यु हो गई। उनके स्थान पर श्री वी० वी० गिरि स्थानापन्न राष्ट्रपति हो गए। इसी प्रकार श्री फखरुद्दीन अली की मृत्यु (11 फरवरी, 1977 ई०) के पश्चात् श्री बी० डी० जत्ती कार्यवाहक राष्ट्र पति बने।

मान लीजिए कि ऐसी कोई स्थिति आ जाती है जब कि किसी कारण से राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति दोनों का पद रिक्त हो जाता है तो उस समय क्या व्यवस्था होगी ? संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार ऐसी स्थिति में भारत के उच्चतम न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश स्थानापन्न राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा। प्रधान न्यायाधीश के असमर्थ होने पर सर्वोच्च न्यायालय का दूसरा वरिष्ठ न्यायाधीश राष्ट्रपति के पद को सँभालने का अधिकारी होगा।

राष्ट्रपति का महाभियोग : राष्ट्रपति को अपने पद से कैसे हटाया जा सकता है ?

भारतीय संविधान के अनुसार यदि कोई राष्ट्रपति संविधान के विरुद्ध आचरण करता है या संविधान का अतिक्रमण करता है तो वह महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है।

महाभियोग की कार्यवाही संसद के किसी सदन में प्रारम्भ की जा सकती है। किन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि महाभियोग लगाने के लिए सदन का प्रस्ताव कम से कम सदन के एक-चौथाई सदस्यों द्वारा प्रस्तावित होना चाहिए। जो सदन महाभियोग की कार्यवाही प्रारम्भ करेगा, उसे इस आशय की लिखित सूचना राष्ट्रपति को 14 दिनपूर्व देनी आवश्यक है।

राष्ट्रपति को सूचना देने के बाद यदि यह प्रस्ताव सदन में दो-तिहाई बहुमत से स्वीकृत हो जाता है तो उसके बाद उसे दूसरे सदन में भेजा जायगा। दूसरा सदन महाभियोग की जाँच करेगा और यदि राष्ट्रपति के विरुद्ध लगाये गये आरोप सिद्ध हो जाते हैं तथा दूसरा सदन भी अपने कुल सदस्यों के कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत से महाभियोग के प्रस्ताव को स्वीकृत कर लेता है तो उस प्रस्ताव के स्वीकृत होने की तिथि से राष्ट्रपति का स्थान रिक्त समझा जायगा।

जिस समय जिस सदन में राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग की कार्यवाही चल रही होगी, उस समय राष्ट्रपति सदन में स्वयं उपस्थित होकर या अपने किसी प्रतिनिधि को भेजकर अपने बचाव के पक्ष में तर्क और तथ्य उपस्थित कर सकता है।

अभी तक भारत में किसी भी राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग की कार्यवाही का प्रवर्तन नहीं किया गया है।

राष्ट्रपति पद की शपथ—राष्ट्रपति के पद के लिए निर्वाचित व्यक्ति पद-ग्रहण करने के समय सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश के सामने एक शपथ ग्रहण करता है। इस शपथ में वह प्रतिज्ञा करता है कि 'वह श्रद्धापूर्वक अपने पद के कर्तव्यों को पूरा करेगा, संविधान का

पालन करेगा तथा भारत की जनता के कल्याण में निरत रहेगा।"[1]

राष्ट्रपति का वेतन और भत्ते—भारतीय संघ के राष्ट्रपति को वर्तमान समय में 20,000 रुपये मासिक वेतन मिलता है। वेतन के अतिरिक्त राष्ट्रपति को संसद द्वारा निर्धारित विविध प्रकार के भत्ते और अनेक सुविधाएं मिलती हैं। अवकाश-प्राप्ति के बाद राष्ट्रपति को 10,000 रुपए मासिक पेंशन, निजी सचिवालय के लिए निश्चित धनराशि तथा निःशुल्क चिकित्सा की सुविधाएं प्राप्त होती हैं।

मूल संविधान में राष्ट्रपति का वेतन दस हजार रुपये मासिक था। 1985 ई० में एक संशोधन द्वारा राष्ट्रपति का वेतन पन्द्रह हजार रुपये मासिक कर दिया गया। 1990 ई० में पुनः इसमें वृद्धि कर बीस हजार रुपये मासिक कर दिया गया। इसी अधिनियम द्वारा राष्ट्रपति की पेंशन भी दस हजार रुपये मासिक कर दी गई।

वेतन और भत्तों के अतिरिक्त राष्ट्रपति निवास और यात्रा आदि की विशेष सुविधाएं मिलती हैं। राष्ट्रपति के निवास के लिए दिल्ली में 'राष्ट्रपति भवन,' शिमला में 'राजभवन' तथा हैदराबाद के निकट बोलराम में 'नीलायम' जैसे भव्य और विशाल भवन हैं। दिल्ली में राष्ट्रपति भवन विश्व का सबसे विशाल राजमहल है। इसके मुख्य भवन में 445 कमरे हैं। इनमें से 145 कमरे भारत सरकार के विविध कार्यालयों के लिए तथा 79 कमरे राष्ट्रपति के सचिवालय के लिए प्रयुक्त होते हैं। राष्ट्रपति भवन के प्रांगण में ही राष्ट्रपति के अधिकारियों और कर्मचारियों के निवास के लिए अनेक भवन हैं।

राष्ट्रपति की उन्मुक्तियाँ : विशेषाधिकार

राष्ट्रपति का पद प्रतिष्ठा और गौरव-गरिमा का पद है। अतएव राष्ट्रपति के पद के अनुकूल उसे अनेक उन्मुक्तियाँ या व्यक्तिगत विशेषाधिकार दिये गये हैं। ये उन्मुक्तियाँ इस प्रकार हैं—

1. वह अपने कार्यकाल में अपने शासन-सम्बन्धी कार्यों के लिए किसी न्यायालय के समक्ष उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

2. उसके कार्यकाल में उसके विरुद्ध दण्ड-विधि की कोई प्रक्रिया नहीं लागू की जा सकती। इस प्रकार जब तक राष्ट्रपति अपने पद पर है, तब तक उसके विरुद्ध किसी भी प्रकार का फौजदारी का मुकदमा नहीं चलाया जा सकता और न गिरफ्तारी का कोई वारण्ट ही जारी किया जा सकता है।

3. यदि किसी व्यक्ति का उस पर कोई दावा है तो उस पर दीवानी का मुकदमा चलाया जा सकता है, पर इसके लिए दो महीने पहले लिखित सूचना देनी आवश्यक है।

2
राष्ट्रपति की शक्तियाँ, अधिकार और कार्य

भारतीय संविधान राष्ट्रपति को अनेक शक्तियों से समलंकृत करता है। भारतीय राष्ट्रपति की शक्तियों और अधिकारों को हम प्रधानतया दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—

1. यह शपथ इस प्रकार है—

मैं अमुक $\dfrac{\text{सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ}}{\text{ईश्वर की शपथ लेता हूँ}}$ कि मैं श्रद्धापूर्वक भारत के राष्ट्रपति-पद का कार्य-पालन करूँगा तथा अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का प्रतिरक्षण करूँगा तथा भारत की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूँगा। —अनुच्छेद 80

2. यदि कोई राष्ट्रपति स्वेच्छा से कम वेतन लेना चाहे तो ले सकता है। उदाहरण के लिए डॉ० राजेन्द्रप्रसाद तथा उनके बाद आने वाले राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन ने स्वेच्छा से अपने वेतन में कटौती कर दी थी।

1. राष्ट्रपति के शान्तिकालीन अधिकार।
2. राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकार।

इन अधिकारों को हम तालिका के रूप में इस प्रकार वर्गीकृत कर सकते हैं—
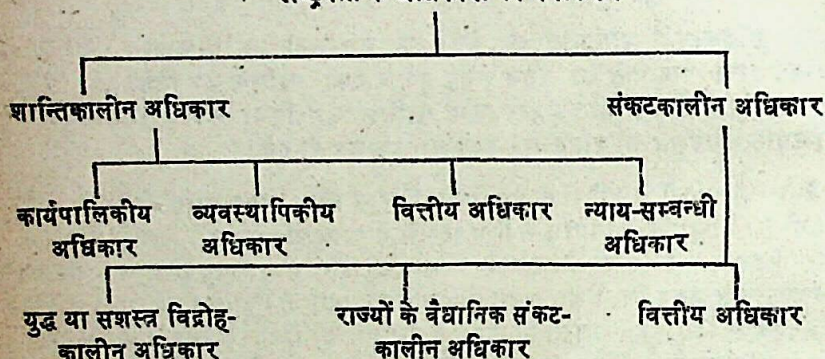
राष्ट्रपति के शान्तिकालीन अधिकार

राष्ट्रपति के शान्तिकालीन अधिकारों या शक्तियों से आशय उन अधिकारों से है जिनका प्रयोग वह देश की शान्तिकालीन स्थिति में अपने दैनिक प्रशासन-कार्य में करता है। राष्ट्रपति के कार्य साधारण या सामान्य प्रशासन से सम्बन्धित हैं। अतएव इन अधिकारों को राष्ट्रपति के सामान्य या साधारण अधिकारों की भी संज्ञा दी गई है।

राष्ट्रपति के शान्तिकालीन अधिकारों को हम मुख्यतया चार वर्गों में रख सकते हैं—

1. कार्यपालिकीय अधिकार
2. व्यवस्थापिकीय अधिकार
3. वित्तीय अधिकार
4. न्याय-सम्बन्धी अधिकार

1. कार्यपालिकीय अधिकार—संविधान के 53वें अनुच्छेद में कार्यपालिकीय शक्तियों पर प्रकाश डाला गया है। इसके अनुसार 'संघ की कार्यपालिकीय शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी तथा वह इसका प्रयोग संविधान के अनुसार या तो स्वयं अथवा अपने अधीनस्थ कर्मचारियों द्वारा करेगा।' राष्ट्रपति संघीय कार्यपालिका का प्रधान है, अतएव उसकी कार्यपालिकीय शक्तियों की प्रभाव-परिधि में वह सभी क्षेत्र आ जाता है जो संघीय शासन के अन्तर्गत आता है। संघीय शासन का क्षेत्र व्यापक है। फलतः राष्ट्रपति को व्यापक कार्यपालिकीय शक्तियाँ प्राप्त हैं। राष्ट्रपति की कार्यपालिकीय शक्तियों का अध्ययन हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

1. संघ-शासन के समस्त कार्यपालिका-सम्बन्धी कार्य राष्ट्रपति के नाम से किए जाते हैं। संघ के समस्त पदाधिकारी उसके अधीनस्थ अधिकारी माने जाते हैं।

2. राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की नियुक्ति करता है और प्रधानमंत्री की सलाह से मंत्रि-परिषद् के अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है।

3. केन्द्रीय शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए राष्ट्रपति कार्यविधि-विषयक नियम बनाता है तथा मंत्रियों के कार्यों का विभाजन करता है।

4. राष्ट्रपति संघ-शासन के समस्त उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति करता है। इस प्रकार वह सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीश, उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश, राज्यों के राज्यपाल, महाधिवक्ता (एटार्नी जनरल), नियंत्रक तथा महालेखा-परीक्षक (कम्पट्रोलर एण्ड आडीटर जनरल); संघीय लोक-सेवा आयोग के सदस्य, संयुक्त लोक-सेवा आयोग के सदस्य, निर्वाचन आयोग तथा वित्त आयोग के सदस्यों आदि की नियुक्ति करना है।

5. राष्ट्रपति राज्यपाल, महान्यायवादी, सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों तथा कुछ अन्य संघीय पदाधिकारियों को पदच्युत कर सकता है। किन्तु इस प्रसंग में यह स्मरण रखना अविश्यक है कि इन पदाधिकारियों की पदच्युति के निश्चित आधार होते हैं तथा पदच्युति के लिए निश्चित प्रक्रिया का अनुगमन करना आवश्यक होता है।

6. राष्ट्रपति देश के रक्षा-बलों, सशस्त्र सेनाओं का प्रधान होता है। वही स्थलसेना, जलसेना तथा वायुसेना के प्रधान सेनानायकों को नियुक्त करता है। वही किसी को सैनिक सेवाओं के आधार पर 'फील्ड-मार्शल' की उपाधि कर सकता है। राष्ट्रपति ही राष्ट्रीय प्रतिरक्षा समिति (National Defence Committee) का अध्यक्ष होता है।

7. वैदेशिक क्षेत्र में भी राष्ट्रपति को महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। वह राष्ट्र का प्रधान होने के नाते अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में देश का प्रतिनिधित्व करता है। वह विदेशों में स्थित भारतीय दूतावासों के लिए राजदूतों, कूटनीतिक प्रतिनिधियों तथा वाणिज्यदूतों की नियुक्ति करता है। वह विदेशों के राजदूतों तथा कूटनीतिक प्रतिनिधियों के प्रमाण-पत्रों को स्वीकृत करता है। समस्त सन्धियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय समझौते राष्ट्रपति के नाम से किए जाते हैं।

8. राष्ट्रपति राज्यों को इस आशय का निर्देश भेज सकता है कि उन्हें अपने राज्य का शासन किस प्रकार संचालित करना चाहिए। इन निर्देशों के माध्यम से राष्ट्रपति राज्यों के प्रशासन का अन्वीक्षण और नियंत्रण कर सकता है।

9. संघ-शासित क्षेत्रों की शासन-व्यवस्था के संचालन का पूरा अधिकार राष्ट्रपति के हाथों में होता है। इसके साथ ही जनजातियों के क्षेत्रों के शासन का अधिकार भी राष्ट्रपति को है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रपति को कार्यपालिका के क्षेत्र में महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। इस दृष्टि से उसे भारत की कार्यपालिका का प्रधान प्रबन्धक, संयोजक और निर्देशक कहा जा सकता है।

2. **व्यवस्थापिकीय अधिकार**—राष्ट्रपति को विधायन या व्यवस्थापन के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हैं। इन शक्तियों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग है। वह संसद के अधिवेशन को आमंत्रित करता, स्थगित करता तथा आवश्यकता पड़ने पर लोकसभा को भंग करता है।[1]

2. लोकसभा के अधिवेशनों के प्रारम्भ और समाप्त होने की तिथियाँ भी राष्ट्रपति द्वारा ही निश्चित की जाती हैं।

3. राष्ट्रपति राज्य सभा के 12 सदस्यों को मनोनीत करता है। ये सदस्य साहित्य, विज्ञान, समाज-सेवा व कला आदि के क्षेत्र में प्रतिष्ठा-प्राप्त व्यक्ति होते हैं। इसके अतिरिक्त

---

1. उदाहरण के लिए 27 दिसम्बर, 1970 ई० को राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि ने प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की सलाह पर चतुर्थ लोकसभा को उसकी अवधि के 14 मास पूर्व भंग कर दिया था। इसी प्रकार पाँचवीं लोकसभा जनवरी, 1977 ई० में अपनी अवधि के पूर्व भंग हुई। छठी लोकसभा भी सन् 1979 ई० में अपनी अवधि के पूर्व भंग की गई। नवीं लोकसभा भी इसी प्रकार अपनी अवधि के पूर्व भंग की गई।

यदि लोकसभा में आंग्ल-भारतीयों (Anglo-Indians) का समुचित प्रतिनिधित्व न हुआ तो वह दो आंग्ल-भारतीयों को लोकसभा का सदस्य मनोनीत करता है।

4. संसद के प्रथम अधिवेशन के प्रारम्भ में राष्ट्रपति उद्घाटन-भाषण देता है। इस भाषण में शासन की नीति और कार्यक्रमों पर प्रकाश डाला जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य अवसरों पर भी संसद को अपना सन्देश भेजने या भाषण देने का अधिकार है।

5. कोई विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के विना अधिनियम नहीं बन सकता। जब संसद के दोनों सदन किसी विधेयक को स्वीकार कर लेते हैं तो उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेजा जाता है। राष्ट्रपति किसी भी विधेयक पर अपनी स्वीकृति दे सकता है, या अपने सुझाव के साथ उसे संसद के पुनर्विचार के लिए स्थगित कर सकता है अथवा अपनी स्वीकृति को अनिश्चित काल के लिए रोक सकता है। परन्तु यदि संसद किसी विधेयक को दुबारा पास कर देती है तो राष्ट्रपति उसे स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाता है। पर संसद द्वारा दुबारा पास विधेयक के लिए यह आवश्यक है कि वह कम-से-कम दो-तिहाई बहुमत से पास हो। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि राष्ट्रपति अपनी निषेध-शक्ति का प्रयोग साधारण विधेयकों के विषय में कर सकता है, धन विधेयकों को अस्वीकृत करने का उसे अधिकार नहीं है।

6. राष्ट्रपति को अध्यादेश (Ordinance) जारी करने का अधिकार है। यह अध्यादेश उस समय जारी किया जाता है जब संसद का अधिवेशन नहीं चल रहा होता या संसद भंग रहती है। इन अध्यादेशों का वैसा ही प्रभाव होता है जैसा कि संसद द्वारा निर्मित अधिनियमों का। ऐसा अध्यादेश संसद के अधिवेशन के प्रारम्भ होने की तिथि से छह सप्ताह तक जारी रहेगा, तत्पश्चात् वह रद्द समझा जायगा। संसद इस तिथि के पूर्व भी उसे रद्द करार दे सकती है। राष्ट्रपति स्वयं जब चाहे, अपना अध्यादेश वापस ले सकता है।

7. कुछ ऐसे विधेयक हैं जिन पर राष्ट्रपति की पूर्वस्वीकृति आवश्यक है। राष्ट्रपति की पूर्वस्वीकृति के बिना इन विधेयकों को संसद के किसी सदन में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के विधेयक मुख्यतया निम्नलिखित हैं—

(i) राज्यों के पुनर्वितरण-सम्बन्धी विधेयक

(ii) राज्यों के क्षेत्रों में परिवर्तन-सम्बन्धी विधेयक

(iii) राज्यों के नामों में परिवर्तन-सम्बन्धी विधेयक

(iv) धन-सम्बन्धी विधेयक।

8. उपर्युक्त विधायी शक्तियों के अतिरिक्त राष्ट्रपति को राज्यों की विधायी शक्तियों पर भी महत्वपूर्ण नियंत्रण-शक्ति प्राप्त है। इस दृष्टि से राष्ट्रपति की विधायी शक्तियों के मुख्य पक्ष निम्नलिखित हैं—

(i) राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले कुछ विषय ऐसे हैं जिन पर विधि-निर्माण के लिए राष्ट्रपति की पूर्वस्वीकृति आवश्यक है। इन विषयों में व्यापार तथा वाणिज्य सम्बन्धी विधेयक, गमनागमन विधेयक मुख्य हैं।

(ii) यदि किसी राज्य का विधान मंडल समवर्ती सूची के किसी ऐसे विषय पर कानून का निर्माण करता है जो उसी विषय की संघीय विधि का विरोधी हो तो राज्यपाल उस विधेयक को राष्ट्रपति के हस्ताक्षरों के लिए सुरक्षित रख लेगा।

(iii) यदि किसी राज्य का विधान-मंडल जल या विद्युत् सम्बन्धी या किसी विशेष प्रकार का कर लगाना चाहता है तो राज्यपाल इन विधेयकों को भी राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता है।

उपर्युक्त विधेयकों पर राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति दे सकता है, अपनी स्वीकृति रोक सकता है अथवा राज्य के राज्यपाल को विधेयक पर पुनः विचार करने के लिए विधान मंडल में भेजने का आदेश दे सकता है। इस प्रकार भेजे गये विधेयक पर राज्य के विधान मंडल द्वारा छह महीने के अन्दर विचार करना आवश्यक है। इसके उपरान्त राष्ट्रपति उस विधेयक पर अपनी स्वीकृति दे सकता है अथवा अपनी स्वीकृति रोक सकता है।

इस प्रकार के राज्य के कुछ विषय-सम्बन्धी विधेयकों को अस्वीकृत करने का अधिकार राष्ट्रपति के हाथों में निहित है। डॉ० महादेव प्रसाद शर्मा के शब्दों में, 'राज्य के विशेष प्रकार के विधेयकों को अनुमति देने की शक्ति वास्तविक तथा अबाध है।'

9. राष्ट्रपति की अनुमति से अनेक महत्वपूर्ण निकायों या संस्थाओं के प्रतिवेदनों (रिपोर्ट्स) और सिफारिशों को संसद के समक्ष पेश किया जाता है। इन निकायों, संस्थाओं या आयोगों में संघीय लोकसेवा आयोग, वित्तीय आयोग, कम्पट्रोलर और आडीटर जनरल आदि मुख्य हैं।

10. जब किसी कारण से राज्यसभा के अध्यक्ष का पद रिक्त हो जाता है तथा उपाध्यक्ष या अध्यक्ष के लिए निश्चित पैनेल के अन्य सदस्य भी अध्यक्ष पद पर कार्य करने के लिए सुलभ नहीं होते तो राष्ट्रपति उस स्थिति में राज्यसभा के अध्यक्ष को मनोनीत करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रपति को देश की संवैधानिक व्यवस्था में व्यवस्थापन के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। कौल और शकधर ने लिखा है कि "राष्ट्रपति को विधायन के क्षेत्र में कार्यपालिका की भाँति ही महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हैं।" इसी प्रकार प्रो० अवधबिहारी लाल ने राष्ट्रपति की विधायी शक्तियों का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि "किसी भी देश में जहाँ एक लिखित संविधान तथा संसदात्मक व्यवस्था है, राज्याध्यक्ष को ऐसी विधायिनी शक्तियाँ प्राप्त नहीं हैं।"

3. वित्त-सम्बन्धी अधिकार—राष्ट्रपति के वित्तीय अधिकार भी महत्वपूर्ण और व्यापक हैं। इन अधिकारों को संक्षेप में हम अग्रलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. राष्ट्रपति की अनुमति के बिना कोई धन विधेयक संसद में पेश नहीं किया जा सकता है।
2. सरकारी आय-व्यय का वार्षिक विवरण (बजट) राष्ट्रपति की ओर से संसद के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।
3. राष्ट्रपति की अनुमति से पूरक, अतिरिक्त तथा अन्य माँगें रखी जाती हैं।
4. भारत की आकस्मिक निधि संसद के अधीन रहती है। आवश्यकता पड़ने पर वह इस राशि में से शासन को अग्रिम-धन के रूप में आर्थिक सहायता दे सकता है जिसकी स्वीकृति कुछ समय बाद संसद से ले ली जाती है।
5. वह आय-कर से होने वाली आय में विभिन्न राज्यों के भाग को निर्धारित करता है।
6. वह यह निश्चित करता है कि पटसन या जूट के निर्यात-कर की आय में से राज्यों को बदले में क्या धनराशि मिलनी चाहिए।
7. वह प्रत्येक पाँच वर्ष पर वित्त आयोग (Finance Commission) का गठन करता है।
8. राष्ट्रपति ही संसद के समक्ष देश के महालेखा परीक्षक तथा वित्तीय आयोग का प्रतिवेदन (रिपोर्ट) प्रस्तुत करता है।
9. वह वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार केन्द्र और राज्य के मध्य करों से प्राप्त आय का विभाजन करता है।

राष्ट्रपति की शक्तियाँ, अधिकार एवं कार्य
शान्तिकालीन अधिकार
संकटकालीन अधिकार
कार्यपालिकीय अधिकार
व्यवस्थापिकीय अधिकार
वित्तीय अधिकार
न्याय सम्बन्धी अधिकार
युद्ध बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह सम्बन्धी संकट
राज्यों में संवैधानिक संकट
वित्तीय संकट
धन विधेयक की प्रस्तुति के लिए अनुमति देना
राष्ट्रीय बजट पेश करना
आकस्मिक निधि की व्यवस्था
वित्त आयोग की नियुक्ति
वित्त आयोग की सिफारिशों की अनुसार संघ तथा राज्यों में आय का विभाजन
संसद के अधिवेशन आमंत्रित करना, स्थगित करना तथा भंग करना
राज्य सभा के बाहर के सदस्यों को मनोनीत करना
विधेयकों की स्वीकृति या निषेधाधिकार का प्रयोग
अध्यादेश जारी करना
राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले कुछ विधेयकों के लिए पूर्व स्वीकृति देना
महत्वपूर्ण पदाधिकारियों की नियुक्ति तथा पदच्युति
देश के रक्षा-बलों की प्रधानता
अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में देश का प्रतिनिधित्व
राज्यों को कार्यपालिकीय आदेश देना
संघ-शासित क्षेत्रों के शासन का संचालन
सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति
क्षमादान का अधिकार
संविधान सम्बन्धी मामलों में सर्वोच्च न्यायालय से सलाह लेना

4. **न्याय-सम्बन्धी अधिकार**—यद्यपि भारतीय शासन-व्यवस्था में न्यायपालिका को कार्यपालिका के नियंत्रण से मुक्त रखने का प्रयास किया गया है, किन्तु फिर भी राज्य के अध्यक्ष के रूप में राष्ट्रपति को कुछ न्याय-सम्बन्धी अधिकार दिए गए हैं। इन अधिकारों को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. वह उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है।

2. राष्ट्रपति को न्यायालयों द्वारा दंडित व्यक्तियों के दंड को क्षमा (Pardon), रोक (Reprieve), हल्का या प्रास्थगन (Respite), या परिहरण (Remission) का अधिकार है। दूसरे शब्दों में राष्ट्रपति न्यायालय द्वारा दंडित व्यक्ति के दंड को क्षमा कर सकता है, दंड को कम कर सकता है या स्थगित कर सकता है। यह अधिकार राष्ट्रपति निम्नलिखित मामलों में प्रयुक्त करेगा—

(i) उन सभी मामलों में जहाँ दंड सैनिक न्यायालय द्वारा दिया गया है।

(ii) उन मामलों में जहाँ दंड ऐसे अपराध के लिए मिला हो जो संघीय शासन के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है।

(iii) उन सब मामलों में जहाँ अपराध के लिए मृत्युदंड दिया गया हो।

3. राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह संवैधानिक दृष्टि से किसी विवादास्पद प्रश्न को परामर्श के लिए सर्वोच्च न्यायालय के पास भेज दे। किन्तु सर्वोच्च न्यायालय अपनी सलाह देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। यह सर्वोच्च न्यायालय की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह अपनी सलाह दे या न दे।

भारत के नवें राष्ट्रपति का निर्वाचन (1992)—नवें राष्ट्रपति के निर्वाचन में डॉ० शंकर दयाल शर्मा विजयी घोषित किए गए। उन्होंने अपने निकटतम प्रतिद्वंदी पूर्व लोक सभा अध्यक्ष प्रो० जी० जी० स्वेल को परास्त कर सफलता प्राप्त की। डॉ० शर्मा को मिले मतों का मूल्य 6,75,864 है जबकि उनके निकटतम प्रतिद्वंदी प्रो० जी० जी० स्वेल ने 3,46,485 मत हासिल किए। इस प्रकार डॉ० शर्मा ने 3,29,379 मत मूल्य से विजय हासिल की। राष्ट्रपति पद के तीसरे प्रत्याशी काका जोगिन्दर सिंह उर्फ धरती पकड़ को 1135 मूल्य के मत प्राप्त हुए। श्री राम जेठमलानी ने (जो चुनावी होड़ से हट गए थे) 2707 मूल्य के मत प्राप्त किए। श्री जेठमलानी ने प्रो० जी० जी० स्वेल के समर्थन में अंतिम क्षणों में अपना नाम वापस लिया था। श्री शर्मा को कुल डाले गए मतों का 64.78 प्रतिशत मत मिला। यह प्रतिशत निवर्तमान राष्ट्रपति रामास्वामी वेंकटरमन को 1987 में मिले मतों 72.3 प्रतिशत से कम है। श्री ज्ञानी जेल सिंह को 1982 में 72.7 प्रतिशत मत मिले थे।

आँकड़ों के अनुसार अब तक सर्वाधिक मतों से जीत का श्रेय डॉ० राजेन्द्र प्रसाद को है जिन्हें 1957 में राष्ट्रपति पद के लिए दोबारा चुनाव लड़ने पर 99.3 प्रतिशत मत मिले थे। राष्ट्रपति के चुनाव में सबसे कम मतों से जीत श्री वी० वी० गिरि की हुई थी जिन्होंने 50.12 प्रतिशत प्राप्त कर अपने प्रतिद्वन्दी श्री नीलम संजीव रेड्डी को हराया था। श्री रेड्डी 1977 ई० में निर्विरोध राष्ट्रपति चुने गए थे।

3

राष्ट्रपति की आपातकालीन (संकटकालीन) शक्तियाँ : अधिकार

भारतीय राष्ट्रपति की शक्ति-शृंखला में उसकी आपातकालीन या संकटकालीन शक्तियाँ संविधान की अत्यन्त महत्वपूर्ण, किन्तु सर्वाधिक विवादास्पद पक्ष मानी जाती हैं। महत्वपूर्ण इसलिए कि संविधान के ये प्रावधान भारतीय संघ की कार्यपालिका को अनन्त शक्ति प्रदान करते हैं और विवादास्पद इसलिए कि इन प्रावधानों पर परस्पर-विरोधी विचार व्यक्त किये गये हैं। इन्हें जहाँ एक ओर संघीय शस्त्रागार का सर्वाधिक संहारक अस्त्र तथा दमन और प्रतिक्रियावाद का सशक्त शस्त्र कहा गया है, वहाँ दूसरी ओर इन्हें भारत की संवैधानिक

व्यवस्था का रक्षा-कवच तथा भारतीय संविधान का हृद्-स्थल कहा गया है। अतएव भारत की संवधानिक व्यवस्था के सम्यक् अध्ययन के लिए, भारतीय राष्ट्रपति की स्थिति और शक्ति के सम्यक् मूल्यांकन के लिए राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों को निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों का वर्गीकरण

संविधान में राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों या अधिकारों के विवेचन के प्रसंग में तीन प्रकार के संकटों का उल्लेख किया गया है। ये तीन प्रकार के संकट इस भाँति हैं—

1. युद्ध, वाह्री आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह-संबंधी संकट।
2. राज्यों में संवैधानिक तंत्र के विफल होने सम्बन्धी संकट।
3. वित्तीय संकट।

इसे हम तालिका द्वारा निम्नलिखित रूप में व्यक्त कर सकते हैं—

तीन आपातकालीन स्थितियाँ

युद्ध, वाह्री आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह सम्बन्धी संकट (अनुच्छेद 352)	राज्यों में संवैधानिक तंत्र के असफल होने से सम्बन्धित संकट (अनुच्छेद 356)	वित्तीय संकट (अनुच्छेद 360)
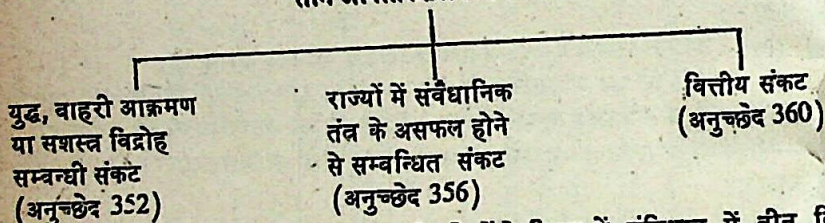
इन तीनों प्रकार की संकटकालीन स्थितियों के विषय में संविधान में तीन विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाओं का उल्लेख है। यहाँ हम इन तीनों प्रकार की व्यवस्थाओं तथा उन व्यवस्थाओं का सामना करने के लिए राष्ट्रपति के अधिकारों का विवेचन करेंगे।

1. युद्ध, वाह्री आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह सम्बन्धी संकट (आपात)

मूल संविधान (352वें अनुच्छेद) में यह प्रावधान था कि 'यदि राष्ट्रपति को यह विश्वास हो कि युद्ध, बाह्य आक्रमण अथवा आन्तरिक अशांति के कारण भारत अथवा उसके किसी एक भाग की शांति तथा सुव्यवस्था के नष्ट होने का भय है तो वह इस प्रकार के संकट की घोषणा कर सकता था।' सन् 1977 ई० में सत्तारूढ़ जनता पार्टी ने आपातकालीन उपबंधों में महत्वपूर्ण संशोधन किये। ये संशोधन संविधान के 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा लाये गये। इस संशोधन अधिनियम के अनुसार अब प्रथम प्रकार के संकटकाल-विषयक प्रावधान की स्थिति इस प्रकार है—

1. प्रथम प्रकार का आपातकाल युद्ध, वाह्री आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह होने अथवा उसकी आशंका होने पर ही लागू किया जा सकेगा।[1]
2. राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत आपातकाल की घोषणा तभी की जा सकेगी जबकि मंत्रिमंडल राष्ट्रपति को इस आशय का लिखित परामर्श दे दे।
3. घोषणा के एक माह के अन्दर संसद के विशेष बहुमत (संसद के दोनों सदनों में अलग-अलग कुल बहुमत एवं उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत) से इसकी स्वीकृति आवश्यक होगी। इसको लागू करने के लिए प्रति छह माह बाद स्वीकृति आवश्यक होगी।

1. इस प्रकार मूल संविधान के 'आंतरिक अशांति' शब्दों के स्थान पर 'सशस्त्र विद्रोह' का समावेश किया गया है।

4. लोकसभा में उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के साधारण बहुमत से आपातकाल की घोषणा समाप्त की जा सकती है। आपातकाल पर विचार करने के लिए लोकसभा की बैठक उसके $\frac{1}{10}$ सदस्यों की माँग पर बुलाई जा सकती है।
5. इस संकटकाल की घोषणा सारे देश या देश के किसी भाग या कुछ भागों में लागू हो सकती है।[1]

इस प्रकार प्रथम प्रकार का संकटकाल तीन कारणों से लागू किया जा सकता है—(1) युद्ध, (2) बाहरी आक्रमण या (3) सशस्त्र विद्रोह, अथवा इसमें से किसी की आशंका पर।

घोषणा की अवधि

यह संकटकाल पूरे देश या देश के किसी भाग में लागू किया जा सकता है।

इस आपातकाल की घोषणा के एक माह (तीस दिन) के अन्तर ही उसकी स्वीकृत के लिए उसे संसद के समक्ष रखा जाना चाहिए। उसकी स्वीकृति के लिए संसद का विशिष्ट बहुमत आवश्यक है। उसे आगे चलाने के लिए प्रत्येक छह माह पर संसद की स्वीकृति लेते रहना चाहिए। इस प्रकार प्रथम प्रकार के संकट की घोषणा तब तक चलती रहेगी जब तक कि संसद उसका समर्थन करती रहेगी और जब तक राष्ट्रपति के आदेश द्वारा उसे वापस नहीं लिया जाता। राष्ट्रपति मन्त्रिपरिषद की लिखित सलाह पर ही इस प्रकार के संकटकाल की घोषणा करेगा।

प्रथम प्रकार की घोषणा के प्रभाव और परिणाम—प्रथम प्रकार (अर्थात् युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह) की घोषणा के मुख्यतया निम्नलिखित परिणाम या प्रभाव होंगे—

1. केन्द्रीय सरकार की कार्यपालिकीय और विधायी शक्तियों में वृद्धि हो जायगी।
2. संसद को सारे देश या उसके किसी भाग के लिए राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर कानून बनाने का अधिकार हो जायगा।
3. ऐसे कानून उद्घोषणा के छह महीने के बाद प्रभावी नहीं रहेंगे।
4. राज्य विधान-मंडलों द्वारा निर्मित कोई कानून संसद द्वारा निर्मित विधियों के विरोध में अमान्य रहेंगे।
5. यदि संसद का अधिवेशन नहीं चल रहा है तो राष्ट्रपति राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों के बारे में अध्यादेश जारी कर सकेगा।
6. अपने विस्तृत अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत इस अवधि में संसद कानून बना सकती है और भारत सरकार तथा उसके अधिकारियों को इन विधियों के कार्यान्वयन के लिए अधिकार तथा कर्तव्य सौंप सकती है।
7. केन्द्रीय सरकार राज्यों को आदेश दे सकती है कि वे अपनी कार्यपालिका-शक्ति का किस प्रकार प्रयोग करें।
8. संघीय अधिकारियों को ऐसे अधिकार और कर्तव्य सौंप सकती है जो राज्य-सरकार के अधिकारियों द्वारा कार्यान्वित किए जाते हैं।
9. संसद विधि द्वारा अपने कार्यकाल को जब तक आपात-उद्घोषणा प्रवर्तन में है, एक बार में एक वर्ष के लिए बढ़ा सकती है। किन्तु उद्घोषणा के अन्त होने के पश्चात् संसद की बढ़ी हुई अवधि छह महीने से अधिक नहीं हो सकती।

---

1. मूल संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार इस प्रकार की घोषणा का प्रावधान सारे देश के लिए था, किन्तु सविधान के 42वें संशोधन द्वारा इसे देश के कुछ भागों या किसी भाग में भी लागू किया जा सकता है। इस व्यवस्था को 44वें संशोधन नियम द्वारा बदला नहीं गया है।

10 संविधान के 19वें अनुच्छेद में वर्णित 'व्यक्तियों के स्वतन्त्रता-विषयक अधिकार' निलम्बित किए जा सकते हैं। किन्तु, इन स्वतंत्रताओं के अन्तर्गत आने वाला जीवन और शारीरिक स्वतंत्रता-विषयक अधिकार इस आपातकाल में भी निलंबित नहीं किया जा सकता।

11. संविधान के 32वें अनुच्छेद में वर्णित संवैधानिक उपचारों के अधिकार को निलंबित किया जा सकता है।

प्रथम प्रकार के संकटकाल की घोषणा का व्यवहार में प्रवर्तन—संविधान लागू होने से लेकर अब तक प्रथम प्रकार की संकटकालीन घोषणा केवल तीन बार लागू की जा चुकी है। सर्वप्रथम यह अक्तूवर, 1962 ई० में लागू की गई जब साम्यवादी चीन ने भारत पर आक्रमण किया। यह घोषणा जनवरी, 1968 ई० तक चलती रही।

दूसरी घोषणा सन् 1971 ई० को दिसम्बर में लागू हुई। उस समय इसके लागू करने का मुख्य कारण पाकिस्तान के साथ भारत का युद्ध था।

तीसरी घोषणा जून, 1975 ई० में लागू की गई। यह घोषणा आन्तरिक अशान्ति के आधार पर की गई थी। ये दोनों घोषणाएँ मार्च, 1977 ई० में समाप्त कर दी गईं। दूसरी घोषणा 27 मार्च, 1977 को समाप्त की गई और तीसरी घोषणा 21 मार्च, 1977 को। इस प्रकार वर्तमान समय में प्रथम आधार पर लागू देश या उसके किसी भाग में कोई संकटकाल नहीं है।

2. राज्यों में संवैधानिक तंत्र के विफल होने पर उत्पन्न संकट

संविधान में वर्णित दूसरे प्रकार का संकट राज्यों में संवैधानिक तंत्र की असफलता से संबंध रखता है। संविधान का 356वाँ अनुच्छेद इस प्रकार के संकट का प्रावधान करता है। इसके अनुसार यदि राष्ट्रपति को राज्यपाल से सूचना मिले या अन्य प्रकार से उसे यह विश्वास हो जाय कि किसी राज्य में संविधान के अनुसार शासन चलाना असम्भव हो गया है और राज्य में संवैधानिक तंत्र विफल हो गया है तो राष्ट्रपति इस आशय की घोषणा कर सकता है।

घोषणा की अवधि—संविधान की मूल व्यवस्था के अनुसार संसद द्वारा एक बार प्रस्ताव पास कर राज्य में छह माह के लिए राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता था। 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा इस अवधि को एक वर्ष कर दिया गया था। 44वें संविधान अधिनियम द्वारा इस अवधि को पुनः छह माह कर दिया गया है।

इसी प्रकार 44वें संशोधन के पूर्व राज्य में राष्ट्रपति-शासन की अधिकतम अवधि तीन वर्ष थी। लेकिन अब इस व्यवस्था में संशोधन कर दिया गया है। इसके अनुसार "राज्य में राष्ट्रपति-शासन को एक वर्ष की अवधि के बाद और अधिक समय तक जारी रखने के लिए संसद की स्वीकृति आवश्यक है, किन्तु संसद इस आशय का प्रस्ताव तभी पारित करेगी जबकि (1) देश में अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत संकटकाल लागू हो तथा (2) निर्वाचन आयोग यह प्रमाणित कर दे कि वर्तमान समय में राज्य में निर्वाचन कराना सम्भव नहीं है। परन्तु किसी भी परिस्थिति में राज्य में राष्ट्रपति-शासन तीन वर्ष से अधिक अवधि के लिए लागू नहीं किया जा सकेगा।

राज्य में संवैधानिक शासन की विफलता पर आधारित संकटकालीन घोषणा के प्रभाव और परिणाम—संवैधानिक शासन की विफलता पर आधारित संकटकालीन घोषणा के मुख्यतया निम्नांलिखित प्रभाव और परिणाम होंगे—

1. इस घोषणा द्वारा राष्ट्रपति राज्य के राज्यपाल या अन्य किसी प्राधिकारी के सभी या कोई अधिकार स्वयं ग्रहण कर सकता है।

2. राष्ट्रपति राज्य के मंत्रिमण्डल को भंग कर सकता है।
3. राष्ट्रपति राज्य की विधान सभा को भंग कर सकता है या थोड़े समय के लिए निलम्बित कर सकता है।
4. उच्च न्यायालय की शक्तियों के अपहरण को छोड़कर राष्ट्रपति कोई भी ऐसी कार्यवाही कर सकता है जो उक्त घोषणा लागू करने की दृष्टि से आवश्यक और वांछनीय हो।
5. संकटकालीन की अवधि में राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर कानून बनाने का अधिकार संसद के हाथों में आ जाता है। संसद यह कार्य स्वयं कर सकती है या उसे किसी अन्य निकाय को सौंप सकती है।
6. राज्य-शासन की आर्थिक शक्तियाँ केन्द्रीय शासन के हाथों में आ जाती हैं।
7. यदि लोक सभा का सत्र नहीं चल रहा है तो राष्ट्रपति राज्य की संचित निधि में से आवश्यक व्यय की स्वीकृति दे सकता है।

संवैधानिक तंत्र की विफलता-विषयक संकट-काल की घोषणा का व्यवहार में प्रयोग—संवैधानिक तंत्र की विफलता-विषयक संकटकालीन प्रावधानों का सर्वप्रथम प्रयोग सन् 1951 ई० में पंजाब के राज्य-शासन के विषय में किया गया था। तब से लेकर आज तक अनेक बार अनेक राज्यों में इस संकटकाल की घोषणा की जा चुकी है। एक सर्वेक्षण के अनुसार मई, 1990 ई० तक कुल मिलाकर लगभग 85 बार इस प्रकार की संकटकालीन घोषणा की जा चुकी है।

59वाँ संशोधन अधिनियम, पंजाब के लिए संकटकालीन प्रावधानों में संशोधन—मार्च, 1988 में संविधान का 59वाँ संशोधन अधिनियम पास हुआ। इस संशोधन नियम द्वारा पंजाब की समस्या को ध्यान में रखते हुए संविधान के अनुच्छेद 352 तथा 359 (अ) में संशोधन किया गया है। इसके अनुसार संकटकालीन प्रावधानों में 'आन्तरिक उपद्रव' शब्दों को जोड़ा गया है। किन्तु ये प्रावधान केवल पंजाब राज्य में ही लागू होंगे। इस आधार पर पंजाब में संकट-काल को लम्बे समय तक बढ़ाया जा सकता है। इस संशोधन अधिनियम का उद्देश्य पंजाब में आतंकवाद या उग्रवादियों की समस्या से निबटने के लिए आवश्यक शक्ति और समय प्राप्त करना है। प्रतिपक्ष के अनेक नेताओं ने इस संशोधन अधिनियम को लोकतंत्र की हत्या का एक साधन बताया है। पर सत्तारूढ़ दल (कांग्रेस आई) के सदस्यों का कहना था कि पंजाब में शान्ति स्थापित करने तथा राष्ट्रीय एकता को बनाए रखने के लिए संविधान में इस प्रकार का संशोधन आवश्यक था।

3. आर्थिक या वित्तीय संकट-सम्बन्धी घोषणा

तीसरे प्रकार का संकट आर्थिक संकट है। इस संकट का उल्लेख संविधान के 360वें अनुच्छेद में किया गया है। उसके अनुसार जब राष्ट्रपति को यह विश्वास हो जाय कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई है जिससे कि भारत की आर्थिक स्थिति या वित्तीय व्यवस्था को खतरा है तो वह आर्थिक संकट की घोषणा कर सकता है। इस प्रकार की घोषणा सारे देश अथवा संकटग्रस्त क्षेत्र में लागू हो सकती है। ऐसी घोषणा प्रारम्भ में दो महीने की अवधि तक लागू रहेगी। इस बीच यदि उसे संसद की स्वीकृति मिल जाती है तो वह आगे भी लागू रह सकती है।

तीसरे संकटकाल की घोषणा के प्रभाव और परिणाम—आर्थिक या वित्तीय संकटकाल में राष्ट्रपति के मुख्य अधिकार निम्नलिखित होंगे—

1. राष्ट्रपति संकटकाल में राज्य-सरकारों को आवश्यक निर्देश दे सकता है।

2. राज्यों के अधिकारियों के वेतन में कमी का आदेश दे सकता है।
3. राज्य के विधान-मण्डल द्वारा स्वीकृत विधेयकों के लिए उसकी स्वीकृति आवश्यक है।
4. वह उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों और केन्द्रीय सरकार के अधिकारियों के वेतन में कटौती कर सकता है।
5. राज्य विधान-मण्डल द्वारा पारित सभी धन-विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए रक्षित किया जा सकता है।

सौभाग्य से अभी देश में इस प्रकार के संकट की घोषणा करने की स्थिति नहीं आई है।

राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकारों की आलोचना

राष्ट्रपति की संकटकालीन या आपातकालीन शक्तियों की कटु आलोचना हुई है। संविधान सभा में जब संकटकालीन प्रावधानों पर विचार हो रहा था, तब अनेक सदस्यों में उसकी तीखी प्रतिक्रिया हुई थी। श्री एच० वी० कामथ ने इस प्रसंग में कहा था कि "इस अध्याय द्वारा हम एक निरंकुश तथा पुलिस राज्य की आधारशिला रख रहे हैं। यह राज्य उन आदर्शों एवं सिद्धान्तों का हनन करेगा जिन्हें पिछली शताब्दियों में हम लोगों ने मान्यता प्रदान की है। वह एक ऐसा राज्य होगा जिसमें कोटि-कोटि स्त्री-पुरुषों के अधिकार हर समय खतरे में रहेंगे। यदि वहाँ शान्ति होगी तो वह श्मशान-घाट की शान्ति होगी जिसमें मरुस्थल की-सी शून्यता होगी।" इसी प्रकार एक अन्य सदस्य श्री के० टी० शाह ने आपातकालीन उपबन्धों को 'प्रतिक्रियात्मक एवं पश्चाद्गामी अध्याय का शानदार उपसंहार तथा सर्वोच्च गौरव' कहा था।[1]

एक अन्य सदस्य ने आपातकालीन प्रावधानों को 'संविधान के मस्तक पर एक कलंक' कहा था। इस प्रकार संकटकालीन प्रावधानों की संविधान-निर्माण के समय और उसके बाद में भी समय-समय पर कटु आलोचना की गई है। आलोचना के मुख्य तर्क अग्रलिखित हैं—

1. राष्ट्रपति संकटकालीन शक्तियों का दुरुपयोग कर तानाशाह बन सकता है।

2. भारत का संघात्मक स्वरूप नष्ट हो सकता है और उसके स्थान पर एकात्मक शासन स्थापित हो सकता है।

3. नागरिक मौलिक अधिकारों से वंचित किए जा सकते हैं, फलतः आपातकाल में वे शासकीय अत्याचार के शिकार हो सकते हैं।

4. राज्यों की वित्तीय स्वायत्तता नष्ट की जा सकती है।

3. आपातकालीन शक्तियों का राजनैतिक अस्त्र के रूप में प्रयोग किया जा सकता है जिसके परिणामस्वरूप राज्यों में विरोधी दलों की सरकारों का दमन किया जा सकता है।

उपर्युक्त तर्क निराधार नहीं है। उनमें सत्य का अंश है। इन तर्कों की सार्थकता उस समय और उचित प्रतीत होती है जब कि हम आपातकालीन शक्तियों के व्यावहारिक प्रयोग के प्रकरण पर दृष्टिपात करते हैं। उदाहरण के लिए, हम राष्ट्रीय संकटकालीन व्यवस्था को ले सकते हैं। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि अब तक तीन बार (अक्टूबर 1962, दिसम्बर 1971 तथा जून, 1975) में प्रथम प्रकार की संकटकालीन घोषणाएँ की जा चुकी हैं। इनमें से तीसरे संकटकालीन घोषणा-काल में सत्ता का किस प्रकार दुरुपयोग किया गया, यह किसी से छिपा नहीं है। जनता पार्टी का उदय सत्ता के इसी दुरुपयोग का एक प्रतिफल था। इसी प्रकार

1. 'Grand final and crowning glory of the chapter of reaction and retrogression.' —K. T. Shah

के संकटकालीन प्रावधानों, यथा राज्य में संवैधानिकतंत्र की विफलता-विषयक प्रावधानों का भी समय-समय पर प्रयोग किया गया है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि सन् 1951 ई० से लेकर 1988 ई० तक लगभग 70 बार दूसरे प्रकार के संकटकालीन प्रावधानों का प्रयोग किया गया है। इस तथ्य को भी स्वीकार करने में हमें संकोच नहीं करना चाहिए कि इन प्रावधानों का अनेक बार प्रयोग राजनैतिक प्रयोजन की दृष्टि से किया गया है। इसका एक ताजा उदाहरण 1977 ई० में लोकसभा के निर्वाचन के उपरान्त जनता पार्टी की सरकार द्वारा हरियाणा, पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, पंजाब, विहार, उड़ीसा, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान तथा मध्य प्रदेश में विरोधी दलों की सरकार का भंग करना था। ये सरकारें दूसरे प्रकार के संकटकालीन प्रावधानों के आधार पर भंग की गई थीं। इसी प्रकार जब केन्द्र में 1980 ई० के लोकसभा के निर्वाचन के उपरान्त इन्दिरा कांग्रेस की सरकार सत्ता में आ गई तो उसने भी नौ राज्यों की सरकारों को भंग कर दिया। ये तथ्य इस बात के सूचक हैं कि राजनैतिक प्रयोजन की दृष्टि से इन अधिकारों का प्रयोग किया जा सकता है। किन्तु, उसका अर्थ यह नहीं कि राष्ट्रपति के संकटकालीन प्रावधान निरर्थक हैं। वस्तुतः संकटकालीन प्रावधान जैसा कि एक विद्वान् ने कहा है, "एक भरी हुई बन्दूक की भाँति हैं जिससे नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा भी हो सकती है और स्वतंत्रताओं का नाश भी हो सकता है।" अतएव इन प्रावधानों का सावधानी से प्रयोग ही हमें उनकी विकृतियों से मुक्त रख सकता है। प्रत्येक राष्ट्र को समय-समय पर अनेक खतरों का सामना करना पड़ता है। इन खतरों का सामना करने के लिए संविधान में संकटकालीन प्रावधानों का होना अनिवार्य है। फिर अनेक प्रश्न-चिह्नों से घिरे भारतीय गणतंत्र के लिए इस प्रकार के प्रावधान अपना विशेष महत्व रखते हैं। कहना न होगा कि इन्हीं प्रावधानों के आधार पर हमने पिछले चालीस वर्षों में बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा की है, अनेक राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान किया है, अपने राष्ट्र की एकता और संवैधानिक व्यवस्था की रक्षा की है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संकटकालीन प्रावधान हमारी संवैधानिक व्यवस्था के प्रहरी हैं, राष्ट्रीय सुरक्षा के रक्षा-कवच हैं तथा राष्ट्रीय एकता के आधार-स्तम्भ हैं। इसीलिए इस संकटकालीन प्रावधानों को संविधान का 'सेफ्टी वाल्व' (सुरक्षा-वल्व), संविधान का जीवन-स्रोत या उसका हृद्-स्थल कहा गया है। अन्त में हम टी० टी० कृष्णमाचारी के शब्दों में कह सकते हैं कि "संविधान के अन्तर्गत की गई संकटकालीन व्यवस्था को एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार करना होगा, क्योंकि इन उपबन्धों के बिना संविधान-निर्माण के हमारे सभी प्रयत्न अन्ततः निष्फल हो जायेंगे।"

4

राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति : उसके अधिकारों और शक्तियों का मूल्यांकन

राष्ट्रपति की सामान्य या शान्तिकालीन तथा संकटकालीन शक्तियों के उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय संघ का राष्ट्रपति एक अनन्त शक्तिसम्पन्न पदाधिकारी है। वह राष्ट्र की कार्यपालिका का प्रधान है। सारे देश का शासन उसी के नाम से संचालित होता है। वही प्रधानमंत्री तथा मंत्रि-परिषद के अन्य सदस्यों की नियुक्ति करता है। राष्ट्र के अन्य उच्च पदों की नियुक्तियाँ भी उसी के हाथों में निहित हैं।

व्यवस्थापन या विधायन के क्षेत्र भी उसकी शक्तियाँ नगण्य नहीं हैं। वह संसद का अभिन्न अंग है। इस नाते वह संसद के अधिवेशनों को आमंत्रित करता है; स्थगित करता है या भंग करता है। संसद द्वारा पास विधेयक उसके हस्ताक्षर के बाद ही अधिनियम का रूप धारण करते हैं। उसे अध्यादेश जारी करने की शक्ति प्राप्त है। यह एक ऐसी शक्ति है जो सामान्यतया किसी जनतांत्रिक व्यवस्था के प्रधान को प्राप्त नहीं होती। उसकी वित्तीय शक्तियाँ भी महत्व-

पूर्ण हैं। वही राष्ट्र के आय-व्यय का वार्षिक लेखा प्रस्तुत करता है, उसकी अनुमति के बिना कोई वित्तीय विधेयक संसद में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। जहाँ तक न्यायिक शक्तियों का प्रश्न है, राष्ट्रपति सर्वोच्च और उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। उसे विशिष्ट स्थितियों में अपराधियों को न्यायालयों द्वारा दिए गए दण्ड को कम करने, दण्ड का स्थगन करने तथा क्षमादान का अधिकार प्राप्त है।

इस प्रकार राष्ट्रपति की शक्तियों के सामान्य सर्वेक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय संघ का राष्ट्रपति भारतीय शासन का सर्वेसर्वा है, वही शासन का सर्वोच्च सूत्रधार है, वही समस्त कार्यपालिकीय, व्यवस्थापिकीय और न्यायपालिकीय शक्तियों का प्रमुख आगार है। पर जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, संसदात्मक व्यवस्था में सिद्धान्त और व्यवहार में पर्याप्त अन्तराल होता है। जो सिद्धान्त में सत्य प्रतीत होता है, व्यवहार में वह मिथ्या होता है। अतएव भारतीय राष्ट्रपति जिन शक्तियों से समलंकृत प्रतीत होता है, वे शक्तियाँ वस्तुतः भारतीय राष्ट्रपति की न होकर भारतीय संघ के मंत्रिमण्डल की हैं।

इस प्रसंग में हमें भारतीय संविधान के अनुच्छेद 53 (i) तथा अनुच्छेद 74 (i) का उल्लेख करना आवश्यक है। अनुच्छेद 53 (i) में कहा गया है कि 'संघ की कार्यपालिकीय शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी तथा वह उसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार या तो स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा करेगा।' इस अनुच्छेद में 'संविधान के अनुसार' तथा 'अधीनस्थ पदाधिकारियों' जैसे शब्द-पदों का उल्लेख यह स्पष्ट कर देता है कि राष्ट्रपति की शक्ति मर्यादित है। संविधान का 74 (i) अनुच्छेद उसकी इस स्थिति की ओर भी पुष्टि कर देता है। इस अनुच्छेद में कहा गया है कि 'राष्ट्रपति को अपने कार्यों में सहयोग तथा परामर्श देने के लिए एक मंत्रि-परिषद होगी जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होगा तथा वह (राष्ट्रपति) उसके परामर्श के अनुसार कार्य करेगा।'

संविधान के 74वें अनुच्छेद में इस आशय का भी उल्लेख है कि राष्ट्रपति मंत्रि-परिषद द्वारा दी गई मंत्रणा या परामर्श को मानने के लिए बाध्य है। फलतः राष्ट्रपति जो भी कार्य करता है, वह संविधान के अनुसार तथा मंत्रि-परिषद की मंत्रणा के अनुसार करता है। उदाहरण के लिए, हम राष्ट्रपति की नियुक्ति-सम्बन्धी शक्ति को ले सकते हैं। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति प्रधानमंत्री तथा प्रधानमंत्री की सलाह से मंत्रि-परिषद के अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। पर ये नियुक्तियाँ राष्ट्रपति संवैधानिक व्यवस्था और संसदीय परम्पराओं के अनुसार करता है, उसमें वह मनमानी नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में वह उसी व्यक्ति को प्रधानमंत्री नियुक्त करेगा जिसे कि लोकसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है।

इसी प्रकार राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सलाह पर ही अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करेगा। प्रधानमंत्री अपने पद पर तब तक बना रहेगा जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास या समर्थन प्राप्त रहेगा। संघीय शासन के अन्य उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति भी राष्ट्रपति मंत्रि-परिषद की सलाह पर ही करता है। संघीय शासन की समस्त कार्यपालिकीय शक्तियों का प्रयोग वस्तुतः मंत्रि-परिषद ही करती है। मंत्रि-परिषद ही शासन-सम्बन्धी नीति निर्धारित करती है, शासन-संबंधी महत्वपूर्ण निर्णय लेती तथा उन निर्णयों और नीति के अनुसार शासन का संचालन करती है। इस प्रकार वास्तविक कार्यपालिकीय शक्तियाँ मंत्रि-परिषद के हाथों में निहित हैं, राष्ट्रपति तो नाममात्र का प्रधान है। यही बात राष्ट्रपति की व्यवस्थापिकीय शक्तियों के विषय में भी कही जा सकती है। उदाहरण के लिए, हम राष्ट्रपति की विधेयकों पर हस्ताक्षर करने की शक्ति को ले सकते हैं। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बिना कोई विधेयक प्रभावी या स्वीकृत नहीं माना जायगा, पर राष्ट्रपति को किसी विधेयक को अस्वीकृतकरने का अधिकार प्राप्त नहीं है। राष्ट्रपति किसी विधेयक को पुनर्विचार के लिए वापस कर सकता है, किन्तु संसद द्वारा पुनः विचार होने पर दुबारा जब वह विधेयक राष्ट्रपति को भेजा जायगा, तब राष्ट्रपति उस विधेयक पर हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य होगा।

जहाँ तक वित्तीय शक्तियों का प्रश्न है, संविधान के अनुसार राष्ट्रपति संसद के समक्ष राष्ट्र के आय-व्यय का वार्षिक लेखा-जोखा (वजट) प्रस्तुत करता है। पर बजट मंत्रिमण्डल के वित्तीय मंत्रालय द्वारा तैयार किया जाता है। अन्य वित्तीय शक्तियों का भी प्रयोग वह मंत्रि-मण्डल के परामर्श से करता है। न्यायिक शक्तियाँ भी अपवाद नहीं हैं। इन शक्तियों का प्रयोग भी वह मंत्रिमण्डल के सहयोग और परामर्श से करता है।

इस प्रकार राष्ट्रपति अपनी समस्त कार्यपालिकीय शक्तियों का प्रयोग मंत्रिमण्डल की सलाह से करेगा, वह चाहे उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति की बात हो, चाहे संसद के अधि-वेशनों के स्थगन या भंग करने की बात हो और चाहे संकटकालीन प्रावधानों के प्रयोग की बात हो। मंत्रिमण्डल, जैसा कि संसदात्मक व्यवस्था में होता है, अपनी नीति और कार्यों के लिए लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी है। उत्तरदायित्व और अधिकार साथ-साथ चलते हैं। राष्ट्रपति न इस प्रकार के उत्तरदायित्व से बँधा है और न ही उसके पास मंत्रिमण्डल के समान अधिकार ही हैं। इस भाँति संविधान के प्रावधान, देश की संवैधानिक व्यवस्था और उस व्यवस्था की छाँह में विकसित परम्पराएँ भारतीय राष्ट्रपति को देश की संसदात्मक व्यवस्था के संवैधानिक प्रधान के रूप में प्रतिष्ठापित करती हैं। जैसा कि डॉ० अम्बेदकर ने कहा था कि "राष्ट्रपति राज्य का प्रधान है, कार्यपालिका का नहीं; वह राज्य का प्रतिनिधित्व करता है, शासन का नहीं।" इसी प्रकार पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि "हमने अपने राष्ट्रपति को वास्तविक शक्तियाँ प्रदान नहीं की हैं, प्रत्युत हमने उसके पद को गरिमा और शोभा का पद बनाया है।"

क्या राष्ट्रपति मात्र अलंकार या शोभा का एक उपकरण है ?

भारतीय राष्ट्रपति भारत की संवैधानिक व्यवस्था का वैधानिक प्रधान है। पर इस प्रसंग में एक प्रश्न सामने आता है, वह यह कि क्या राष्ट्रपति की स्थिति केवल एक 'भव्य प्रभा', 'स्वर्णिम शून्य' (Golden Zero) 'अलंकार-उपकरण' या 'रबर की मुद्रा' (Rubber Stamp) की है ? क्या भारतीय राष्ट्रपति शासन की वास्तविक शक्तियों से वंचित एक नितान्त अशक्त पदाधिकारी है ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत का राष्ट्रपति कार्यपालिका-शक्तियों से वंचित है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय राष्ट्रपति की देश की संवैधानिक व्यवस्था में कोई अपनी भूमिका नहीं है, कोई स्वर नहीं है, कोई वर्चस्व नहीं है।

अपने देश के संविधान और संवैधानिक व्यवस्था में कतिपय ऐसे स्थल हैं, कतिपय ऐसी स्थितियाँ हैं जो राष्ट्रपति को अपनी प्रभावी भूमिका निभाने का अवसर प्रदान करती हैं।

सर्वप्रथम हम राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमन्त्री की नियुक्ति को ले सकते हैं। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति को प्रधानमन्त्री की नियुक्ति का अधिकार है। राष्ट्रपति लोकसभा में बहुमत दल के नेता को ही प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त करता है। जब तक लोकसभा में किसी दल का स्पष्ट बहुमत होगा तथा दल के नेतृत्व के विषय में कोई विवाद नहीं होगा, तब तक राष्ट्रपति को इस विषय में अपनी स्वेच्छा के प्रयोग का अवसर नहीं मिलेगा। किन्तु कभी ऐसी स्थिति आ सकती है जबकि लोकसभा में किसी राजनैतिक दल का स्पष्ट बहुमत न हो या बहुमत अथवा दल के नेतृत्व का प्रश्न विवादास्पद हो। सन् 1979 ई० की संवैधानिक समस्या इसका एक दृष्टान्त है।

1979 की संवैधानिक समस्या और राष्ट्रपति का निर्णय—सन् 1979 ई० की जुलाई में मोरारजी के नेतृत्व के मन्त्रिमडल ने त्यागपत्र दे दिया। मोरारजी के त्यागपत्र से जनता पार्टी में इस प्रश्न पर विवाद छिड़ गया कि मोरारजी का उत्तराधिकारी कौन हो ? जनता पार्टी के एक गुट ने पार्टी से अलग होकर जनता (सेक्युलर) के नाम से अपना अलग दल बना लिया। इस दल के नेता चरणसिंह ने स्वयं को प्रधानमंत्री बनाने का दावा किया। उधर जनता पार्टी के शेप वर्ग ने मोरारजी देसाई को प्रधानमंत्री बनाने का आग्रह किया। राष्ट्रपति नीलम

संजीव रेड्डी ने पहले विपक्ष के नेता श्री यशवंतराव चौह्वान को मंत्रिमंडल के गठन के लिए आमंत्रित किया। चौह्वान ने मंत्रिमंडल के गठन में अपनी असमर्थता व्यक्त की। इसके उपरान्त राष्ट्रपति ने जनता पार्टी तथा जनता सेक्युलर दोनों की लोकसभा में स्थिति का मूल्यांकन किया। इस मूल्यांकन में उन्हें चरणसिंह की स्थिति अधिक उपयुक्त लगी। फलतः उन्होंने चरणसिंह को मंत्रिमंडल बनाने के लिए आमंत्रित किया। परन्तु साथ में यह शर्त लगा दी कि वे यथाशीघ्र लोकसभा में अपने पक्ष में विश्वास प्राप्त कर अपने बहुमत की पुष्टि करें। किन्तु चरणसिंह लोकसभा में अपना समर्थन सिद्ध करने में असमर्थ रहे, फलतः 20 अगस्त, 1979 ई० को चरणसिंह की सरकार पराजित हो गई। इस बार जनता पार्टी के जगजीवनराम ने अपनी सरकार बनाने का दावा किया। किन्तु राष्ट्रपति ने उसे अस्वीकृत कर दिया और लोकसभा को भंग कर पुनः निर्वाचन कराने की घोषणा की। इस अवधि में चरणसिंह को अपने पद पर बने रहने की अनुमति दे दी। सन् 1979 ई० की घटनाएँ इस तथ्य की साक्षी हैं कि विशिष्ट परिस्थितियों में राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की नियुक्ति में अपने स्वर को प्रभावी बना सकता है। उसके अतिरिक्त कुछ अन्य संवैधानिक प्रावधान हैं जो राष्ट्रपति के पद को विशेष प्रभावी बनाते हैं। वे प्रावधान मुख्यतया निम्नलिखित हैं—

राष्ट्रपति की प्रभावी भूमिका के कुछ अन्य आधार

1. राष्ट्रपति संसद को सन्देश भेजकर किसी विषय में विधि-निर्माण का परामर्श दे सकता है।
2. राष्ट्रपति संसद द्वारा पास किए गए किसी विधेयक को पुनः विचार के लिए भेज सकता है; किन्तु दुबारा विचार करने के उपरान्त भेजे गए विधेयक पर हस्ताक्षर करना उसके लिए अनिवार्य होगा।
3. राष्ट्रपति मंत्रिमंडल द्वारा लिए गये किसी निर्णय को पुनः विचार के लिए मंत्रिमण्डल के पास वापस भेज सकता है।
4. ऐसे विषय पर जिस पर किसी एक मंत्रालय ने निर्णय किया है, किन्तु सारे मंत्रिमंडल ने विचार नहीं किया, राष्ट्रपति सारे मंत्रिमंडल द्वारा विचार किए जाने का आदेश दे सकता है।
5. संघीय शासन के विषय में उसे मंत्रिमंडल से सूचना प्राप्त करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश सम्राट् की भाँति उसे भी मंत्रिमंडल को परामर्श देने, प्रोत्साहन देने तथा चेतावनी देने का अधिकार है।

उपर्युक्त प्रावधानों के प्रकाश में हम कह सकते हैं कि भारतीय संघ का राष्ट्रपति मात्र 'रबर की मुद्रा' या 'स्वर्णिम शून्य' नहीं है, प्रत्युत वह सशक्त और प्रभावशाली वैधानिक प्रधान है।

क्या राष्ट्रपति तानाशाह या अधिनायक बन सकता है ?

राष्ट्रपति की विशिष्ट स्थिति उसके संकटकालीन अधिकार तथा भारतीय संविधान के कतिपय प्रावधानों के प्रकाश में कुछ विद्वानों, राजनीतियों तथा विधि-विशारदों ने यह स्थापित करने का प्रयास किया था कि भारतीय राष्ट्रपति अनुकूल परिस्थितियों का लाभ उठाकर अधिनायक या तानाशाह बन सकता है।

उदाहरण के लिए, डॉ० बी० एम० शर्मा ने अपने एक निबंध में लिखा था कि "भारतीय संविधान ने राष्ट्रपति को अत्यन्त व्यापक शक्तियाँ प्रदान की हैं। इस सम्बन्ध में कोई प्रावधान नहीं किया गया है कि राष्ट्रपति उक्त शक्तियों का प्रयोग किस प्रकार करेगा। संविधान ने यह अभिसमयों पर छोड़ दिया है कि राष्ट्रपति अपने कर्तव्यों का पालन किस प्रकार

करेगा, अर्थात् क्या वह संवैधानिक प्रधान बना रहेगा या वह राज्य की कार्यपालिका का भी प्रधान बनना चाहेगा।" प्रो० मृत्युञ्जय बनर्जी ने इस प्रसंग में लिखा है कि "राष्ट्रपति की स्थिति क्या होगी, यह तो भविष्य ही बतायेगा। फिर भी भारतीय संविधान-निर्माताओं ने भारी गलती की है और संदिग्ध तथा अस्पष्ट संविधान तैयार किया है जिसमें उपबन्धित कुछ किया गया है, परन्तु अर्थ कुछ निकलते हैं।" इसी प्रकार एलेन ग्लेडहिल ने कहा है कि "समय ही बतायेगा कि अपने कर्तव्यों के पालन में राष्ट्रपति अपने व्यक्तिगत विचारों के अनुसार कहाँ तक कार्य करेगा।............राष्ट्रपति को तानाशाह बनने से रोकने के लिए संविधान में कोई व्यवस्था नहीं की गई है।"

कतिपय अन्य विद्वानों ने भी इसी प्रकार शंकाएँ व्यक्त करते हुए सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भारतीय राष्ट्रपति विशिष्ट परिस्थितियों में अपनी शक्तियों का दुरुपयोग कर देश का तानाशाह बन सकता है।

इन शंकाओं का मुख्य आधार मूल संविधान का 74 (1) अनुच्छेद था जिसमें यह कहा गया था कि राष्ट्रपति को उसके कार्यों में सहयोग और परामर्श देने के लिए एक मंत्रिमंडल होगा। इस अनुच्छेद में उस समय यह प्रावधान नहीं था कि राष्ट्रपति मंत्रिमंडल के परामर्श को मानने के लिए बाध्य होगा। परन्तु संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा इस अनुच्छेद में जो संशोधन किया गया है, उसके अनुसार राष्ट्रपति मंत्रिमंडल के परामर्श की उपेक्षा नहीं कर सकता; वह उसके परामर्श को मानने के लिए बाध्य होगा। अतएव वर्तमान समय में इस अनुच्छेद के आधार पर यह शंका नहीं की जा सकती कि राष्ट्रपति मंत्रिमंडल के परामर्श की उपेक्षा कर तामाशाह बन बैठेगा।

भारतीय संविधान को प्रवर्तित हुए लगभग चार दशक हो रहे हैं। इन वर्षों में भारत के राष्ट्रपति-पद को अनेक महत्वपूर्ण व्यक्ति सुशोभित कर चुके हैं। इन वर्षों में राष्ट्रपति-पद पर आसीन व्यक्तियों ने अपने दायित्व का, अपने कर्तव्यों का जिस प्रकार पालन किया है, उसको देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि भारतीय राष्ट्रपति ने भारत की संसदात्मक व्यवस्था में एक संवैधानिक प्रधान की सफल भूमिका निभाई है। उसमें संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण कर कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान बनने का प्रयास नहीं किया। भविष्य में देश की राजनैतिक व्यवस्था में भी राष्ट्रपति की ऐसी ही भूमिका बनी रहेगी, इसमें सन्देह करने के कोई विशेष आधार प्रतीत नहीं होते। पर इतना निश्चित है कि यदि देश की राजनैतिक प्रक्रिया पतन की ओर उन्मुख होती है, यदि राष्ट्रीय जीवन में व्यापक आधार वाले प्रभावशाली राजनैतिक दलों के स्थान पर छोटे-छोटे क्षेत्रीय दलों का प्रभाव बढ़ जाता है, यदि प्रधानमंत्री के पद पर शिथिल व्यक्तित्व और सीमित प्रभाव के विवादास्पद व्यक्ति आ जाते हैं तो स्थिति बदल सकती है। दूसरे शब्दों में जब तक देश में जनमत जनतंत्र के प्रति जागरूक और तत्पर रहेगा, तब तक राष्ट्रपति के संवैधानिक सीमाओं के अतिक्रमण का कोई प्रश्न नहीं उठता। किन्तु जब स्वस्थ राजनैतिक परम्पराओं का लोप हो जायेगा, जब जनमत निष्क्रिय और उदासीन हो जायगा, जब नागरिकों में राष्ट्र के प्रति दायित्व-निर्वहन के अंकुर लुप्त हो जायेंगे, जब केन्द्र में किसी दल का स्पष्ट .हुमत बनना कठिन हो जायगा तथा प्रधानमंत्री पद के लिए प्रतिभा और प्रभाव के नेतृत्व को प्राप्त करना असम्भव हो जायगा, तब स्थिति अवश्य बदल सकती है।

5

राष्ट्रपति पद का महत्व, औचित्य और उपयोगिता

भारतीय संघ का राष्ट्रपति भारत की राजनैतिक व्यवस्था का अनुपयोगी, अनावश्यक या अकिंचन अंग हो, ऐसी बात नहीं। वस्तुतः वह भारत की संवैधानिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण,

उपयोगी और अपरिहार्य अंग हैं। वह देश की संवैधानिक व्यवस्था का प्रधान प्रतीक और प्रहरी है। उसके पद का अपना महत्व है। इस महत्ता का अवलोकन हम निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं –

1. राष्ट्र का प्रतीक—जन-साधारण अमूर्त प्रतीकों की अपेक्षा राष्ट्र के मूर्त प्रतीकों में अधिक आस्था और विश्वास रखने का अभ्यस्त होता है। इस मूर्त प्रतीक की आवश्यकता की पूर्ति जितनी राष्ट्रपति के माध्यम से हो सकती है, उतनी किसी अन्य पद या पदाधिकारी से नहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन यद्यपि परोक्ष रूप से होता है, किन्तु उसके निर्वाचन का आधार व्यापक होता है। उसके इस निर्वाचन में सारे देश के जन-प्रतिनिधियों का हाथ होता है। निर्वाचित होने के बाद उसका किसी दल से सम्बन्ध नहीं रहता। अतएव राष्ट्रपति किसी एक दल का या एक प्रदेश का प्रतिनिधित्व नहीं करता; वह समस्त देश का, राष्ट्र का प्रतिनिधि और प्रतीक होता है। उसके विचार राष्ट्र के विचार माने जाते हैं, उसकी वाणी राष्ट्र की वाणी मानी जाती है।

2. शासन में स्थायित्व का माध्यम—संसदात्मक व्यवस्था में परिषदों का कार्यकाल निश्चित नहीं कहा जा सकता। मंत्रि-परिषद बनती-बिगड़ती रहती हैं। अतएव ऐसी स्थिति में शासन में स्थायित्व बनाये रखने के लिए किसी माध्यम का होना आवश्यक होता है। राष्ट्रपति इस माध्यम की महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस माध्यम के रूप में वह संसदीय व्यवस्था में स्थायित्व बनाए रहता है। लोकसभा में विश्वास से वंचित प्रधानमंत्री या उसके मंत्रिमंडल को अपदस्थ कर और नए प्रधानमंत्री की नियुक्ति कर या नए निर्वाचन में विजयी दल के नेता को प्रधानमंत्री बनाकर वह अपने इस दायित्व का निर्वहन करता है।[1]

3. संवैधानिक व्यवस्था का प्रहरी—राष्ट्रपति को देश की संवैधानिक व्यवस्था का यदि प्रहरी कहा जाय तो असंगत न होगा। राष्ट्रपति देश के संविधान के प्रति शपथ लेता है। यह शपथ उस पर देश की संवैधानिक व्यवस्था की रक्षा का विशेष दायित्व डालती है। एक निष्पक्ष, निर्दलीय तथा देश की संवैधानिक व्यवस्था के सर्वाधिक गरिमामय पद के अधिकारी होने के नाते राष्ट्रपति अपने इस दायित्व का सफलतापूर्वक निर्वहन कर सकता है।

4. एक प्रभावशाली मध्यस्थ—किसी भी राष्ट्र में समय-समय पर विभिन्न राजनैतिक घटकों, वर्गों या व्यक्तियों में ऐसे विवाद या संघर्ष खड़े हो सकते हैं जिनसे राष्ट्र की एकता या संवैधानिक व्यवस्था के लिए संकट या समस्या खड़ी हो सकती है। ऐसे समय में अपनी विशिष्ट स्थिति और पद के कारण भारतीय संघ का राष्ट्रपति एक प्रभावशाली मध्यस्थ की भूमिका अदा कर सकता है। इस प्रकार एक प्रभावशाली मध्यस्थ के रूप में राष्ट्रपति-पद की अपनी उपयोगिता है।

5. सम्मान का स्रोत—आदर और सम्मान मानव की स्वाभाविक आकांक्षाएँ होती हैं। किसी व्यक्ति की उपलब्धियों की राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृति और उस स्वीकृति के प्रतीक के रूप में पुरस्कार या सम्मान की प्राप्ति न केवल उस व्यक्ति को प्रोत्साहित करती है, प्रत्युत उससे अन्य लोगों को प्रेरणा मिलती है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए प्रायः राष्ट्र अपने नागरिकों को सम्मानित और पुरस्कृत करने के लिए सम्मानसूचक उपकरणों का प्रावधान करते हैं। भारत में इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कतिपय सम्मानसूचक पुरस्कारों का सृजन किया गया

---

1. 1979 ई० में मोरारजी मंत्रि-परिषद का त्यागपत्र और श्री चरणसिंह के प्रधानमंत्री बनाये जाने से सम्बन्धित घटनाएँ इस तथ्य का संकेत देती हैं।

है। भारत-रत्न, पद्म-विभूषण, पद्मभूषण तथा पद्मश्री[1] जैसे पुरस्कार ऐसे ही हैं। ये पुरस्कार राष्ट्रपति द्वारा दिए जाते हैं। राष्ट्रपति द्वारा दिये जाने से पुरस्कारों की गरिमा अधिक बढ़ जाती है। इन पुरस्कारों के अतिरिक्त अनेक सैनिक और पोलिस पुरस्कार आदि भी हैं जो सम्बन्धित क्षेत्र के योग्य व्यक्तियों को दिये जाते हैं। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रपति को सम्मान का स्रोत (Fountain of Honour) कहा जा सकता है।

6. अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्र का प्रतिनिधि—राष्ट्रपति राष्ट्रीय क्षेत्र में ही नहीं, प्रत्युत अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उपयोगी भूमिका अदा करता है। राज्य के प्रधान होने के नाते राष्ट्रपति अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भारत का प्रधान प्रतिनिधि माना जाता है। इस नाते वह युद्ध और शान्ति सम्बन्धी घोषणाएँ करता तथा विदेशों से भारत आने वाले राजदूतों के प्रमाण-पत्र स्वीकार करता तथा इसी प्रकार के अन्य औपचारिक कार्य करता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत का राष्ट्रपति भारत की संवैधानिक व्यवस्था का पाँचवाँ पहिया (Fifth wheel of the coach) या अनुपयोगी अंग नहीं, प्रत्युत एक उपयोगी और अपरिहार्य अंग है। देश की संसदात्मक पद्धति का गौरव-मुकुट है, देश की राजनैतिक व्यवस्था का प्रबुद्ध प्रहरी हैं, राष्ट्र का प्रतीक है और है राष्ट्रीय जीवन एवं संगठन का एक सशक्त स्रोत।

राष्ट्रपति की स्थिति तथा संविधान के 42 वें और 44 वें संशोधन अधिनियम

संविधान के 42वें तथा 44वें संशोधन अधिनियमों ने राष्ट्रपति की स्थिति पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है। अतएव इन दोनों संशोधन अधिनियमों से सम्बन्धित प्रावधानों को दृष्टि-पथ में रखना आवश्यक है।

जहाँ तक 42वें संशोधन अधिनियम और राष्ट्रपति की स्थिति का सम्बन्ध है, इस संशोधन अधिनियम द्वारा राष्ट्रपति और मंत्रिमण्डल के सम्बन्धों को स्पष्ट किया गया है। संविधान के मूल अनुच्छेद 74 (1) में कहा गया था कि "राष्ट्रपति को अपने कार्यों के सम्पादन में सहायता और परामर्श देने के लिए एक मंत्रि-परिषद होगी जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री होगा।"

इस अनुच्छेद में यह स्पष्ट नहीं था कि राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद के परामर्श को मानने के लिए बाध्य होगा या नहीं। 42वें संशोधन अधिनियम (1976 ई०) के द्वारा इस अस्पष्टता को दूर कर दिया गया है। इस संशोधन अधिनियम के द्वारा संशोधित संविधान का 74वाँ (1) अनुच्छेद इस प्रकार है—

'राष्ट्रपति को अपने कार्यों के सम्पादन में सहयोग और परामर्श देने के लिए एक मंत्रि-परिषद होगी जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री होगा तथा वह (राष्ट्रपति) उसकी मंत्रणा के अनुसार कार्य करेगा।

इस प्रकार इस संशोधन द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राष्ट्रपति अपने मंत्रि-परिषद के परामर्श को मानने के लिए बाध्य होगा।

इसी प्रकार 44वें संशोधन अधिनियम (1979) द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि 'मंत्रि-परिषद द्वारा राष्ट्रपति को जो भी परामर्श दिया जायगा, राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल को उस पर दुबारा विचार करने के लिए कह सकेगा। किन्तु दूसरी बार विचार करने के उपरान्त मंत्रि-

---

1. जनता पार्टी की सरकार ने इन पुरस्कारों को समाप्त कर दिया था, किन्तु नई सरकार ने उनका पुनः प्रवर्तन कर दिया।

मण्डल राष्ट्रपति को जो भी परामर्श देगा, राष्ट्रपति उस परामर्श को अनिवार्य रूप से स्वीकार करेगा।

उपर्युक्त संशोधन राष्ट्रपति की स्थिति को स्पष्ट कर देते हैं। इन संशोधनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय राष्ट्रपति मंत्रि-परिषद के परामर्श के अनुसार कार्य करने के लिए बाध्य है।

6
उपराष्ट्रपति

भारतीय संविधान में राष्ट्रपति के अतिरिक्त उपराष्ट्रपति (Vice-President) पद का भी प्रावधान है। संविधान के 73वें अनुच्छेद में कहा गया है कि 'भारत के लिए एक उप-राष्ट्रपति होगा।' भारत की राजव्यवस्था में उपराष्ट्रपति की मुख्य भूमिका राज्य-सभा के अध्यक्ष तथा राष्ट्रपति की अनुपस्थिति में उसके पद पर कार्य करने वाले पदाधिकारी के रूप में है।

उपराष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रक्रिया—उपराष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मण्डल द्वारा होता है। इस निर्वाचक मण्डल में संसद के दोनों सदनों के सदस्य सम्मिलित होते हैं। निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अनुसार एकल संक्रमणीय मत-पद्धति द्वारा होता है। मतदान गोपनीय या गुप्त होता है। पहले संसद के दोनों सदनों के सदस्य संयुक्त रूप से उप-राष्ट्रपति का निर्वाचन करते थे। किन्तु सन् 1961 ई० के एक अधिनियम के अनुसार अब दोनों सदन पृथक् रूप से उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करते हैं।

उपराष्ट्रपति के निर्वाचन की व्यवस्था निर्वाचन आयोग करता है।

1. उपराष्ट्रपति की योग्यताएँ—संविधान के अनुसार उपराष्ट्रपति के पद पर खड़े होने वाले प्रत्याशी (उम्मीदवार) में निम्नलिखित योग्यताएँ होनी चाहिए—

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।
3. उसमें वे सब योग्ताएँ हों जो राज्यसभा के सदस्य के लिए निर्धारित हैं।
4. वह संघ-सरकार या किसी राज्य-सरकार अथवा उसके अधीन किसी स्थानीय संस्था आदि का वेतनभोगी अधिकारी या कर्मचारी न हो, या उसे इस रूप में कोई अन्य आर्थिक लाभ न प्राप्त हो रहा हो।
5. वह संसद के किसी सदन या किसी राज्य के विधान-मण्डल का सदस्य न हो। यदि निर्वाचन के समय वह इनमें से किसी भी सदन का सदस्य होगा तो निर्वाचित हो जाने के बाद उसका यह स्थान रिक्त समझा जायगा।
6. उपराष्ट्रपति के प्रत्याशी को नामांकन के लिए 2500 रु० जमानत के रूप में जमा करना होता है। उसके नामांकन के लिए कम-से-कम पाँच प्रस्तावक होने चाहिए तथा पाँच अनुमोदन करने वाले व्यक्ति होने चाहिए। प्रस्तावक और अनुमोदक संसद के सदस्य होने चाहिए।

कार्यकाल—उपराष्ट्रपति का कार्यकाल 5 वर्ष होता है। इस अवधि के बाद भी वह तब तक अपने पद पर बना रहता है जब तक कि उसके उत्तराधिकारी का निर्वाचन नहीं हो जाता। उपराष्ट्रपति अपने पद पर दुबारा भी चुना जा सकता है।

उपराष्ट्रपति अपनी पाँच वर्ष की अवधि पूरी करने के पूर्व भी अपने पद से त्यागपत्र दे सकता है। यह त्यागपत्र वह राष्ट्रपति को सम्बोधित करके देगा। यदि उपराष्ट्रपति का पद त्यागपत्र, मृत्यु या महाभियोग के कारण रिक्त हो जाता है तो दूसरे उपराष्ट्रपति का निर्वाचन

कर लिया जाता है। यह निर्वाचन पद रिक्त होने के छह माह के अन्दर हो जाना चाहिए। इस प्रकार मध्यावधि या बीच में उपराष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचित व्यक्ति अपने पद पर पूरे पाँच वर्ष तक कार्य करेगा।

उपराष्ट्रपति को अपने पद से कैसे हटाया जा सकता है?—उपराष्ट्रपति को पद से हटाने की एक निश्चित पद्धति है। इसके अनुसार यदि राज्यसभा के सदस्य अपने कुल सदस्यों के बहुमत से उपराष्ट्रपति को हटाने का प्रस्ताव पास कर देते हैं और लोकसभा उस प्रस्ताव का समर्थन कर देती है तो उपराष्ट्रपति को उसके पद से हटा दिया जायगा। किन्तु उसको हटाने के लिए प्रस्ताव लाने के 14 दिन पूर्व उसे इस आशय की सूचना या नोटिस देनी आवश्यक है।

उपराष्ट्रपति पद की शपथ—अपना पद-ग्रहण करने के पूर्व उपराष्ट्रपति या तो राष्ट्रपति के सामने अथवा राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त अन्य किसी व्यक्ति के सामने इस आशय की शपथ ग्रहण करेगा कि वह संविधान के प्रति निष्ठा रखेगा तथा अपने कर्तव्यों का निष्ठा से श्रद्धापूर्वक पालन करेगा।

वेतन, भत्ते आदि—दिसम्बर, 1985 ई० के एक संशोधन अधिनियम के अनुसार उप-राष्ट्रपति का वेतन 7,500 रुपये मासिक कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त उन्हें 1,000 रुपये मासिक भत्ता मिलता है। साथ ही वे सब सुविधाएँ मिलती हैं जो केन्द्रीय मंत्रियों को मिलती हैं।

उपराष्ट्रपति के अधिकार और कार्य

उपराष्ट्रपति के अधिकार और कार्यों के मुख्यतया दो पक्ष हैं—

1. राज्यसभा के पदेन अध्यक्ष के रूप में कार्य।
2. राष्ट्रपति की अनुपस्थिति में उसके स्थान पर कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य।

1. राज्यसभा के अध्यक्ष के रूप में कार्य—उपराष्ट्रपति राज्यसभा का पदेन अध्यक्ष होता है। राज्यसभा के पदेन अध्यक्ष के रूप में वह मुख्यतया निम्नलिखित कार्य करता है—

1. वह सदन को बैठकों का संचालन करता, सदन में अनुशासन बनाए रखता तथा सदन की अवज्ञा करने वाले सदस्यों को सदन से बाहर कर सकता है।
2. उसकी आज्ञा के बिना सदन में कोई सदस्य भाषण नहीं दे सकता।
3. सदन में कौन से प्रश्न पूछे जायें और कौन से न पूछे जायें, इसके निर्णय का अधिकार भी अध्यक्ष को ही है।
4. सदन में असंसदीय भाषा के प्रयोग पर वही नियंत्रण रखता है।
5. वही सदन के सदस्यों के विशेषाधिकारों की रक्षा करता है।
6. वही विधेयकों तथा प्रस्तावों पर मतदान कराता है तथा मतदान का फल घोषित करता है।
7. राज्यसभा द्वारा पारित विधेयकों पर वही हस्ताक्षर करता है।
8. अध्यक्ष के रूप में उसे सदन में सामान्य सदस्यों की भाँति मतदान का अधिकार नहीं है। किन्तु जब किसी विषय पर दोनों पक्षों की ओर से बराबर-बराबर मत पड़ते हैं, तब उसे निर्णायक मत देने का अधिकार होता है।

इस प्रकार उपराष्ट्रपति को राज्यसभा के अध्यक्ष के रूप में प्रायः वही अधिकार प्राप्त हैं जो कि लोकसभा के अध्यक्ष को प्राप्त होते हैं। जब दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन होता है, तब उस संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता लोकसभा का अध्यक्ष करता है, न कि उपराष्ट्रपति।

इसी प्रकार कौन-सा विधेयक धन विधेयक है, इसके निर्णय का अधिकार भी लोकसभा के अध्यक्ष को होता है।

2. कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य—उपराष्ट्रपति का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य राष्ट्रपति के स्थान के रिक्त होने पर कार्य करना है। राष्ट्रपति का स्थान मुख्यतया निम्नलिखित चार कारणों से रिक्त हो सकता है—

1. राष्ट्रपति के अस्वस्थ होने पर।
2. उसके पद-त्याग करने पर।
3. उसके पदच्युत होने पर।
4. उसकी मृत्यु पर।

उपर्युक्त स्थितियों में जब राष्ट्रपति का पद रिक्त हो जाता है, तब उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के पद पर कार्य करने लगता है। उदाहरण के लिए, डॉ० जाकिर हुसेन की मृत्यु के बाद श्री वी० वी० गिरि ने उनके पद पर राष्ट्रपति का पद सँभाला। इसी प्रकार श्री फखरुद्दीन अली की मृत्यु पर श्री बी० डी० जत्ती कार्यवाहक राष्ट्रपति रहे। जब तक उपराष्ट्रपति कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करता है, तब तक उसे राष्ट्रपति की समस्त शक्तियों, वेतन तथा सुविधाओं के उपभोग का अधिकार होता है; किन्तु जब तक राष्ट्रपति के पद पर वह कार्य करता है, तब तक उसे राज्यसभा के अध्यक्ष-सम्बन्धी वेतन और भत्ते नहीं मिलते।

इस प्रकार कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में उपराष्ट्रपति अधिक से अधिक छह महीने तक कार्य कर सकता है, क्योंकि छह महीने के अन्तर्गत नए राष्ट्रपति का निर्वाचन हो जाना आवश्यक है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपराष्ट्रपति के कार्यों के दो महत्वपूर्ण पक्ष हैं: एक तो राज्यसभा की अध्यक्षता तथा दूसरे राष्ट्रपति पद के रिक्त होने की स्थिति में कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करना। राष्ट्रपति के इन दोनों कार्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि उपराष्ट्रपति का पद अनुपयोगी नहीं है। भारत की राज्य-व्यवस्था में उसकी अपनी भूमिका है, उसके पद का अपना महत्व है।

लघु और अति लघु प्रश्न तथा उनके उत्तर

लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—भारतीय संघ के राष्ट्रपति पद के लिए कौन-सी योग्यताएँ निर्धारित हैं?

उत्तर—(1) वह भारत का नागरिक हो। (2) उसकी आयु 35 वर्ष से कम न हो। (3) वह लोकसभा का सदस्य बनने की योग्यता रखता हो। (4) वह भारत सरकार, राज्य-सरकार तथा किसी स्थानीय सरकार के अधीन कोई लाभ का पद ग्रहण न किए हो।

प्रश्न 2—राष्ट्रपति का निर्वाचन किस प्रकार होता है?

उत्तर—राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक-मंडल द्वारा होता है। इसमें संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य तथा राज्य की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य होते हैं। निर्वाचन एकल संक्रमणीय आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार गुप्त मतदान द्वारा किया जाता है।

प्रश्न 3—राष्ट्रपति का नामांकन कैसे किया जाता है ?

उत्तर—राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रक्रिया का पहला चरण राष्ट्रपति का नामांकन है। 1974 ई० की संशोधित व्यवस्था के अनुसार जो व्यक्ति राष्ट्रपति के पद के लिए खड़ा होना चाहता है, उसका राष्ट्रपति के निर्वाचक मंडल के दस सदस्यों द्वारा समर्थित होना आवश्यक है। प्रत्याशी को 2,500 रुपये 'सेक्युरटी' के रूप में जमा करने आवश्यक होते हैं।

प्रश्न 4—राष्ट्रपति को उसके पद से कब, क्यों और कैसे हटाया जा सकता है ?

उत्तर—भारतीय संविधान के अनुसार यदि राष्ट्रपति संविधान के प्रतिकूल आचरण करता है अथवा संविधान का अतिक्रमण करता है तो उसे अपने पद से हटाया जा सकता है। राष्ट्रपति को हटाने के लिए महाभियोग की कार्यवाही की जाती है। महाभियोग की कार्यवाही संसद के किसी सदन में प्रारम्भ की जा सकती है। जो सदन महाभियोग लगाएगा, उसकी सूचना राष्ट्रपति को कम से कम 14 दिन पूर्व देनी आवश्यक होती है।

महाभियोग लगाने के लिए सदन का प्रस्ताव कम-से-कम एक-चौथाई सदस्यों द्वारा स्वीकृत होना चाहिए। राष्ट्रपति को सूचना देने के बाद यदि वह प्रस्ताव उस सदन में (जिसमें कि उसे पहले पेश किया गया है) दो-तिहाई बहुमत से पास हो जाता है तो उसे दूसरे सदन में भेजा जायगा। प्रस्ताव प्राप्त करने पर दूसरा सदन महाभियोग की जाँच करेगा। यदि जाँच होने पर राष्ट्रपति के विरुद्ध लगाए गए महाभियोग के आरोप सही पाए जाते हैं और दूसरा सदन उस आधार पर अपने कुल सदस्यों के कम से कम दो-तिहाई बहुमत से राष्ट्रपति के महाभियोग प्रस्ताव को पास कर देता है तो उस प्रस्ताव पास होने की तिथि से राष्ट्रपति का पद रिक्त समझा जायगा।

प्रश्न 5—राष्ट्रपति के विशेषाधिकार क्या हैं ?

उत्तर—(1) राष्ट्रपति अपने पद से सम्बन्धित जो कार्य करेगा, उसके लिए उसके विरुद्ध किसी न्यायालय में मुकदमा नहीं चलाया जा सकेगा। (2) जब तक राष्ट्रपति अपने पद पर आसीन है, तब तक उसके विरुद्ध किसी प्रकार का फौजदारी मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। (3) व्यक्तिगत कार्यों के लिए उस पर दीवानी मुकदमा चलाया जा सकता है, किन्तु इसके लिए उसको दो महीने पहले लिखित सूचना देना आवश्यक है।

प्रश्न 6—राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकार कितने प्रकार के होते हैं ?

उत्तर—राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकार तीन प्रकार के है—

(1) युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह संबंधी संकट और उस स्थिति का सामना करने के लिए राष्ट्रपति के अधिकार, (2) राज्यों में संवैधानिक संकट और उसका सामना करने के लिए राष्ट्रपति के अधिकार, (3) वित्तीय या आर्थिक संकट और उसका सामना करने के लिए दिए गए अधिकार।

प्रश्न 7—राष्ट्रपति की विधायी शक्तियों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

उत्तर—(1) राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग होता है। (2) वह संसद के अधिवेशन को बुलाता है। (3) उसे संसद को सम्बोधित करने तथा अधिवेशन को स्थगित करने का अधिकार है। (4) वह राज्य सभा के 12 सदस्यों को मनोनीत करता है। (5) संसद द्वारा पास विधेयक पर वह हस्ताक्षर करता है। (6) वह अध्यादेश जारी करता है।

प्रश्न 8—किसी राज्य में संवैधानिक तंत्र के असफल हो जाने पर जब आपातकाल की घोषणा जारी की जाती है, तब उसका क्या प्रभाव होता है ?

उत्तर—(1) राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू हो जाता है। (2) राष्ट्रपति राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल को सौंप देता है। उसकी सलाह के लिए कुछ सहायक अधिकारियों की नियुक्ति कर देता है। (3) राज्य की विधान सभा भंग कर दी जाती है या उसके अधिवेशन को आपातकाल में स्थगित कर दिया जाता है। (4) राज्य की मन्त्रि-परिषद भंग कर दी जाती है। (5) राज्य को व्यवस्थापिका की शक्तियाँ संसद को सौंप दी जाती हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत के राष्ट्रपति का निर्वाचन किस प्रकार होता है ? संविधान में उसकी क्या स्थिति है ? समझाइए। (उ० प्र०, 1977)
2. भारत में आपातकाल की घोषणा किन परिस्थितियों में की जाती है ? इस घोषणा के क्या परिणाम होते हैं ? (उ० प्र०, 1979,81)
3. राष्ट्रपति का भारत के संविधान में क्या स्थान है ? उसकी शक्तियों का वर्णन कीजिए। (उ० प्र०, 1982)
4. भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रक्रिया समझाइए। भारतीय संविधान में उसका क्या महत्व है ? (उ० प्र०, 1983)
5. भारत के राष्ट्रपति के अधिकार और शक्तियों का विवेचन कीजिए ? (उ० प्र०, 1984)

लघु प्रश्न

1. राष्ट्रपति पद के लिए खड़े होने वाले व्यक्ति में क्या योग्यताएँ होनी चाहिए ?
2. राष्ट्रपति के निर्वाचन की मुख्य विशेषताएँ बताइए।
3. यदि राष्ट्रपति का पद खाली हो जाता है तो उसके लिए संविधान में क्या व्यवस्था है ?
4. राष्ट्रपति को उसके पद से कैसे हटाया जा सकता है ?
5. राष्ट्रपति के विशेषाधिकार क्या हैं ?
6. राष्ट्रपति के अध्यादेश जारी करने के अधिकार के विषय में आप क्या जानते हैं ?
7. संविधान में कितने प्रकार के संकटकालीन अधिकारों का उल्लेख किया गया है ?
8. प्रथम प्रकार के संकटकाल की घोषणा का क्या प्रभाव और परिणाम होता है ?
9. राज्यों में संवैधानिक शासन की विफलता पर आधारित संकटकाल की घोषणा का क्या प्रभाव और परिणाम होता है ?
10. राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकारों की आलोचना के मुख्य बिन्दु बताइए।
11. राष्ट्रपति पद के महत्व पर पाँच पंक्तियाँ लिखिए।
12. 42वें और 44वें संशोधन अधिनियम राष्ट्रपति के अधिकारों और स्थिति पर क्या प्रभाव डालते हैं ?

13. उपराष्ट्रपति के पद के लिए क्या योग्यताएँ हैं ?
14. उपराष्ट्रपति का निर्वाचन कैसे होता है ?
15. उपराष्ट्रपति के क्या कार्य और अधिकार हैं ?
16. उपराष्ट्रपति को अपने पद से कैसे हटाया जा सकता है ?

अति लघु प्रश्न

1. भारतीय राष्ट्रपति के पद पर खड़े होने वाले व्यक्ति की आयु कम से कम कितने वर्ष होनी चाहिए ?

2. भारतीय राष्ट्रपति के निर्वाचन में खड़े होने वाले प्रत्याशी को नामांकन के लिए कितना रुपया जमानत के रूप में जमा करना होता है ?

3. राष्ट्रपति का निर्वाचन कौन करता हैं ?
4. राष्ट्रपति के निर्वाचन की दो विशेषताएँ बताइए।
5. राष्ट्रपति को कितना वेतन मिलता है ?
6. राष्ट्रपति अपना त्यागपत्र किसे देता है ?
7. राष्ट्रपति के निर्वाचन-विषयक विवाद का निर्णय कौन करता है ?
8. राष्ट्रपति का कार्यकाल कितना हैं ?
9. राष्ट्रपति को अवकाश-प्राप्ति पर कितनी पेंशन मिलती है ?
10. राष्ट्रपति अपने पद की शपथ किसके सामने लेता हैं ?
11. राष्ट्रपति का निर्वाचन कौन करता है ?
12. राष्ट्रपति अपने पद पर कितने वर्ष तक बना रहता है ?

13. यदि राष्ट्रपति का पद रिक्त हो जाता हैं तो उसका स्थान कौन ग्रहण करता है ?

14. यदि राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति दोनों का पद एक साथ खाली हो जाता है तो उसका कौन स्थान ग्रहण करेगा ?

15. उपराष्ट्रपति पद के लिए खड़े होने वाले व्यक्ति को कम से कम कितने वर्ष का होना चाहिए ?

16. उपराष्ट्रपति का निर्वाचन कौन करता है ?

17. उपराष्ट्रपति और राज्यसभा का क्या सम्बन्ध है ?

18. उपराष्ट्रपति को कितना वेतन मिलता है ?

19. राष्ट्रपति को महाभियोग की कार्यवाही की सूचना कितने दिन पूर्व देनी चाहिए ?
20. राष्ट्रपति राज्यसभा में कितने व्यक्ति मनोनीत करता है ?

21. राष्ट्रपति एंग्लो-इण्डियन समुदाय के कितने व्यक्तियों को लोकसभा में मनोनीत करता है ?

22. भारत के वर्तमान राष्ट्रपति का नाम बताइए।
23. भारत के वर्तमान उपराष्ट्रपति का नाम बताइए।
24. अभी तक राष्ट्रपति के किस संकटकालीन अधिकार का उपयोग नहीं हुआ है ?

25. प्रथम प्रकार के आपातकाल की घोषणा संसद के सामने कितने समय के अन्दर रखी जानी चाहिए ?

26. संसद एक बार में कितने समय के लिए आपातकाल की घोषणा को स्वीकृत करती है ?

27. राज्य में संवैधानिक संकट की घोषणा अधिक से अधिक कितने दिन जारी रह सकती है ?

28. संकटकाल की घोषणा कब समाप्त हो जाती है ?

29. संविधान के कौन से अनुच्छेद संकटकाल-सम्बन्धी व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं ?

30. राष्ट्रपति के महाभियोग की कार्यवाही संसद के किस सदन में चलाई जा सकती है ?

31. क्या राष्ट्रपति मृत्युदण्ड पाए हुए व्यक्ति को क्षमादान दे सकता है ?

32. भारतीय संघ के प्रथम उपराष्ट्रपति का नाम बताइए। (उ० प्र० 1990)

अध्याय 12

संघीय मंत्रिपरिषद्

● मंत्रि-परिषद-विषयक संवैधानिक प्रावधान ● मंत्रिपरिषद का संगठन कैसे होता है ● मंत्रि-परिषद की विशेषताएँ ● मंत्रि-परिषद के कार्य ● मंत्रि-परिषद और राष्ट्रपति का सम्बन्ध ● प्रधान मन्त्री : अधिकार, शक्ति और स्थिति

आमुख

अन्य संसदीय शासन-प्रणालियों की भाँति भारत की संसदात्मक कार्यपालिका के भी दो पक्ष हैं : एक, औपचारिक पक्ष; और दूसरा, वास्तविक पक्ष। राष्ट्रपति संघीय कार्यपालिका के औपचारिक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है जबकि मंत्रि-परिषद वास्तविक पक्ष का। फलतः जहाँ एक ओर राष्ट्रपति राज्य करता है, वहाँ मंत्रि-परिषद शासन करती है। जहाँ राष्ट्रपति नाम मात्र का शासक है, वहाँ मंत्रि-परिषद शासन की वास्तविक शक्तियों का सूत्रधार है। जहाँ राष्ट्रपति राज्य का वैधानिक प्रधान है, वहाँ मंत्रि-परिषद शासन की वास्तविक कर्णधार है।

इस प्रकार संघीय मंत्रि-परिषद भारत की संसदात्मक कार्यपालिका की वास्तविक शक्ति सम्पन्न संस्था है। वह वस्तुतः भारत की संसदात्मक व्यवस्था का ऐसा केन्द्र-बिन्दु है जिसके चारों ओर भारत की संसदात्मक व्यवस्था आवृत्तियाँ लेती है। यह वह आधार-स्तम्भ है जिस पर भारत की संसदात्मक व्यवस्था का भव्य भवन आधारित है। यह वह धुरी है जिसके चारों ओर भारत का शासन-संयंत्र चक्कर लगाता है। यह वह सूर्यपिण्ड है जिसके चारों ओर भारत के राजनैतिक सौर-मण्डल के अन्य नक्षत्र आवृत्तियाँ लेते हैं। अतएव भारत की राजनैतिक व्यवस्था के सम्यक् ज्ञान के लिए भारतीय मंत्रिमण्डल के विविध पक्षों का अध्ययन आवश्यक है।

संविधान में मन्त्रि-परिषद का प्रावधान

भारतीय मंत्रि-परिषद के अध्ययन का प्रारम्भ हम मंत्रि-परिषद की रचना या उसके संगठन से कर सकते हैं।

भारतीय संविधान के 74वें अनुच्छेद में संघीय मंत्रिपरिषद का प्रावधान किया गया है। इस अनुच्छेद में कहा गया है कि—

'राष्ट्रपति को उसके कार्यों में परामर्श और सहायता देने के लिए एक मंत्रि-परिषद होगी जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा तथा वह (राष्ट्रपति) उसके (मंत्रि-परिषद के) परामर्श के अनुसार कार्य करेगा।' इसके अतिरिक्त मंत्रिपरिषद-विषयक कुछ अन्य प्रमुख संवैधानिक प्रावधान इस प्रकार हैं—

1. मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी रहेगी।
2. कोई व्यक्ति यदि लगातार छह महीने तक संसद का सदस्य नहीं रहता तो वह मंत्रि-परिषद का सदस्य नहीं रह सकेगा।
3. मंत्रि-परिषद के सदस्य राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद पर बने रहेंगे।

इस प्रकार संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार मंत्रिपरिषद राष्ट्रपति को परामर्श देने वाली एक संस्था है, एक निकाय है जिसकी मंत्रणा और सहयोग से राष्ट्रपति अपने कार्यों का संपादन करता है।

1

मंत्रिपरिषद की रचना और संगठन कैसे होता है ?

भारतीय मंत्रि-परिषद की रचना और संगठन के अनेक चरण हैं, अनेक पक्ष हैं। इन पक्षों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. प्रधानमंत्री की नियुक्ति—प्रधानमंत्री की नियुक्ति मंत्रि-परिषद की रचना का प्रथम चरण है। संविधान के 75 (1) अनुच्छेद में कहा गया है कि प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जायगी और अन्य मंत्री प्रधानमंत्री के परामर्श पर नियुक्त किए जायँगे। इस प्रकार संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। किन्तु व्यवहार में राष्ट्रपति लोकसभा के बहुमत दल के नेता को प्रधानमंत्री नियुक्त करता है। ऐसा इसलिए कि प्रधानमंत्री तथा उसकी मंत्री-परिषद लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। वे तभी तक अपने पद पर बने रहते हैं जब तक कि उन्हें लोकसभा का विश्वास प्राप्त रहता है। लोकसभा के विश्वास से वंचित हो जाने पर वे अपने पद पर बने नहीं रह सकते।

फलत: जब तक लोकसभा में किसी दल का स्पष्ट बहुमत होता है या बहुमत द्वारा लोकसभा के नेतृत्व के विषय में कोई विवाद नहीं होता, प्रधानमंत्री की नियुक्ति में कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु कभी-कभी ऐसी स्थिति आ सकती है जबकि लोकसभा में किसी दल का स्पष्ट बहुमत न हो और लोकसभा के नेतृत्व का प्रश्न विवादास्पद हो। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति को प्रधानमंत्री की नियुक्ति में अपने विवेक के प्रयोग का अवसर मिल सकता है। इस तथ्य का उदाहरण जुलाई, 1979 ई० की घटनाएँ हैं। 1979 ई० में केन्द्र में जनता पार्टी सत्तारूढ थी और मोरारजी देसाई प्रधानमंत्री थे। इस समय मोरारजी देसाई की सरकार के विरुद्ध प्रतिपक्ष के नेता श्री यशवन्त राव चौह्वाण ने अविश्वास का प्रस्ताव पेश किया। अविश्वास के प्रस्ताव का सामना किए बगैर मोरारजी देसाई ने अपना त्याग-पत्र दे दिया। इसी बीच जनता पार्टी के एक वर्ग ने पार्टी से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर जनता (सेक्युलर) नाम से एक पृथक् दल का संगठन कर लिया और इस दल के नेता श्री चरणसिंह को प्रधानमंत्री नियुक्त करने का दावा किया। राष्ट्रपति ने ऐसी स्थिति में पहले प्रतिपक्ष या विरोधी दल के नेता श्री चौह्वाण को प्रधानमंत्री पद के लिए आमंत्रित किया। किन्तु श्री चौह्वाण ने मंत्रिमण्डल-निर्माण में अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी। ऐसी स्थिति में श्री मोरारजी देसाई तथा श्री चरणसिंह दोनों ने अपने-अपने पक्ष के समर्थकों की सूची राष्ट्रपति के सामने प्रस्तुत की और प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्ति का दावा किया। क्योंकि श्री चरणसिंह के समर्थकों की संख्या अधिक थी। अतएव राष्ट्रपति ने श्री चरणसिंह को प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त कर दिया। साथ ही शीघ्रातिशीघ्र लोकसभा में अपने पक्ष के समर्थन में विश्वास प्राप्त करने का आदेश दिया।

श्री चरणसिंह ने कई दलों के समर्थन से अपनी सरकार बनाई थी। इन दलों में इन्दिरा कांग्रेस भी एक दल था। जब लोकसभा में श्री चरणसिंह के विश्वास प्राप्त करने की बात आई, इन्दिरा कांग्रेस ने अपना सहयोग न दिया। फलत: श्री चरणसिंह लोकसभा में विश्वास प्राप्त करने में असमर्थ रहे। उनकी सरकार 24 दिन में ही अपदस्थ हो गई। श्री चरणसिंह ने अपना त्याग-पत्र दे दिया और राष्ट्रपति को लोकसभा के नए निर्वाचन कराने की लिखित सलाह दी।

प्रधान मंत्री की नियुक्ति को लेकर अभी हाल में कुछ समस्याएं खड़ी हुई हैं। नयीं लोकसभा के गठन के उपरान्त संसद में किसी राजनैतिक दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। कांग्रेस सबसे बड़ा दल था और उसे 193 सीटें (स्थान) मिली थीं। इसके विपरीत राष्ट्रीय मोर्चे को 143, भारतीय जनता पार्टी को 86 तथा वाम मोर्चे को 52 स्थान प्राप्त हुए थे। कांग्रेस (ई) ने सबसे पार्टी होने के बावजूद सरकार बनाने से इन्कार कर दिया। उधर भाजपा और वाम मोर्चे ने राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार को बाहर से समर्थन देने का आश्वासन दिया। श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह जनता पार्टी के नेता चुने गए। राष्ट्रपति ने उन्हें सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया। किन्तु रामजन्म भूमि के विवाद पर भारतीय जनता पार्टी ने अपना समर्थन वापस ले लिया। विश्वनाथ प्रताप सिंह एवं लोक सभा में विश्वास-मत प्राप्त करने में असफल रहे। इसी जनता दल में विभाजन हो गया। श्री चन्द्रशेखर के नेतृत्व में जनता दल सोशलिस्ट के नाम से एक नया दल गठित हो गया।

कांग्रेस पार्टी के अध्यक्ष श्री राजीव गांधी ने चन्द्रशेखर को बाहर से समर्थन देने का आश्वासन दिया। श्री चन्द्रशेखर प्रधान मंत्री बने। किन्तु कुछ कारणों से श्री राजीव गांधी और चन्द्रशेखर सरकार की सहयोग की प्रवृत्ति समाप्त हो गई। इस आशंका से कि राजीव गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस चन्द्रशेखर सरकार को अपना समर्थन देना बन्द कर देगी, चन्द्रशेखर ने नवीं लोक सभा को भंग करने और दसवीं लोक सभा के चुनाव की सिफारिश की। जून में निर्वाचन हुए। कांग्रेस दल का केन्द्र में बहुमत के साथ ही श्री राजीव गांधी की दक्षिण भारत में हत्या कर दी गई। कांग्रेस (ई) के सामने नेतृत्व का प्रश्न खड़ा हुआ। किन्तु कांग्रेस पार्टी ने इस अवसर पर एकता दिखाई। श्री पी० वी० नरसिंह राव सर्वसम्मति से कांग्रेस संसदीय दल के नेता चुन लिए गए। फलतः राष्ट्रपति को प्रधान मंत्री की नियुक्ति में कोई कठिनाई नहीं हुई। इस प्रकार यदि लोकसभा में किसी दल को स्पष्ट बहुमत मिल जाता है तो प्रधान मंत्री की नियुक्ति का कार्य सरल हो जाता है। यदि लोक सभा में किसी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल पाता और बहुमत के नेतृत्व का प्रश्न विवादस्पद हो जाता है, तब राष्ट्रपति को प्रधानमंत्री की नियुक्ति में अपने विवेक के प्रयोग का अवसर मिलता है। कि लोकसभा में किसी दल का स्पष्ट बहुमत न हो या बहुमत के नेतृत्व का प्रश्न विवादास्पद हो। इसके अतिरिक्त सामान्य स्थितियों में राष्ट्रपति बहुमत दल के नेता को ही प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त करेगा।

2. प्रधानमन्त्री द्वारा मन्त्रियों का चयन—प्रधानमन्त्री द्वारा मन्त्रियों का चयन मन्त्रि-परिषद के गठन का दूसरा चरण है। संविधान के अनुसार राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री के परामर्श से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। अतएव जो व्यक्ति प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त हो जाता है, वह अपने मन्त्रि-परिषद की एक सूची राष्ट्रपति को दे देता है। मन्त्रि-परिषद के सदस्यों के चयन में प्रधानमन्त्री कई तथ्यों को दृष्टि-पथ में रखता है। तथ्य संक्षेप में इस प्रकार हैं

1. वह साधारणतया अपने दल के सदस्यों का ही अपनी मन्त्रि-परिषद के लिए चयन करता है।
2. मन्त्रि-परिषद के सदस्यों का चयन करते समय प्रधानमन्त्री दल में उनकी स्थिति को ध्यान में रखता है।
3. यदि लोकसभा में किसी दल का स्पष्ट बहुमत नहीं होता और कई दलों से मिलकर सरकार का गठन होता है तो वह समर्थक दलों या सरकार के विभिन्न घटकों की स्थिति को ध्यान में रखते हुए सदस्यों का चयन करता है।
4. प्रधानमंत्री इस बात का ध्यान रखता है कि उसकी मंत्रि-परिषद में देश के विभिन्न भागों तथा विभिन्न हितों व समूहों का प्रतिनिधित्व हो। इस प्रकार वह अल्पसंख्यकों, अनुसूचित जातियों, जनजातियों, स्त्रियों, युवकों तथा देश के विभिन्न क्षेत्रों को समुचित प्रतिनिधित्व प्रदान करने का प्रयास करता है।
5. प्रधानमन्त्री संसद के दोनों सदनों को भी समुचित प्रतिनिधित्व देने का प्रयास करता है।
6. वह इस बात का ध्यान रखता है कि उन्हीं व्यक्तियों का चयन हो जो अपने पदों के दायित्व का सम्यक रूप से निर्वाचन कर सकें।
7. उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त वह इस बात का ध्यान रखता है कि मंत्रि-परिषद की सदस्यता के लिए चुने जाने वाले सदस्य उसके विश्वास-पात्र हों, उसके नेतृत्व में आस्था रखते हों और उसे पूरी निष्ठा से अपना सहयोग देने के लिए तत्पर हों।

3. मंत्रियों की संवैधानिक योग्यताएँ—मन्त्रि-परिषद के सदस्यों के लिए संविधान के अनुसार संसद का सदस्य होना आवश्यक है। अतएव सामान्यतया उन्हीं व्यक्तियों को मंत्रि-

परिषद में नियुक्त किया जाता है जो संसद के सदस्य हों। यदि कोई व्यक्ति मंत्रि-परिषद का सदस्य चुन लिया जाता है, किन्तु संसद का सदस्य नहीं होता है तो यह आवश्यक होता है कि वह संसद के किसी सदन का छह महीने के अन्दर सदस्य चुन लिया जाय।

4. **मंत्रियों की सदस्य-संख्या**—संविधान में मंत्रि-परिषद की कुल संख्या का उल्लेख नहीं है। यह प्रधानमंत्री की इच्छा पर निर्भर करता है कि उसके मंत्रि-परिषद में कितने सदस्य हों। सामान्यतया मंत्रि-परिषद में कुल सदस्यों की संख्या 50 से लेकर 60 तक होती है।

5. **मंत्रियों का वर्गीकरण**—मंत्रि-परिषद में सामान्यतया निम्नलिखित स्तरों के मंत्री होते हैं—

1. मंत्रिमण्डल-स्तर के मंत्री (Cabinet Ministers)
2. मंत्रिमण्डल-स्तर के मंत्री जो मंत्रिमण्डल के सदस्य नहीं हैं (Ministers of the Cabinet rank but not members of the Cabinet)
3. राज्य मंत्री (Ministers of State) 4. उपमंत्री (Deputy Ministers)

इसके अतिरिक्त मंत्रियों के साथ ही संसद-सचिव (Parliamentary Secretaries) भी होते हैं।

इस प्रकार प्रधानमन्त्री के अतिरिक्त मंत्रि-परिषद में चार स्तर के मत्री होते हैं। कभी-कभी प्रधानमन्त्री के अतिरिक्त उप-प्रधानमन्त्री पद का भी सृजन किया जाता है। उदाहरण के लिए पं० जवाहरलाल नेहरू की मंत्रि-परिषद में सरदार वल्लभ भाई पटेल उप-प्रधानमंत्री थे। इसी प्रकार मोरारजी देसाई 1967 ई० के बाद के निर्वाचन में उप-प्रधानमंत्री बने थे। 1977 ई० में गठित जनता पार्टी की सरकार में जब श्री मोरारजी देसाई प्रधानमंत्री थे, तब श्री चरणसिंह व श्री जगजीवनराम उप-प्रधानमंत्री बनाए गये थे।

इस प्रकार मंत्रि-परिषद में विभिन्न स्तर के मंत्री होते हैं। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि संसदीय सचितव मंत्रि-परिषद के सदस्य नहीं होते, न ही इनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है। इनकी नियुक्ति प्रधानमंत्री द्वारा होती है। संसदीय सचिव मंत्रियों को संसद-विषयक मामलों में सहायता देने के लिए नियुक्त किए जाते हैं।

मंत्रियों के वेतन और भत्ते—मंत्रि-परिषद के मंत्रियों के वेतन और भत्ते के निर्धारण का अधिकार संसद को है। संसद कानून बनाकर मंत्रियों का वेतन निर्धारित करती है। संसद द्वारा बनाए गए कानून के अनुसार वर्तमान समय में मन्त्रि-परिषद के विभिन्न स्तर के मन्त्रियों का वेतन इस प्रकार है—

मंत्री		वेतन
प्रधानमंत्री	—	5 हजार रुपए मासिक तथा 1000 रुपए मासिक भत्ता।
मंत्रिमण्डल स्तर के मंत्री	—	3,000 रुपए मासिक वेतन तथा 1000 रुपए मासिक भत्ता।
राज्यमंत्री	—	3000 रुपए मासिक वेतन तथा 700 रुपए मासिक भत्ता
उपमंत्री	—	2000 रुपए मासिक वेतन तथा 300 रुपए मासिक भत्ता मिलता है।

वेतन के अतिरिक्त मंत्रियों को अनेक भत्ते और सुविधाएँ मिलती हैं। उन्हें सुसज्जित भवन निःशुल्क मिलता है। टेलीफोन तथा यातायात के लिए भी निःशुल्क सुविधाएँ मिलती हैं।

इसके अतिरिक्त अन्य अनेक सुविधाएँ मिलती हैं। अभी कुछ दिनों पूर्व मंत्रि-परिषद के सदस्यों के भत्ते आदि में कुछ और वृद्धि की गई है।

मंत्रियों की शपथ—मंत्रि-परिषद के सदस्य नियुक्त हो जाने के बाद प्रत्येक मंत्री राष्ट्रपति के सामने शपथ ग्रहण करता है। ये शपथें दो प्रकार की होती हैं। एक अपने पद की और दूसरी गोपनीयता की। इन शपथों का उल्लेख संविधान की तीसरी अनुसूची में किया गया है। ये शपथें अग्रलिखित हैं—

1...... 'मैं — ईश्वर की शपथ लेता हूँ / सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के

संविधान के प्रति निष्ठा और श्रद्धा रखूंगा (कि मैं भारत की संप्रभुता और अखण्डता की रक्षा करूँगा)[1] कि मैं संघ के मन्त्री के रूप में अपने कर्तव्यों का श्रद्धापूर्वक तथा शुद्ध अन्तःकरण से पालन करूँगा तथा भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के विना मैं सब प्रकार के लोगों के प्रति संविधान के अनुसार न्याय करूँगा।'

2. 'मैं........ ईश्वर की शपथ लेता हूँ / सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ कि जो विषय संघ के मंत्री के रूप में मेरे विचार के लिए लाया जायगा अथवा मुझे ज्ञात होगा, उसे किसी व्यक्ति या व्यक्तियों को उस अवस्था को छोड़कर जब कि ऐसे मन्त्री के रूप में अपने कर्तव्य के उचित निर्वहन के लिए ऐसा करना अपेक्षित हो, अन्य अवस्था में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सूचित या प्रकट नहीं करूँगा।'

मंत्रिपरिषद का कार्यकाल—संविधान के अनुसार मन्त्रिपरिषद के सदस्य राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त (अर्थात् जब तक राष्ट्रपति चाहे) अपने पद पर बने रहेंगे। पर मन्त्रिपरिषद लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती हैं, अतएव मंत्रिपरिषद तब तक अपने पद पर बनी रहती हैं जब तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त रहता है। लोकसभा का कार्यकाल 5 वर्ष है, फलता मंत्रिपरिषद भी पाँच वर्ष तक अपने पद पर बनी रहती है। यदि कोई मंत्री किसी कारण से इसके पूर्व त्यागपत्र देना चाहता है तो वह दे सकता है। त्यागपत्र राष्ट्रपति के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

मंत्रिपरिषद के विभिन्न विभाग और विभागों का वितरण

प्रधानमंत्री तथा अन्य मंत्रियों की नियुक्ति के उपरान्त मन्त्रियों का कार्य-विभाजन होता है। मन्त्रियों के कार्य-विभाजन या विभाग-वितरण का अधिकार प्रधानमन्त्री को होता है। प्रधानमन्त्री मन्त्रियों की योग्यता, व्यक्तित्व और अनुभव आदि के आधार पर विभागों का वितरण करता है।

मंत्रिपरिषद के ये विभिन्न विभाग मंत्रालय कहलाते हैं। वर्तमान समय में मंत्रिपरिषद के मुख्यतया निम्नलिखित विषयों से सम्बन्धित विभाग हैं—(1) गृह, (2) विदेश, (3) प्रतिरक्षा, (4) वित्त, (5) वाणिज्य और उद्योग, (6) कृषि, (7) संचार, (8) ऊर्जा, (9) पर्यावरण, (10) स्वास्थ्य तथा परिवार कल्याण, (11) मानवीय संसाधन, (12) सूचना तथा प्रसारण, (13) श्रम, (14) विधि तथा न्याय, (15) संसदीय कार्य, (16) पेट्रोलियम तथा प्राकृतिक गैस, (17) योजना, (18) विज्ञान और प्रौद्योगिकी, (19) इस्पात, (20) परिवहन, (21) शहरी विकास, (22) जल-संसाधन, (23) निर्माण, आवास तथा पुनर्वास, (24) आपूर्ति आदि।

इनमें से प्रत्येक विभाग या मन्त्रालय सामान्यतया एक मन्त्रिमण्डल स्तर (कैबिनेट स्तर) के मन्त्री के अधीन होता है। कैबिनेट स्तर के मन्त्री के नीचे राज्य मन्त्री तथा उपमन्त्री होते हैं। कभी-कभी राज्य मन्त्री को भी किसी विभाग का स्वतन्त्र नियंत्रण दे दिया जाता है।

मन्त्रियों की सहायता के लिए प्रत्येक विभाग में अनेक सरकारी अधिकारी और कर्मचारी होते हैं।

मंत्रिपरिषद और मंत्रिमण्डल—मंत्रिपरिषद के अध्ययन के प्रसंग में मंत्रिपरिषद और मंत्रिमंडल के अन्तर के विषय में दो शब्द कह देने आवश्यक हैं। सामान्य बोलचाल में मंत्रिपरिषद और मंत्रिमंडल एक-दूसरे के पर्याय माने जाते हैं। किन्तु संवैधानिक शब्दावली में मंत्रिपरिषद और मंत्रिमण्डल में निश्चित अन्तर होता है। मंत्रिमंडल (कैबिनेट) मंत्रिपरिषद का ही एक लघु अंग होता है। मंत्रिपरिषद की सदस्य-संख्या विशाल होती है। अतएव शासन की

1. ये शब्द 1963 ई० के संवैधानिक संशोधन द्वारा जोड़े गए थे।

सुविधा की दृष्टि से मंत्रिपरिषद के वरिष्ठ सदस्यों तथा विभिन्न मंत्रालयों के मंत्रियों की एक अलग समिति गठित कर ली जाती है। राजनैतिक शब्दावली में इस समिति को 'कैबिनेट' या मंत्रिमंडल कहते हैं। इस प्रकार मंत्रिमण्डल या 'कैबिनेट' मंत्रिपरिषद की आन्तरिक समिति है। इसके अन्तर्गत मन्त्रिपरिषद के वरिष्ठ, अनुभवी और प्रभावशाली सदस्य होते हैं। मंत्रिपरिषद के सारे सदस्य इसके सदस्य नहीं होते। मन्त्रिमंडल का मुख्य कार्य शासन का नीति-निर्धारण करना तथा शासन की योजनाओं को निश्चित करना है। एक दृष्टि से मन्त्रिमण्डल ही मन्त्रिपरिषद की वास्तविक कार्यपालिका है।

मंत्रिपरिषद और मंत्रिमण्डल विषयक उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्रिपरिषद और मन्त्रिमण्डल में में पर्याप्त अन्तर है। अन्तर के मुख्य बिन्दुओं को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. मंत्रिपरिषद एक बृहत् संस्था होती है जिसमें सभी स्तर के मंत्री सम्मिलित होते हैं जब कि मंत्रिमण्डल मंत्रिपरिषद की एक आन्तरिक समिति होती है जिसमें केवल कैबिनेट स्तर के मन्त्री सम्मिलित होते हैं। विशिष्ट अवसरों पर आवश्यकता पड़ने पर अन्य स्तर के मन्त्री भी उसकी बैठकों में आमंत्रित कर लिये जाते हैं।
2. मन्त्रिमण्डल का मुख्य कार्य शासन का नीति-निर्धारण करना है जब कि मन्त्रिपरिषद का नीति-निर्धारण में योग नहीं होता।
3. मंत्रिमण्डल के समस्त मंत्री मंत्रिपरिगद के सदस्य होते हैं, किन्तु मंत्रिपरिषद के समस्त सदस्य या मंत्री मंत्रिमण्डल के सदस्य नहीं होते।
4. रचना आर आकार की दृष्टि स मंत्रिमंडल मंत्रिपरिषद से छोटा होता है। सामान्यतया मंत्रिमंडल में 18-20 मंत्री होते हैं जबकि मंत्रिपरिषद के कुल सदस्यों की संख्या इससे कहीं अधिक होती है क्योंकि मंत्रिपरिषद में सभी स्तर के मंत्री सम्मिलित होते हैं।
5. स्थिति और शक्ति की दृष्टि से मंत्रिगण्डल की स्थिति मंत्रिपरिषद से कहीं अधिक श्रेष्ठतर होती है। ब्रिटिश मंत्रिमण्डल के विषय में व्यक्त रैम्जे म्योर के ये विचार भारतीय मंत्रिमण्डल पर भी लागू होते हैं। उनके अनुसार 'मंत्रिमंडल मंत्रिपरिषद की आत्मा और हमारी समस्त कार्यप्रणाली का केन्द्र-बिन्दु है। यह शासन का सर्वोच्च निकाय है और जब तक लोकसभा में इसे बहुमत प्राप्त रहेगा, तब तक यह अनुत्तरदायी अधिकार के साथ राष्ट्र की नीति का निर्धारण करता रहेगा।'

मन्त्रिपरिषद की बैठकें—मंत्रिमंडल की बैठकों में मंत्रिमंडल की नीति का निर्धारण होता है। सामान्यतया मंत्रिमंडल की बैठक प्रत्येक सप्ताह में होती है, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर सप्ताह में दो वार भी बुलाई जा सकती है। मंत्रिमंडल की बैठकों की अध्यक्षता प्रधानमंत्री करता है। प्रधानमंत्री की राय सर्वोपरि मानी जाती है। प्रधानमंत्री की राय से असहमति होने पर किसी मंत्री के लिए मंत्रिमंडल या मंत्रिपरिषद का सदस्य बने रहना सम्भव नहीं होता। ऐसी स्थिति में वह त्यागपत्र देने के लिए बाध्य हो जाता है।

2
भारतीय मन्त्रिपरिषद की प्रमुख विशेषताएँ

मंत्रिपरिषद-प्रणाली की कतिपय विशेषताएँ होती हैं। भारत की मंत्रिपरिषद-व्यवस्था भी इसका अपवाद नहीं है। भारतीय मंत्रिपरिषद-प्रणाली अनेक विशेषताओं से समलंकृत है। इन विशेषताओं को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. मंत्रिपरिषद की एकता—मंत्रिपरिषदीय पद्धति की एक प्रमुख विशेषता यह होती है कि वह एक इकाई के रूप में कार्य करती है। भारतीय मंत्रिपरिषद भी इस विशेषता पर आधा-

रित है। फलतः भारतीय मंत्रिपरिषद एक समग्र इकाई के रूप में कार्य करती है। मंत्रिपरिषद के प्रधानमंत्री या अन्य मंत्रियों के स्वर समस्त मंत्रिपरिषद के स्वर माने जाते हैं। मंत्रिपरिषद का कोई मन्त्री किसी निर्णय से भले ही सहमत न हो, किन्तु जब तक वह मंत्रिपरिषद का सदस्य रहता है, तब तक वह उस निर्णयको मानने के लिए बाध्य होता है। मंत्रिपरिषद का निर्णय एक प्रकार से समस्त मन्त्रियों का निर्णय माना जाता है। इस प्रकार मंत्रिपरिषद शासन और समाज में एक ठोस इकाई के रूप में कार्य करती है।

2. राजनैतिक एकरूपता—राजनैतिक एकरूपता (Political Homogeneity) मंत्रिपरिषद की अन्य प्रमुख विशेषता है। राजनैतिक एकरूपता का अर्थ यह है कि मंत्रिपरिषद के समस्त सदस्य एक ही विचारधारा या एक ही कार्यक्रम या एक से सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं। इसीलिए सामान्यतया एक ही राजनैतिक दल के लोग मंत्रिपरिषद के सदस्य होते हैं। जब लोकसभा में किसी एक दल का बहुमत नहीं होता, तब कई दलों की मिली-जुली मंत्रिपरिषद का निर्माण होता है। ऐसे मिली-जुली मंत्रिपरिषद के सदस्य कुछ निश्चित कार्यक्रम में एकमत होकर चलने का प्रयास करते हैं।

3. सामूहिक उत्तरदायित्व—सामूहिक उत्तरदायित्व (Collective Responsibility) मंत्रिपरिषद की वैचारिक आधारशिला मानी जाती है। सामूहिक उत्तरदायित्व का यह अर्थ होता है कि मंत्रिपरिषद के सदस्य सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। अतएव यदि प्रधानमन्त्री या किसी अन्य मन्त्री के प्रति लोकसभा में अविश्वास का प्रस्ताव पास हो जाता है तो सारे मंत्रिपरिषद के सदस्य त्यागपत्र दे देते हैं। जैसा कि एक विद्वान् ने कहा है कि मन्त्रिपरिषद के सदस्य एकसाथ डूबते हैं और एकसाथ तैरते हैं---All swim and sink together. दूसरे शब्दों में मंत्रिपरिषद के सदस्य इस मान्यता को लेकर चलते हैं कि एक सबके लिए और सब एक के लिए।

4. मंत्रिपरिषद की कार्यवाही की गोपनीयता--गोपनीयता मंत्रिपरिषद-प्रणाली का प्राण होती है। प्रत्येक मन्त्री मंत्रिपरिषद की गोपनीय या गुप्त बातों को जनता अथवा सदन के समक्ष व्यक्त नहीं करते। इस दृष्टि से प्रत्येक मन्त्री गोपनीयता की शपथ लेता है। इस शपथ का प्रावधान भारतीय संविधान में दिया हुआ है। इस प्रकार का प्रावधान इसलिए किया गया है कि कोई मन्त्री राष्ट्र-हित की दृष्टि से महत्वपूर्ण शासन की गुप्त बातों को व्यक्त न करे।

5. प्रधानमन्त्री का नेतृत्व---प्रधानमन्त्री मंत्रिपरिषद का प्रधान होता है। वह अपनी मंत्रिपरिषद के सदस्यों की नियुक्ति करता है, उनमें विभागों का वितरण करता है। वह उनके कार्यों में सामंजस्य स्थापित करता, उनकी कार्यवाहियों को नियंत्रित करता तथा उन्हें पदच्युत करता है। इस प्रकार प्रधानमन्त्री मंत्रिपरिषद का आदि और अन्त होता है। इसीलिए उसे 'समकक्षों में प्रथम' या 'प्रधानों में प्रधान' मन्त्रिपरिषद-रूपी मेहराब का मध्य प्रस्तर कहा जाता है।

6. व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के सम्बन्धों की अभिन्नता---मंत्रिपरिषदीय प्रणाली में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का अभिन्न सम्बन्ध होता है। भारतीय मंत्रिपद भी इसी सिद्धान्त पर गठित होती है। यहाँ मंत्रिपरिषद के सदस्य व्यवस्थापिका अर्थात् संसद के सदस्य होते हैं, वे संसद की कार्यवाही में सक्रिय भाग लेते हैं। जब तक लोकसभा में उन्हें विश्वास प्राप्त रहता है, तब तक वे अपने पद पर बने रहते हैं। एक प्रकार से मंत्रिपरिषद संसद की 'कार्यकारिणी समिति' (Executive Commitee) के रूप में कार्य करती है।

7. वास्तविक कार्यपालिका तथा वैधानिक कार्यपालिका में अन्तर---मंत्रिपरिषदीय प्रणाली में वास्तविक कार्यपालिका तथा वैधानिक कार्यपालिका में स्पष्ट अन्तर होता है। भारत

में भी वैधानिक कार्यपालिका और वास्तविक कार्यपालिका में स्पष्ट अन्तर है। राष्ट्रपति वैधानिक कार्यपालिका का प्रधान है और मंत्रिपरिषद वास्तविक कार्यपालिका का। राष्ट्रपति नाममात्र का शासक है जब कि मंत्रिपरिषद वास्तविक कार्यपालिकीय शक्तियों का उपभोग करती है। नाममात्र का शासक होने के नाते राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद का प्रधान नहीं होता, न वह मंत्रिपरिषद का सदस्य होता है और न ही उसकी अध्यक्षता करता है। मंत्रिपरिषद की अध्यक्षता का अधिकार तो प्रधानमन्त्री का होता है।

इस प्रकार भारत की मन्त्रिपरिषदीय व्यवस्था उन सब विशेषताओं से समलंकृत है जो किसी मंत्रिपरिषदीय व्यवस्था में होती हैं।

3

मंत्रिपरिषद के कार्य

संवैधानिक प्रावधानों के अनुसार मंत्रिपरिषद का प्रमुख कार्य राष्ट्रपति के कार्यों में सहयोग और परामर्श देना है। राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद द्वारा दी गई सलाह को मानने के लिए बाध्य होता है। राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद द्वारा दी गई किसी सलाह को दुबारा विचारार्थ मंत्रिपरिषद को वापस भेज सकता है, किन्तु मंत्रिपरिषद द्वारा दूसरी बार विचार करने के बाद दी गई सलाह की राष्ट्रपति उपेक्षा नहीं कर सकता। उसे मानना उसके लिए आवश्यक होता है। मंत्रिपरिषद ने राष्ट्रपति को क्या सलाह दी है, इस प्रश्न पर किसी न्यायालय में विचार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार मंत्रिपरिषद का प्रमुख कार्य राष्ट्रपति को शासन में सलाह और सहयोग देना होता है, किन्तु संसदीय परम्परा के अनुसार समस्त कार्यपालिकीय शक्तियों का प्रयोग और प्रवर्तन मंत्रिपरिषद ही करती है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से मंत्रिपरिषद के प्रमुख कार्यों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

मन्त्रिपरिषद की शक्तियाँ और कार्य

1. राष्ट्रीय नीति का निर्धारण
2. राष्ट्रीय कार्यपालिका का संचालन
3. विभिन्न विभागों का समन्वयन
4. राष्ट्रीय विधियों का व्यवस्थापन
5. आर्थिक और वित्तीय व्यवस्था का निर्देशन
6. वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन
7. अन्य कार्य

1. राष्ट्रीय नीति का निर्धारण—मंत्रिपरिषद का सर्वोपरि कार्य राष्ट्रीय नीति का निर्धारण है। मंत्रिपरिषद ही सारे देश के प्रशासन और व्यवस्था सम्बन्धी नीति का निर्धारण करती है। उसी के द्वारा निर्धारित और निर्देशित नीति के अनुसार राष्ट्र के शासन-यंत्र का संचालन होता है। राष्ट्रीय नीति के निर्धारण के साथ ही मंत्रिपरिषद अपने देश की अन्तर्राष्ट्रीय नीति का भी निर्धारण करती है। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि नीति-निर्धारण का कार्य मंत्रिमंडल करता है, उसमें समस्त मंत्रिपरिषद का योग नहीं रहता।

2. राष्ट्रीय कार्यपालिका का संचालन—मंत्रिपरिषद राष्ट्रीय कार्यपालिका का प्रमुख केन्द्र-बिन्दु होती है। संघीय सूची के अन्तर्गत आने वाले समस्त विषयों का वह प्रबन्ध और व्यवस्था करती है। शासन की सुविधा के लिए कार्यों को शासन के विविध विभागों में विभक्त कर दिया जाता है। प्रत्येक विभाग को किसी मन्त्री के अधीन सौंप दिया जाता है। मन्त्री उस विभाग के कार्यों पर नियंत्रण रखता है, उसकी व्यवस्था करता है तथा निर्धारित नीति के अनुसार उसका संचालन करता है। इस प्रकार मंत्रिपरिषद राष्ट्रीय कार्यपालिका का प्रमुख सूत्रधार होती है।

3. विभिन्न विभागों का समन्वयन—मंत्रिपरिषद का अन्य महत्वपूर्ण कार्य शासन के विभिन्न विभागों के मध्य समन्वय स्थापित करना होता है। दूसरे शब्दों में मंत्रिपरिषद यह देखती है कि विभिन्न विभागों के कार्यों में कोई अन्तर्विरोध न हो। एक विभाग अपनी सीमाओं

का अतिक्रमण न करे तथा कार्यपालिका के समस्त अंगों में सामंजस्य बना रहे। इस प्रकार विभिन्न विभागों का समन्वय मंत्रिपरिषद का एक प्रमुख कार्य है।

4. **राष्ट्रीय विधियों का व्यवस्थापन**—यद्यपि व्यवस्थापन संसद का प्रमुख कार्य है, किन्तु मंत्रिपरिषद भी व्यवस्थापन की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। मंत्रि-परिषद के व्यवस्थापन-विषयक कार्यों को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. मंत्रिपरिषद व्यवस्थापन की दिशा में संसद का नेतृत्व करती है।
2. संसद में कौन से विधेयक सरकार द्वारा कब प्रस्तुत किए जायेंगे, इसका निर्धारण मंत्रिपरिषद ही करती है।
3. जिस विभाग से सम्बन्धित विधेयक होता है, उसी विभाग के मन्त्री द्वारा वह विधेयक संसद में पेश किया जाता है।
4. मंत्रिपरिषद ही किसी अधिनियम को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक नियम (Rules) बनाती है।[1]
5. मंत्रिपरिषद ही मुख्यतया संविधान में संशोधन-विषयक विधेयकों को पास कराने का प्रयास करती हैं।

इस प्रकार व्यवस्थापन के क्षेत्र में मंत्रिपरिषद को अनेक महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हैं। इन शक्तियों, अधिकारों या कार्यों के आधार पर मंत्रिपरिषद को 'लघु व्यवस्थापिका' (Little Legislature) कहा गया है।

5. **आर्थिक और वित्तीय व्यवस्था का निर्देशन**—मंत्रिपरिषद ही देश की आर्थिक और वित्तीय व्यवस्था का निर्देशन करती है। वही देश की आर्थिक नीति का निर्धारण करती है। वही औद्योगिक और कृषि के विकास की गति-दिशा निर्धारित करती है। वही आर्थिक विकास की विभिन्न योजनाओं का निर्माण करती है। वही यह निर्धारित करती है कि किन वस्तुओं पर कब और कितना कर लगाया जाय या किन वस्तुओं से कर हटाया जाय। वही राष्ट्रीय आय-व्यय का वार्षिक ब्योरा (बजट) तैयार करती है तथा उसे संसद के समक्ष प्रस्तुत करती है। इस प्रकार मंत्रिपरिषद को देश की आर्थिक और वित्तीय व्यवस्था का प्रमुख सूत्रधार कहा जा सकता है।

6. **वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन**—मंत्रिपरिषद वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। वही देश की वैदेशिक नीति का निर्धारण करती है। वही दूसरे देशों के साथ राजनयिक सम्बन्धों का संचालन करती है। वही विदेशों के लिए राजदूत नियुक्त करती है। वही विदेशों में शिष्ट-मंडल भेजने का प्रबन्ध करती है। वही संधि, समझौते इत्यादि के सम्पन्न कराने में आवश्यक कदम उठाती है। वही अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सम्मिलित होने के लिए अपने प्रतिनिधि भेजती है। वही आवश्यकता पड़ने पर क्षेत्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन करती है।

7. **अन्य कार्य**—उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त मंत्रिपरिषद कुछ अन्य महत्वपूर्ण कार्य करती है। इन कार्यों को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. वही शासन के उच्च पदों पर नियुक्तियों के लिए राष्ट्रपति को परामर्श देती है। उच्च तथा उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश, राज्यों के राज्यपाल, राष्ट्रीय रक्षा-बलों के सेनाध्यक्ष, विभिन्न आयोगों के अध्यक्ष तथा सदस्य आदि की नियुक्ति का

---

1. कार्यपालिका द्वारा इस प्रकार नियम-निर्माण को प्रदत्त व्यवस्थापन (Delegated Legislation) कहते हैं।

अधिकार वस्तुतः मंत्रिपरिषद का ही है। राष्ट्रपति केवल उसमें निमित्त-मात्र होता है।

2. वह कतिपय उच्च पदाधिकारियों की पदोन्नति के विषय में अन्तिम निर्णय देती है।
3. वही आवश्यकता पड़ने पर विभिन्न आयोगों के गठन की व्यवस्था करती है।
4. वही राष्ट्रपति को संकटकाल की घोषणा के लिए परामर्श देती है तथा राष्ट्रपति के संकटकालीन अधिकारों का प्रयोग करती है।
5. वही किसी देश से युद्ध या शान्ति की घोषणा का निर्णय लेती है तथा संसद के समर्थन से उसे घोषित करती है।
6. वही राष्ट्रीय पदकों तथा अन्य राष्ट्रीय सम्मानों तथा भारतरत्न, पद्मभूषण, पद्मश्री आदि सम्मानों के प्रदान करने के लिए राष्ट्रपति को नाम भेजती है।
7. वही अपराधियों के अपराधों के क्षमादान के लिए राष्ट्रपति को सिफारिश करती है।

इस प्रकार मंत्रिपरिषद को अनेक प्रकार की कार्यपालिकीय, व्यवस्थापिकीय और वित्तीय शक्तियाँ प्राप्त हैं। इन शक्तियों के कारण मंत्रिपरिषद राजव्यवस्था की ऐसी धुरी बन गई है जिसके चारों ओर भारतीय शासन का समग्र संयंत्र आवृत्तियाँ लेता है, चक्कर लगाता है। इस दृष्टि से भारतीय मंत्रिपरिषद को शासन का प्रमुख सूत्रधार, शासन-शक्ति, प्रमुख ऊर्जा-केन्द्र तथा भारतीय कार्यपालिका का प्रमुख आधार-स्तम्भ कहा जा सकता है।

4

मंत्रिपरिषद और राष्ट्रपति का सम्बन्ध

मंत्रिपरिषद और राष्ट्रपति दोनों भारत की संसदात्मक कार्यपालिका के अभिन्न अंग हैं। फलतः दोनों एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। इस संबंध का अध्ययन हम निम्न-लिखित रूप में कर सकते हैं—

1. राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद की नियुक्ति करता है—राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद के संबंध-श्रृंखला की पहली कड़ी नियुक्ति की वह प्रक्रिया है जो राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद में प्रथम सम्बन्ध स्थापित करती है। संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की नियुक्ति करता है और अन्य मंत्री प्रधानमंत्री के परामर्श से नियुक्त किए जाते हैं। उसी के प्रसाद-पर्यन्त मंत्री अपने पद पर बने रहते हैं।

2. मन्त्रिपरिषद राष्ट्रपति को परामर्श देती है—संविधान के 74वें अनुच्छेद के अनुसार राष्ट्रपति को शासन में सहयोग और परामर्श देने के लिए एक मंत्रिपरिषद होगी जिसकी सलाह से वह कार्य करेगा। इस प्रकार परामर्श का आधार राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद को एक-दूसरे के निकट लाता है। संशोधित व्यवस्था के अनुसार राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद द्वारा दी गई सलाह को दुबारा विचार के लिए मंत्रिपरिषद को वापस भेज सकता है। किन्तु यदि मंत्रिपरिषद दूसरी बार वही सलाह देती है तो राष्ट्रपति उस सलाह को मानने के लिए बाध्य होगा।

3. मंत्रिपरिषद राष्ट्रपति को शासन-सम्बन्धी कार्यों की सूचना देती है—राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह मंत्रीपरिषद से शासन के विषय में जानकारी प्राप्त करे। फलतः मंत्रि-परिषद समय-समय पर राष्ट्रपति को शासन की गतिविधियों, उपलब्धियों और समस्याओं से अवगत कराती रहती है।

4. मंत्रिपरिषद राष्ट्रपति और संसद को जोड़ने वाली कड़ी है—मन्त्रिपरिषद राष्ट्रपति और संसद को जोड़ने वाली एक कड़ी है। राष्ट्रपति के विचारों को मंत्रिपरिषद संसद के

सदस्यों तक पहुँचाती है और संसद के स्वरों को वह राष्ट्रपति तक पहुँचाती है। इस प्रकार मन्त्रिपरिषद संसद और राष्ट्रपति के मध्य एक सेतु का कार्य करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मन्त्रिपरिषद और राष्ट्रपति एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। जहाँ तक कि राष्ट्रपति और मन्त्रिपरिषद की तुलनात्मक स्थिति का प्रश्न है, हमें यह न भूलना चाहिए कि राष्ट्रपति देश की संसदात्मक व्यवस्था का संवैधानिक प्रधान है, किन्तु उसके हाथों में वास्तविक शक्तियाँ निहित नहीं हैं। वास्तविक शक्तियों का उपभोग तो मन्त्रिपरिषद ही करती है।

मंत्रिपरिषद और संसद

संसदात्मक व्यवस्था में मंत्रिपरिपद और संसद एक दूसरे के घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होती हैं। भारत की संसदात्मक व्यवस्था भी इसका अपवाद नहीं है। भारत में भी संसद और मन्त्रिपरिपद में घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक प्रकार से मंत्रिपरिपद को संसद की कार्यकारिणी समिति कहा जा सकता है। मंत्रिपरिपद और संसद के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन हम निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

1. मंत्रिपरिषद का गठन संसद के सदस्यों द्वारा होता है—मन्त्रिपरिषद के सदस्य संसद के सदस्य होते हैं। यदि कोई व्यक्ति, नियुक्ति के समय सदस्य नहीं होता तो उसे छह महीने के अन्दर सदस्य होना आवश्यक होता है।

2. मंत्रिपरिषद का कार्यकाल संसद के विश्वास पर निर्भर करता है--संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार मंत्रिपरिपद लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। अतएव जब तक मंत्रिपरिषद को लोकसभा का विश्वास प्राप्त रहता है, तब तक वह अपने पद पर बनी रहती है। किन्तु जब लोकसभा के विश्वास से वह वंचित हो जाती है, तब वह अपने पद से त्यागपत्र देने के लिए बाध्य होती है। उदाहरण के लिए जुलाई, 1979 ई० में जब मोरारजी को यह विश्वास हो गया कि लोकसभा के विश्वास से उनकी सरकार वंचित होने जा रही है तो उन्होंने अविश्वास प्रस्ताव पर विचार होने के पूर्व अपनी मंत्रिपरिपद का त्यागपत्र दे दिया। इसी प्रकार जब श्री वी पी सिंह लोकसभा का विश्वास प्राप्त करने में असमर्थ रहे तो उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। इस प्रकार मंत्रिपरिषद का कार्यकाल लोकसभा पर निर्भर रहता है।

3 मंत्रिपरिषद संसद द्वारा नियंत्रित होती है—मन्त्रिपरिषद अपनी नीति और कार्यों के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी होती है। संसद प्रश्न पूछकर तथा अनेक प्रकार के प्रस्तावों के द्वारा मन्त्रिपरिषद पर नियंत्रण रखती है। इन प्रस्तावों में काम रोको प्रस्ताव या स्थगन प्रस्ताव तथा अविश्वास का प्रस्ताव मुख्य हैं। इसी प्रकार बजट या विधि के प्रस्ताव को अस्वीकृत करके या मन्त्रियों के वेतन में कटौती करके संसद मन्त्रीपरिषद पर नियंत्रण रखती है। यदि लोकसभा में अविश्वास का प्रस्ताव पास हो जाता है या किसी मन्त्री के वेतन में कटौती का प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता है या लोकसभा बजट को अस्वीकृत कर देती है तो मन्त्रिपरिषद त्यागपत्र देने के लिए बाध्य हो जाती है।

4. मंत्रिपरिषद संसद पर नियन्त्रण रखती है—जिस प्रकार संसद मंत्रिपरिषद पर नियन्त्रण रखती है, उसी प्रकार मंत्रिपरिपद का भी संसद पर नियन्त्रण रहता है। मंत्रिपरिषद द्वारा संसद के नियन्त्रण के मुख्य आधार निम्नलिखित हैं—

1. प्रधानमन्त्री लोकसभा के बहुमत दल का नेता होता है। मंत्रिपरिपद के अन्य सदस्य

भी संसद के सदस्य होते हैं। लोकसभा में बहुमत होने के कारण मंत्रिपरिषद का लोकसभा में पर्याप्त प्रभाव रहता है।

2. प्रधानमन्त्री लोकसभा में अपने दल का नेता होता है। अपने दल के नेता होने के कारण प्रधानमन्त्री का मंत्रिपरिषद पर नियन्त्रण रहता है।
3. प्रधानमन्त्री के परामर्श पर ससंद के अधिवेशन आमंत्रित किये जाते हैं, स्थगित किए जाते हैं या लोकसभा की कार्यवाही के नियम निर्धारित किये जाते हैं।
4. प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति को लोकसभा को भंग करने की सलाह दे सकता है। प्रधानमन्त्री के हाथ का यह एक ऐसा अस्त्र होता है जिससे कि लोकसभा के सदस्य सदा डरते रहते हैं।
5. मंत्रिपरिषद की सलाह से ही राज्यसभा के बारह सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जाते हैं।

इस प्रकार मंत्रिपरिषद संसद की शिशु भी है और स्वामिनी भी। शिशु इस अर्थ में कि संसद मंत्रिपरिषद की जननी होती है। मंत्रिपरिषद के सदस्य संसद के सदस्य होते हैं। साथ ही मंत्रिपरिषद संसद की स्वामिनी भी है। स्वामिनी इस अर्थ में कि मंत्रिपरिषद का संसद पर पूर्ण प्रभुत्व रहता है।

5

प्रधानमंत्री : अधिकार, शक्ति और स्थिति

प्रधानमन्त्री भारत की संसदात्मक व्यवस्था का सर्वाधिक सशक्त पक्ष है। यदि मंत्रिपरिषद भारत के संसदात्मक यान का प्रमुख चक्र हैं, तो प्रधानमन्त्री उस चक्र का प्रमुख संचालक है। यदि मंत्रिपरिषद संसदात्मक व्यवस्था का प्रमुख प्रासाद है तो प्रधानमन्त्री उस प्रासाद का आधार-स्तम्भ है।

"यदि मंत्रिपरिषद भारत की राजनैतिक व्यवस्था का सौरमण्डल है तो प्रधानमन्त्री वह सूर्य है जिसके चारों ओर वह सौर-मण्डल आवृत्तियाँ लेता है।" दूसरे शब्दों में प्रधानमन्त्री भारत की संसदात्मक व्यवस्था का हृद-स्थल है, उसका जीवन है, उसका अपरिहार्य आधार है।

भारत की राजनीतिक व्यवस्था में प्रधानमन्त्री की इस महती भूमिका के परिचय के लिए हमें उसकी शक्ति और स्थिति पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम भारत के प्रधानमन्त्री के अधिकार, शक्ति और स्थिति का अवलोकन अग्रलिखित रूप में कर सकते हैं—

1. **प्रधानमन्त्री मन्त्रिपरिषद के जन्म और जीवन का प्रधान स्रोत है**—प्रधानमन्त्री का सर्वोपरि और सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य अपनी मन्त्रिपरिषद की रचना है। राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त हो जाने के बाद प्रधानमन्त्री अपनी मन्त्रिपरिषद की रचना का कार्य प्रारम्भ करता है। वह मन्त्रिपरिषद के सदस्यों की जो सूची राष्ट्रपति के पास भेजता है, राष्ट्रपति उसी के आधार पर मन्त्रियों की नियुक्ति करता है।

प्रधानमन्त्री मन्त्रिपरिषद का निर्माता तो होता ही है, साथ ही वह उसका जीवन-स्रोत भी होता है। प्रधानमन्त्री ही मन्त्रियों के मध्य विभागों का वितरण करता तथा यह निश्चय करता है कि कौन मन्त्री कैबिनेट (मन्त्रिमंडल) स्तर का मन्त्री हो, कौन राज्य-स्तर का और कौन उपमन्त्री।

प्रधानमन्त्री ही जब चाहे किसी मन्त्री के विभाग का परिवर्तन कर सकता है या उसे अपनी मन्त्रिपरिषद से त्यागपत्र देने के लिए बाध्य कर सकता है। भारत के संवैधानिक

इतिहास में इस प्रकार के उदाहरणों की कमी नहीं है जबकि प्रधानमन्त्री की कृपा से वंचित होने पर उस मन्त्री को मन्त्रिपरिषद से हटना पड़ा। यदि कोई मन्त्री प्रधानमन्त्री के आग्रह करने पर भी त्यागपत्र नहीं देता तो प्रधानमन्त्री अपनी पुरानी मन्त्रिपरिषद का त्यागपत्र देकर नई मन्त्रिपरिषद का गठन कर सकता है और इन नई मन्त्रिपरिषद के गठन में वह ऐसे मन्त्री को अलग कर सकता है। इस प्रकार मन्त्रियों के अस्तित्व की बागडोर प्रधानमन्त्री के हाथों में रहती है। इस प्रकार प्रधानमन्त्री मन्त्रिपरिषद के जन्म, जीवन और अन्त का स्रोत होता है। जैसा कि एक विद्वान् लिखा है कि "मन्त्रिपरिषद की रचना और संगठन में प्रधानमन्त्री को जितनी शक्तियाँ प्राप्त हैं, उतनी संसार के किसी तानाशाह को भीं प्राप्त नहीं हैं।"

2. मन्त्रिपरिषद का प्रमुख संचालक है—प्रधानमन्त्री मन्त्रिपरिषद के जन्म और जीवन का ही स्रोत नहीं होता, प्रत्युत वह मन्त्रिपरिषद का प्रधान संचालक भी होता है। प्रधानमन्त्री ही मन्त्रिपरिषद तथा मन्त्रिमण्डल की अध्यक्षता करता है। वही मन्त्रिपरिषद की कार्यवाही संचालित करता है। वही विभिन्न मंत्रालयों के मध्य समन्वय स्थापित करता है। वही समस्त मन्त्रियों को आवश्यक निर्देश दे समग्र शासन पर नियन्त्रण रखता है। इस प्रकार प्रधानमन्त्री मन्त्रिपरिषद का प्रधान और सशक्त संचालक होता है। प्रधानमन्त्री अपने इस दायित्व का निर्वहन दो सचिवालयों के माध्यम से करता है। प्रधानमन्त्री का सचिवालय तथा मन्त्रिपरिषद का सचिवालय ऐसे ही सचिवालय हैं।

3. लोकसभा का नेता—प्रधानमन्त्री बहुमत दल का नेता होता है। लोकसभा में बहुमत दल की प्रधानता होती है। अतएव प्रधानमन्त्री लोकसभा में दल का प्रभावशाली नेता होता है। लोकसभा के नेता के रूप में प्रधानमन्त्री सदन की कार्यवाही में प्रमुख भूमिका अदा करता है। उसके निर्देशन और नियन्त्रण में मन्त्रिपरिषद के मन्त्री सदन के पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देते हैं। प्रधानमन्त्री ही सदन में अपने दल की नीति का प्रधान वक्ता और प्रधान पक्षपोषक होता है। वही सदन में शासन की प्रमुख नीतियों की घोषणा करता है। वही सदन के सदस्यों को महत्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्याओं तथा उन समस्याओं के समाधान के लिए सरकार द्वारा किए गए प्रयासों से अवगत कराता है। दलीय सचेतक (Party whicp) द्वारा वह अपने दल के सदस्यों को आवश्यक निर्देश देता है। वह सदन का समय-विभाजन तथा कार्यक्रम तैयार करता है। वही सरकारी तथा निजी कार्यों का समय निर्धारित करता है। लोकसभा में व्यवस्था बनाए रखने के लिए वह लोकसभा के अध्यक्ष की सहायता करता है।

4. मन्त्रिपरिषद और राष्ट्रपति के बीच की कड़ी—प्रधानमन्त्री मन्त्रिपरिषद और राष्ट्रपति के बीच की कड़ी का कार्य करता है। संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार राष्ट्रपति को शासन-सम्बन्धी गतिविधियों की सूचना देने का प्रधान कार्य प्रधानमन्त्री का है। अन्य मन्त्रियों को सीधे राष्ट्रपति को शासन के विषय में कोई सूचना देने की आवश्यकता नहीं होती। राष्ट्रपति भी प्रधानमन्त्री के माध्यम से किसी मंत्रालय के किसी निर्णय की सूचना माँग सकता है। इस प्रकार प्रधानमन्त्री वह माध्यम है, वह कड़ी है जो राष्ट्रपति और मन्त्रिपरिषद को एक-दूसरे से जोड़ती है।

5. राष्ट्रीय नीति का प्रधान निर्माता—प्रधानमन्त्री राष्ट्रीय नीति का प्रधान निर्माता होता है। वही देश की आन्तरिक और विदेशी नीति का प्रमुख सूत्रधार होता है। उसके द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार राष्ट्रीय शासन की गति-दिशा निर्धारित होती है। उदाहरण के लिए भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने भारत की वैदेशिक नीति के जो आदर्श निर्धारित किए थे, वे आदर्श आज भी हमारी वैदेशिक नीति के आधार बने हुए हैं। इसी प्रकार इन्दिरा गांधी ने भी अपने शासन-काल में राष्ट्रीय और वैदेशिक नीति की दिशा में अनेक मानदण्ड निर्धारित किए हैं।

6. **राष्ट्र के उच्च पदों की नियुक्ति का प्रधान स्रोत है**—राष्ट्र के शासन से सम्बन्धित अनेक उच्च पद हैं। इन उच्च पदों पर नियुक्ति का सैद्धान्तिक अधिकार राष्ट्रपति को है। किन्तु व्यवहार में इस अधिकार का प्रयोग प्रधानमन्त्री करता है। इस प्रकार निर्वाचन आयोग, वित्त आयोग, संघीय लोकसेवा आयोग आदि के अध्यक्ष एवं सदस्यों तथा विदेशों को भेजे जाने वाले राजदूतों आदि की नियुक्ति वस्तुतः उसी के हाथों में होती है। राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री के परामर्श पर ही ये नियुक्तियाँ करता है, अपनी इच्छा से नहीं।

7. **दल का नेता**—प्रधानमन्त्री संसद में अपने दल का नेता तो होता ही है, साथ ही संसद के बाहर भी अपने दल का प्रधान नेता माना जाता है। वह अपने दल का प्रतीक और प्रधान प्रतिनिधि कहा जाता है। दल के संगठन, रचना में दल के कार्यक्रम और नीति के निर्धारण में उसी का स्वर प्रधान माना जाता है। निर्वाचनों में दल के प्रत्याशियों के चयन में उसका ही प्रमुख प्रभाव होता है। देश के निर्वाचनों में उसका दल प्रधानमन्त्री को ही आधार मानकर चुनाव लड़ता है। एक प्रकार से संसद के महानिर्वाचन प्रधानमन्त्री के महानिर्वाचन माने जाते हैं। दल में प्रधानमन्त्री की भूमिका कितनी प्रभाव होती है, इसका जीवन्त उदाहरण इन्दिरा कांग्रेस है।

8. **राष्ट्र का नेता**—प्रधानमन्त्री अपने दल का ही नेता नहीं होता, प्रत्युत वह सारे राष्ट्र का नेता माना जाता है। सारा राष्ट्र उसे अपना प्रधान मानता है। उसकी वाणी राष्ट्र की वाणी मानी जाती है। राष्ट्रीय और अपने देश से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में सारा राष्ट्र उसी से मुख्य आशा करता है। इस प्रकार वह किसी एक प्रदेश का, क्षेत्र का, वर्ग या जाति का नेता न होकर सारे राष्ट्र का नेता माना जाता है।

9. **अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में राष्ट्र का प्रतिनिधि**—प्रधानमन्त्री अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में राष्ट्र का प्रधान प्रतिनिधि माना जाता है। वही देश की वैदेशिक नीति का प्रधान सूत्रधार होता है। वैदेशिक सम्बन्धों में राष्ट्र के दृष्टिकोण का वही प्रमुख उद्घोषक होता है, वही वैदेशिक संबंधों की रूपरेखा निर्धारित करता है। विदेशों के साथ की जाने वाली वाली सन्धि या समझौतों के सम्पन्न करने में उसी का नेतृत्व प्रधान होता है। वही प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भारत का प्रतिनिधित्व करने के लिए स्वयं सम्मिलित होता या अपने प्रतिनिधि भेजता है। वह राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा, संरक्षण या विस्तार के लिए समय-समय पर विदेश-यात्राएँ कर भारत के दृष्टिकोण, आकांक्षाओं और आदर्श को विश्व के राजनैतिक रंगमंच पर व्यक्त करता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार प्रधानमन्त्री भारत की राजनैतिक व्यवस्था का अत्यन्त सशक्त पक्ष है। उसे अनेक महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हैं। भारतीय प्रधानमन्त्री की स्थिति और शक्तियों पर प्रकाश डालते हुए प्रो० के० टी० साह ने कहा था कि "प्रधानमन्त्री की शक्तियों को देखकर मुझे ऐसा डर लगता है कि यदि वह चाहे तो किसी भी समय देश का ताना शाह बन सकता है।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत की राजनैतिक व्यवस्था में प्रधानमन्त्री का पद अत्यन्त प्रभावी और शक्तिशाली पद है। यदि प्रधानमन्त्री के पद पर आसीन व्यक्ति प्रखर और प्रभावशाली है तो वह अपने पद को और भी प्रभावशाली बना सकता है। उदाहरण के लिए, भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व के कारण उनका पद अत्यन्त प्रभावशाली बन गया था। जैसा कि श्रीनिवास आयंगर ने लिखा है कि "जब वे (श्री नेहरू) किसी सभा में पहुँचते थे, चाहे वह स्थायी समिति की सभा हो, चाहे कोई सार्वजनिक सभा हो, दोनों प्रकार की सभाओं में वे समान प्रभाव डालते थे। सभी की आँखें उन्हीं की ओर लग जातीं, पुरुषों का हृद्-स्पन्दन कुछ रुक-सा जाता और स्त्रियाँ हतप्रभ-सी हो जातीं।"

लघु एवं अति लघु उत्तरीय प्रश्न और उनके उत्तर

लघु उत्तरीय प्रश्न और उनके प्रश्न

प्रश्न 1—केन्द्रीय मंत्रिपरिषद का गठन कैसे होता है ?

उत्तर--राष्ट्रपति लोकसभा के बहुमत दल के नेता को प्रधानमंत्री पद पर नियुक्त करता है। प्रधानमंत्री की सलाह से राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद के अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है।

प्रश्न 2—क्या राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की इच्छा के विरुद्ध केन्द्रीय मंत्रिपरिषद के मंत्रियों की नियुक्ति कर सकता है ?

उत्तर--राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की सलाह के बिना किसी व्यक्ति को मंत्रिपरिषद पद पर नियुक्त नहीं कर सकता। यदि राष्ट्रपति प्रधान मंत्री की सलाह के बिना किसी व्यक्ति को मंत्री नियुक्त करता है तो प्रधान मंत्री अपना त्याग-पत्र देकर संवैधानिक संकट उत्पन्न कर सकता है।

प्रश्न 3—क्या राष्ट्रपति केन्द्रीय मंत्रिपरिषद की सलाह के बिना शासन कर सकता है ?

उत्तर--राष्ट्रपति भारत की संसदात्मक व्यवस्था का संवैधानिक प्रधान है। संविधान के अनुसार वह मंत्रिपरिषद की सलाह से कार्य करने के लिए बाध्य है। संविधान में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जिसके अनुसार राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद की सलाह और सहायता के बिना कार्य करे।

प्रश्न 4--क्या राष्ट्रपति के प्रधानमंत्री या उसकी मंत्रिपरिषद को अपदस्थ कर सकता है ?

उत्तर—कोई भी राष्ट्रपति तब तक किसी व्यक्ति को प्रधानमंत्री पद से अपदस्थ या हटा नहीं सकता जब तक कि उस व्यक्ति को लोकसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है।

प्रश्न 5—क्या राष्ट्रपति स्वेच्छा से किसी व्यक्ति को प्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त कर सकता है ?

उत्तर—राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री पद पर उसी व्यक्ति को नियुक्त कर सकता है जो लोकसभा में बहुमत दल का नेता हो अथवा जिसे लोकसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त हो। अतएव राष्ट्रपति प्रधान मंत्री की नियुक्ति में मनमानी नहीं कर सकता।

प्रश्न 6—क्या प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति को शासन-सम्बन्धी गतिविधियों की सूचना देने के लिए बाध्य है ?

उत्तर—संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार प्रधानमंत्री को शासन की प्रमुख गतिविधियों से अवगत कराना आवश्यक है। पर प्रधान मंत्री राष्ट्रपति को शासन-सम्बन्धी किन बातों की कैसे और कब सूचना देगा, यह प्रधान मंत्री की इच्छा पर निर्भर करेगा।

प्रश्न 7—सामूहिक उत्तरदायित्व का क्या आशय है ?

उत्तर—सामूहिक उत्तरदायित्व से यह आशय है कि मंत्रिपरिषद के सदस्य अपनी नीति और कार्यों के लिए सामूहिक रूप से संसद के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

प्रश्न 8—केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद के मन्त्रियों के लिए क्या योग्यताएँ आवश्यक हैं ?

उत्तर--(1) उसे संसद के किसी सदन का सदस्य होना चाहिए, (2) यदि कोई व्यक्ति मंत्रिपरिषद का सदस्य निर्वाचित कर लिया जाता है, किन्तु संसद का सदस्य नहीं होता तो उसे छह महीने के अन्दर संसद का सदस्य चुन लिया जाना चाहिए।

प्रश्न 9—केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद की पाँच विशेषताएँ बताइये।

उत्तर—(1) मंत्रिपरिषद का प्रधान प्रधानमंत्री होता है। (2) मंत्रिपरिषद के सदस्य संसद के बहुमत दल के सदस्य होते हैं। (3) मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। (4) मंत्रिपरिषद के सदस्य शासन-सम्बन्धी मामलों और नीति में एकमत होकर कार्य करते हैं।

प्रश्न 10—मन्त्रिपरिषद और मन्त्रिमण्डल में क्या अन्तर है ?

मंत्रिपरिषद की सदस्य-संख्या विशाल होती है। इसमें सभी श्रेणियों, यथा कैबिनेट (मंत्रिमण्डल-स्तर) के मंत्री, राज्य मंत्री तथा उपमंत्री सम्मिलित होते हैं जब कि मंत्रिमण्डल में मंत्रिपरिषद के मंत्रिमण्डल-स्तर के मंत्री सम्मिलित होते हैं।

प्रश्न 11—केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद के पाँच मुख्य कार्य बताइये।

उत्तर—(1) मंत्रिपरिषद शासन की नीति निर्धारित करती है। (2) कार्यपालिका-सम्बन्धी कार्यों को करती है। (3) शासन-सम्बन्धी महत्वपूर्ण नियुक्तियाँ करती है। (4) देश की वित्तीय व्यवस्था का संचालन करती है। (5) युद्ध तथा शान्ति सम्बन्धी कार्यों का संचालन करती है।

प्रश्न 12—प्रधानमन्त्री के पाँच मुख्य कार्य बताइये।

उत्तर—(1) प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद का निर्माण करता है। (2) मंत्रिपरिषद के मंत्रियों के मध्य विभागों का वितरण करता है। (3) राष्ट्रपति और मंत्रिपरिषद के मध्य कड़ी का कार्य करता है। (4) राष्ट्र की नीति का निर्माण करता है। (5) लोकसभा में अपने दल का नेतृत्व करता है।

अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—प्रधानमन्त्री की नियुक्ति कौन करता है ?

उत्तर—प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है।

प्रश्न 2—राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री के पद पर किस व्यक्ति को नियुक्त करता है ?

उत्तर—राष्ट्रपति लोकसभा के बहुमत दल के नेता को प्रधानमंत्री नियुक्त करता है।

प्रश्न 3—मन्त्रिमण्डल या मन्त्रिपरिषद की बैठकों की कौन अध्यक्षता करता है ?

उत्तर—प्रधान मंत्री।

प्रश्न 4—मन्त्रिपरिषद संसद के किस सदन के प्रति उत्तरदायी होती है ?

उत्तर—लोकसभा के प्रति।

प्रश्न 5—मन्त्रिपरिषद के सदस्य किसके सामने शपथ ग्रहण करते हैं ?

उत्तर—राष्ट्रपति के सामने।

प्रश्न 6—मन्त्रियों की कितनी श्रेणियाँ होती हैं ?

उत्तर—(1) कैबिनेट मंत्री, (2) राज्य मंत्री, (3) उपमंत्री।

प्रश्न 7—संसद के किस सदन में मन्त्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास होने पर मन्त्रिपरिषद को त्याग-पत्र देना होता है ?

उत्तर—लोकसभा में।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद के निर्माण, कार्यों तथा अधिकारों पर प्रकाश डालिए। (उ० प्र०, 1990)

2. केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद का संगठन कैसे होता है? उसके क्या अधिकार हैं?

3. भारत की मन्त्रिपरिषद की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

4. प्रधानमन्त्री की नियुक्ति कैसे होती है? उनके अधिकारों और कर्तव्यों का उल्लेख कीजिए। (उ० प्र०, 1983)

5. 'प्रधानमन्त्री मन्त्रिपरिषद-रूपी मेहराव का मुख्य प्रस्तर है।' व्याख्या कीजिए।

6. भारत में संसद मन्त्रिपरिषद पर किस प्रकार नियंत्रण रखती है? (उ० प्र०, 1979)

7. मन्त्रिपरिषद का निर्माण कैसे होता है? उसका राष्ट्रपति और लोकसभा के साथ सम्बन्ध बताइए। (उ० प्र०, 1991)

लघु प्रश्न

1. भारतीय मन्त्रिपरिषद की चार विशेषताएँ बताइए।
2. केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद का गठन कैसे होता है?
3. केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद का राष्ट्रपति से क्या सम्बन्ध है?
4. केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद का संसद से क्या सम्बन्ध है?
5. मन्त्रिपरिषद पर संसद कैसे नियंत्रण रखती है?
6. प्रधानमंत्री के कार्य और अधिकार पर प्रकाश डालिए।
7. केन्द्रीय मंत्रिपरिषद के पाँच कार्य बताए।

अति लघु प्रश्न

1. प्रधानमंत्री की नियुक्ति कौन करता है?
2. राष्ट्रपति किस व्यक्ति को प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त करता है?
3. मंत्रिपरिषद संसद के किस सदन के प्रति उत्तरदायी होती है?
4. मंत्रिपरिषद के सदस्यों की नियुक्ति किसकी सलाह से कौन करता है?
5. मंत्रिपरिषद और मंत्रिमण्डल में क्या अन्तर है?
6. मंत्रिपरिषद के दो कार्य बताइए।
7. मंत्रिपरिषद का कार्यकाल क्या है?
8. केन्द्रीय मंत्रिपरिषद-रूपी मेहराब का मध्य प्रस्तर कौन कहलाता है? (उ० प्र०, 1985)

"संसद भारत की राजनैतिक व्यवस्था का शक्ति-केन्द्र है। वह राष्ट्र का लघु दर्पण, देश की सर्वोच्च व्यवस्थापिका तथा राष्ट्र की संप्रभुता का जीवन्त प्रतीक है।"

अध्याय 13

भारतीय संसद

● संसद का स्वरूप ● लोकसभा का संगठन ● लोकसभा के निर्वाचन की विशेषताएँ ● लोकसभा के पदाधिकारी : अध्यक्ष ● लोकसभा की शक्ति और कार्य ● राज्यसभा का संगठन ● राज्यसभा के अधिकार और कार्य ● संसद की विधायी प्रक्रिया ● लोकसभा और राज्यसभा का सम्बन्ध ● राज्यसभा की स्थिति का मूल्यांकन ● संसद की शक्तियाँ और कार्य

आमुख

संसद भारतीय संघ की व्यवस्थापिका-शक्तियों का प्रधान केन्द्र-स्थल है। वही देश की संसदात्मक व्यवस्था का प्रतीक और प्रहरी है। वही भारत के प्रतिनिधिमूलक लोकतंत्र की आधारशिला है। वही भारतीय जनता की संप्रभु शक्ति की अभिव्यक्ति का सबल माध्यम है तथा वही राष्ट्र की आकांक्षाओं, आदर्शों और आवश्यकताओं के मुखरित करने का प्रधान उपकरण है।

भारतीय संविधान के अनुसार भारतीय संसद का निर्माण राष्ट्रपति, लोकसभा तथा राज्यसभा से मिलकर होता है। लोकसभा जनता का जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदन है जबकि राज्यसभा परोक्ष रूप से निर्वाचित प्रतिनिधियों का आगार है।

यहाँ हम भारतीय संसद के संगठन, शक्ति और कार्यों पर प्रकाश डालेंगे।

भारतीय संसद

लोकसभा	राष्ट्रपति[1]	राज्यसभा
(प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदन)		(परोक्ष रूप से निर्वाचित सदन)
अधिकतम संख्या—		अधिकतम संख्या 250
निर्वाचित 545		निर्वाचित 238
मनोनीत एंग्लो-इण्डियन 2		मनोनीत 12
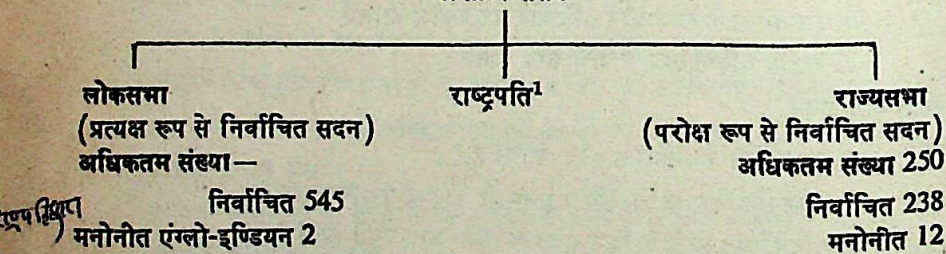
लोकसभा

लोकसभा भारत की द्विसदनात्मक (दो सदनवाली) व्यवस्थापिका का प्रथम और प्रतिनिधि सदन है। इस प्रकार यह लोकप्रिय सदन है। इसे भारत की राजनैतिक व्यवस्था का हृदय, संसदात्मक शासन का प्राण तथा संवैधानिक पद्धति का केन्द्र-बिन्दु कहा जा सकता है।

लोकसभा का संगठन

भारतीय संविधान की मूल व्यवस्था में लोकसभा की अधिकतम सदस्य-संख्या 500 निश्चित की गई थी। किन्तु देश की बढ़ती हुई जनसंख्या के प्रकाश में बाद में इस संख्या में परिवर्तन किया गया। अन्तिम परिवर्तन सन् 1973 ई० के 31वें संशोधन अधिनियम द्वारा किया गया। इस संशोधन अधिनियम द्वारा लोकसभा की अधिकतम संख्या 547 निर्धारित की गई है। इसमें 545 निर्वाचित सदस्य होंगे और 2 एंग्लो-इण्डियन होंगे। 545 निर्वाचित

1. राष्ट्रपति अपने पद के आधार पर संविधान द्वारा संसद का अंग माना गया है।

सदस्यों में से 525 भारतीय संघ के राज्यों की जनता द्वारा (तथा 20 केन्द्र-शासित क्षेत्रों द्वारा निर्वाचित होंगे।

इसके अतिरिक्त भारतीय संविधान में यह व्यवस्था की गई है कि प्रति दस वर्ष पश्चात् होने वाली जनगणना के आधार पर 'परिसीमन आयोग' लोकसभा में राज्यों तथा केन्द्र-शासित क्षेत्रों के प्रतिनिधियों की संख्या निश्चित करेगा। संविधान की इस व्यवस्था के अन्तर्गत 1971 ई० की जनगणना के आधार पर भविष्य के लिए लोकसभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या 542 निश्चित की गई है।

42वें संवैधानिक संशोधन के अनुसार व्यवस्था की गई है कि लोकसभा और राज्य की विधानसभाओं की सदस्य-संख्या में 2001 ई० तक कोई परिवर्तन नहीं किया जायगा। यह संख्या वही रहेगी जो 1971 ई० की जनगणना के आधार पर निर्धारित की गई है।

लोकसभा के सदस्यों की योग्यताएँ—लोकसभा की सदस्यता के लिए वही व्यक्ति खड़ा हो सकता है जिसमें निम्नलिखित योग्यताएँ हों—

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. 25 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।
3. ऐसी योग्यताएँ रखता हो जिसे संसद ने विधि द्वारा निश्चित किया हो।
4. उसमें संसद द्वारा निर्धारित किसी भी प्रकार की अयोग्यता न हो।

लोकसभा की सदस्यता के लिए अयोग्यताएँ—लोकसभा की सदस्यता के लिए योग्यताओं के साथ ही कतिपय अयोग्यताओं का भी उल्लेख किया गया है। ये अयोग्यताएँ इस प्रकार हैं—

1. वह भारत सरकार अथवा किसी राज्य सरकार की सेवा में लाभ के पद पर न हो। परन्तु वे पद जिन्हें संसद ने इस दृष्टि से मुक्त कर दिया है, लाभ के पद नहीं माने जायँगे। भारतीय संघ एवं राज्यों के मंत्री, संसद-सचिव तथा उपमुख्य सचेतक पद इसी प्रकार के हैं।
2. वह किसी न्यायालय द्वारा पागल करार कर दिया गया हो।
3. वह उन्मुक्त दिवालिया न हो।
4. वह किसी विदेशी राज्य की नागरिकता प्राप्त कर चुका हो अथवा किसी अन्य राष्ट्र के प्रति निष्ठा रखता हो।
5. वह निर्वाचन-सम्बन्धी किसी अपराध का अपराधी हो।
6. वह किसी अपराध में दो वर्ष से अधिक सजा पाया हो और इस प्रकार सजा से मुक्त हुए उसे 5 वर्ष से अधिक न हुआ हो।
7. वह किसी सरकारी नौकरी से भ्रष्टाचार के आधार पर निकाला गया हो।
8. वह संसद द्वारा बनाए गए किसी नियम के अनुसार सदस्यता के लिए अयोग्य ठहराया गया हो।

लोकसभा का मतदाता होने के लिए आवश्यक योग्यताएँ—लोकसभा के निर्वाचन में मतदाता होने के लिए निम्नलिखित योग्यताएं निर्धारित की गई हैं—

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. उसकी आयु 18 वर्ष की हो चुकी हो।
3. वह उस निर्वाचन-क्षेत्र में कम-से-कम 180 दिनों तक रह चुका हो।
4. उसमें संसद द्वारा निर्धारित किसी भी प्रकार की अयोग्यता न हो।

लोकसभा के निर्वाचन की विशेषताएं

भारतीय लोकसभा के निर्वाचन की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. प्रत्यक्ष निर्वाचन—भारतीय लोकसभा के निर्वाचत की एक मुख्य विशेषता यह है कि लोकसभा का निर्वाचन प्रत्यक्ष प्रणाली के अनुसार होता है। प्रत्यक्ष निर्वाचन का अर्थ यह है कि जनता स्वयं अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है।

2. निर्वाचन-क्षेत्रों की समानता—लोकसभा के सदस्यों के निर्वाचन के लिए प्रत्येक राज्य को समान निर्वाचन-क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाता है। प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधियों की संख्या कितनी होगी, इसका निश्चय संसद करती है। संसद ने इस आशय का अधिनियम बनाकर यह निश्चित कर दिया है कि भारतीय संघ के किस राज्य या किस केन्द्र द्वारा प्रशासित क्षेत्र से कितने सदस्य निर्वाचित किए जायेंगे।

3. पिछड़े वर्ग के लोगों के लिए स्थानों का संरक्षण—लोकसभा में भारत के पिछड़े वर्ग के लोगों के हितों को ध्यान में रखते हुए अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए स्थान सुरक्षित कर दिए गए हैं। इससे लोकसभा में वे निश्चित संख्या में आ सकेंगे। 1980 ई० के 45वें संशोधन अधिनियम के अनुसार इन स्थानों को अगले दस वर्षों के लिए पुन: सुरक्षित कर दिया गया है। पहले यह व्यवस्था 1980 ई० तक के लिए थी।

4. संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र—लोकसभा के निर्वाचन की अन्य विशेषता संयुक्त निर्वाचन-पद्धति है। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न धर्मों या सम्प्रदाय के लोगों के लिए पृथक् निर्वाचन-क्षेत्रों की व्यवस्था नहीं है। सभी धर्मों और सम्प्रदाय के लोगों—हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी इत्यादि के लिए मिले-जुले निर्वाचन-क्षेत्रों की व्यवस्था है।

5, गुप्त मतदान-पद्धति—निर्वाचन में गुप्त मतदान-प्रणाली अपनाई गई है। इसलिए मतदाता केन्द्र में जाकर अपना मत डाल आता है। इस प्रकार की व्यवस्था रहती है कि उसमें यह पता नहीं चल पाता कि किसी मतदाता ने अपना मत किसे दिया।

6. वयस्क मताधिकार- लोकसभा के निर्वाचन की अन्य विशेषता वयस्क मताधिकार प्रणाली है। इसके अनुसार भारत का प्रत्येक वयस्क नागरिक जो कुछ शर्तें पूरी करता है, लोकसभा का मतदाता हो सकता है।

लोकसभा का कार्यकाल—मूल संविधान की व्यवस्था के अनुसार लोकसभा का कार्यकाल 5 वर्ष रखा गया था, किन्तु 42वें संशोधन अधिनियम (1976) द्वारा यह कार्यकाल 6 वर्ष कर दिया गया। बाद में 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा उसे पुन: 5 वर्ष कर दिया गया। इस प्रकार वर्तमान समय में लोकसभा का कार्यकाल 5 वर्ष है।

प्रधानमन्त्री के परामर्श पर राष्ट्रपति लोकसभा को 5 वर्ष के पूर्व भी भंग कर सकता है।[1] उदाहरण के लिए चौथी लोकसभा अपने कार्यकाल समाप्त होने के 14 महीने पूर्व सन् 1970 ई० में भंग कर दी गई थी। इसी प्रकार नवीं लोकसभा भी अपने कार्यकाल के पूर्व भंग कर दी गई। किन्तु लोकसभा के भंग होने के बाद छह महीने के अन्तर्गत उसका निर्वाचन कराना आवश्यक है।

---

1. श्री एस० एस० मोर ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संसद : व्यवहार एवं प्रक्रिया' में तीन परिस्थितियों की चर्चा की है जब कि लोकसभा को उसके कार्यकाल समाप्त होने के पूर्व भंग किया जाय। ये परिस्थितियाँ इस प्रकार हैं—(1) जब लोकसभा राष्ट्र की इच्छा को व्यक्त करने में असमर्थ हो। (2) जब सरकार किसी महत्वपूर्ण विषय पर लोकसभा में पराजित हो जाय। (3) जब प्रधानमन्त्री को यह प्रतीत हो कि निर्वाचकों की इच्छा जानने का समय आ गया है।

संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार लोकसभा का कार्यकाल साधारण स्थिति में बढ़ाया नहीं जा सकता, किन्तु संकटकाल की घोषणा करने पर संसद कानून बना कर इस अवधि को पहले एक वर्ष तक बढ़ा सकती है। किन्तु इस अवधि को एक बार में एक वर्ष से अधिक के लिए नहीं बढ़ाया जा सकता। यदि संकटकाल की घोषणा जारी रहती है तो संसद दो बार और कानून बनाकर इस अवधि को बढ़ा सकती है। इस प्रकार संकटकाल की अवधि में इसे कुल तीन वर्ष से अधिक के लिए नहीं बढ़ाया जा सकता है। संकटकाल की समाप्ति होने पर लोकसभा का कार्यकाल अधिक-से-अधिक छह महीने के लिए बढ़ाया जा सकता है। इससे अधिक के लिए उसमें वृद्धि नहीं की जा सकती।

लोकसभा की सदस्यता का अन्त कैसे होता है ?

संविधान में कतिपय ऐसे प्रावधान हैं जिनके आधार पर लोकसभा के किसी सदस्य को सदन की सदस्यता से वंचित किया जा सकता है। ये प्रावधान इस प्रकार हैं—

1. यदि कोई व्यक्ति एक या अधिक निर्वाचन-क्षेत्र से लोकसभा का सदस्य निर्वाचित हो जाता है तो उसे केवल एक क्षेत्र से निर्वाचित माना जायगा, उसे दूसरे निर्वाचन-क्षेत्र से त्यागपत्र देना होगा। उदाहरण के लिए, श्रीमती इन्दिरा गांधी 1980 ई० की जनवरी के निर्वाचन में दक्षिण में मेढक और उत्तर में रायबरेली दोनों स्थानों से निर्वाचित हुईं। संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार वे केवल एक ही क्षेत्र का प्रतिनिधित्व कर सकती थीं। अतएव उन्होंने रायबरेली क्षेत्र की सदस्यता से अपना त्यागपत्र दे दिया था।
2. यदि कोई व्यक्ति राज्य की विधान सभा, विधान-परिषद् और लोकसभा तीनों का सदस्य चुन लिया जाता है तो उसे केवल एक का ही सदस्य माना जायगा। अन्य स्थानों से उसे त्यागपत्र देना होगा।
3. यदि कोई सदस्य लोकसभा का सदस्य होने के बाद कोई सरकारी सेवा प्राप्त कर लेता है तो उसे लोकसभा की सदस्यता से त्यागपत्र देना होगा।
4. यदि लोकसभा का कोई सदस्य संसद के अधिवेशन से निरन्तर 60 दिन तक अनुपस्थित रहता है तो उसका स्थान रिक्त घोषित कर दिया जायगा।
5. यदि लोकसभा ने सदन के विशेषाधिकारों की अवहेलना के लिए किसी सदस्य को दण्डित कर उसे सदस्यता से वंचित कर दिया है तो वह सदस्य सदस्यता से वंचित माना जायगा।[1]
6. कोई सदस्य स्वेच्छा से भी सदन की सदस्यता से त्यागपत्र दे सकता है। उदाहरण के लिए जनवरी, 1980 ई० के निर्वाचन में श्री हेमवती नन्दन बहुगुणा इन्दिरा कांग्रेस के टिकट से लोकसभा के सदस्य चुने गए। कुछ कारणों से उन्होंने इन्दिरा कांग्रेस की सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। साथ ही उन्होंने लोकसभा की सदस्यता से भी त्यागपत्र दे दिया।

---

1. उदाहरण के लिए 1978 ई० के एक संसदीय उपनिर्वाचन में श्रीमती इन्दिरा गांधी कर्णाटक में चिकमंगलूर से लोकसभा के लिए निर्वाचित हुईं। किन्तु सदन में जनता पार्टी का बहुमत था। जनता पार्टी ने लोकसभा में श्रीमती इन्दिरा गांधी के विरुद्ध सदन में यह आरोप लगाया कि उन्होंने अपने प्रधानमंत्री-काल में सदन के विशेषाधिकारों की अवहेलना की है। इसी आधार पर लोकसभा ने श्रीमती इन्दिरा गांधी के विरुद्ध 9 दिसम्बर, 1978 ई० को प्रस्ताव पास कर उन्हें सदन की सदस्यता से वंचित कर दिया था।

2

लोकसभा के पदाधिकारी : अध्यक्ष

सदन की कार्यवाही को सुचार रूप से चलाने के लिए कुछ पदाधकारियों की आवश्यकता होती है। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष ऐसे ही पदाधिकारी हैं।

लोकसभा के निर्वाचन के उपरान्त सदन के पहले ही सत्र में लोकसभा के अध्यक्ष (Speaker) का निर्वाचन होता है। सदन के सदस्य अपने सदस्यों में से ही किसी वरिष्ठ सदस्य को अध्यक्ष निर्वाचित करते हैं। सामान्यतया प्रधानमन्त्री प्रतिपक्ष या विरोधी दल के नेता से परामर्श करके अध्यक्ष के लिए नाम प्रस्तावित करता है। समान्यतया इस प्रकार प्रस्तावित व्यक्ति सर्वसम्मति से अध्यक्ष निर्वाचित हो जाता है। अध्यक्ष पद पर निर्वाचित हो जाने के बाद वह अपने दल की सदस्यता से त्यागपत्र दे देता है और एक निर्दलीय तथा निष्पक्ष व्यक्ति के रूप में कार्य करता है। अध्यक्ष के साथ ही उपाध्यक्ष का भी निर्वाचन होता है। अध्यक्ष का कार्यकाल लोकसभा के कार्यकाल की भाँति 5 वर्ष होता है। किन्तु नई लोकसभा के आने और अपने उत्तराधिकारी के चुने जाने तक वह अपने पद पर बना रहता है। उसे दुबारा भी अध्यक्ष-पद के लिए निर्वाचित किया जा सकता है। यदि अध्यक्ष चाहे तो स्वेच्छा से अपने पद से त्यागपत्र दे सकता है। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को अविश्वास-प्रस्ताव पारित करके भी पद से अपदस्थ किया जा सकता है। किन्तु अविश्वास-प्रस्ताव लाने के लिए यह आवश्यक है कि 14 दिन पहले उन्हें इस आशय की सूचना दी जाय। लोकसभा की जिस बैठक में अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव विचाराधीन होगा, उस बैठक में वे अपना पद-ग्रहण नहीं करेंगे।

अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उपाध्यक्ष लोकसभा की अध्यक्षता करता है। इसके अतिरिक्त अध्यक्ष लोकसभा के सदस्यों में से छह सदस्यों का एक अध्यक्ष-मण्डल (Panel of Chairmen) तैयार करता है। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की अनुपस्थिति में इस अध्यक्ष-मण्डल के सदस्यों में एक सदस्य सदन की अध्यक्षता करता है।

अध्यक्ष के अधिकार और कार्य

लोकसभा का अध्यक्ष सदन का सर्वाधिक प्रभावशाली पदाधिकारी है। सदन की कार्यवाही के संचालन, सदन के अनुशासन और सदन के प्रशासन के क्षेत्र में उसे अनेक महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से अध्यक्ष के अधिकारों और कार्यों को हम निम्नलिखिति रूप में रख सकते हैं—

अध्यक्ष के अधिकार और कार्य

- नियम-सम्बन्धी अधिकार और कार्य
- नियंत्रण-सम्बन्धी अधिकार और कार्य
- प्रशासकीय अधिकार और कार्य
- विशिष्ट अधिकार और कार्य
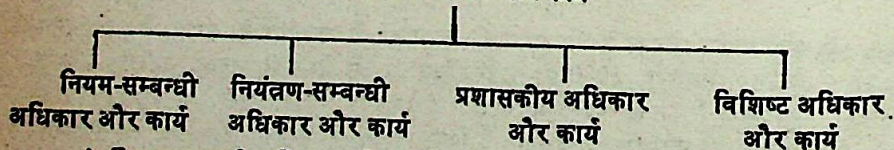
1. नियम-सम्बन्धी अधिकार और कार्य—अध्यक्ष के नियम-सम्बन्धी अधिकार और कार्य मुख्यतया निम्नलिखित हैं—

> **अध्यक्ष के अधिकार और कार्य**
> 1. नियम-सम्बन्धी
> 2. नियंत्रण-सम्बन्धी
> 3. प्रशासकीय
> 4. विशिष्ट

1. सदन के नेता के परामर्श से सदन की विविध कार्यवाही के लिए क्रम और समय निर्धारित करता है।
2. संविधान तथा सदन की प्रक्रिया के नियमों की व्याख्या करता है।
3. वह प्रस्तावों तथा प्रश्नों को स्वीकार

करता तथा नियम-विरुद्ध प्रश्नों को अस्वीकृत करता है। उसकी अनुमति के बिना किसी प्रश्न या प्रस्ताव पर विचार नहीं हो सकता।

4. वह किसी प्रश्न पर मत लेता है तथा उसके परिणाम की घोषणा करता है।
5. वह सभा की कार्यवाही की नियम-सम्बन्धी आपत्ति (Point of order) पर निर्णय देता है। उसका निर्णय अन्तिम माना जाता है।
6. वह सदन के समक्ष प्रस्तुत किसी संवैधानिक समस्या के समाधान के विषय में अपना निर्णय देता है।
7. वह सदन की कार्यवाही से ऐसे शब्दों को निकाल देने का आदेश देता है जो उसकी दृष्टि में मानहानिकारक, अशिष्ट, अनुचित तथा असंसदीय हैं।

2. नियंत्रण-सम्बन्धी अधिकार और कार्य—अध्यक्ष के नियंत्रण-सम्बन्धी अधिकारों और कार्यों को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. वह सदन में सुव्यवस्था तथा अनुशासन बनाए रखता है तथा अनुशासन भंग करने वाले सदस्यों के विरुद्ध कार्यवाही करता है। यदि कोई सदस्य उसकी आज्ञा का उल्लंघन करता है तो वह उसे सदन से निष्कासित कर सकता है। आवश्यकता पड़ने पर वह किसी सदस्य को निलम्बित भी कर सकता है।
2. यदि सदन में अव्यवस्था के कारण सदन की कार्यवाही चलाना असम्भव हो तो वह सदन की बैठक स्थगित कर सकता है।
3. वह सदन के सदस्यों को बोलने की अनुमति प्रदान करता है। सदन के सदस्य उसी को सम्बोधित कर अपना भाषण देते हैं।
4. वह सदन के सभा-भवन के अन्दर दर्शकों तथा प्रेस-प्रतिनिधियों के प्रवेश को नियंत्रित करता है।
5. यदि कोई सदस्य अंग्रेजी या हिन्दी या संविधान द्वारा स्वीकृत अपनी मातृभाषा में बोलना चाहता है तो अध्यक्ष उसे उस भाषा में बोलने की अनुमति देता है।
6. यदि सदन में गणपूर्ति (कोरम) के बराबर सदस्य नहीं होते तो वह बैठक को स्थगित या निलम्बित करता है।
7. वह सदन-सम्बन्धी आवश्यक आदेशों को जारी करता है।

3. प्रशासकीय अधिकार और कार्य—अध्यक्ष के प्रशासकीय अधिकारों और कार्यों के अन्तर्गत मुख्यतया निम्नलिखित अधिकार और कार्य आते हैं—

1. वह लोकसभा के सचिवालय का प्रधान होता है। अतएव सचिवालय की व्यवस्था का प्रधान दायित्व उसी पर है।
2. वह संसदीय कार्यवाहियों के कागज-पत्र की सुरक्षा की व्यवस्था करता है।
3. वह सदन के सदस्यों, सदन के स्टाफ के जीवन और स्वतंत्रता तथा सदन की सम्पत्ति की रक्षा करता है।
4. वह सदन के सदस्यों की सुविधाओं और विशेषाधिकारों की सुरक्षा करता है।
5. वह सदन तथा सदन की समितियों की बैठकों की व्यवस्था करता है।

4. विशिष्ट अधिकार—लोकसभा के अध्यक्ष के विशिष्ट अधिकार इस प्रकार हैं—

1. वह सदन द्वारा पारित विधेयक पर हस्ताक्षर करता है।
2. वह यह निश्चित करता है कि कौन विधेयक धन विधेयक है अथवा नहीं।

3. वह कुछ संसदीय समितियों, यथा नियम समिति, सामान्य उद्देश्य समिति आदि का पदेन अध्यक्ष होता है। इसके अतिरिक्त वह अन्य संसदीय समितियों के अध्यक्षों की नियुक्ति करता है।
4. वह संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक की अध्यक्षता करता है।
5. वह सदन तथा राष्ट्रपति के मध्य एक कड़ी का कार्य करता है।

अध्यक्ष की स्थिति का मूल्यांकन

अध्यक्ष के अधिकार और कार्यों के उपर्युक्त विवेचन से उसकी स्थिति का एक संकेत मिल जाता है। वस्तुतः लोकसभा का अध्यक्ष भारत की राजनैतिक व्यवस्था का एक अत्यन्त प्रभावशाली और महत्वपूर्ण पद है। वह लोकसभा की गरिमा और गौरव, सम्मान और मर्यादा, प्रतिष्ठा और प्रभुत्व का प्रतीक माना जाता है। भारत के प्रथम प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में "अध्यक्ष सदन का प्रतिनिधित्व करता है। वह सदन की मर्यादा का प्रतिनिधित्व करता है। और क्योंकि सदन राष्ट्र का एक विशिष्ट रूप में प्रतिनिधित्व करता है, अतएव अध्यक्ष राष्ट्र, स्वतन्त्रता और स्वाधीनता का प्रतीक बन जाता है।" इसी प्रकार अशोक मेहता ने कहा था कि "अध्यक्ष सदन के वैयक्तिक और सामूहिक अधिकारों का रक्षा-कवच है।"[1] अध्यक्ष की स्थिति का मूल्यांकन करते हुए लोकसभा के प्रथम अध्यक्ष श्री मावलंकर ने कहा था कि "संसदीय लोकतन्त्र के समग्र ढांचे में अध्यक्ष ही एकमात्र तानाशाह है, अर्थात् वह अपनी शक्तियों का प्रयोग विना किसी पूर्व परामर्श अथवा किसी की सहमति से करता है। उसकी सत्ता को कोई चुनौती नहीं दी जा सकती।" इसी प्रकार कौल एवं शकधर ने लोकसभा के अध्यक्ष की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "लोकसभा का सर्वाधिक और महत्वपूर्ण, पारम्परिक और औपचारिक प्रधान अध्यक्ष होता है। उसकी सत्ता अध्यक्ष की निरंकुश और अविचल निष्पक्षता (जो कि उसके पद का प्रमुख लक्षण है तथा संसदीय जीवन का प्रमुख नियम है) पर आधारित है।"[2]

इस प्रकार लोकसभा का अध्यक्ष भारत की संसदात्मक व्यवस्था का एक अत्यन्त सशक्त पक्ष है। वस्तुतः जैसा एस० एस० मोर ने लिखा है, "भारतीय लोकसभा के अध्यक्ष की शक्तियाँ इंगलैण्ड की कॉमन्स सभा के स्पीकर से कहीं अधिक हैं।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जव तक अध्यक्ष एक निर्दलीय और निष्पक्ष पदाधिकारी के रूप में है, तब तक अपनी शक्ति और प्रभाव का प्रयोग करता रहेगा। किन्तु यदि वह संसदीय मर्यादाओं का अतिक्रमण कर अपनी शक्ति का दुरुपयोग करता है तो उसे अपनी और सदन की मर्यादा बनाए रखना कठिन हो जायगा।

3

लोकसभा की शक्ति, अधिकार और कार्य

लोकसभा भारत की संसदात्मक व्यवस्था का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष है। वह प्रतिनिधिमूलक व्यवस्था का जीवन्त प्रतीक, भारतीय राष्ट्र का लघु दर्पण तथा भारत की व्यवस्थापिका का सर्वोच्च और सशक्त संस्थान है। इस नाते उसे अनेक शक्तियाँ और अनेक अधिकार प्राप्त हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उसके अधिकारों और कार्यों को संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. 'The Speaker is the sheet anchor of the rights of the House in its individual and collective capacity.' —Ashok Mehta.

2. Kaul and Shakdher : Practice and Procedure of Parliament.

व्यवस्थापिकीय या विधायी अधिकार और कार्य--लोकसभा देश की सर्वोच्च व्यवस्थापिका है। स्वभावत: उसे व्यवस्थापन या विधायन के क्षेत्र में अनन्त अधिकार प्राप्त हैं। इन अधिकारों को संक्षेप में अग्रलिखित रूप में रख सकते हैं—

लोकसभा के अधिकार और कार्य

1. विधायी अधिकार
2. वित्तीय अधिकार
3. कार्यपालिकीय अधिकार
4. संविधान के संशोधन-संबंधी अधिकार
5. निर्वाचन-सम्बन्धी कार्य
6. जनमत की अभिव्यक्ति-विषयक कार्य
7. अन्य कार्य

1. लोकसभा संघीय सूची, समवर्ती सूची तथा राज्य-सूची के अंतर्गत आने वाले समस्त विषयों पर विधि-निर्माण करती है।
2. किसी राज्य या राज्यों में संवैधानिक संकटकाल के लागू होने पर उस राज्य या उन राज्यों के लिए वह विधियों का निर्माण करती है।
3. वह अवशिष्ट सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर भी विधि-निर्माण करती है।

इस प्रकार विधायन के क्षेत्र में लोकसभा को अत्यन्त महत्वपूर्ण शक्ति प्राप्त है।

2. वित्तीय अधिकार--प्रतिनिधिमूलक व्यवस्था में वित्तीय शक्ति का प्रधान स्रोत सामान्यतया जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथों में होता है। भारत की प्रतिनिधिमूलक व्यवस्था भी इसका अपवाद नहीं है। यहाँ राष्ट्र की वित्तीय शक्ति का प्रधान सूत्र लोकसभा के हाथों में निहित है। संविधान के 109वें अनुच्छेद के अनुसार वित्त विधेयक लोकसभा में ही पेश किए जा सकते हैं, राज्यसभा में नहीं। कौन विधेयक वित्त विधेयक है, इसका निर्णय करने का अधिकार भी लोकसभा के अध्यक्ष को है।

लोकसभा द्वारा पास हो जाने पर वित्तीय विधेयक राज्यसभा को भेजा जाता है। राज्यसभा वित्त विधेयक पर विचार करने के बाद 14 दिन के अन्दर लोकसभा को वापस भेज देती है। धन विधेयक के विषय में राज्यसभा को अपने सुझाव देने का अधिकार है, किन्तु लोकसभा इन सुझावों को मानने के लिए बाध्य नहीं है। वह चाहे तो इन सुझावों को स्वीकार कर ले या अस्वीकृत कर दे। यदि राज्यसभा वित्तीय विधेयक को 14 दिन के अन्दर लोकसभा को वापस नहीं करती तो निश्चित तिथि के बाद वह वित्तीय विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास माना जायगा। इसके अतिरिक्त लोकसभा को समस्त व्यय की स्वीकृति का अधिकार प्राप्त है। अनुदान-सम्बन्धी माँगें भी केवल लोकसभा में प्रस्तुत की जाती हैं।

3. कार्यपालिकीय अधिकार व शक्तियाँ--संसदात्मक व्यवस्था में कार्यपालिका व्यवस्थापिका का अभिन्न अंग होती है। भारत की संसदात्मक व्यवस्था में भी संघीय मन्त्रिपरिषद संसद का अंग है। एक दृष्टि से मन्त्रिपरिषद को संसद की कार्यकारिणी समिति कहा जा सकता है। फलत: संसद अनेक महत्वपूर्ण कार्यपालिकीय शक्तियों का उपभोग करती है। संविधान के अनुसार [अनुच्छेद 75 (3)] मन्त्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी रहेगी। मन्त्रिपरिषद के लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होने के कारण लोकसभा का मन्त्रिपरिषद पर पूर्ण नियंत्रण रहता है। मन्त्रिपरिषद के सदस्य तभी तक अपने पद पर बने रहते हैं जब तक कि उन्हें लोकसभा का विश्वास प्राप्त रहता है। लोकसभा का विश्वास खो जाने पर मन्त्रिपरिषद को त्यागपत्र देना होता है।

अविश्वास-प्रस्ताव के अतिरिक्त कार्यपालिका को नियंत्रित करने के लिए लोकसभा के हाथ में अन्य अनेक अस्त्र होते हैं। लोकसभा के सदस्य मंत्रियों से प्रश्न पूछते हैं। प्राय: सदन का पहला घण्टा प्रश्न पूछने के लिए रहता है। ये प्रश्न छोटी-छोटी घटनाओं से लेकर नीति-

सम्बन्धी बड़ी-बड़ी बातों से सम्बन्धित हो सकते हैं। पूर्ण प्रश्नों के साथ पूरक प्रश्न भी पूछे जाते हैं। इसी प्रकार काम रोको या स्थगन प्रस्ताव (Adjournment Motion) के द्वारा भी लोकसभा मन्त्रिपरिषद को नियंत्रित करती है। इस प्रकार के प्रस्ताव किसी विशेष परिस्थिति या दुर्घटना आदि के विषय में बहस करने के लिए किए जाते हैं। स्थगन प्रस्ताव के समय सदन की अन्य कार्यवाहियों को रोक दिया जाता है। इन प्रस्तावों के द्वारा सदन के सदस्य सरकार के दोषों और भूलों की कटु आलोचना करते हैं। इसके अतिरिक्त लोकसभा किसी सरकारी विधेयक या प्रस्ताव को अस्वीकृत कर, सरकार द्वारा अनुदान की माँगों को अस्वीकृत कर, या बजट में कटौती कर मन्त्रिपरिषद को नियंत्रित करती है। इस प्रकार लोकसभा अनेक कार्यपालिकीय अधिकारों का उपभोग करती है।

4. संविधान के संशोधन-सम्बन्धी अधिकार—लोकसभा को संविधान के संशोधन की दिशा में महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। इस अधिकार का प्रयोग वह संसद के दूसरे सदन अर्थात् राज्यसभा के साथ मिलकर करती है। अपनी इस शक्ति का प्रयोग कर लोकसभा ने संविधान के अनेक महत्वपूर्ण पक्षों को संशोधित करने का सफल प्रयास किया है।

5. निर्वाचन-सम्बन्धी अधिकार व कार्य—लोकसभा को निर्वाचन की दिशा में भी कुछ अधिकार प्राप्त हैं। वह अपने सदन के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का निर्वाचन करती है। राज्यसभा तथा राज्यों की विधान-सभाओं के साथ वह राष्ट्र और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन का कार्य करती है।

6. जनमत की अभिव्यक्ति-विषयक कार्य—लोकसभा जनता का प्रतिनिधि सदन है। उसका संगठन जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदस्यों द्वारा किया जाता है। उसमें सारे देश के जन-प्रतिनिधि होते हैं। अतएव सारे देश के लोगों की समस्याओं से वे अवगत रहते हैं। इन समस्याओं के प्रति सरकार का ध्यान आकृष्ट करना और उन समस्याओं के निराकरण के लिए प्रयास करना जन-प्रतिनिधियों का मुख्य कर्तव्य होता है। लोकसभा के सदस्य जनमत के प्रति जितना अधिक जागरूक और निष्ठावान् होंगे, उतना ही अधिक वे सदन में जनमत की अभिव्यक्ति में सफल होंगे। जैसा कि प्रो० मारिस जेम्स ने कहा कि "लोकसभा लोकमत की अभिव्यक्ति वाला सर्वाधिक प्रभावशाली लोकमंच है।"

7. अन्य कार्य—लोकसभा के उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्य भी हैं। इन कार्यों को संक्षेप में हम इस प्रकार रख सकते हैं—

1. लोकसभा राष्ट्रपति की संकटकालीन घोषणा को स्वीकृति प्रदान करती है।
2. लोकसभा राज्यसभा के साथ राष्ट्रपति के महाभियोग में भाग लेती है।
3. उपराष्ट्रपति को हटाने के लिए राज्यसभा द्वारा पारित प्रस्ताव लोकसभा द्वारा अनुमोदित होना चाहिए।
4. लोकसभा राज्यसभा के साथ मिलकर सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के विरुद्ध चलाए गए महाभियोग के प्रस्ताव को पारित करती है।
5. यदि राष्ट्रपति सामूहिक क्षमादान (Amnesty) प्रदान करता है तो लोकसभा उसकी स्वीकृति पर विचार करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकसभा संसदीय शक्तियों और परम्पराओं का प्रतीक है। वही कार्यपालिका की नियंत्रक, वित्तीय शक्तियों की प्रयोगकर्ता तथा भारतीय जनमत का लघु दर्पण है। अन्त में हम डॉ० महादेवप्रसाद शर्मा के शब्दों में कह सकते हैं कि "यदि संसद राज्य का सर्वोच्च अंग है तो लोकसभा संसद का सर्वोच्च अंग है। वस्तुतः व्यवाहारिक दृष्टि से वही संसद है।" एक अन्य विद्वान् के अनुसार "लोकसभा संसदीय शक्तियों का स्रोत और उनकी पूर्ति का साधन है।"

डॉ० एम० वी० पायली ने लोकसभा की स्थिति का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि संसदीय विश्वास और उत्तरदायित्व, दोनों का प्रधान आधार लोकसभा है। उनके शब्दों में "संसद के विश्वास का अर्थ है लोकसभा का विश्वास और कार्यपालिका के उत्तरदायित्व का अर्थ है लोकसभा का उत्तरदायित्व।"

इस प्रकार लोकसभा भारत की संसदात्मक कार्यपालिका का सर्वाधिक सशक्त पक्ष है। वही लोकशक्ति की प्रतिनिधि रूप, राष्ट्रीय व्यवस्थापिका का शीर्षस्थ निकाय तथा भारत की कोटि-कोटि जनता की अव्यक्त आकांक्षाओं को मुखर रूप देने वाला प्रभावशाली लोकमंच है।

4
राज्यसभा
(The Council of States)

राज्यसभा संसद का उच्च या द्वितीय सदन है। यह एक स्थायी सदन है तथा इसका संगठन और स्वरूप लोकसभा से भिन्न है। यहाँ हम राज्यसभा के संगठन, शक्ति तथा स्थिति आदि के विषय में विचार करेंगे।

राज्यसभा का संगठन

संविधान के 80वें अनुच्छेद के अनुसार राज्यसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या 250 निश्चित की गई है। इसमें से 238 सदस्य राज्यों और संघ-प्रशासित क्षेत्रों की विधान-सभाओं द्वारा परोक्ष रूप से निर्वाचित किए जायेंगे तथा 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जायेंगे। राष्ट्रपति ऐसे व्यक्तियों को मनोनीत करेगा जो कि कला, साहित्य, विज्ञान, समाजसेवा या सहकारिता के क्षेत्र में विशेष ज्ञान और अनुभव प्राप्त कर चुके हैं।

सदस्यों का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली द्वारा एकल संक्रमणीय मतदान प्रणाली के आधार पर होता है। निर्वाचन की व्यवस्था निर्वाचन आयोग करता है।

राज्यसभा के सदस्यों की योग्यताएँ—राज्यसभा के प्रत्याशी व्यक्ति के लिए अग्रलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है—

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. वह 30 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।
3. उसमें वे सभी योग्यताएँ हों जिन्हें संसद कानून द्वारा निश्चित कर दे।

सन् 1951 ई० के जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम के अनुसार कोई व्यक्ति जो राज्य के किसी संसदीय निर्वाचन-क्षेत्र का निर्वाचक नहीं है, राज्यसभा का सदस्य नहीं हो सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्यसभा के सदस्यों के निर्वाचन की प्रायः वही योग्यताएँ हैं जो लोकसभा की सदस्यता के लिए हैं। अन्तर केवल आयु का है। लोकसभा की सदस्यता के लिए 25 वर्ष की आयु है जब कि राज्यसभा की सदस्यता के लिए 30 वर्ष की आयु निश्चित की गई है। उसकी सदस्यता के लिए वही अयोग्यताएँ हैं जो कि लोकसभा के लिए हैं।

राज्यसभा के सदस्यों का कार्यकाल : राज्यसभा एक स्थायी सदन—राज्यसभा एक स्थायी सदन है, फलतः वह कभी भंग नहीं होता। इसके सदस्यों का कार्यकाल छह वर्ष होता है, अर्थात् वे छह वर्ष के लिए निर्वाचित किए जाते हैं। किन्तु लगभग एक-तिहाई सदस्य प्रति दो वर्षों पर कार्य-निवृत्त होते जाते हैं तथा उनके स्थान पर नए सदस्यों का निर्वाचन होता जाता है।

राज्यसभा के पदाधिकारी—भारत का उपराष्टपति राज्यसभा का पदेन अध्यक्ष होता है। वह सभा की अध्यक्षता करता है, सदन में अनुशासन बनाए रखता है, सदन की कार्यवाही तथा वाद-विवाद को नियंत्रित करता है।

राज्यसभा के अध्यक्ष के अतिरिक्त एक उपाध्यक्ष (Vice-chairman) होता है। इस उपाध्यक्ष का निर्वाचन राज्यसभा के सदस्यों द्वारा होता है। उपाध्यक्ष राज्यसभा का सदस्य होता है। उसका निर्वाचन छह वर्ष के लिए किया जाता है। उपाध्यक्ष का कार्य अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उसके कार्य और कर्तव्य का पालन करना होता है।

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की अनुपस्थिति में राज्यसभा के वरिष्ठ सदस्यों का एक मण्डल (पैनेल) होता है। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष की अनुपस्थिति में इस पैनेल में से सबसे वरिष्ठ सदस्य राज्यसभा की अध्यक्षता करेगा।

राज्यसभा के अध्यक्ष को भाषण देने की अनुमति देने, सदन की कार्य-प्रणाली-सम्बन्धा प्रश्नों को तय करने, वाद-विवाद को नियंत्रित करने, विचाराधीन प्रश्नों और प्रस्तावों पर मतदान कराने तथा उसके परिणाम को घोषित करने का कार्य अध्यक्ष का है। इस प्रकार अध्यक्ष सदन में अनुशासन बनाए रखने और कार्यवाही संचालित करने सम्बन्धी सभी आवश्यक कार्य करता है।

राज्यसभा के अधिकार और कार्य

संसद का अंग होने के नाते राज्यसभा को भी अनेक महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। राज्यसभा के अधिकारों और कार्यों को हम संक्षेप में अग्रलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. कार्यपालिका-सम्बन्धी अधिकार—संघीय मन्त्रिपरिषद लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। अतएव राज्यसभा को कार्यपालिका के क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि राज्यसभा प्रशासन-सम्बन्धी बातों में शक्तिशून्य है। राज्यसभा के सदस्यों को मन्त्रिपरिषद में भी महत्वपूर्ण प्रतिनिधित्व मिलता है। इसके अतिरिक्त राज्यसभा प्रश्नों, प्रस्तावों तथा वाद-विवादों द्वारा मन्त्रिपरिषद के कार्यों पर एक सीमा तक नियंत्रण रखती है। इस प्रकार यद्यपि राज्यसभा को मन्त्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर उसे हटाने का अधिकार नहीं है, किन्तु उसे नियंत्रित करने के लिए उसके पास कुछ शक्ति है। जैसा कि प्रो० के० वी० राव ने लिखा है कि "राज्यसभा मन्त्रिपरिषद को समाप्त नहीं कर सकती, किन्तु उसे कुछ दशाओं में विपन्न अवश्य कर सकती है।"[1]

2. विधायन-सम्बन्धी अधिकार—जहाँ तक कि विधायन का प्रश्न है, राज्यसभा को धन विधेयकों को छोड़कर अन्य-सभी विधेयकों के विषय में समान अधिकार प्राप्त हैं। कोई भी साधारण विधेयक राज्यसभा में पेश किया जा सकता है। लोकसभा द्वारा पास किया गया कोई भी विधेयक संसद द्वारा तब तक पास नहीं माना जायगा जब तक कि वह राज्यसभा द्वारा पास नहीं हो जाता। यदि किसी विधेयक के विषय में लोकसभा और राज्यसभा में मतभेद होता है तो दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाकर उस मतभेद को दूर कर विधेयक पास करने का प्रयास किया जाता है। ऐसे संयुक्त अधिवेशन में बहुमत से निर्णय लिया जाता है। इस प्रकार औपचारिक दृष्टि से साधारण विधेयक के विषय में राज्यसभा को लोकसभा के समान अधिकार प्राप्त हैं। किन्तु व्यवहार में लोकसभा की स्थिति इस क्षेत्र में श्रेष्ठतर है।

3. वित्त-सम्बन्धी अधिकार—राज्यसभा के वित्त-सम्बन्धी अधिकार महत्वहीन हैं। वस्तुतः वित्त के क्षेत्र में राज्यसभा को कोई शक्ति प्राप्त नहीं है। कोई वित्तीय विधेयक राज्य-सभा में प्रस्तावित नहीं किया जा सकता; वह केवल लोकसभा में ही पहली बार प्रस्तावित किया जा सकता है। राज्यसभा को वित्तीय विधेयक पर 14 दिन के अन्दर अपना विचार व्यक्त करना आवश्यक है। यदि राज्यसभा 14 दिन के अन्दर अपना मत नहीं भेजती तो विधेयक

1. 'Rajya Sabha may embrass if not destroy the Ministry under certain circumstances.'
—K. V. Rao :
—Parliamentary Democracy in India.

लोकसभा द्वारा पारित होने पर ही विधि बन जायगा। इस प्रकार राज्यसभा धन-विधेयक के विषय में अधिक-से-अधिक 14 दिन का विलम्ब कर सकती है। राज्यसभा धन-विधेयक के विषय में कुछ सिफारिशें कर सकती है। किन्तु उन सिफारिशों को मानना या न मानना लोकसभा की इच्छा पर निर्भर करता है।

4. संविधान में संशोधन करने का अधिकार—संविधान में संशोधन करने के क्षेत्र में राज्यसभा को लोकसभा के समान अधिकार प्राप्त हैं। लोकसभा की भाँति संशोधन-विधेयक पहले राज्यसभा में भी पेश किया जा सकता है। इस प्रकार संविधान में संशोधन के लिए राज्यसभा का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक है। राज्यसभा के सहयोग के बिना किसी संशोधन-विधेयक को पास करना सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए, लोकसभा ने संविधान का 45वाँ संशोधन अधिनियम पास किया, किन्तु राज्यसभा ने उस संशोधन-विधेयक के अनेक प्रस्तावों को अस्वीकृत कर दिया। इस प्रकार संविधान के संशोधन की दिशा में राज्यसभा को महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हैं।

5. राज्य-सूची-सम्बन्धी अधिकार—राज्यसभा को यह अधिकार है कि वह विशेष दशाओं में राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले किसी विषय पर कानून का निर्माण कर दे। संविधान के अनुच्छेद 249 के अनुसार राज्यसभा उपस्थित तथा मतदान में भाग लेने वाले दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत से राज्य-सूची में दिए गए किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का विषय घोषित कर उस पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त कर सकती है। ऐसा प्रस्ताव केवल एक वर्ष तक के लिए प्रभावी रहता है। किन्तु यदि राज्यसभा चाहे तो उसकी अवधि एक बार में एक वर्ष तक और बढ़ाई जा सकती है।

6. अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना—संविधान के अनुच्छेद 312 के अनुसार राज्यसभा नई अखिल भारतीय सेवा या सेवाओं की स्थापना कर सकती है। इसके लिए राज्यसभा को दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास करना आवश्यक है। राज्यसभा द्वारा पारित इस प्रस्ताव के अभाव में संघ सरकार या लोकसभा किसी नई अखिल भारतीय सेवा का गठन नहीं कर सकती।

7. संकटकालीन घोषणा का अनुमोदन—राज्यसभा लोकसभा के साथ संकटकालीन घोषणा का अनुमोदन करती है। यदि ऐसी घोषणा लोकसभा के भंग होने के बाद की गई है तो उसे केवल राज्यसभा की स्वीकृति से पास किया जा सकता है।

8. अन्य अधिकार—राज्यसभा के कुछ अन्य अधिकार इस प्रकार हैं—

1. राज्यसभा लोकसभा के साथ मिलकर राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करती है।
2. राज्यसभा राष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों तथा कुछ अन्य उच्च पदाधिकारियों के विरुद्ध लगाए गये महाभियोग पर विचार करती है।
3. उपराष्ट्रपति को हटाने का प्रस्ताव पहले राज्यसभा में ही पेश किया जाता है। राज्यसभा इस प्रकार प्रस्ताव पास कर लोकसभा के समर्थन के बाद उपराष्ट्रपति को अपदस्थ करा सकती है।
4. राज्यसभा विभिन्न आयोगों के प्रतिवेदनों (रिपोर्ट्स) पर विचार करती है।
5. द्वितीय संघीय लोकसेवा आयोग के क्षेत्राधिकार से राज्यसभा किसी विषय को अलग करने के लिए निर्णय ले सकती है।

राज्यसभा के अधिकारों का मूल्यांकन

द्वितीय सदन सदा वाद-विवाद के विषय रहे हैं। प्रायः उन्हें व्यवस्थापिका का अनुपयोगी और अनावश्यक सदन कहा जाता रहा है। भारतीय राज्यसभा भी इसका अपवाद नहीं है।

समय-समय पर कतिपय विद्वानों और जननायकों ने राज्यसभा की तीव्र भर्त्सना की है। उदाहरण के लिए, डॉ० महादेवप्रसाद शर्मा ने उसे संसार का सर्वाधिक दुर्बल सदन बताते हुए कहा है कि "इसे राज्यों का वास्तविक प्रतिनिधि कहना कठिन है, उसमें राज्यों की रक्षा करने की सामर्थ्य नहीं है।"

राज्यसभा की आलोचना के विषय में जो मुख्य तर्क दिए जाते हैं, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

1. राज्यसभा की संगठन-प्रक्रिया दोषपूर्ण है। इस दोषपूर्ण गठन के कारण राज्यसभा के सदस्य न तो राज्यों के प्रतिनिधि हो पाते हैं और न ही राज्यों की विधान-सभाओं के। इसी प्रकार एक अन्य आलोचक के अनुसार "राज्यसभा न तो सरकार का प्रतिनिधित्व करती है, न राज्यों का और न जनता का।"[1]

2. आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली तथा एकल संक्रमणीय मत-पद्धति और परोक्ष निर्वाचन-प्रक्रिया के कारण राज्यसभा के निर्वाचन में धनवान व्यक्ति मतों को खरीद कर सदन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकते हैं।

3. राज्यसभा की कार्य-प्रक्रिया भी दोषपूर्ण है।

4. राज्यसभा की शक्ति नगण्य है। उसे कोई महत्वपूर्ण शक्ति प्राप्त नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत की राजनैतिक व्यवस्था में राज्यसभा को वह स्थान और महत्व प्राप्त नहीं है जो कि लोकसभा को है। भारतीय संघ की कार्यपालिका (मंत्रि-परिषद) लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है।

वित्तीय विधेयकों के विषय में भी राज्यसभा की शक्तियाँ सीमित हैं, अन्य क्षेत्रों में भी उसकी शक्ति मर्यादित है। किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि भारत की संसदात्मक व्यवस्था में उसका स्थान नगण्य है।

राज्यसभा की अपनी उपयोगिता है, भारत की संसदात्मक व्यवस्था में उसका अपना महत्व है। संविधान-निर्माताओं ने उसका सृजन जिस उद्देश्य की दृष्टि से किया था, उस उद्देश्य की पूर्ति की दिशा में उसने अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

राज्यसभा की भावी भूमिका और उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए श्री गोपालस्वामी आयंगर ने संविधान सभा में कहा था कि "संविधान-निर्माताओं का राज्यसभा के प्रावधान का उद्देश्य यह था कि यह सदन महत्वपूर्ण मामलों पर शानदार वाद-विवाद करे और उन विधेयकों को पारित करने में देरी करे जो निचले सदन (लोकसभा) में जोश में पास कर किए जाते हैं।" राज्यसभा इस उद्देश्य की पूर्ति में असफल नहीं रही है। अपने जीवन के प्रारम्भ से लेकर अब तक राज्यसभा अपने कर्तव्य के पालन और अधिकारों की रक्षा में सदैव [illegible] रही है। इस प्रसंग में अनेक दृष्टान्त दिए जा सकते हैं। इसका सबसे ताजा उदाहरण 1977 ई० के बाद की घटनाएं हैं। 1977 ई० में केन्द्र में जब जनता पार्टी की सरकार बन गई,

1. 'It represents neither the Government, nor the people, nor the state.'
—Bhawani Singh : Council of States in India : A Structural and Functional Profiis.

तब जनता पार्टी का लोकसभा में बहुमत था, किन्तु राज्यसभा में उसका बहुमत नहीं था। फलतः केन्द्रीय सरकार को अनेक अवसर पर राज्यसभा की ओर से व्यवधानों का सामना करना पड़ा। उदाहरण के लिए, 45वाँ संशोधन विधेयक उसी रूप में पास हुआ जिस रूप में राज्यसभा चाहती थी। सातवीं लोकसभा के निर्वाचन के बाद भी अनेक अवसरों पर राज्यसभा ने अपनी शक्ति का परिचय दिया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राज्यसभा भारत की संघात्मक व्यवस्था में अपना महत्व रखती है। अन्त में हम प्रो० जितेन्द्र रंजन के शब्दों में कह सकते हैं कि "राज्यसभा न केवल रचना की दृष्टि से विश्व का सबसे अधिक श्रेष्ठ द्वितीय सदन है वरन् वह आधुनिक जनतंत्र के योग्य तथा द्वितीय सदन के उद्देश्यों की पूर्ति करने की दृष्टि से भी सर्वाधिक सन्तुलित द्वितीय सदन है।"

5

संसद में विधियों का किस प्रकार निर्माण होता है ? : विधायी प्रक्रिया

(Legislative Procedure)

प्रत्येक देश की व्यवस्थापिका का प्रमुख कार्य विधियों का निर्माण करना है। भारतीय संसद का भी प्रमुख कार्य विधि-निर्माण है। यहाँ हम संसद में विधियों के निर्माण की प्रक्रिया पर विचार करेंगे।

विधेयक का अर्थ और प्रकार—कानून या विधि (Act) बनाने के लिए संसद के समक्ष जो प्रारूप (Draft) या मसविदा (Proposal) प्रस्तुत किया जाता है, उसे विधेयक (Bill) कहते हैं। मोटे रूप में विधेयक दो प्रकार के होते हैं—

1. साधारण विधेयक (Ordinary Bill) और
2. धन-विधेयक (Money Bill) या वित्त-विधेयक (Finance Bill)।

दोनों प्रकार के विधेयकों को पारित करने के लिए पृथक्-पृथक् प्रक्रियाएँ हैं।

साधारण विधेयक की प्रक्रिया

(Procedure of an Ordinary Bill)

धन-विधेयक और वित्तीय विधेयकों को छोड़कर अन्य विधेयक साधारण विधेयक कहलाते हैं। साधारण विधेयक सरकारी होने पर मन्त्रियों द्वारा और गैर-सरकारी होने पर निजी सदस्यों (Private Members) द्वारा संसद के किसी भी सदन में उपस्थित किए जा सकते हैं।

पुरस्थापन (Introduction)—साधारण विधेयक किसी भी सदस्य द्वारा पुरस्थापित किया जा सकता है। यदि सरकारी गजट में कोई सरकारी प्रस्ताव प्रकाशित हो जाय, तो सरकारी विधेयक का पेश किया जाना मान लिया जाता है। उसके लिए मन्त्रियों की उपस्थिति और मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत की अनुमति की आवश्यकता नहीं होती। जब कोई स्वतन्त्र सदस्य संसद के किसी सदन में कोई साधारण विधेयक प्रस्तुत करना चाहता है, तो इसके लिए आवश्यक है कि वह एक मास पूर्व अपने विधेयक से सम्बन्धित इच्छा की लिखित सूचना (Notice) दे। उक्त सूचना में विधेयक का प्रारूप, उक्त विधेयक के उद्देश्य और स्थापना के कारण भी संलग्न रहने चाहिए। उसमें आवर्ती (Recurring) और अनावर्ती (Non-recurring) व्ययों का लेखा भी होना चाहिए। ऐसे विधेयक जिनका प्रभाव राज्यों और राज्यों की सीमाओं पर पड़ता हो अथवा सरकारी भाषा को बदलने पर पड़ता हो, वे सब राष्ट्रपति की पूर्ण सम्मति से ही पुरस्थापित हो सकते हैं।

प्रथम वाचन (First Reading)—विधेयक की पुरस्थापना के निश्चित दिन विधेयक का प्रस्तावक (Mover) सदन की अनुमति से विधेयक का शीर्षक पढ़ता है और उस विधेयक के

सामान्य सिद्धान्तों (General Principles), उद्देश्यों और मुख्य-मुख्य बातों पर संक्षिप्त भाषण देता है। इसे विधेयक का प्रथम वाचन (First Reading) कहते हैं। प्रथम वाचन के अवसर पर विधेयक के प्रत्येक खण्ड या धारा पर बहस नहीं होती, बल्कि सामान्य सिद्धान्तों पर ही वाद-विवाद होता है।

कभी-कभी विधेयक या पुरस्थापन और प्रथम वाचन एक ही दिन होता है।

द्वितीय वाचन (Second Reading)—प्रथम वाचन के उपरान्त विधेयक को अध्यक्ष भारतीय गजट में छपने के लिए भेज देता है। किसी सदस्य की प्रार्थना पर भी सदन का अध्यक्ष विधेयक को भारतीय गजट में छपने के लिए भेज सकता है। ऐसी स्थति में विधेयक के पुरस्थापित करने के लिए सदन की आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं होती। जिस दिन विधेयक पर विचार होना निश्चित होता है, विधेयक का प्रस्तावक निम्नलिखित प्रस्तावों में से कोई एक प्रस्ताव रख सकता है—

1. सदन विधेयक पर या तो शीघ्र विचार करे अथवा प्रस्ताव में निर्देशित किसी अन्य दिन उक्त विधेयक पर विचार किया जाय,
2. विधेयक प्रवर समिति में भेज दिया जाय, अथवा
3. विधेयक को जनमत-संग्रह के लिए प्रसारित किया जाय।

यदि कोई विधेयक विरोधशून्य हो और शासन द्वारा पुरस्थापित किया गया हो, तो शायद उस पर तुरन्त विचार करने की अनुमति मिल जा सकती है। सामाजिक महत्व के ऐसे विधेयकों को, जिनका राष्ट्र के जीवन पर प्रभाव पड़ता हो अथवा कोई ऐसी नयी बात हो जिसके कारण विवाद और विरोधी भाव उत्पन्न हो, अवश्य ही जनमत के लिए प्रसारित किया जाता है। सभी विधेयक अवश्य ही प्रायः प्रवर समिति में विचारार्थ भेज दिये जाते है।

अब तीनों प्रस्तावों में से कोई एक प्रस्ताव रखा जाता है, तो या तो उसी दिन अथवा अन्य दिन विधेयक के सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है। विधेयक का प्रस्तावक विस्तारपूर्वक समझाता है और व्याख्या करता है कि प्रस्तावित विधेयक की क्यों आवश्यकता है और उसकी आवश्यकता का क्या महत्व है। परन्तु विरोधी सदस्य उक्त विधेयक की आलोचना करते हैं। इस समय भी विस्तारपूर्वक विधेयक पर विचार नहीं होता और न इस समय विधेयक पर संशोधन उपस्थित किए जा सकते हैं और न धारा-प्रतिधारा पर मतदान ही हो सकता है। इस समय तो समूचे विधेयक पर विचार किया जाता है और संशोधन केवल उक्त प्रस्ताव पर किए जाते हैं।

समिति-स्तर (Committee Stage)—यदि सदन विधेयक को प्रवर-समिति में भेजने से सम्बद्ध प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है, तो एक तदर्थ समिति नियुक्त की जाती है। उक्त समिति में अन्य सदस्यों के अतिरिक्त विधेयक का प्रस्तावक रहता है और दूसरा विधि-सदस्य जो पदेन प्रवर-समिति का सदस्य होता है। सदन का अध्यक्ष सदन के सदस्यों में से ही किसी सदस्य को प्रवर-समिति का सभापति नियुक्त कर देता है। यदि किसी समिति में सदन का उपाध्यक्ष भी सदस्य हो, तो वही समिति का सभापति होता है। समिति विधेयक की सूक्ष्म परीक्षा करती है। वह किसी भी व्यक्ति को बुला सकती है और उसकी गवाही करा के उससे सम्बन्धित कागज या सबूत माँग सकती है। समिति विधेयक के विषय से सम्बन्धित विशेषज्ञों या ऐसे लोगों की राय भी ले सकती है जिनके हितों पर उक्त विधेयक का प्रभाव पड़ता हो। प्रवर-समिति विधेयक में संशोधन भी उपस्थित कर सकती है।

प्रतिवेदन-स्तर (Report Stage)—यदि विधेयक को प्रवर समिति में भेजा जाता है या जनमत-संग्रह के लिए प्रसारित किया जाता है, तो प्रतिवेदन के मिल जाने पर पूरा सदन उस विधेयक पर बहस करता है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि साधारणतः विवादास्पद विधेयक

पर जनमत-संग्रह किया जाता है और महत्वपूर्ण विषयों को प्रवर-समिति में भेजा जाता है। प्रतिवेदन के मिल जाने पर विधेयक के खण्ड-खण्ड पर (Clause by Clause) विचार किया जाता है, प्रतिवेदन-स्तर पर प्रत्येक संशोधन के सुझाव पर बहस होती है तथा प्रत्येक संशोधन पर और फिर मूल धारा पर अलग-अलग सदन की राय ली जाती है और विधेयक खण्डशः पास किया जाता है।

तृतीय वाचन (Third Reading)—यदि द्वितीय वाचन में विधेयक स्वीकार हो जाता है, तो वह तृतीय वाचन के लिए सदन के समक्ष रखा जाता है। तृतीय वाचन सदन में विधेयक की अन्तिम अवस्था (Last Stage) है। इस अवस्था में विधेयक के केवल सामान्य सिद्धान्तों के पक्ष और विपक्ष में भाषण दिए जाते हैं। नए संशोधन या भाषा-सम्बन्धी अशुद्धियों को दूर करने वाले संशोधन प्रस्तुत नहीं किए जा सकते। तृतीय वाचन के अवसर पर सम्पूर्ण विधेयक (Bills as a Whole) पर मतदान लिया जाता है और यदि विधेयक बहुमत से स्वीकृत हो जाय तो विधेयक सदन द्वारा स्वीकृत माना जाता है।

दूसरा सदन (Other House)—तृतीय वाचन में स्वीकृत हो जाने पर सदन के अध्यक्ष या सचिव द्वारा विधेयक का प्रमाणीकरण (Athentication) किया जाता है और प्रमाणीकरण के पश्चात् विधेयक को दूसरे सदन में भेज दिया जाता है। दूसरे सदन में भी विधेयक को निम्नलिखित 2 स्तरों से गुजरना पड़ता है—(1) प्रथम वाचन, (2) द्वितीय वाचन, (3) समिति-स्तर, (4) प्रतिवेदन-स्तर और (5) तृतीय वाचन।

राष्ट्रपति की स्वीकृति (President's Assent)—यदि दूसरा सदन भी विधेयक को उसी रूप में पास कर देता है जिस रूप में उसे प्रथम सदन ने भेजा है जिसमें विधेयक पुरस्थापित किया गया था तो विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। राष्ट्रपति विधेयक को स्वीकार या अस्वीकार कर सकता है। यदि वह चाहे तो विधेयक को दोनों सदनों के पुनर्विचारार्थ वापस भेज सकता है। ऐसा करते समय राष्ट्रपति उक्त विधेयक में संशोधनका सुझाव रखते हुए अपना सन्देश भी भेज सकता है। किन्तु दुबारा संसद के दोनों सदन, उक्त विधेयक को संशोधनसहित या संशोधनरहित, पास कर देते हैं, तो राष्ट्रपति को अवश्य ही स्वीकृति प्रदान करनी होती है। राष्ट्रपति की स्वीकृति मिलने पर विधेयक विधि का रूप धारण करता है।

विधेयक-सम्बन्धी गतिरोध-(Deadlock) को दूर करने के उपाय

यदि विधेयक को दूसरे सदन द्वारा अस्वीकार कर दिया जाय अथवा दूसरा सदन ऐसे संशोधनों सहित उसे पारित करे जिन्हें प्रथम सदन स्वीकार नहीं करता अथवा दूसरा सदन विधेयक को छह मास तक नहीं लौटाये, तो ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति संसद के दोनों सदनों की सम्मिलित बैठक बुला सकता है जहाँ दोनों सदन मिलकर विधेयक पर विचार और मतदान करें। संसद के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक कभी भी हो सकती हैं। यदि संयुक्त बैठक से सम्बद्ध आदेश निकल चुका है और उसके बाद यदि लोकसभा विघटित हो जाय, तो भी विधेयक समाप्त नहीं होगा। संयुक्त बैठक के लिए दोनों सदनों की सम्पूर्ण सदस्य-संख्या के दसवें भाग की उपस्थिति गणपूर्ति (Quorum) के लिए पर्याप्त है। संयुक्त बैठक में लोकसभा का स्पीकर और यदि स्पीकर अनुपस्थित हो तो लोकसभा का उपाध्यक्ष सभापति का आसन ग्रहण करता है और संयुक्त बैठक में लोकसभा की प्रक्रिया के अनुसार कार्रवाई होती है। यदि स्पीकर आवश्यक समझे तो कार्रवाई की प्रक्रिया में परिवर्तन भी हो सकता है। दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में संशोधन प्रस्तावित किये जा सकते हैं, किन्तु केवल ऐसे संशोधन प्रस्तावित किये जा सकते हैं जो विधेयक के पारित होने में देर लग जाने के कारण आवश्यक हो गये हैं अथवा जो

उन संशोधनों से सम्बन्ध रखते हैं जिनको किसी एक सदन ने प्रस्तावित किया था, किन्तु दूसरे सदन ने अस्वीकृत कर दिया था। संशोधन की आज्ञा दी जाय या नहीं, इस सम्बन्ध में सभापति का आदेश और निर्णय अन्तिम होता है। यदि संयुक्त बैठक में उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत द्वारा उक्त विवादग्रस्त विधेयक पारित हो जाता है, तो उसे दोनों सदनों द्वारा पारित मान लिया जाता है और उसे राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है।

धन-विधेयक के पास करने की प्रक्रिया

(Procedure of Money Bill)

धन-विधेयक (Money Bill) क्या है?—धन-विधेयक के लिए जो प्रक्रिया निर्धारित है, वह साधारण विधेयक की प्रक्रिया से भिन्न है। धन-विधेयकों पर लोकसभा का पूर्णतः नियंत्रण रहता है, अतएव धन-विधेयक सर्वप्रथम लोकसभा में ही पुरस्थापित हो सकता है, राज्यसभा में नहीं। संविधान की धारा 110 के अनुसार धन-विधेयक वह है जो अग्रलिखित किसी भी विषय से सम्बन्धित है—

1. कर लगाने, घटाने, बढ़ाने, नियमित करने या संशोधन करने इत्यादि से,
2. ऋण लेने, भारत सरकार द्वारा गारण्टी देने के नियम या भारत सरकार पर आर्थिक भार डालने की व्यवस्था से,
3. भारत की संचित निधि (Consolidated Fund) या आकस्मिक निधि (Contingency Fund) को सुरक्षित रूप से रखने, उसमें रुपये जमा करने या उसमें से धन निकालने की व्यवस्था से.
4. भारत की संचित निधि पर किसी व्यय का भार डालने या उसमें से किसी व्यय के लिए धन देने की स्वीकृति से,
5. सरकारी हिसाब में धन जमा करने या उसमें से खर्च, उसकी जाँच आदि से,
6. इनमें से किसी एक विषय से सम्बन्धित।

इस प्रकार धन-विधेयक वह विधेयक है जिसका सम्बन्ध संघ के आय-व्यय, निधियों, हिसाब-किताब और उनकी जाँच इत्यादि से है।

कोई विधेयक धन-विधेयक है या नहीं, इसका निर्णय लोकसभा का अध्यक्ष करता है और उसका निर्णय अन्तिम होता है।

धन-विधेयक की प्रक्रिया—इस प्रकार धन-विधेयक की प्रक्रिया साधारण विधेयक से भिन्न है। धन-विधेयक राष्ट्रपति की पूर्वस्वीकृति से केवल लोकसभा में ही उपस्थित किया जा सकता है, राज्यसभा में नहीं। धन-विधेयक किसी गैर-सरकारी सदस्य द्वारा पुरस्थापित नहीं हो सकता। राष्ट्रपति की सिफारिश से वित्त मन्त्री (Finance Minister) ही लोकसभा में धन-विधेयक पेश करता है। लोकसभा द्वारा पारित होने पर वह राज्यसभा में विचारार्थ भेजा जाता है। लोकसभा का अध्यक्ष हस्ताक्षर कर उसे धन-विधेयक घोषित करता है। यदि राज्यसभा विधेयक पाने के 14 दिन के भीतर अपनी सिफारिशों के साथ लोकसभा में उस विधेयक को भेजने का प्रस्ताव पास कर दे तो लोकसभा उसकी सिफारिशों पर विचार करेगी। लोकसभा को पूर्ण अधिकार है कि वह उन सिफारिशों या उनमें से कुछ को स्वीकार करे या नहीं करे। यदि लोकसभा किसी सिफारिश को मान ले, तो सिफारिश के साथ और यदि नहीं माने तो जिस रूप में वह लोकसभा में पारित हुआ था, उसी रूप में दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जायेगा। यदि राज्यसभा 14 दिन के अन्दर धन-विधेयक को नहीं लौटाती है, तो उक्त अवधि की समाप्ति के बाद वह दोनों सदनों द्वारा उसी रूप में पारित समझा जायेगा जिस रूप में लोकसभा

ने उसको पारित किया था। इसके बाद धन-विधेयक राष्ट्रपति के पास भेजा जायेगा। यहाँ भी धन-विधेयक की घोषणा करते हुए लोकसभा के अध्यक्ष का हस्ताक्षर अनिवार्य है। राष्ट्रपति न तो उसे वापस कर सकता है और न उस पर अपनी अस्वीकृति ही दे सकता है।

वित्तीय प्रक्रिया के प्रमुख अंग

भारतीय संसद की वित्तीय प्रक्रिया को निम्नलिखित पाँच वर्गों में बाँटा जा सकता है—

1. वार्षिक आय-व्यय विवरण (Annual Budget)
2. अनुदान की माँगें (Demands for Grant)
3. विनियोग विधेयक (The Appropriation Bill)
4. वित्त विधेयक (The Finane Bill)
5. अन्य वित्त विधेयक

हम इन सबों पर अलग-अलग विचार करेंगे—

1. वार्षिक आय-व्यय विवरण—प्रत्येक वित्तीय वर्ष के आरम्भ में राष्ट्रपति की औपचारिक अनुमति से अगामी वर्ष का अनुमानित आय-व्यय विवरण (Annual Budget) लोकसभा में वित्त-मंत्री द्वारा उपस्थित किया जाता है। आय-व्यय विवरण के दो भाग होते हैं—रेलवे आय-व्यय (Railway Budget) और साधारण आय-व्यय (General Budget)। दोनों की प्रक्रिया एक ही है। लेकिन रेलवे आय-व्यय विवरण रेलवे-मन्त्री द्वारा तथा साधारण आय-व्यय विवरण वित्त-मन्त्री द्वारा सदन में उपस्थित किये जाते हैं। विवरण में खर्च-सम्बन्धी दो तरह की रकमें पृथक्-पृथक् दिखायी जातीं हैं—(क) संचित निधि पर भारतीय व्यय की रकम (Consolidated Fund Charged) और (ख) संचित निधि से लिए जाने वाले व्यय की अन्य रकम। प्रथम वर्ग के व्यय की रकम पर संसद मत नहीं दे सकती, केवल वाद-विवाद कर सकती है। संविधान के अनुसार संचित निधि पर भारित व्यय निम्नलिखित हैं—

(क) राष्ट्रपति के वेतन, भत्ते तथा उसके कार्यालय से सम्बद्ध अन्य व्यय।

(ख) राज्यसभा के सभापति, उपसभापति तथा लोकसभा के अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते।

(ग) भारत सरकार के ऋण-सम्बन्धी व्यय।

(घ) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते तथा पेंशन-प्रबन्ध से सम्बद्ध व्यय और संघ न्यायालय (Federal Court) के न्यायाधीशों के पेंशन-सम्बन्धी व्यय।

(ङ) भारत के नियंत्रक-महालेखा-परीक्षक के वेतन, भत्ते और पेंशन से सम्बद्ध व्यय।

(च) मध्यस्थ न्यायाधिकरण या न्यायालय के आदेशों की पूर्ति से सम्बन्धित व्यय।

(छ) न्यायालय जो स्वतंत्रता के पूर्व भारत-क्षेत्र में स्थित थे, उनके न्यायाधीशों के पेंशन-सम्बन्धी व्यय।

(ज) संघीय लोकसेवा आयोग के सदस्यों के वेतन, भत्ते और पेंशन से सम्बद्ध व्यय।

(झ) ऐसा कोई व्यय, जिसे संसद विधि द्वारा संचित निधि पर भारित घोषित करे।

इन व्यय-राशियों पर संसद को मतदान का अधिकार नहीं है, क्योंकि ये अनिवार्य हैं। संसद इन पर केवल वाद-विवाद कर सकती है।

2. अनुदान की माँग—संचित निधि पर भारित व्यय-राशियों को छोड़कर अन्य व्यय की राशियाँ लोकसभा में राष्ट्रपति की पूर्वस्वीकृति से अनुदान की माँग (Demands for grants) के रूप में उपस्थित की जाती हैं। लोकसभा को इन पर वाद-विवाद करने तथा मत देने का अधिकार है। वह इन माँगों को स्वीकार कर सकती है, कम कर सकती है या अस्वीकार कर सकती है, लेकिन बढ़ा नहीं सकती। व्यवहार में आलोचनाओं के पश्चात् वित्त-मन्त्री द्वारा उपस्थित किया गया आय-व्यय विवरण लोकसभा से पारित हो जाता है।

3. विनियोग विधेयक--अनुदान की माँग की लोकसभा द्वारा स्वीकृति होने के बाद स्वीकृत की गयी राशियों को संचित निधि से निकालने के लिए एक विधेयक लोकसभा में उपस्थित किया जाता है। इसे विनियोग विधेयक कहते हैं। इसमें दो प्रकार की व्यय-राशियों को निकालने का प्रावधान रहता है : (क) संचित निधि पर भारित व्यय-राशि और (ख) अन्य व्यय-राशि जिसकी माँग लोकसभा द्वारा स्वीकृत हो गयी है। लोकसभा में इस विधेयक पर साधारण वाद-विवाद हो सकता है, लेकिन संशोधन या कटौती का प्रस्ताव नहीं हो सकता। लोकसभा द्वारा स्वीकृत होने पर लोकसभा का अध्यक्ष यह प्रमाणित करता है कि यह धन-विधेयक है और इसे राज्यसभा में प्रेषित किया जाता है। राज्यसभा धन-विधेयक को अस्वीकार नहीं कर सकती, केवल वाद-विवाद कर सकती है और 14 दिनों के भीतर अपनी सिफारिशों के साथ लोकसभा को लौटा देगी। राज्यसभा 14 दिनों के भीतर यदि उसे नहीं लौटाये तो उक्त अवधि के बाद वह विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। राष्ट्रपति भी धन-विधेयक को अस्वीकार नहीं कर सकता और न पुनर्विचार के लिए वापस कर सकता है। उसकी स्वीकृति के बाद विधेयक कानून का रूप ले लेता है और उसी के आधार पर संचित निधि से रुपये निकाले जाते हैं।

4. वित्त-विधेयक (Annual Finance Bill)--आय-व्यय विवरण में प्रस्तावित करों को एक विधेयक के रूप में संसद के समक्ष उपस्थित किया जाता है। इसे वार्षिक वित्त-विधेयक (Annual Finance Bill) कहते हैं। इसके लिए भी वही प्रक्रिया है जो अन्य धन-विधेयक के लिए निर्धारित है। अन्तर इतना है कि इसमें कर को अस्वीकृत करने या घटाने का संशोधन उपस्थित किया जा सकता है।

5. अन्य वित्त विधेयक—आय-व्यय विवरण पारित होने के बाद वित्तीय वर्ष के बीच यदि आवश्यकता हो जाय, तो राष्ट्रपति संसद के समक्ष अनुपूरक अनुदान (Supplementery Grants), सहायक अनुदान (Additional Grant) या अतिरिक्त अनुदान (Excess Grants) की माँग पेश करता है। लोकसभा को यह भी अधिकार है कि वह आवश्यकता पड़ने पर पेशगी अनुदान (Advance Grants) तथा अपवाद अनुदान (Exceptional grants) दे।

इस प्रकार, धन-विधेयक तथा वित्त-विधेयकों पर लोकसभा का ही पूर्ण नियन्त्रण है। राज्यसभा वित्तीय क्षेत्र में पूर्णतः शक्तिशून्य है। चूँकि लोकसभा जनता की प्रतिनिधि सभा है, अतएव राष्ट्र के धन पर उसका नियंत्रण होना ही चाहिए।

गैर-सरकारी विधेयक—गैर-सरकारी विधेयक (Private Member's Bill) वह विधेयक है जो सरकार की ओर से पुरस्थापित नहीं होता, प्रत्युत मंत्रियों को छोड़कर कोई अन्य सदस्य पुरस्थापन का प्रस्ताव करता है। प्रत्येक शुक्रवार के दिन ढाई घण्टे गैर-सरकारी विधेयक पर वाद-विवाद होता है। भारतीय लोकसभा ने गैर-सरकारी विधेयक की जाँच के लिए एक समिति (Committee on the Private Member's) नियुक्त की है। गैर-सरकारी विधेयक के पुरस्थापन के बाद और संविधान में संशोधन वाले विधेयक के पुरस्थापन के पूर्व ही इस समिति के समक्ष विचारार्थ भेजे जाते हैं। समिति इन विधेयकों के विचार के समय तथा मतदान की व्यवस्था की सिफारिश करती है।

साधारण तथा धन विधेयकों के अन्तर के मुख्य पक्ष

साधारण विधेयक तथा धन-विधेयक के पारित करने की उपर्युक्त प्रक्रिया के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों विधेयकों में पर्याप्त अन्तर है। अन्तर के मुख्य पक्षों को हम अग्रलिखित रूप में रख सकते हैं—

साधारण विधेयक	धन-विधेयक
1. साधारण विधेयक संसद के किसी भी सदन में प्रस्तुत किए जा सकते हैं।	1. धन-विधेयक केवल लोकसभा में ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं।
2. साधारण विधेयक संसद के किसी भी सदस्य द्वारा प्रस्तुत किए जा सकते हैं।	2. धन-विधेयक केवल मंत्रिपरिषद के सदस्यों द्वारा प्रस्तुत किए जा सकते हैं।
3. साधारण विधेयक के प्रस्तुत करने के लिए राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति लेनी आवश्यक नहीं होती है।	3. धन-विधेयक के प्रस्तुत करने के लिए राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति आवश्यक होती है।
4. साधारण विधेयक को राज्यसभा 6 महीने तक रोक सकती है।	4. धन-विधेयक को राज्यसभा केवल 14 दिन तक रोक सकती है।
5. साधारण विधेयक के लिए 6 महीने के बाद संसद का संयुक्त अधिवेशन होता है।	5. धन-विधेयक को राज्यसभा यदि 14 दिन तक नहीं भेजती तो वह राज्यसभा द्वारा पास समझा जायगा।

6

लोकसभा और राज्यसभा का सम्बन्ध

लोकसभा और राज्यसभा भारत के संसदात्मक राजप्रासाद के दो आधार-स्तम्भ हैं। भारतीय व्यवस्थापिका के दो अभिन्न और अपरिहार्य अंग होने के नाते दोनों सदन एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। इन दोनों सदनों के इस पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन हम निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

1. कार्यपालिका की दृष्टि से—यदि हम कार्यपालिकीय दृष्टि से लोकसभा और राज्यसभा के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन करें तो हम देखेंगे कि लोकसभा और राज्यसभा दोनों भारतीय संघ की कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती हैं। दोनों को मंत्रिपरिषद से प्रश्न पूछने, काम रोको प्रस्ताव और निन्दा प्रस्ताव आदि प्रस्तुत करने का अधिकार है। दोनों सदनों के सदस्य मंत्रिपरिषद के सदस्य होते हैं। किन्तु मंत्रिपरिषद लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। लोकसभा अविश्वास का प्रस्ताव पास कर मंत्रिपरिषद को अपदस्थ कर सकती है। यह अधिकार राज्यसभा को प्राप्त नहीं है। इस प्रकार राज्यसभा की स्थिति इस दृष्टि से महत्वहीन है।

संसद के दोनों सदनों का सम्बन्ध

1. कार्यपालिका की दृष्टि से
2. सामान्य विधेयकों की दृष्टि से
3. धन-विधेयकों की दृष्टि से
4. संविधान में संशोधन की दृष्टि से
5. महाभियोग के अधिकार की दृष्टि से
6. निर्वाचन-सम्बन्धी अधिकार की दृष्टि से
7. अन्य अधिकारों की दृष्टि से

2. सामान्य विधेयकों की दृष्टि से—सामान्य विधेयकों की दृष्टि से राज्यसभा और लोकसभा सामान्य रूप से सम्बन्धित हैं। कोई भी सामान्य विधेयक दोनों सदनों में पेश किया जा सकता है। उसका दोनों सदनों के सहयोग से पास होना आवश्यक है। यदि किसी विधेयक के सम्बन्ध में लोकसभा और राज्यसभा में तीव्र मतभेद हो जाता है तो राष्ट्रपति दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन को आमंत्रित करता है। इस संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता लोकसभा का अध्यक्ष करता है। इस संयुक्त अधिवेशन में निर्णय बहुमत से होता है। क्योंकि लोकसभा की सदस्य-संख्या राज्यसभा की सदस्य संख्या से अधिक होती है। अतएव लोकसभा जैसा चाहेगी, वैसा होगा। राज्यसभा सामान्य विधेयकों के क्षेत्र में केवल छह महीने का विलम्ब कर सकती है। इसके अतिरिक्त उसके विरोध का और कोई महत्व नहीं है।

3. धन-विधेयक की दृष्टि से—धन-विधेयकों की दृष्टि से राज्यसभा की स्थिति शक्ति-शून्यता की है। कोई भी धन-विधेयक राज्यसभा में पहले प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। वह केवल लोकसभा में ही प्रस्तावित किया जा सकता है। राज्यसभा धन-विधेयक को अधिक-से-अधिक 14 दिन तक रोक सकती है। इसके अतिरिक्त उसे अन्य कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

4. संविधान में संशोधन की दृष्टि से—संविधान में संशोधन का दोनों सदनों को समान अधिकार प्राप्त है। संविधान में संशोधन-विषयक कोई विधेयक दोनों सदनों में पेश किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त संशोधन-विधेयक को दोनों सदनों में सदन के बहुमत तथा उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से पास होना चाहिए।

इस प्रकार जैसा कि डॉ० एम० वी० पायली ने लिखा है कि "संविधान के संशोधन की दिशा में दोनों सदनों के समान अधिकार अत्यन्त महत्व के हैं।"

5. महाभियोग के अधिकार की दृष्टि से—महाभियोग के अधिकार की दृष्टि से राज्यसभा को लोकसभा के समान अधिकार प्राप्त हैं। राष्ट्रपति पर महाभियोग का अधिकार संसद के किसी भी सदन में पेश किया जा सकता है। राष्ट्रपति को हटाने का प्रस्ताव संसद के जिस सदन में पहले पेश किया जायगा, वहाँ उसे दो-तिहाई बहुमत से पास होना चाहिए। इसके बाद इसी प्रकार उसे दूसरे सदन में प्रस्तुत और पास होना चाहिए। उपराष्ट्रपति के महाभियोग के लिए पहले राज्यसभा प्रस्ताव प्रस्तुत करती है। उसके बाद उसे लोकसभा के पास भेजती है। इस प्रकार महाभियोग की दृष्टि से राज्यसभा और लोकसभा परस्पर सम्बन्धित हैं।

6. निर्वाचन-सम्बन्धी अधिकार की दृष्टि से—लोकसभा और राज्यसभा दोनों को निर्वाचन की दृष्टि से समान अधिकार प्राप्त हैं। दोनों सदन राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेते हैं।

7. अन्य अधिकारों की दृष्टि से—उपर्युक्त अधिकारों के अतिरिक्त राज्यसभा तथा लोकसभा कुछ अन्य अधिकारों की दृष्टि से भी एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। ये अधिकार इस प्रकार हैं—

1. सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को पदच्युत करने का प्रस्ताव दोनों सदनों द्वारा पास होना चाहिए।
2. इसी प्रकार राष्ट्रपति द्वारा की गई संकटकालीन घोषणा दोनों सदनों द्वारा स्वीकृत होनी चाहिए।
3. नियंत्रक एवं महालेखा-परीक्षक तथा मुख्य चुनाव आयुक्त को पदच्युत करने का अधिकार दोनों सदनों को है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्यसभा और लोकसभा दोनों एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। दोनों एक-दूसरे के पूरक, सहयोगी और सहधर्मी हैं। दोनों ही भारत के संसदीय रथ के दो चक्र हैं।

7

राज्यसभा की स्थिति का मूल्यांकन

(लोकसभा और राज्यसभा में कौन श्रेष्ठ है)

लोकसभा और राज्यसभा के पारस्परिक सम्बन्धों और शक्तियों के प्रकाश में यह स्पष्ट हो जाता है कि संसदीय परम्पराओं के अनुसार राज्यसभा भारत की संसदात्मक व्यवस्था का उच्च सदन है। किन्तु शक्तियों और अधिकारों की दृष्टि से लोकसभा राज्यसभा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली सदन है।

राज्यसभा के सशक्त होने के प्रमुख आधार—लोकसभा के शक्तिशाली होने के कई कारण हैं, कई आधार हैं। इन कारणों और आधारों के मुख्य पक्ष अग्रलिखित हैं—

1. संविधान के अनुसार मंत्रिपरिषद लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है।
2. लोकसभा अविश्वास का प्रस्ताव पास कर मंत्रिपरिषद को अपदस्थ कर सकती है।
3. धन-विधेयकों को सर्वप्रथम केवल लोकसभा में ही पेश किया जा सकता है।
4. राज्यसभा धन-विधेयकों को केवल 14 दिन के लिए रोक सकती है, इससे अधिक विलम्ब नहीं कर सकती।
5. धन-विधेयकों को अस्वीकृत करने का अधिकार राज्यसभा को नहीं है। राज्यसभा धन-विधेयकों के सम्बन्ध में अपनी सिफारिशें भेज सकती है, किन्तु इन सिफारिशों का मानना या न मानना राज्यसभा की इच्छा पर निर्भर करता है।
6. धन-विधेयक की व्याख्या करने का अधिकार अर्थात् यह अधिकार कि कौन विधेयक धन-विधेयक है, कौन नहीं—इसकी व्याख्या करने का अधिकार लोकसभा के अध्यक्ष का है।
7. सामान्य विधेयकों की दशा में राज्यसभा अधिक-से-अधिक छह महीने तक विधेयक को रोक सकती है। यदि विधेयक के विषय में दोनों सदनों में कोई विवाद खड़ा हो जाता है तो दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाया जाता है। इस अधिवेशन की अध्यक्षता लोकसभा का अध्यक्ष करता है। लोकसभा की सदस्य-संख्या राज्यसभा की सदस्य-संख्या की दुगनी से अधिक है और निर्णय बहुमत से लिए जाते हैं। अतएव लोकसभा अपनी इच्छानुसार किसी विधेयक को पास करवा सकती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ तक कि शक्तियों का प्रश्न है, इसमें कोई संदेह नहीं कि लोकसभा राज्यसभा से कहीं अधिक श्रेष्ठतर स्थिति में है।

राज्यसभा की उपयोगिता और महत्व

क्या राज्यसभा सर्वथा एक अशक्त और अनुपयोगी सदन है?—यह सत्य है कि राज्यसभा की स्थिति लोकसभा की तुलना में महत्वहीन है, उसे वास्तविक शक्तियाँ प्राप्त नहीं हैं। वह द्वितीय सदन नहीं, प्रत्युत दूसरे स्तर का सदन है। इन्हीं आधारों पर एक विद्वान् ने राज्यसभा को विश्व का सर्वाधिक अशक्त सदन कहा है। किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि राज्यसभा सर्वथा एक अशक्त और अनुपयोगी सदन है।

राज्यसभा एक अशक्त सदन नहीं है—मंत्रिपरिषद के उत्तरदायित्व और वित्तीय शक्तियों के अतिरिक्त राज्यसभा लोकसभा के समकक्ष ही शक्तियों का प्रयोग करती है। जैसा कि पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि "वित्तीय शक्तियों को छोड़कर राज्यसभा लोकसभा के समान ही शक्तियों का उपयोग करती है।"

1. उदाहरण के लिए हम राज्यसभा की कार्यपालिकीय शक्तियों को ले सकते हैं। राज्यसभा संघीय मंत्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास नहीं कर सकती, किन्तु वह संघीय मंत्रिपरिषद के सामने अन्य अनेक प्रस्ताव रख सकती है और प्रश्न रखकर मंत्रिपरिषद को कठिनाइयों में डाल सकती है। जैसा कि के० वी० राव ने लिखा है कि "राज्यसभा संघीय मंत्रिपरिषद को नष्ट नहीं कर सकती, किन्तु विशिष्ट दशाओं में वह उसे कठिनाइयों में डाल सकती है।"
2. सामान्य विधेयक के क्षेत्र में राज्यसभा को महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त है। वह किसी सामान्य विधेयक को अपने सदन में प्रस्तुत कर सकती है। लोकसभा द्वारा पास विधेयक को वह छह महीने तक रोक सकती है।
3. संविधान के संशोधन-संबंधी विधेयक की दशा में उसे लोकसभा के समान अधिकार प्राप्त हैं।
4. राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन में वह लोकसभा के समान अधिकारों का प्रयोग करती है।
5. राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश आदि के विरुद्ध चलाए गए महाभियोग में वह लोकसभा के समान अधिकारों का उपयोग करती है।
6. राष्ट्रपति द्वारा की गई आपातकाल की उद्घोषणा की स्वीकृति देने में वह लोकसभा के साथ और समान शक्तियों का उपयोग करती है।
7. इसके अतिरिक्त राज्यसभा को कुछ ऐसी शक्तियाँ प्राप्त हैं जो लोकसभा को प्राप्त नहीं हैं। ये अनन्य शक्तियाँ इस प्रकार हैं—

(अ) संविधान के अनुच्छेद 249 के अनुसार राज्यसभा राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का विषय घोषित कर संसद को उस विषय में कानून बनाने का अधिकार दे सकती है।

(ब) संविधान के अनुच्छेद 312 के अनुसार राज्यसभा नई अखिल भारतीय सेवा या सेवाओं की स्थापना कर सकती है।

राज्यसभा की उपयोगिता के पक्ष में प्रमुख तर्क—उपर्युक्त अधिकारों के अतिरिक्त एक द्वितीय सदन के रूप में राज्यसभा का अपना महत्व रहा है। इस महत्व के मुख्य पक्ष इस प्रकार हैं—

(i) राज्यसभा लोकसभा द्वारा भेजे गए विधेयकों पर सावधानी और गम्भीरता से विचार कर जल्दबाजी में किये गए दोषों को दूर करने में योग देती है।

(ii) राज्यसभा लोकसभा द्वारा पारित सामान्य विधेयकों पर अपना मतभेद व्यक्त कर छह महीने तक रोक सकती है। इस बीच जनता को विधेयक के दोषों का ज्ञान कराया जा सकता है। प्रभावशाली जनमत हो जाने पर ऐसे विधेयक को पारित होने से रोका जा सकता है।

(iii) राज्यसभा लोकसभा की निरंकुशता पर अंकुश का कार्य करती है। राज्यसभा के होते हुए लोकसभा को आवेश में आकर देश की संवैधानिक व्यवस्था के मौलिक आधारों को परिवर्तित करना सरल नहीं होगा।

(iv) राज्यसभा में देश के अनुभवी, वयोवृद्ध, वरिष्ठ राजनायकों और विद्वानों के प्रतिनिधित्व का अवसर मिल जाता है। ऐसे लोगों के लोकसभा में निर्वाचित होने की संभावना बहुत कम रहती है।

(v) भारत की राजनैतिक व्यवस्था संघात्मक पद्धति पर आधारित है। राज्यसभा संघात्मक पद्धति की आवश्यकता की पूर्ति करती है।

इस प्रकार राज्यसभा का देश की संवैधानिक व्यवस्था में अपना महत्व है। भारत के संवैधानिक इतिहास की अल्प अवधि में ही राज्यसभा ने अपने औचित्य को सिद्ध किया है, अपनी सत्ता को प्रतिष्ठापित किया है तथा अपने अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष किया है।

राज्यसभा द्वारा अपने अधिकारों की रक्षा तथा स्थिति की प्रतिष्ठापना का प्रथम प्रयास हमें 1953 ई० में दिखलाई पड़ता है। 29 अप्रैल, 1953 ई० को राज्यसभा ने 1952 ई० के आयकर संशोधन विधेयक पर विचार करना प्रारम्भ किया। यह विधेयक लोकसभा द्वारा पहले ही पास कर दिया गया था। लोकसभा के अध्यक्ष ने इस विधेयक को धन-विधेयक की संज्ञा दी थी। किन्तु राज्यसभा ने यह दावा किया कि वह विधेयक धन-विधेयक नहीं है। इस प्रश्न को लेकर दोनों सदनों में पर्याप्त विवाद चला। इसी प्रकार इस घटना के पश्चात् 1953 ई० में ही 'लोक-लेखा समिति' (पब्लिक-एकाउण्ट्स) के संगठन के विषय में राज्यसभा और लोकसभा के मध्य विवाद चला। राज्यसभा अपनी अलग लोक-लेखा समिति का गठन करना चाहती थी। पर लोकसभा का कहना था कि धन-सम्बन्धी विषयों पर पूर्ण अधिकार लोकसभा को प्राप्त है। अतएव राज्यसभा को इस प्रकार की समिति के गठन का अधिकार नहीं है। अन्त में पंडित नेहरू के हस्तक्षेप से इस विवाद का अन्त हुआ। पं० नेहरू ने लोक-लेखा समिति में राज्यसभा के सात सदस्यों के लिए प्रावधान का प्रस्ताव पास कराकर इस विवाद का अन्त कराया। इसी प्रकार 1962, 1963 तथा 1968 ई० में कुछ अवसरों में राज्यसभा ने लोकसभा से अपना मतभेद व्यक्त कर अपनी स्थिति, शक्ति और महत्व को मुखरित करने का प्रयास किया था। 1977 ई० में लोकसभा द्वारा पास किए गए 44वें संविधान संशोधन विधेयक के अनेक पक्षों को अस्वीकार कर राज्यसभा ने यह सिद्ध कर दिया कि व्यवस्थापन के क्षेत्र में उसके अपने स्वरों का भी कुछ महत्व है।

ये दृष्टान्त इस तथ्य के प्रमाण हैं कि राज्यसभा भारत की राजनैतिक व्यवस्था का एक अनावश्यक और अनुपयोगी अंग न होकर एक उपयोगी और आवश्यक अंग है। जैसा कि डॉ० पायली ने लिखा है कि, "राज्यसभा एक अनुपयोगी सदन या व्यवस्थापन में अवरोध खड़ा करने वाला सदन ही नहीं है। वस्तुतः राज्यसभा शासन का एक अपरिहार्य अंग है, वह केवल शोभा का दूसरा सदन नहीं।"

8

संसद की कार्यवाही कैसे संचालित होती है ?

संसद के दोनों सदनों के संगठन, शक्ति तथा व्यवस्थापन की प्रक्रिया के अध्ययन के साथ ही संसद की कार्यवाही-सम्बन्धी प्रक्रिया पर भी एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। संसद की कार्यवाही-सम्बन्धी प्रक्रिया का अध्ययन हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

1. संसद के अधिवेशन—संविधान के अनुसार संसद का प्रतिवर्ष कम-से-कम दो बार अधिवेशन होना चाहिए। दो अधिवेशनों के बीच का अन्तर्काल छह महीने से कम होना चाहिए। दूसरे शब्दों में दो सन्दर्भों के मध्य का अन्तर्काल छह महीने से अधिक नहीं होना चाहिए। इस नियम के अन्तर्गत राष्ट्रपति जब और जहाँ चाहे संसद के एक या दोनों सदनों का सत्र बुला सकता है। सामान्यतया वर्ष में संसद के दो अधिवेशन होते हैं। पहला अधिवेशन जनवरी से अप्रैल तक होता है और दूसरा अधिवेशन सितम्बर से दिसम्बर तक चलता है। आवश्यकतानुसार जून में भी बुलाया जाता है जो अगस्त तक चलता है।

राष्ट्रपति संसद के अधिवेशन को स्थगित कर सकता है तथा लोकसभा को विघटित कर सकता है। राष्ट्रपति यह कार्य मंत्रिपरिषद के परामर्श से करता है।

2. संसद के प्रथम अधिवेशन में शपथ-ग्रहण—प्रत्येक सामान्य निर्वाचन के बाद संसद के दोनों सदनों के सदस्य एक निश्चित तिथि को सभा-भवन में एकत्रित होते हैं तथा राष्ट्रपति

अथवा राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त व्यक्ति के सामने अपने पद की शपथ लेते हैं। शपथ के बिना औपचारिक दृष्टि से वे अपना पद-ग्रहण नहीं कर सकते हैं।

यदि कोई सदस्य शपथ के बिना अपना पद-ग्रहण कर लेता है या मत देता है— यह जानते हुए भी कि उसमें सदस्यता की योग्यता नहीं, तो उसे अनधिकृत रूप से बैठने के लिए अर्थदण्ड देना होगा।

3. प्रथम सत्र में राष्ट्रपति का भाषण—सामान्य निर्वाचन के बाद प्रत्येक वर्ष के प्रथम अधिवेशन के प्रारम्भ में दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में राष्ट्रपति का भाषण होता है। उसका यह भाषण प्रधानमन्त्री के निर्देशन में मन्त्रिपरिषद द्वारा तैयार किया जाता है।

भाषण में आन्तरिक तथा वैदेशिक नीति-सम्बन्धी सरकार की अधिकृत उद्घोषणाओं का उल्लेख रहता है। साथ ही देश की परिस्थितियों तथा समस्याओं के समाधान का संकेत रहता है।

4. राष्ट्रपति के भाषण पर वाद-विवाद—राष्ट्रपति के भाषण के बाद दूसरे दिन की बैठक में प्रत्येक सदन भाषण पर वाद-विवाद करता है। मन्त्रिपरिषद की ओर से राष्ट्रपति को उसके भाषण के लिए धन्यवाद देने का प्रस्ताव उपस्थित किया जाता है। यदि विरोधी दल भाषण पर असन्तोष व्यक्त करता है तथा भाषण में संशोधन का प्रस्ताव पास कराने में समर्थ हो जाता है तो उसका अर्थ होता है मन्त्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव। ऐसी स्थिति में मन्त्रिपरिषद त्यागपत्र देने के लिए बाध्य होती है। विरोधी दल राष्ट्रपति के अभिभाषण के प्रति असन्तोष व्यक्त करने के लिए कभी-कभी सदन से बाहर चला जाता है।

5. दैनिक कार्यवाही के लिए कोरम—भाषण के उत्तर का प्रस्ताव पारित होने के पश्चात् सदन अपनी दैनिक कार्यवाही प्रारम्भ करता है। दैनिक कार्यवाही के लिए सदस्यों की एक निश्चित संख्या होनी आवश्यक होती है। इस निश्चित संख्या को संसदात्मक शब्दावली में 'कोरम' (Quorum) कहते हैं। संविधान के अनुसार प्रत्येक सदन के सदस्यों के दशांश को 'कोरम' माना जायगा, अर्थात् सदन की कार्यवाही के संचालन के लिए कुल सदस्यों का दसवाँ हिस्सा सदन में उपस्थित होना चाहिए।

यदि सभा की बैठक में कोरम नहीं होता तो सभा का अध्ययन सदन की बैठक को स्थगित कर सकता है या निलम्बित कर सकता है।

संसद-सदस्यों के वेतन, भत्ते और सुविधाएँ - संसद के प्रत्येक सदस्य को निश्चित वेतन और भत्ता मिलता है। वर्तमान समय में प्रत्येक सदस्य को 1500 रु० मासिक वेतन तथा 1,200 रु० मासिक भत्ता एवं अधिवेशन के दिनों में 150 रु० प्रतिदिन भत्ता दिया जाता है। इसके अतिरिक्त उन्हें भारत के किसी भी भाग में भ्रमण करने के लिए प्रथम श्रेणी का निःशुल्क रेलवे पास तथा 640 किलो मीटर से अधिक की यात्रा के लिए हवाई जहाज का पास संसद के अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए दिया जाता है।

संसद-सदस्यों के लिए पेंशन का भी प्रावधान किया गया है। पाँच साल की सदस्यता के पश्चात इससे अधिक की अवधि के लिए 500 रु० मासिक पेंशन दिये जाने की व्यवस्था की गई है।

९

संसद के अधिकार, शक्ति और कार्य

संसद देश की सर्वोच्च व्यवस्थापिका है। फलतः राष्ट्र की सर्वोच्च विधायिनी शक्तियाँ उसी के हाथों में निहित हैं। संसदात्मक व्यवस्था में विधायिनी शक्तियों के अतिरिक्त संसद को कार्यपालिकीय शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। अतएव भारत की संसद कतिपय कार्यपालिकीय शक्तियों का भी उपयोग करती है। इसके अतिरिक्त उसे कुछ अन्य अधिकार भी प्राप्त हैं। साथ

ही वह कतिपय अन्य कार्य भी करती है। इस प्रकार संसद के अनेक अधिकार, शक्ति और कार्य हैं।[1] अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन कार्यों और अधिकारों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. **कार्यपालिकीय अधिकार और कार्य**—संसद को राष्ट्र की कार्यपालिकीय शक्तियों के क्षेत्र में महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। संघीय कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिपरिषद के सदस्य संसद के सदस्य होते हैं। संसद मन्त्रिपरिषद से प्रश्न पूछकर तथा अनेक प्रकार के प्रस्तावों के माध्यम से कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है।

मन्त्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। लोकसभा मंत्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर उसे अपदस्थ कर सकती है। लोकसभा की बैठक का प्रत्येक पहला घण्टा प्रश्नों के लिए निर्धारित रहता है। प्रश्नों के उत्तर के लिए विभिन्न मन्त्रालयों से अलग-अलग दिन निर्धारित रहते हैं। डॉ० महादेवप्रसाद शर्मा के अनुसार प्रश्न संसदीय जनतंत्र की अत्यन्त महत्वपूर्ण विधा है। संसद के प्रश्न पूछने वाले समय को मन्त्रियों की गतिविधियों पर प्रभाव डालने वाला प्रकाश-स्तम्भ कहा गया है। इस प्रकार संसद अपनी संसदीय शक्ति और प्रक्रिया के माध्यम से राष्ट्रीय कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखती है तथा समय-समय पर उसके दोषों और शिथिलताओं को उजागर करती है।

2. **विधायी शक्तियाँ**—संसद को विधायन या व्यवस्थापन के क्षेत्र में अपरिमित शक्तियाँ प्राप्त हैं। उसे संघीय सूची के अन्तर्गत आने वाले समस्त विषयों पर विधि-निर्माण का अधिकार प्राप्त है। इसके अतिरिक्त समवर्ती सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर उसे राज्यों के समान विधि-निर्माण का अधिकार प्राप्त है। विशिष्ट दशाओं में वह राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर भी विधि-निर्माण का कार्य कर सकती है। अवशिष्ट विषयों पर विधि-निर्माण का अधिकार भी उसी को है। इस प्रकार विधायन के क्षेत्र में संसद को अनेक व्यापक शक्तियाँ प्राप्त हैं।

3. **वित्तीय शक्तियाँ**—यह राजशास्त्र की एक स्थापित मान्यता है कि जो वित्त पर नियंत्रण रखता है, वह राष्ट्र को नियंत्रित करता है। भारतीय संसद को राष्ट्र की वित्तीय व्यवस्था पर नियंत्रण की पूरी शक्ति प्राप्त है। संसद की अनुमति और स्वीकृति के बिना न तो कोई नया कर लगाया जा सकता है, न धन का व्यय किया जा सकता है। संसद ही देश के आय-व्यय के वार्षिक अनुमान (बजट) को स्वीकृति करती है। दूसरे शब्दों में केवल देश की संचित धनराशि (Consolidated fund) पर मतदान का अधिकार संसद को नहीं है, शेष अन्य सभी धन-सम्बन्धी माँगों पर संसद की स्वीकृति आवश्यक है।

4. **संविधान के संशोधन-सम्बन्धी शक्ति**—भारतीय संविधान के संशोधन की दशा में संसद को महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। संविधान में संसद कहाँ तक संशोधन कर सकती है, यह एक विवादास्पद प्रश्न रहा है। 'गोलकनाथ-विवाद' के ऐतिहासिक निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया था कि संसद को संविधान में व्यापक संशोधन की शक्ति प्राप्त नहीं है। बाद में संसद ने एक संशोधन द्वारा यह स्थापित किया कि संसद को संविधान में संशोधन की पूर्ण शक्ति प्राप्त है। इसी आधार पर संसद ने संविधान में व्यापक संशोधन किए। संविधान का 42वाँ संशोधन इस तथ्य का एक ज्वलंत उदाहरण है। बाद में 'केशव भारती नामक विवाद' के निर्णय में सर्वोच्च न्यायालय ने भी संसद की संविधान में संशोधन की शक्ति को स्वीकार किया, किन्तु साथ ही यह भी स्थापित किया कि संसद संविधान की मौलिक बातों में संशोधन नहीं कर

---

1. संसद के प्रत्येक सदन के कार्यों और अधिकारों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यहाँ संसद के समग्र अधिकारों और कार्यों का उल्लेख किया गया है।

सकती। इस प्रकार वर्तमान समय में संसद संविधान के मौलिक पक्षों में संशोधन के अतिरिक्त अन्य सब पक्षों में संशोधन कर सकती है।

5. निर्वाचन-सम्बन्धी अधिकार और कार्य—संसद राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति के निर्वाचन में योग देती है। इसके अतिरिक्त लोकसभा अपने अध्यक्ष का निर्वाचन करती है।

6. वैदेशिक नीति का नियंत्रण—देश की वैदेशिक नीति के नियंत्रण में संसद की भूमिका महत्वपूर्ण रहती है। भारत सरकार द्वारा युद्ध, शान्ति या सन्धि सम्बन्धी सभी महत्वपूर्ण घोषणाएँ संसद के समक्ष प्रस्तुत की जाती हैं। संसद के सफल विरोध की स्थिति में संघीय सरकार वैदेशिक क्षेत्र में कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठा सकती।

7. राष्ट्र का सर्वोच्च विचार-मंच—संसद राष्ट्र का सर्वोच्च विचार-मंच है। संसद में सारे राष्ट्र के जन-प्रतिनिधियों का संगम होता है। ये जन-प्रतिनिधि शासन को सारे राष्ट्र की समस्याओं, आवश्यकताओं और आकांक्षाओं से अवगत कराते हैं। जन-प्रतिनिधि अपनी प्रभावशाली वाणी में राष्ट्र और राष्ट्र के स्वरों को मुखरित करते हैं।

8. संसद के अन्य कार्य और अधिकार—उपर्युक्त कार्यों और अधिकारों के अतिरिक्त संसद के कुछ अन्य अधिकार और कार्य भी हैं। इन कार्यों और अधिकारों को संक्षेप में हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. संसद राष्ट्रपति की संकटकालीन शक्तियों पर नियंत्रण रखती है। संसद की स्वीकृति के बिना राष्ट्रपति द्वारा की गई उद्घोषणा अप्रभावी हो जायगी।
2. संसद किसी राज्य के परामर्श से उस राज्य में विधान-परिषद की स्थापना कर सकती है या उसकी विधान-परिषद को समस्त कर सकती है।
3. संसद किसी नये राज्य का निर्माण कर सकती है, राज्यों का पुनर्गठन कर सकती है, अथवा किसी राज्य की सलाह से उसके नाम में परिवर्तन कर सकती है।
4. संसद को राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग चलाने का अधिकार प्राप्त है।
5. संसद को सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को अपदस्थ करने के लिए प्रस्ताव पास करने का अधिकार है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत की राजनैतिक व्यवस्था में भारतीय संसद का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। संसद मात्र बातचीत का केन्द्र और विचार-मंच नहीं है, प्रत्युत वास्तविक विधायी-शक्तियों से सम्पन्न एक प्रभावशाली और शक्तिशाली संस्थान है। ऐसा संस्थान जिसे राष्ट्र का गुरुत्वाकर्षण-केन्द्र कहा जा सकता है।

संसद की संप्रभुता की सीमाएँ

भारतीय संसद ब्रिटिश संसद की एक अनुकृति है। ब्रिटिश संसद के विषय में ऐसा कहा जाता है कि वह अनन्त और अपरिमित शक्ति-सम्पन्न संस्थान है। भारतीय संसद के विषय में भी यह कहा जाता है कि संघीय व्यवस्थापन के क्षेत्र में संसद को भी अनेक महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भारतीय संसद की शक्तियाँ असीमित हैं। वस्तुतः भारतीय संसद की शक्ति पर अनेक सीमाएँ हैं। इन सीमाओं को संक्षेप में हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. संसद द्वारा पास किए विधेयकों पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर होने आवश्यक हैं। राष्ट्रपति पास किए हुए विधेयकों को एक बार पुनः विचार के लिए वापस भेज

सकता है, किन्तु संसद द्वारा दूसरी बार भेजे जाने पर राष्ट्रपति हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य होगा।

2. संसद केवल संघीय सूची, समवर्ती सूची तथा अवशिष्ट विषयों पर कानून बना सकती है। राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर विशिष्ट परिस्थितियों में ही वह कानून बनाने का अधिकार रखती है।
3. संविधान के संशोधन की दिशा में उसे निर्बाध शक्ति प्राप्त नहीं है। संविधान के अनेक महत्वपूर्ण पक्षों के संशोधन करने के लिए कम-से-कम आधे राज्यों के विधान-मण्डलों का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक है।
4. संसद संविधान के मौलिक या आधारभूत पक्षों में संशोधन नहीं कर सकती।
5. संसद संविधान के अनुरूप विधियों का ही निर्माण कर सकती है। संविधान के प्रतिकूल बनाई गई विधियाँ सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अवैध घोषित कर दी जाती हैं।
6. संसद की नागरिकों के मूल अधिकारों के संशोधन की शक्ति भी सीमित है।
7. वित्तीय क्षेत्र में संसद को भारत की संचित निधि के विषय में विचार करने का अधिकार नहीं है।
8. संसद का कार्यकाल संविधान द्वारा निर्धारित है। विशिष्ट परिस्थितियों में ही उसके कार्यकाल को थोड़े समय के लिए बढ़ाया जा सकता है।
9. संसद पर राष्ट्र के जनमत का नियंत्रण रहता है। जनमत की उपेक्षा करना संसद के लिए सामान्यतया सम्भव नहीं रहता।
10. संसद अपनी रचना और कार्य-पद्धति द्वारा भी सीमित है। वह अपने दायित्व का निर्वहन निश्चित प्रक्रिया के अन्तर्गत ही कर सकती है।

10

संसद और संघीय मन्त्रि-परिषद : संसद मन्त्रि-परिषद पर किस प्रकार नियन्त्रण रखती है ?

कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का नियन्त्रण, संसदीय पद्धति की आधारशिला होता है। भारत की संसदात्मक व्यवस्था भी इसका अपवाद नहीं है। भारतीय संघ की कार्यपालिका संसद के प्रति उत्तरदायी है। फलतः संसद मंत्रि-परिषद पर अनेक दृष्टियों से नियन्त्रण रखती है। सामान्यतया संसद द्वारा मंत्रि-परिषद के नियन्त्रण की पाँच विधाएँ हैं। ये विधाएँ इस प्रकार हैं—

1. **वाद-विवाद द्वारा**—संसदीय नियन्त्रण की सर्वाधिक सामान्य विधा वाद-विवाद है। संसद राष्ट्रीय समस्याओं के वाद-विवाद का सर्वोच्च मंच है। इन संसदीय वाद-विवादों में संसद शासन की शिथिलताओं की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट करती और उसे अपनी शिथिलताओं के दूर करने या उनसे मुक्ति पाने का आग्रह करती है। संसद के ये वाद-विवाद राष्ट्र के समाचार-पत्रों तथा रेडियो आदि के द्वारा प्रकाशित और प्रसारित होते हैं। अतएव सामान्यतया कार्यपालिका इन वाद-विवादों और उनमें प्रस्तुत सुझावों की उपेक्षा नहीं करती।

> **मंत्रिपरिषद पर संसद के नियन्त्रण की पाँच विधाएँ**
> 1. वाद-विवाद द्वारा
> 2. प्रश्न तथा पूरक प्रश्नों द्वारा
> 3. सामान्य प्रस्ताव द्वारा
> 4. स्थगन-प्रस्ताव द्वारा
> 5. अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा

2. **प्रश्न तथा पूरक प्रश्नों द्वारा**—संसद-सदस्य मन्त्रियों से शासन-सम्बन्धी मामलों में प्रश्न पूछते हैं। सदस्य कौन से प्रश्न पूछेंगे, इसकी सूचना वे मन्त्रि-परिषद को पहले ही देते हैं। प्रश्नों के उत्तर देने के लिए संसद के प्रत्येक अधिवेशन में समय निश्चित कर दिया जाता है।

विभिन्न मंत्रालयों द्वारा उत्तर दिये जाने के लिए अलग-अलग समय निर्धारित रहता है। यदि प्रश्नों का उत्तर सन्तोषजनक नहीं होता तो पूरक प्रश्न पूछे जाते हैं। पूरक प्रश्नों के पूछने के लिए पूर्वसूचना देने की आवश्यकता नहीं होती। प्रश्न और पूरक प्रश्नों का बड़ा महत्व है। ये प्रश्न और पूरक प्रश्न शासन के भूलों और दोषों को प्रकाश में लाते हैं। मन्त्रीगण इन प्रश्नों का उत्तर देने में बड़ी सावधानी बरतते हैं। जब कोई मन्त्री प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देने में असमर्थ होता है तो उसकी संसद और संसद के बाहर बड़ी भर्त्सना होती है। ऐसी स्थिति में कभी-कभी मन्त्री प्रश्नों का उत्तर न देकर उसे यह कहकर टाल देते हैं कि सार्वजनिक हित में उत्तर देना उचित नहीं है।

3. सामान्य प्रस्ताव द्वारा —सामान्य प्रस्ताव संसदीय नियन्त्रण की अन्य विधा है। संसद मन्त्रि-परिषद को सतर्क करने एवं चेतावनी देने के लिए ऐसे प्रस्ताव पास करती है जिनमें कार्यपालिका को शासन सम्बन्धी कुछ निर्देश दिये जाते हैं। ये प्रस्ताव कानून के समकक्ष शक्ति नहीं रखते, किन्तु फिर भी मन्त्रिपरिषद इनकी उपेक्षा नहीं कर सकती।

4. स्थगन-प्रस्ताव (काम रोको प्रस्ताव) द्वारा—स्थगन-प्रस्ताव संसद के हाथों में कार्यपालिका के नियन्त्रण का एक शक्तिशाली शस्त्र है। किसी विशेष परिस्थिति अथवा किसी विशेष घटना के विषय में बहस करने के लिए सदस्य जब सभा की अन्य कार्यवाही को रोककर अथवा स्थगित कर जो विधा अपनाते हैं, उसे 'स्थगन-प्रस्ताव' या 'काम रोको प्रस्ताव' (Adjournment Motion) कहते हैं। ये प्रस्ताव सामान्यतया उस समय रखे जाते हैं जब कि प्रश्न पूछने का समय समाप्त हो जाता है। यदि सदन के अध्यक्ष की दृष्टि में प्रस्ताव सार्वजनिक हित में नहीं होता तो अध्यक्ष उसके प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं देता। ऐसी दशा में प्रस्ताव पास नहीं माना जाता और वह समाप्त हो जाता है। यदि सदन का अध्यक्ष प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है तो उस दिन की अन्य कार्यवाही रोक दी जाती है और उस पर वाद-विवाद प्रारम्भ हो जाता है। यदि प्रस्ताव पास हो जाता है तो उसे सरकार के विरुद्ध निन्दा का प्रस्ताव (Vote of Censure) समझा जाता है।

5. अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा—संसदीय शस्त्रागार का सबसे शक्तिशाली अस्त्र 'अविश्वास का प्रस्ताव' (No Confidence Motion) है। इस प्रस्ताव का प्रमुख सम्बन्ध लोकसभा से है। मन्त्रि-परिषद लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। यदि लोकसभा में अविश्वास का प्रस्ताव पास हो जाता है तो मन्त्रि-परिषद को त्यागपत्र देना आवश्यक हो जाता है। अविश्वास का प्रस्ताव किसी एक मन्त्री अथवा सारी मन्त्रि-परिषद के विरुद्ध प्रस्तुत किया जा सकता है। चाहे यह प्रस्ताव किसी एक मन्त्री के विरुद्ध ही क्यों न हो, प्रस्ताव के पास हो जाने पर सारी मन्त्रि-परिषद अपना त्यागपत्र देने के लिए बाध्य होती है।

इस प्रकार संसद कार्यपालिका पर अनेक विधाओं से नियन्त्रण रखती है। मन्त्रि-परिषद के सारे सदस्य संसद के सदस्य होते हैं। यदि कोई सदस्य संसद का सदस्य नहीं होता तो उसे मन्त्री होने के छह महीने के अन्दर संसद का सदस्य हो जाना आवश्यक होता है। इस प्रकार मन्त्रि-परिषद संसद की कार्यकारिणी समिति होती है। सिद्धांत में इस कार्यकारिणी पर संसद का पूर्ण नियंत्रण रहता है, किन्तु व्यवहार में यह नियंत्रण पूरी तरह प्रभावकारी नहीं होता है। इसका मुख्य कारण दलीय पद्धति के कारण मन्त्रि-परिषद का संसद के अपने दल के सदस्यों पर पूर्ण प्रभुत्व होता है। सदस्य दलीय अनुशासन से पूरी तरह बँधे होते हैं। इस अनुशासन के प्रतिकूल आचरण करना उनके लिए हितकर नहीं होता। सदन में दल के मुख्य सचेतक (Chief Whip) और सचेतक (Whip) होते हैं जो अपने दल के अनुशासन की रक्षा के लिए सदैव सचेष्ट रहते हैं।

इसके अतिरिक्त मन्त्रि-परिषद राष्ट्रपति को लोकसभा के भंग करने की सलाह दे सकता है। कोई सदस्य सामान्यतया लोकसभा भंग किया जाना हितकर नहीं समझता।

इसी प्रकार कतिपय अन्य कारणों से मन्त्रि-परिषद का संसद पर अपना प्रभाव रहता है। यही कारण है कि "सिद्धांत में तो संसद मन्त्रि-परिषद की स्रष्टा, संहारक और स्वामिनी है, किन्तु व्यवहार में मन्त्रि-परिषद संसद की स्वामिनी है।"

11

संसद और राष्ट्रपति

संसद और राष्ट्रपति भी अनेक दृष्टियों से एक-दूसरे के सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्ध के प्रमुख पक्षों को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग होता है। संसद का निर्माण राष्ट्रपति, लोकसभा तथा राज्यसभा से मिलकर होता है।
2. राष्ट्रपति संसद के अधिवेशन को आमन्त्रित करता, स्थगित करता या लोकसभा को भंग करता है। यह कार्य वह मंत्रि-परिषद की सलाह से करता है।
3. राष्ट्रपति संसद के अधिवेशन के प्रारम्भ में दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में संसद को सम्बोधित करता है।
4. राष्ट्रपति समय-समय पर संसद को संदेश भेजता है। इस सन्देश के माध्यम से वह संसद को किन्हीं विषयों पर विधि-निर्माण का परामर्श दे सकता है।
5. संसद द्वारा पास किये हुए विधेयक राष्ट्रपति के हस्ताक्षर पर ही अधिनियम का रूप धारण करते हैं।
6. राष्ट्रपति राज्यसभा के 12 सदस्यों को मनोनीत करता है।
7. संसद को राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग की कार्यवाही का अधिकार है।

लोकसभा और राज्य सभा : एक तुलनात्मक शब्द-चित्र

लोकसभा	राज्यसभा
1. रचना—अधिकतम सदस्य-संख्या 547 (545 तथा 2 मनोनीत एंग्लो-इण्डियन सदस्य।)	रचना—अधिकतम-संख्या 250 (238 सदस्य निर्वाचित तथा 12 राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत।)
2. सदस्यों की योग्यताएँ—(i) भारत का नागरिक हो, (ii) 25 वर्ष की आयु से कम न हो, (iii) संसद द्वारा निर्धारित अन्य योग्यताएँ रखता हो।	सदस्यों की योग्यताएँ—(i) वह भारत का नागरिकों हो, (ii) कम-से-कम 30 वर्ष की आयु का हो, (iii) संसद द्वारा निर्धारित अन्य योग्यताएँ रखता हो।
3. निर्वाचन—लोकसभा के सदस्य प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं।	निर्वाचन—राज्यों तथा केन्द्र-शासित क्षेत्रों की विधानसभाओं के द्वारा निर्वाचित।
4. पदाधिकारी—लोकसभा का प्रधान पदाधिकारी अध्यक्ष होता है। इसके अतिरिक्त उपाध्यक्ष और अन्य पदाधिकारी होते हैं।	पदाधिकारी—उपराष्ट्रपति राज्यसभा का पदेन सभापति होता है। इसके अतिरिक्त उपसभापति तथा अन्य कई अधिकारी होते हैं।
5. कार्यकाल—सामान्यतया पांच वर्ष है, किन्तु इसके पहले भी भंग हो सकती है।	कार्यकाल—प्रत्येक सदस्य का सामान्य कार्यकाल छह वर्ष है, यह स्थायी सदन है, कभी भंग नहीं होता। अपनी अवधि समाप्त होने पर सदस्य अवकाश ग्रहण करते रहते हैं।

6. शक्तियाँ—(i) यह शक्तिशाली सदन है। (ii) मंत्रिपरिषद इसके प्रति उत्तर-दायी होती है। इस सदन में अविश्वास का प्रस्ताव पास होने पर मन्त्रिपरिषद को त्यागपत्र देना होता है। (iii) धन विधेयक इसी सदन में पहले पेश होता है। (vi) सामान्य विधेयकों के क्षेत्र में भी राज्यसभा की अपेक्षा इसकी स्थिति सुदृढ़ है।

शक्तियाँ—(i) अपेक्षाकृत अशक्त सदन है। (ii) इसमें पास किए हुए अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा मंत्रिपरिषद भंग नहीं होती। (iii) इसमें धन विधेयक पहले पेश नहीं किया जा सकता। (iv) राज्यसभा धन-विधेयक को अधिक-से-अधिक 14 दिन के लिए रोक सकती है। (v) सामान्य विधेयक और संविधान के संशोधन-सम्बन्धी विधेयक इसमें भी पहले पेश हो सकते हैं, किन्तु इन विधेयकों के क्षेत्र में भी लोकसभा की स्थिति इससे श्रेष्ठ है। परन्तु कुछ बातों में राज्य सभा को कई महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हैं।

12

संसद और राज्यों के विधान-मण्डल

संसद और राज्यों के विधान-मण्डल परस्पर एक-दूसरे से कई दृष्टियों से सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्ध को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. संसद और विधान-मण्डल दोनों देश की व्यवस्थापिका के दो पक्ष हैं—संसद संघीय व्यवस्थापिका है और विधान-मण्डल राज्यों की व्यवस्थापिका का निर्माण करते हैं।
2. साधारण स्थितियों में संसद संघीय सूची या समवर्ती सूची तथा अवशिष्ट विषयों पर विधि-निर्माण करती है और राज्यों के विधान-मण्डल राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर विधि-निर्माण करते हैं।
3. समवर्ती सूची पर संसद और राज्य दोनों को विधि-निर्माण का अधिकार है। किन्तु यदि संसद और राज्यों के विधान-मण्डल द्वारा बनाये गये कानून में कोई विरोध होता है तो संसद द्वारा बनाये गये कानून को प्रभावी माना जायगा।
4. संसद संविधान में संशोधन कर राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले किसी विषय को समवर्ती सूची के अन्तर्गत ले सकती है।
5. राज्यों में लागे होने वाले वैधानिक संकट की उद्घोषणा की स्वीकृति संसद द्वारा दी जाती है।
6. किसी राज्य में वैधानिक संकट की घोषणा होने पर उस राज्य के विधान-मण्डल की वित्तीय और कानून बनाने की शक्ति संसद के हाथों में आ जाती है।
7. संसद किसी राज्य की सलाह से उस राज्य में विधान-परिषद की स्थापना कर सकती है या विधान-परिषद के अस्तित्व को समाप्त कर सकती है।
8. संसद तथा राज्य की विधान सभा मिलकर राष्ट्रपति का निर्वाचन करती हैं।

लघु और अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—लोकसभा के सदस्य होने के लिए क्या योग्यताएँ हैं?

उत्तर—(1) वह भारत का नागरिक हो। (2) वह 25 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो। (3) ऐसी योग्यताएँ रखता हो जिसे संसद ने विधि द्वारा निश्चित किया हो। (4) वह पागल या दिवालिया न हो। (5) वह भारत सरकार या राज्य सरकार की सेवा में न हो।

प्रश्न 2—लोकसभा के विधायी अधिकार बताइये।

उत्तर—(1) लोकसभा संघीय सूची, समवर्ती सूची तथा राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले समस्त विषयों पर विधि-निर्माण का कार्य करती है। (2) वह संवैधानिक संकट के लागू

होने पर उस राज्य या उन राज्यों के लिए विधियों का निर्माण करती है। (3) वह अवशिष्ट सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर विधि-निर्माण का कार्य करती है।

प्रश्न 3—लोकसभा के वित्तीय अधिकार बताइये।

उत्तर—(1) कोई वित्तीय विधेयक लोकसभा में ही पेश होता है। (2) लोकसभा द्वारा वित्तीय विधेयक पास हो जाने पर राज्य सभा में जाता है। (3) राज्य सभा को 14 दिन के अन्दर विधेयक वापस करना होता है। यदि वह ऐसा नहीं करती तो विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास माना जाता है। यदि राज्य सभा वित्तीय विधेयक के विषय में कोई सुझाव देती है तो उन सुझावों को मानना या न मानना लोकसभा का अधिकार है।

प्रश्न 4—लोकसभा के अध्यक्ष के मुख्य कार्य बताइये।

उत्तर—(1) लोकसभा का अध्यक्ष सदन की अध्यक्षता करता है। (2) वह सदन में व्यवस्था और अनुशासन बनाए रखता है। (3) वह सदन द्वारा पास विधेयक पर हस्ताक्षर करता है। (4) वह सदन की सुविधाओं और विशेषाधिकारों की सुरक्षा करता है।

प्रश्न 5—लोकसभा मन्त्रिपरिषद पर किस प्रकार नियंत्रण रखती है?

उत्तर—लोकसभा केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद की नीति और कार्यों की आलोचना कर तथा विभिन्न प्रकार के प्रस्ताव पास कर मंत्रिपरिषद को नियंत्रित करती है। लोकसभा वित्तीय माँगों को स्वीकृत करती है। मंत्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर मंत्रिपरिषद को अपदस्थ करती है।

प्रश्न 6—लोकसभा तथा राज्य सभा के सदस्यों के निर्वाचन में क्या अन्तर है?

उत्तर—लोकसभा तथा राज्य सभा के सदस्यों के निर्वाचन में मौलिक अन्तर है। लोकसभा के सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से वयस्क नागरिकों द्वारा किया जाता है, जब कि राज्य सभा के 12 सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। राज्य सभा के शेष सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से राज्य की विधान सभा के सदस्यों द्वारा होता है। इन सदस्यों का निर्वाचन एकल संक्रमणीय मत एवं आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली के अनुसार होता है।

प्रश्न 7—राज्य सभा की सदस्यता के लिए क्या योग्यताएँ हैं?

उत्तर—(1) वह भारत का नागरिक हो। (2) उसकी उम्र 30 वर्ष से कम न हो। जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम 1951 ई० के अनुसार वह उस राज्य का संसदीय निर्वाचक हो जहाँ से कि वह चुनाव लड़ रहा है। (4) संसद द्वारा निर्धारित अन्य योग्यताएं रखता हो।

प्रश्न 8—भारतीय संसद के चार मुख्य कार्य बताइए।

उत्तर—(1) संघीय तथा समवर्ती सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर कानून बनाती है। (2) संसद केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद पर नियंत्रण रखती है। (3) संसद राष्ट्रीय बजट पर विचार कर उसे स्वीकृत करती है। (4) संसद देश के जनमत को व्यक्त करती है।

प्रश्न 9—लोकसभा तथा राज्य सभा के पारस्परिक सम्बन्ध बताइए?

उत्तर—लोकसभा तथा राज्य सभा संसद के दो सदन हैं। लोकसभा निम्न सदन है और राज्य सभा उच्च सदन किन्तु शक्ति की दृष्टि से लोकसभा अधिक शक्तिशाली सदन है।

साधारण विधेयक संसद के किसी सदन में पेश किए जा सकते हैं। किन्तु लोक सभा द्वारा पास साधारण विधेयक को राज्य सभा अधिक से अधिक 6 माह तक रोक सकती है तथा धन विधेयक को 14 दिन के अन्दर वापस करना राज्य सभा के लिए आवश्यक होता है।

प्रश्न 10—संसद-सदस्यों के क्या विशेषाधिकार हैं?

उत्तर—(1) संसद सदस्यों को अपने सदन या सदन की समिति में अपने विचार व्यक्त करने का पूरा अधिकार होता है। इस प्रकार भाषण देने के लिए उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही

नहीं की जा सकती। (2) किसी संसद-सदस्य को सदन के अधिवेशन के 40 दिन पूर्व या बाद में किसी दीवानी कार्यवाही के लिए गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। किन्तु फौजदारी मामलों के लिए गिरफ्तार किया जा सकता है।

अति लघु प्रश्न

प्रश्न 1—लोकसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या कितनी है?
उत्तर –547।
प्रश्न 2—लोकसभा का कार्यकाल कितने वर्ष होता है?
उत्तर—पाँच वर्ष।
प्रश्न 3—लोकसभा में एंग्लो-इण्डियन सदस्य कितने होते हैं?
उत्तर—दो।
प्रश्न 4—निर्वाचित हो जाने के बाद लोकसभा का अध्यक्ष किस दल का नेता माना जाता है?
उत्तर—किसी दल का नहीं।
प्रश्न 5—संसद के दोनों सदनों में से किस सदन में अविश्वास का प्रस्ताव पास होने पर केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद भंग हो जाती है?
उत्तर—लोकसभा में।
प्रश्न 6—संसद के दोनों सदनों में से कौन-सा सदन अधिक शक्तिशाली माना जाता है?
उत्तर—लोकसभा।
प्रश्न 7—संसद का कौन-सा सदन स्थायी सदन माना जाता है?
उत्तर—राज्य सभा।
प्रश्न 8—राज्य सभा में राष्ट्रपति कितने सदस्य मनोनीत करता है?
उत्तर—12।
प्रश्न 9—लोकसभा में उत्तर प्रदेश के कुल कितने प्रतिनिधि होते हैं?
उत्तर—85।
प्रश्न 10—राज्य सभा का कौन अध्यक्ष होता है?
उत्तर—उपराष्ट्रपति।
प्रश्न 11—कोई विधेयक वित्तीय (धन) विधेयक है या नहीं, इसका निर्णय कौन करता है?
उत्तर—लोकसभा का अध्यक्ष।
प्रश्न 12—किसी सामान्य विधेयक के विषय में दोनों सदनों में मतभेद होने पर, क्या किया जाता है?
उत्तर—दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाया जाता है।
प्रश्न 13—संसद के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन की कौन अध्यक्षता करता है?
उत्तर—लोकसभा का अध्यक्ष।
प्रश्न 14—लोकसभा के अध्यक्ष को कितना वेतन मिलता है?
उत्तर—5,500 रु० प्रति माह।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. लोकसभा के संगठन तथा कार्यों का वर्णन कीजिए। (उ० प्र०, 1974)
2. राज्यसभा के संगठन और कार्यों का वर्णन कीजिए। (उ० प्र०, 1986)

3. भारतीय संसद के कार्यों का वर्णन कीजिए। राज्यों के विधान-मण्डलों के साथ इनके क्या सम्बन्ध हैं ? (उ० प्र०, 1977)

4. भारतीय संसद में विधि-निर्माण-प्रक्रिया का वर्णन कीजिए। (उ० प्र०, 1979)

5. भारत के संघीय संविधान के अन्तर्गत संसद के कार्यों का वर्णन कीजिए। (उ० प्र०, 1981)

6. लोकसभा के संगठन का वर्णन कीजिए। मंत्रि-परिषद से उसका क्या सम्बन्ध है ? (उ० प्र०, 1982)

7. राज्यसभा के संगठन पर प्रकाश डालिए। भारतीय संसद में राज्यसभा का क्या महत्व है ? (उ० प्र०, 1983)

8. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—

(अ) भारतीय संसद में वित्त विधेयक की प्रक्रिया। (उ० प्र०, 1983)
(ब) लोकसभा का अध्यक्ष।
(स) कार्य-स्थगन प्रस्ताव।
(द) विनियोग विधेयक।

लघु प्रश्न

1. लोकसभा की सदस्यता की अयोग्यताएँ क्या हैं ?
2. लोकसभा के सदस्य होने के लिए आवश्यक योग्यताएँ क्या हैं ?
3. लोकसभा के निर्वाचन की मुख्य विशेषताएँ बतलाइए।
4. लोकसभा की सदस्यता का अन्त कैसे होता है ?
5. लोकसभा के अध्यक्ष के अधिकार बताइए।
6. लोकसभा के वित्तीय अधिकार क्या हैं ?
7. संसद मंत्रि-परिषद पर किस प्रकार नियंत्रण रखती है ?
8. साधारण तथा धन विधेयक में क्या मुख्य अन्तर है ?
9. स्थगन-प्रस्ताव (काम रोको प्रस्ताव) से क्या आशय है ?
10. अविश्वास के प्रस्ताव से क्या आशय है ?
11. संसद और राष्ट्रपति के सम्बन्ध के विषय में आप क्या जानते हैं ?
12. संसद और मंत्रि-परिषद के सम्बन्ध पर प्रकाश डालिए।
13. लोकसभा और राज्यसभा का मुख्य अन्तर बताइए।

अति लघु प्रश्न

1. लोकसभा की अधिकतम संख्या क्या है ? (उ० प्र०, 1985)
2. लोकसभा की वर्तमान सदस्य-संख्या कितनी है ?
3. लोकसभा के वर्तमान अध्यक्ष का क्या नाम है ?
4. लोकसभा के अध्यक्ष के दो मुख्य कार्य बतलाइए।
5. लोकसभा की सदस्यता के लिए खड़े होने वाले व्यक्ति की कम-से-कम कितनी आयु होनी चाहिए ?
6. लोकसभा के निर्वाचन में मतदान का अधिकार किसे होता है ?
7. उत्तर प्रदेश से लोकसभा के लिए कितने प्रतिनिधि चुने जाते हैं ?
8. राज्यसभा की अधिकतम सदस्य-संख्या कितनी है ?
9. कितने सदस्य राज्यसभा में नामांकित (मनोनीत) किए जाते हैं ?

10. लोकसभा का कार्यकाल कितना है ?
11. संसद के अधिवेशन कौन आमंत्रित करता है ?
12. संसद के अधिवेशनों में कितने दिन से अधिक का अन्तर नहीं होना चाहिए ?
13. राज्यसभा का कार्यकाल क्या है ?

14. भारतीय संविधान में संशोधन का प्रस्ताव संसद के किस सदन में प्रस्तुत किया जा सकता है ?

15. धन विधेयक संसद के किस सदन में पेश किया जा सकता है ?

16. जब किसी विधेयक के विषय में दोनों सदनों में मतभेद होता है, तब क्या किया जाता है ?

17. संसद के संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता कौन करता है ?
18. राज्यसभा का अध्यक्ष कौन होता है ?
19. राज्यसभा के सदस्यों का निर्वाचन कौन करता है ?
20. संसद का सबसे शक्तिशाली सदन कौन है ?
21. लोकसभा का क्या कोरम (गणपूर्ति) है ?

22 लोकसभा के वर्तमान अध्यक्ष का नाम बताइए।

सर्वोच्च न्यायालय

● सर्वोच्च न्यायालय का गठन ● सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति ● पद के लिए योग्यताएँ, वेतन, भत्ते, कार्यकाल ● सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार ● सर्वोच्च न्यायालय का मूल्यांकन : महत्व ● सर्वोच्च न्यायालय की स्वतन्त्रता।

आमुख

न्यायपालिका शासन का तीसरा किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है। न्यायाधीशों के अभाव में किसी देश की संवैधानिक व्यवस्था की परिकल्पना नहीं की जा सकती। वस्तुतः न्यायपालिका के अभाव में विधियाँ निष्प्राण अक्षरों के अतिरिक्त और कुछ नहीं कही जायेंगी। इस प्रकार न्यायपालिका देश की राजनैतिक व्यवस्था की आधारशिला होती है, शासन की सुव्यवस्था का प्रतीक होती है और नागरिक स्वतन्त्रताओं की प्रहरी होती है।

भारत में न्यायपालिका का गठन—न्यायपालिका के इसी महत्व को ध्यान में रखते हुए न्यायपालिका का गठन किया गया है। संघात्मक व्यवस्था के अनुसार भारत में न्यायपालिका के दो प्रधान पक्ष हैं —

(i) संघीय न्यायपालिका और
(ii) राज्यों की न्यायपालिका।

संघीय न्यायपालिका के रूप में सर्वोच्च या उच्चतम न्यायालय (Supreme Court) है। संघ की इकाइयों, यथा राज्यों के लिए उच्च न्यायालय है।

यहाँ हम भारत की न्यायपालिका के प्रथम आधार सर्वोच्च न्यायालय के विविध पक्षों पर विचार करेंगे।

सर्वोच्च (उच्चतम) न्यायालय का गठन

मूल संविधान में सर्वोच्च न्यायालय के लिए एक मुख्य न्यायाधीश तथा सात अन्य न्यायाधीशों की व्यवस्था की गई थी। परन्तु बाद में उसकी संख्या में वृद्धि की गई। यह वृद्धि पहले 1960 ई० के संशोधन द्वारा की गई। इस संशोधन अधिनियम के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की कुछ संख्या 14 निश्चित की गई थी। यह संख्या 1976 ई० तक चलती रही। 1977 ई० में सम्बन्धित कानून में पुन: संशोधन कर यह व्यवस्था की गई कि सर्वोच्च न्यायालय में प्रधान (मुख्य) न्यायाधीश सहित कुल मिलाकर 18 न्यायाधीश होंगे।

अगस्त, 1985 ई० में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या में पुन: वृद्धि करने के लिए कानून बनाया गया। इस संशोधित व्यवस्था के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय में एक प्रधान न्यायाधीश तथा 25 अन्य न्यायाधीश होंगे। इस प्रकार अब सर्वोच्च न्यायालय में कुल 26 न्यायाधीश हो सकते हैं।

इसके अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर तदर्थ (एडहाक) न्यायाधीश भी नियुक्त किए जा सकते हैं। ये तदर्थ न्यायाधीश थोड़े समय के लिए ही नियुक्त किए जा सकते हैं।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति

सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीशों तथा अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति के पूर्व वह सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश से परामर्श लेता है। पर राष्ट्रपति इस परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं होता।

पद के लिए योग्यताएँ—उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ निर्धारित हैं—

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. वह किसी उच्च न्यायालय में कम से कम 5 वर्ष तक न्यायाधीश रह चुका हो या कम से कम 10 वर्ष तक अधिवक्ता (वकील) रह चुका हो।
3. राष्ट्रपति की दृष्टि में वह पारंगत विधिवेत्ता (कानून का माना हुआ जानकार) हो।
4. उसकी आयु 65 वर्ष से कम हो।

यदि किसी न्यायाधीश की आयु के विषय में कोई मतभेद हो तो इसका निर्णय राष्ट्रपति करेगा।

शपथ-ग्रहण—प्रत्येक न्यायाधीश को पद-ग्रहण करने के पूर्व राष्ट्रपति के सम्मुख अथवा राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त अन्य किसी व्यक्ति के सम्मुख एक शपथ लेनी पड़ती है। इस शपथ में वह अपने कर्तव्य का पक्षपातरहित होकर भक्तिपूर्वक पालन करने का वचन देता है।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते आदि

संविधान के 54वें संशोधन अधिनियम, 1986 द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान तथा अन्य न्यायाधीशों के वेतन में वृद्धि की गई हैं।

इस संशोधित व्यवस्था के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश को 10 हजार रुपये मासिक वेतन तथा अन्य न्यायाधीशों को 9 हजार रुपये मासिक वेतन दिया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रधान न्यायाधीश को 1,250 रुपये मासिक तथा अन्य न्यायाधीशों को 750 रुपये मासिक भत्ता दिया जाता है। वेतन और भत्ते के अतिरिक्त न्यायाधीशों को निवास, स्टॉफ, कार, आदि की सुविधाएँ सुलभ हैं।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश पर यह प्रतिबन्ध लगा दिया गया है कि वह भारत के किसी अन्य न्यायालय में या किसी अधिकारी के अधीन वकालत या अन्य कोई कार्य आदि नहीं कर सकता।

कार्यकाल

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश अपने पद पर 65 वर्ष की आयु तक बने रहते हैं।[1] 65 वर्ष की आयु के अन्दर कोई न्यायाधीश स्वेच्छा से पदत्याग कर सकता है। इसके अतिरिक्त कदाचार अथवा असमर्थता के लिए वह हटाया भी जा सकता है। इसके लिए एक विशेष प्रक्रिया का अनुगमन करना होता है। इसके अनुसार उसे अपने पद से तभी हटाया जा सकता है जब कि संसद के दोनों सदन मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से इस आशय का प्रस्ताव पास कर दें। इसके उपरान्त ऐसे प्रस्ताव पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर होने आवश्यक होते हैं।

सर्वोच्च न्यायालय का कार्य-केन्द्र—सर्वोच्च (उच्चतम) न्यायालय का मुख्य कार्य-केन्द्र दिल्ली है। किन्तु, सर्वोच्च न्यायालय की बैठक सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश की अनुमति से भारत के किसी अन्य स्थान में भी हो सकती है। अन्य स्थान में बैठक करने के लिए मुख्य न्यायाधीश को राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति लेनी आवश्यक होती है।

सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार

सर्वोच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को प्रधानतया तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

1. यदि न्यायाधीश की आयु के विषय में कोई मतभेद हो तो उसका निर्णय करने का अधिकार राष्ट्रपति को दिया गया है। राष्ट्रपति को यह अधिकार संविधान के पन्द्रहवें संशोधन अधिनियम के अनुसार दिया गया है।

1. प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार
2. अपीलीय क्षेत्राधिकार
3. परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार

सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार

प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार | अपीलीय क्षेत्राधिकार | परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार

1. **प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार**—संविधान के 131वें अनुच्छेद में सर्वोच्च न्यायालय के प्रारंभिक क्षेत्राधिकार की व्याख्या की गई है। प्रारंभिक क्षेत्राधिकार से आशय उस क्षेत्राधिकार से है जिससे सम्बन्धित मामलों पर प्रारम्भ में विचार करने का अधिकार प्राप्त होता है।

निम्नलिखित विवादों में सर्वोच्च न्यायालय को प्रारंभिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है—

(क) भारत सरकार तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद।
(ख) भारत सरकार और कोई राज्य या राज्यों तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद।
(ग) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच संवैधानिक विषयों के सम्बन्ध में उत्पन्न कोई विवाद।

प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले मुकदमों को अन्य किसी न्यायालय में उपस्थित नहीं किया जा सकता। इन मामलों पर विचार करने का एकमात्र अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को ही है।

प्रारम्भिक समवर्ती क्षेत्राधिकार—संविधान द्वारा नागरिकों को प्राप्त मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए उच्चतम न्यायालय के साथ ही साथ उच्च न्यायालयों को भी अधिकार दिए गए हैं। इसके फलस्वरूप मौलिक अधिकारों से सम्बन्धित विवाद चाहे तो पहले उच्च न्यायालय में पेश किए जायें या सीधे उच्चतम न्यायालय में।

2. **अपीलीय क्षेत्राधिकार**—उच्चतम न्यायालय भारत का अन्तिम अपीलीय न्यायालय है। इसके अनुसार उसे समस्त भारत के उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार प्राप्त है।

उच्चतम न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को हम चार भागों में रख सकते हैं—

1. संविधान-सम्बन्धी
2. दीवानी
3. फौजदारी
4. विशिष्ट

अपीलीय क्षेत्राधिकार

संविधान-सम्बन्धी | दीवानी | फौजदारी | विशिष्ट

1. **संविधान-सम्बन्धी**—जहाँ तक संविधान-सम्बन्धी क्षेत्राधिकार का प्रश्न है, संविधान की 132वीं धारा में कहा गया है कि यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि विवाद में संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित कानून का कोई महत्वपूर्ण प्रश्न निहित है तो सर्वोच्च न्यायालय में उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील की जा सकती है। यदि उच्च न्यायालय ऐसा प्रमाण-पत्र न दे तो सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि वह ऐसी अपील की अनुमति प्रदान कर दे। किन्तु, ऐसा वह तभी कर सकता है जब कि उसे यह विश्वास हो जाय कि उस मामले में संविधान से सम्बन्धित कोई प्रश्न निहित है।

2. दीवानी—सर्वोच्च न्यायालय के दीवानी क्षेत्राधिकार की मूल व्यवस्था को संविधान के 30वें संशोधन द्वारा संशोधित किया गया है। 30वें संशोधन (1973 ई०) के पूर्व यह व्यवस्था थी कि सर्वोच्च न्यायालय में केवल ऐसे ही मामलों की अपील की जा सकेगी जिसमें विवादग्रस्त राशि 20 हजार रुपये से अधिक हो। परन्तु 30वें संशोधन द्वारा इस सीमा को हटा दिया गया है। अब संशोधित व्यवस्था के अनुसार सर्वोच्च न्यायांयलय में उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए ऐसे सभी निर्णयों के विरुद्ध अपील की जा सकती है जिनमें उच्च न्यायालय द्वारा यह प्रमाणित कर दिया जाय कि इस इस विवाद में कानून की व्याख्या से सम्बन्धित कोई सारपूर्ण प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है।

3. फ़ौजदारी—सर्वोच्च न्यायालय में फौजदारी मामलों में उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णयों के विरुद्ध अग्रलिखित स्थितियों में अपील की जा सकती है—

(क) जब उच्च न्यायालय ने नीचे के न्यायालय के ऐसे किसी निर्णय को रद्द करके अभियुक्त को मृत्यु-दण्ड दे दिया हो जिसमें नीचे के न्यायालय ने अभियुक्त को अपराधमुक्त किया हो।

(ख) जब उच्च न्यायालय ने नीचे के न्यायालय में चल रहे किसी विवाद को अपने न्यायालय में मँगाकर अभियुक्त को मृत्यु-दण्ड दिया हो।

(ग) जब उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि वह मामला या विवाद सर्वोच्च न्यायालय में अपील के योग्य है।

4. विशिष्ट—कुछ ऐसे मामले हो सकते हैं जो कि उपर्युक्त वर्गों के अन्तर्गत नहीं आते। अतः संविधान ने सर्वोच्च न्यायालय को ऐसे विशिष्ट मामलों की अपीलें सुनने का भी अधिकार दिया है। संविधान के 153वें अनुच्छेद के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार दिया गया है कि सैनिक न्यायालय को छोड़कर वह भारत के अन्य किसी भी न्यायालय या न्यायाधिकरण (ट्रिब्युनल) के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील करने की अनुमति प्रदान कर दे।

इस प्रकार अपीलीय क्षेत्राधिकार की दृष्टि से भारत के उच्चतम या सर्वोच्च न्यायालय को अत्यन्त व्यापक और महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हैं।

(3) राष्ट्रपति को परामर्श देने का अधिकार—उच्चतम न्यायालय का अन्य महत्वपूर्ण अधिकार राष्ट्रपति को परामर्श देने का अधिकार है। भारतीय संविधान के अनुसार राष्ट्रपति विवादग्रस्त कानूनी प्रश्नों पर परामर्श ले सकता है। उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए गए इस परामर्श को मानना राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर करता है।

अनेक अवसरो पर भारतीय संघ के राष्ट्रपति ने अनेक महत्वपूर्ण और विवादग्रस्त कानूनी प्रश्नों पर उच्चतम न्यायालय से परामर्श प्राप्त किया है। उदाहरण के लिए 1957 ई० में राष्ट्रपति ने केरल शिक्षा विधेयक को तथा 1964 ई० में उत्तर प्रदेश विधानसभा और उच्च न्यायालय के संघर्ष-विषयक विवाद को उच्चतम न्यायालय के समक्ष भेजा था।

इसी प्रकार 1974 ई० में गुजरात की विधानसभा के भंग होने पर राष्ट्रपति-निर्वाचक मण्डल का स्थान रिक्त हो गया। प्रतिपक्ष ने ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति के निर्वाचन को स्थगित कराने का आग्रह किया। राष्ट्रपति श्री गिरि ने इस अवसर पर उच्चतम न्यायालय से परामर्श माँगा। उच्चतम न्यायालय ने अपना अभिमत व्यक्त करते हुए कहा कि राष्ट्रपति-निर्वाचक मंडल के किसी स्थान के रिक्त होने पर निर्वाचन को स्थगित नहीं किया जा सकता और न इस प्रकार की रिक्तता से निर्वाचक मण्डल की वैधता पर ही कोई आँच आती है।

इसी प्रकार 1977 ई० में जनता पार्टी की सरकार ने नौ राज्यों के विधान-मण्डलों को भंग करने का निश्चय किया, तब राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श लिया था। राष्ट्रपति ने विशेष न्यायालयों की स्थापना के विषय में भी उच्चतम न्यायालय से परामर्श लिया था।

सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार

प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार

निम्नांकित मामलों में सर्वोच्च न्यायालय को प्रारम्भ में विचार करने का अधिकार है :

1. भारत सरकार तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद।
2. भारत सरकार और कोई राज्य या राज्यों तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद।
3. दो या दो से अधिक राज्यों के बीच संवैधानिक विषयों के संबंध में उत्पन्न कोई विवाद।

अपीलीय क्षेत्राधिकार

भारत का अन्तिम अपीलीय न्यायालय है।

इसमें नीचे के न्यायालयों से निम्नलिखित मामलों में अपीलें आती हैं :

1. वे मामले जिनमें संविधान की धारणा-सम्बन्धी प्रश्न निहित है।
2. वे दीवानी के मामले जिनके बारे में उच्च न्यायालय ने यह प्रमाणित कर दिया है कि उनमें संविधान की व्याख्या का प्रश्न निहित है।
3. (अ) वे फौजदारी के मामले जिनमें उच्च न्यायालय के नीचे के न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध मृत्यु-दंड दे दिया हो।

   (ब) जब उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि वह मामला सर्वोच्च न्यायालय में अपील के योग्य है।

विशिष्ट

सैनिक न्यायालय को छोड़कर अन्य किसी भी न्यायाधिकरण या न्यायालय के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार है।

अन्य

1. राष्ट्रपति को परामर्श देने का अधिकार।
2. न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार।
3. मूल अधिकारों की रक्षा।
4. अभिलेख न्यायालय के रूप में कार्य।
5. अपने निर्णयों के विरुद्ध अपीलें सुनने का अधिकार।
6. प्रबन्ध और प्रशासन सम्बन्धी अधिकार।

अन्य अधिकार

1. न्यायिक पुर्नविलोकन-सम्बन्धी अधिकार –संविधान के अनुच्छेद 131 तथा 132 के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय संघ तथा राज्य सरकार द्वारा निर्मित विधियों का न्यायिक पुर्नविलोकन कर सकता है। दूसरे शब्दों में यदि संसद या राज्य के विधान-मण्डलों द्वारा कोई ऐसी विधि बनाई गई है जो संविधान के प्रतिकूल है तो ऐसी विधि को सर्वोच्च न्यायालय अवैध घोषित कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय की इस शक्ति को न्यायिक पुर्नविलोकन (Power of Judicial Review) कहते हैं।

समय-समय पर इस अधिकार का प्रयोग कर सर्वोच्च न्यायालय ने देश की संवैधानिक युगयात्रा को प्रभावित करने का पूरा प्रयास किया है। सर्वोच्च न्यायालय द्वारा न्यायिक पुनर्विलोकन की इस शक्ति के प्रयोग के जीवन्त दृष्टान्त कतिपय विवादों में उसके द्वारा दिए गए ऐतिहासिक निर्णयों में गोलकनाथ विवाद (1967 ई०), केशवानन्द भारती विवाद (1973 ई०) तथा मिनर्वा मिल्स विवाद (1980 ई०) मुख्य हैं।

2. मौलिक अधिकारों की रक्षा—सर्वोच्च न्यायालय का अन्य महत्वपूर्ण अधिकार मौलिक अधिकारों की रक्षा है। संविधान के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को नागरिकों के मौलिक अधिकारों की उपेक्षा पर आदेश या 'रिट' (Writ) जारी करने का अधिकार है। ये 'रिट' इस प्रकार हैं—

(1) बन्दी-प्रत्यक्षीकरण, (2) परमादेश, (3) अधिकार-पृच्छा, (4) प्रतिषेध तथा (5) उत्प्रेरण।

3. अभिलेख न्यायालय के रूप में कार्य और अधिकार—सर्वोच्च न्यायालय एक अभिलेख न्यायालय (Court of Records) है। अभिलेख न्यायालय के रूप में उसके निर्णय सुरक्षित रखे जाते हैं तथा नीचे के न्यायालय उसके निर्णयों को महत्व और मान्यता देने के लिए बाध्य होंगे। देश के किसी न्यायालय में वे साक्ष्य और प्रमाण के लिए प्रस्तुत किए जा सकते हैं। किसी न्यायालय में प्रस्तुत किए जाने पर उनकी प्रामाणिकता के विषय में कोई प्रश्न नहीं किया जायगा।

सर्वोच्च न्यायालय के लिए निर्णय की उपेक्षा या अवहेलना अर्थात् न्यायालय के अवमान (Contempt of Court) के लिए दोषी व्यक्ति को दंडित करने का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को है। दूसरे शब्दों में सर्वोच्च न्यायालय को अपनी मानहानि या अवमानना के मुकदमे सुनने तथा उसके लिए दोषी व्यक्तियों को दंड देने का अधिकार है।

4. अपने निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार--संविधान के 137वें अनुच्छेद के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार प्राप्त है कि वह स्वयं द्वारा दिए गए निर्णयों या आदेशों पर आवश्यकता होने पर पुनः विचार करे। संविधान में यह प्रावधान इस दृष्टि से किया गया है कि सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों के विरुद्ध कोई अपील नहीं की जा सकती। अतएव अपने निर्णयों के विरुद्ध अपीलों को सुनकर उन पर पुनः विचार कर सर्वोच्च न्यायालय अपने द्वारा दिए गए किसी निर्णय की कमियों को दूर कर सकता है।

5. प्रबन्ध और प्रशासन सम्बन्धी अधिकार—सर्वोच्च न्यायालय को अपनी व्यवस्था और प्रबन्ध का भी अधिकार है। इस दृष्टि से सर्वोच्च न्यायालय मुख्यतया निम्नलिखित कार्य करता है—

(i) सर्वोच्च न्यायालय अपनी कार्यविधि तथा अपने व्यवहार के नियमों का निर्माण करता है।

(ii) सर्वोच्च न्यायालय अपने न्यायालय में वकालत करने वाले अधिवक्ताओं के लिए नियम बनाता है।

(iii) सर्वोच्च न्यायालय अपनी कार्यवाहियों से सम्बन्धित नियम बनाता है।
(iv) सर्वोच्च न्यायालय अपने कार्यालय की व्यवस्था-सम्बन्धी नियम बनाता है।
(iv) सर्वोच्च न्यायालय अपने न्यायालय के अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति करता है।

6. अधीनस्थ न्यायालयों पर नियंत्रण—सर्वोच्च न्यायालय को अपने अधीनस्थ न्यायालयों के कार्यों के निरीक्षण का अधिकार है। 44वें संशोधन अधिनियम के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय को निरीक्षण का अधिकार प्राप्त है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार अत्यन्त व्यापक है। जैसा कि देश के प्रसिद्ध विधि-विज्ञ एच० एम० सीरवाइ ने कहा है, "भारत के सर्वोच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार जितना व्यापक है, उतना व्यापक क्षेत्राधिकार विश्व की किसी भी संघात्मक व्यवस्था के सर्वोच्च न्यायालय का नहीं है।" इसी प्रकार श्री अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर ने लिखा है कि "भारत के सर्वोच्च न्यायालय को जितनी शक्तियाँ प्राप्त हैं, उतनी शक्तियाँ विश्व के अन्य किसी भी सर्वोच्च न्यायालय को प्राप्त नहीं हैं।"

2

सर्वोच्च न्यायालय का महत्व

सर्वोच्च न्यायालय का देश की संवैधानिक व्यवस्था में क्या स्थान है ?

सर्वोच्च न्यायालय के संगठन, शक्ति और क्षेत्राधिकार के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सर्वोच्च न्यायालय देश की न्याय-व्यवस्था का अत्यन्त प्रभावशाली और शक्ति-सम्पन्न निकाय है।[1] डॉ० पायली के शब्दों में "सर्वोच्च न्यायालय में विविध एवं व्यापक शक्तियों के सन्निहित होने के कारण सर्वोच्च न्यायालय न्याय के क्षेत्र में तो सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग करता ही है, साथ ही वह देश के संविधान और विधियों का भी संरक्षक है।"[2] अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से देश की संवैधानिक व्यवस्था में सर्वोच्च न्यायालय की स्थिति और महत्व का मूल्यांकन हम निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

1. देश का सर्वोच्च न्यायपीठ—सर्वोच्च न्यायालय देश की न्याय-व्यवस्था का सर्वोच्च न्यायपीठ है। अपनी शक्ति और स्थिति के आधार पर वह भारत की न्याय-व्यवस्था का शीर्षस्थ अंग है। देश में उससे अधिक श्रेष्ठ या शक्ति-सम्पन्न अन्य कोई न्यायालय नहीं है। उसके द्वारा दिए गए निर्णय अन्तिम निर्णय होते हैं। अधीनस्थ न्यायालयों की अपीलें उसी के पास आती हैं, उसके निर्णयों के विरुद्ध अपीलें सुनने का अधिकार अन्य किसी न्यायालय को नहीं है।

2. संविधान का सर्वोच्च व्याख्याता—यदि संविधान देश की सर्वोच्च विधि है तो सर्वोच्च न्यायालय देश की सर्वोच्च विधि का सर्वोच्च व्याख्याता है। अपनी न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति द्वारा सर्वोच्च न्यायालय देश के संविधान की व्याख्या करने का अधिकारी है। उसके द्वारा की गई संविधान की व्याख्या सर्वाधिक प्रामाणिक और पूर्ण मानी जाती है।

---

1. इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सर्वोच्च न्यायालय अपने प्रबन्ध तथा कार्यवाही के विषय में जो नियम बनाएगा, वे नियम संसद द्वारा बनाए गए कानूनों के अनुसार होने चाहिए तथा उन पर राष्ट्रपति की स्वीकृति होनी चाहिए।

2. "The combination of such wide and varied powers in the Supreme court makes it not only the supreme authority in the judicial field but also the guardian of the constitution and law of the land."—Dr. M. V. Pylee.

3. संविधान का प्रहरी—सर्वोच्च न्यायालय को देश की संवैधानिक व्यवस्था और संविधान का प्रहरी कहा जा सकता है। देश की संवैधानिक व्यवस्था के समक्ष उत्पन्न संवैधानिक समस्याओं के न्यायिक समाधान का अन्तिम शस्त्र उसी के हाथों में है। संविधान के विरुद्ध बनाई गई विधियों को अवैध घोषित कर सर्वोच्च न्यायलय देश के संविधान की रक्षा करता है। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय देश के संविधान के प्रहरी का कार्य करता है।

4. मूल अधिकारों का रक्षक—भारतीय संविधान ने नागरिकों को कतिपय मूल अधिकार प्रदान किए हैं। इन मूल अधिकारों की उपेक्षा और अवहेलना न हो, इस दृष्टि से उन्हें न्यायिक संरक्षण प्रदान किया गया है। इस न्यायिक संरक्षण की सर्वोच्च शक्ति सर्वोच्च न्यायालय के हाथों में निहित है।

5. देश की संवैधानिक व्यवस्था का सन्तुलन-चक्र—देश में शासन-शक्ति और सत्ता के अनेक केन्द्र हैं। एक ओर कार्यपालिका है, दूसरी ओर व्यवस्थापिका। एक ओर संघीय शासन है, दूसरी ओर उसकी इकाइयां। इसी प्रकार एक ओर शासन है और दूसरी ओर साधारण जनता। सर्वोच्च न्यायालय शासन-सत्ता तथा शक्ति के इन विविध पक्षों के मध्य सन्तुलन का कार्य करता है। इस दृष्टि से सर्वोच्च न्यायालय को देश की संवैधानिक व्यवस्था का सन्तुलन-चक्र (Balance Wheel) कहा जा सकता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सर्वोच्च न्यायालय देश के संविधान का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपादान है। वह देश का सर्वोच्च न्यायपीठ है, संविधान का सर्वोच्च व्याख्याता है, संविधान का प्रहरी है, मूल अधिकारों का रक्षक है और है देश की संवैधानिक व्यवस्था का सन्तुलन-चक्र। देश की संवैधानिक व्यवस्था में सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका के विषय में दो मत नहीं हो सकते। संविधान-सभा के एक वरिष्ठ सदस्य श्री अल्लादि कृष्णास्वामी अय्यर ने सर्वोच्च न्यायालय की इसी भूमिका को दृष्टि-पथ में रखते हुए कहा था कि "भारतीय संविधान का भावी विकास एक सीमा तक सर्वोच्च न्यायालय के निर्देशन और कार्य पर निर्भर करेगा। यह एक महान् अभिकरण है जो व्यक्तिगत स्वाधीनता तथा सामाजिक नियंत्रण के मध्य अन्तर की रेखा को स्पष्ट करेगा।"

किन्तु सर्वोच्च न्यायालय की शक्ति और स्थिति का यह अर्थ नहीं कि देश की संवैधानिक व्यवस्था में उसकी स्थिति एक 'तृतीय सदन' (Third Chamber) या 'श्रेष्ठतर व्यवस्थापिका' (Super Legislature) की है, जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका में वहाँ के सर्वोच्च न्यायालय की है। जैसा कि श्री दुर्गादास वसु ने लिखा है कि "भारत में वस्तुतः संसदीय संप्रभुता तथा न्यायिक-सर्वोच्चता के मध्य का मार्ग अपनाया गया है।" फलतः सर्वोच्च न्यायालय कोई अमर्यादित शक्ति-सम्पन्न निकाय नहीं है। जैसा कि पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि "हमने न्यायपालिका को प्रतिष्ठा, गरिमा और स्वतंत्रता प्रदान करने का प्रयास किया है, किन्तु उसे व्यवस्थापिका से श्रेष्ठतर शक्ति प्रदान नहीं की है।" अन्त में हम अलेक्जेण्ड्रोविच के शब्दों में कह सकते हैं कि "भारतीय न्यायपालिका संविधान-निर्माताओं का कोई अतिरिक्त निकाय नहीं है, प्रत्युत वह एक ऐसा निकाय है जिसका कार्य व्यक्त विधि का प्रयोग है।"

3

सर्वोच्च न्यायालय की स्वतंत्रता

न्यायपालिका अपने कर्तव्यों का विधिवत् पालन कर सके, इसके लिए उसकी स्वतंत्रता की रक्षा आवश्यक होती है। डॉ० के० वी० राव के अनुसार न्यायपालिका की स्वतंत्रता के तीन अर्थ होते हैं : प्रथमतः, न्यायपालिका शासन के अन्य अंगों के अतिक्रमण से मुक्त हो; दूसरे, न्यायालय के निर्णय तथा आदेश व्यवस्थापिका के हस्तक्षेप से स्वतंत्र हों; तीसरे, न्यायपालिका के निर्णय व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के प्रभाव से मुक्त हों।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता के इसी महत्व को दृष्टि-पथ में रखते हुए भारतीय संविधान में न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए अनेक-प्रावधान किए गए हैं। इन प्रावधानों को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. **न्यायाधीशों की नियुक्ति की समुचित व्यवस्था**—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति की समुचित व्यवस्था की गई है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। किन्तु राष्ट्रपति केवल उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्त कर सकता है जिनमें कि संविधान द्वारा निर्धारित योग्यताएँ हैं। वह किसी ऐसे व्यक्ति को न्यायाधीश नियुक्त नहीं कर सकता जिसमें कि निर्धारित योग्यताएँ नहीं हैं। न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश या अन्य न्यायाधीशों से भी परामर्श करता है। इस प्रकार न्यायाधीशों की नियुक्ति को संसद के हाथों से अलग कर न्यायपालिका की स्वतंत्रता की पहली शर्त को पूरा किया गया है।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता के प्रावधान

1. न्यायाधीशों की नियुक्ति की समुचित व्यवस्था
2. पद की पूर्ण सुरक्षा
3. पर्याप्त वेतन
4. अवकाश-प्राप्ति पर उचित प्रावधान
5. अवकाश के उपरान्त वकालत पर प्रतिबन्ध
6. अपने नियम-निर्माण का अधिकार
7. अपने कर्मचारियों पर नियंत्रण का अधिकार
8. न्यायपालिका के विशेषाधिकार

2. **पद की पूर्ण सुरक्षा**—पद की पूर्ण सुरक्षा न्यायपालिका की स्वतंत्रता की अन्य आधारशिला है। पद की सुरक्षा के लिए संविधान में कई प्रावधान किए गए हैं। ये प्रावधान इस प्रकार हैं—

(i) न्यायाधीशों को लम्बा कार्यकाल दिया गया है। वे 65 वर्ष की अवस्था में अवकाश ग्रहण करते हैं।

(ii) उन्हें अपने पद से सामान्यतया अलग नहीं किया जा सकता। उन्हें अपदस्थ करने के लिए संविधान में वर्णित प्रक्रिया का अनुगमन करना आवश्यक है।

(iii) उन्हें विशिष्ट दोषों के लिए ही अपदस्थ किया जा सकता है।

3. **पर्याप्त वेतन**—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए समुचित वेतन का प्रावधान है। इसके अतिरिक्त उन्हें अनेक सुविधाएँ और भत्ता मिलता है। इन सुविधाओं में निःशुल्क सरकारी निवास-स्थान भी आता है।

4. **अवकाश-प्राप्ति पर उचित प्रावधान**—अवकाश-प्राप्ति के बाद न्यायाधीशों को अपने जीवन-यापन में कठिनाई न हो, इसलिए उन्हें अवकाश-प्राप्ति के बाद समुचित अवकाश-वृत्ति या पेंशन मिलती है।

5. **अवकाश के उपरान्त वकालत पर प्रतिबन्ध**—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश निष्पक्ष रूप से अपने दायित्व का निर्वहन करें, इसलिए अवकाश-प्राप्ति के बाद उनकी वकालत पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। संविधान के अनुसार कोई अवकाश-प्राप्त न्यायाधीश भारतीय क्षेत्र में किसी न्यायालय या प्राधिकारी के समक्ष वकालत नहीं कर सकता। किन्तु विशेष प्रकार के कार्यों तथा जांच आयोगों आदि के लिए उनकी नियुक्ति की जा सकती है।

6. **अपने नियम-निर्माण का अधिकार**—सर्वोच्च न्यायालय को अपनी कार्य-प्रणाली के लिए नियम बनाने का अधिकार दिया गया है। इस प्रकार के अधिकार को देकर उसे कार्यपालिका या संसद के अनुचित हस्तक्षेप से मुक्त रखने का प्रयास किया गया है।

7. अपने कर्मचारियों पर नियंत्रण का अधिकार—सर्वोच्च न्यायालय को अपने कर्मचारियों के नियंत्रण का पूर्ण अधिकार दिया गया है। इन कर्मचारियों की नियुक्ति, उनकी सेवा की शर्तों आदि का पूरा अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को है।

8. न्यायपालिका के विशेषाधिकार—न्यायपालिका की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए सर्वोच्च न्यायालय को कतिपय विशेषाधिकार या उन्मुक्तियाँ दी गई हैं। इनके अनुसार न्यायालय के निर्णय तथा कार्य आलोचना से परे हैं। न्यायालय की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए तथा उसको अवांछनीय आलोचना से मुक्त करने के लिए न्यायालय को अपनी अवमानना (Contempt of Court) के लिए दोषी व्यक्ति को दण्ड देने का अधिकार दिया गया है।

9. न्यायाधीशों की स्वतंत्रता के लिए कानूनी संरक्षण—न्यायपालिका की स्वतंत्रता के लिए भारतीय संविधान में जो संरक्षण प्रदान किए गए हैं, उनके अतिरिक्त न्यायाधीशों को कानूनी संरक्षण भी प्रदान किया गया है। इस दृष्टि से संसद ने अगस्त, 1985 ई० में 'न्यायाधीश संरक्षण अधिनियम' पास किया है। इसके अनुसार न्यायाधीशों को अपने कर्तव्य-पालन में पूरी स्वतंत्रता रहेगी। उन पर उनके कर्तव्य-पालन के लिए कोई दीवानी या फौजदारी कार्यवाही नहीं की जायगी। फलतः ये निष्पक्ष तथा निर्भय होकर निर्णय दे सकते हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए अनेक प्रावधान किये गये हैं। इन प्रावधानों का ही यह प्रतिफल है कि सर्वोच्च न्यायालय अपने कर्तव्य का निष्ठा निष्पक्षता और योग्यता से पालन करने में समर्थ रहा है।

लघु तथा अति लघु उत्तरीय प्रश्न और उनके उत्तर

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1—सर्वोच्च न्यायालय के पद के लिए क्या योग्यताएँ हैं ?

उत्तर—(1) वह भारत का नागरिक हो। (2) वह किसी उच्च न्यायालय में कम-से-कम 5 वर्ष तक न्यायाधीश रह चुका हो या कम-से-कम दस वर्ष तक अधिवक्ता रह चुका हो। (3) राष्ट्रपति की दृष्टि में वह कानून का अच्छा ज्ञाता हो। (4) उसकी आयु 65 वर्ष से कम हो।

प्रश्न 2—सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के विषय में आप क्या जानते हैं ?

उत्तर—सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत निम्नलिखित विषय आते हैं—(1) भारत सरकार तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद, (2) भारत सरकार और कोई राज्य या राज्यों तथा एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद, (3) दो या दो से अधिक राज्य के बीच संवैधानिक विषयों के सम्बन्ध में उत्पन्न विवाद।

प्रश्न 3—सर्वोच्च न्यायालय का दीवानी अधिकार-क्षेत्र बताइए।

उत्तर—सर्वोच्च न्यायालय में उन समस्त दीवानी मामलों की अपील की जा सकती है जिनमें सर्वोच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि इस विवाद में कानून की व्याख्या से सम्बंधित कोई महत्वपूर्ण प्रश्न अन्तर्हित हैं।

प्रश्न 4—सर्वोच्च न्यायालय के फौजदारी क्षेत्राधिकार पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—सर्वोच्च न्यायालय में फौजदारी-सम्बन्धी निम्न प्रकार के विवाद आते हैं—(1) जब उच्च न्यायालय ने नीचे के न्यायालय के किसी ऐसे निर्णय को रद्द करके अभियुक्त को दण्ड दिया हो जिसमें नीचे की अदालत ने अभियुक्त को अपराधमुक्त किया हो। (2) जब उच्च न्यायालय ने नीचे के न्यायालय में चल रहे किसी विवाद को अपने न्यायालय में मँगाकर अभियुक्त को मृत्यु-दण्ड दिया है। (3) जब उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि यह मामला या विवाद सर्वोच्च न्यायालय में अपील के योग्य है।

अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—सर्वोच्च न्यायालय में कुल कितने न्यायाधीश होते हैं ?

उत्तर—26 (एक प्रधान न्यायाधीश तथा 25 अन्य न्यायाधीश)

प्रश्न 2—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को कितना वेतन मिलता है ?

उत्तर—प्रधान न्यायाधीश को 10,000 रु० तथा अन्य न्यायाधीशों को 9,000 रु० मासिक वेतन मिलता है। इसके अतिरिक्त अन्य भत्ते और सुविधाएँ मिलती हैं।

प्रश्न 3—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को कौन नियुक्ति करता है ?

उत्तर—राष्ट्रपति।

प्रश्न 4—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश कितनी आयु तक अपने पद पर बने रहते हैं ?

उत्तर—65 वर्ष।

प्रश्न 5—सर्वोच्च न्यायालय के वर्तमान प्रधान न्यायाधीश का नाम बताइए।

उत्तर— श्री रंग नाथ मिश्र।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निवन्धात्मक प्रश्न

1. भारत के सर्वोच्च न्यायालय के संगठन तथा कार्यों का वर्णन कीजिए। (उ० प्र०, 1973, 85)
2. भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के संगठन तथा उसके कार्यों का वर्णन कीजिए। उसे संविधान का संरक्षक क्यों कहा जाता है ? (उ० प्र०, 1980)
3. भारत के संविधान में उच्चतम न्यायालय का क्या स्थान है ? उसके अधिकारों को समझाइए। (उ० प्र०, 1984)
4. भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के संगठन तथा क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिए। (उ० प्र०, व्यक्तिगत, 1982, 85 91)
5. भारतीय उच्चतम न्यायालय के संगठन और कार्यों का वर्णन कीजिए। भारतीय संविधान में उसका क्या महत्व है ?
6. सर्वोच्च न्यायालय की स्वतंत्रता के लिए क्या प्रावधान किए गए हैं ?
7. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
   (अ) सर्वोच्च न्यायालय का दीवानी क्षेत्राधिकार।
   (ब) सर्वोच्च न्यायालय का फौजदारी क्षेत्राधिकार।

लघु प्रश्न

1. सर्वोच्च न्यायालय के संगठन पर प्रकाश डालिए।
2. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति के लिए क्या योग्यताएँ हैं ?
3. सर्वोच्च न्यायालय के परामर्श-सम्बन्धी क्षेत्राधिकार पर प्रकाश डालिए।

अति लघु प्रश्न

1. भारत के सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश को क्या वेतन मिलता है ?
2. भारत के सर्वोच्च न्यायालय में वर्तमान समय में कुल कितने न्यायाधीश हैं ?
3. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को कितना वेतन मिलता है ?
4. सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश कितनी आयु तक अपने पद पर बने रहते हैं ?
5. सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य केन्द्र कहाँ है ?

अध्याय 15

राज्यपाल : राज्यों की कार्यपालिका का वैज्ञानिक प्रधान

● राज्यपाल की नियुक्ति ● राज्यपाल पद की योग्यताएँ ● राज्यपाल पद का कार्यकाल ● राज्यपाल की शक्तियाँ, अधिकार और कार्य ● राज्यपाल की शक्तियों का मूल्यांकन ● राज्यपाल और मन्त्रिपरिषद ● राज्यपाल और विधान-मण्डल

आमुख

भारतीय संविधान देश में संवैधानिक व्यवस्था की स्थापना करता है। संघात्मक व्यवस्था दोहरी शासन-पद्धति पर आधारित होती है। इस दोहरी शासन-पद्धति में जहाँ एक ओर संघ की सरकार होती है, वहाँ दूसरी ओर संघ की इकाइयों की सरकारें होती हैं। भारत की संघात्मक व्यवस्था भी इसका अपवाद नहीं है। भारत में एक ओर जहाँ संघ की सरकार है, वहाँ दूसरी ओर उसकी इकाइयों की शासन-व्यवस्था है।

भारतीय संघ की शासन-व्यवस्था का शब्द-चित्र हम पहले प्रस्तुत कर चुके हैं। यहाँ हम भारतीय संघ की इकाइयों की राज-व्यवस्था की रूपरेखा पर प्रकाश डालेंगे।

भारतीय संघ की इकाइयों की शासन-व्यवस्था के विवेचन के पूर्व यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भारतीय संघ में दो प्रकार की इकाइयाँ हैं—

(1) संघ की बड़ी इकाइयाँ जिन्हें राज्य (States) कहा जाता है; तथा

(2) संघ की छोटी इकाइयाँ जिन्हें केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्र या संघीय क्षेत्र (Union Teritories) कहा जाता है।

जिस प्रकार संघीय शासन का स्वरूप संसदात्मक है, उसी प्रकार राज्यों के शासन का स्वरूप भी संसदात्मक है। जिस प्रकार केन्द्र में कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका हैं, उसी प्रकार राज्यों में भी शासन के ये तीन अंग हैं।

राज्यों के शासन की रूपरेखा का एक परिचय हमें आगे दिये रेखाचित्र से मिल जाता है—
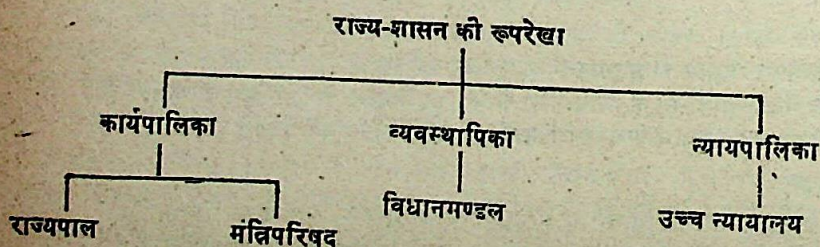
इस प्रकार राज्यों में कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान राज्यपाल होता है। इसलिए इन्हें राज्यपाल वाले राज्य भी कहा जा सकता है। राज्यों में वास्तविक कार्यपालिका शक्ति

राज्य की मंत्रिपरिषद के हाथों में निहित होती है। व्यवस्थापिका के रूप में राज्यों में विधान-मण्डल है। विधान-मण्डल में किसी राज्य में दो सदन हैं और किसी में केवल एक सदन। न्याय-पालिका के रूप में राज्य में उच्च न्यायालय है।

राज्यों के अतिरिक्त भारतीय संघ की छोटी इकाइयाँ हैं। इन इकाइयों को संघीय क्षेत्र या केन्द्र-शासित क्षेत्र कहते हैं। यहाँ हम राज्यों की शासन-व्यवस्था पर प्रकाश डालेंगे।

राज्यपाल
(Governor)

राज्यपाल राज्य की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान है। वह राज्य में केन्द्र का प्रभावशाली प्रतिनिधि, केन्द्रीय सरकार और राज्य-शासन को जोड़ने वाली कड़ी तथा राज्य की कार्यपालिका का गौरवशाली अंग है।

राज्यपाल पद का प्रावधान संविधान के छठे खण्ड में अनुच्छेद 153 से लेकर 162 तक में किया गया है। अनुच्छेद 153 के अनुसार प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल होगा।[1] अनुच्छेद 154 के अनुसार "राज्य की कार्यपालिकीय शक्ति राज्यपाल के हाथों में निहित होगी। इस कार्यपालिकीय शक्ति का प्रयोग वह संविधान के अनुसार स्वतः या अपने अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा करेगा।"

राज्यपाल की नियुक्ति—राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। राज्यपाल की नियुक्ति-सम्बन्धी कई राजनैतिक परम्पराओं या प्रथाओं का विकास हुआ है। इस दृष्टि से दो प्रथाओं का उल्लेख आवश्यक है। प्रथमतः यह कि राज्यपाल प्रायः अन्य राज्य का निवासी होता है। इस प्रकार कोई पंजाबी पंजाब का गवर्नर नहीं होता तथा कोई गुजराती गुजरात का गवर्नर नहीं हो सकता।[2]

राज्यपाल की नियुक्ति-विषयक दूसरी परम्परा यह रही है कि राज्यपाल की नियुक्ति करने के पूर्व सामान्यतया सम्बन्धित राज्य के मुख्य मंत्री से भी पहले परामर्श लिया जाता है। पर इस परम्परा की भी कभी-कभी उपेक्षा हुई है।

राज्यपाल पद के लिए योग्यताएँ—संविधान के अनुसार राज्यपाल के पद पर नियुक्त किए जाने वाले व्यक्ति में अग्रलिखित योग्यताएँ होनी चाहिए—

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।
3. वह संसद या राज्य के विधान-मण्डल का सदस्य न हो।
4. वह लाभ के अन्य किसी पद पर न हो।

---

1. संविधान के अनुसार दो या दो से अधिक राज्यों के लिए एक ही राज्यपाल को नियुक्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिए आसाम का राज्यपाल नागालैंड, मेघालय और त्रिपुरा का भी राज्यपाल होता है।

2. अभी तक इस दिशा में दो अपवाद सामने आए हैं। एक है श्री एच० सी० मुखर्जी का तथा दूसरा कुमारी पद्मजा नायडू का। ये दोनों बंगाली थे और पश्चिम बंगाल के गवर्नर नियुक्त हुए थे। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि ये दोनों व्यक्ति मूलतया बंगाल के थे, किन्तु बाद में इनका सम्बन्ध दूसरे राज्यों से हो गया था। उदाहरण के लिए श्री मुखर्जी का सम्बन्ध बिहार से था और कुमारी नायडू का सम्बन्ध आंध्र प्रदेश से था।

राज्यपाल पद का कार्यकाल—संविधान के अनुसार राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त (अर्थात् जब तक राष्ट्रपति चाहे) अपने पद पर बना रहेगा। फलतः राष्ट्रपति किसी भी समय राज्यपाल को उसके पद से हटा सकता है।

सामान्यतया राज्यपाल 5 वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता है, किन्तु इस अवधि के समाप्त होने पर वह तब तक अपने पद पर बना रहता है जब तक कि उसके उत्तराधिकारी की नियुक्ति न हो जाय। इस प्रकार इस अवधि में उसका कार्यकाल कुछ महीनों के लिए बढ़ाया जा सकता है।

यदि कोई राज्यपाल किसी कारण से अपने कार्यकाल समाप्त होने के पूर्व त्यागपत्र देना चाहता है तो वह दे सकता है।

यदि किसी कारण से राज्यपाल का पद आकस्मिक रूप से रिक्त हो जाता है तो उसके स्थान पर नए राज्यपाल की नियुक्ति की जाती है। राज्यपाल के लिए कुछ दिनों के लिए अवकाश लेने या उसके पद के आकस्मिक रूप से रिक्त होने की स्थिति में सामान्यतया राज्य के उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश राज्यपाल का पद ग्रहण करता है।

राज्यपाल द्वारा शपथ-ग्रहण राज्यपाल-पद ग्रहण करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को पद-ग्रहण के पूर्व एक शपथ-ग्रहण करनी होती है। इसके अनुसार वह यह प्रतिज्ञा करता है या शपथ लेता है कि अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करेगा तथा राज्य की जनता की सेवा करेगा।[1] यह शपथ वह राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश या उसकी अनुपस्थिति में काम करने वाले सबसे ज्येष्ठ न्यायाधीश के सामने लेता है।

वेतन, भत्ता तथा उन्मुक्तियाँ—संविधान के अनुसार राज्यपाल को 11,000 रुपये मासिक वेतन और कई प्रकार के भत्ते मिलते हैं। इसके अतिरिक्त उसे निःशुल्क निवास-स्थान तथा कतिपय अन्य सुविधाएँ भी मिलती है।

अपने कर्तव्य-पालन के लिए राज्यपाल जो कार्य करेगा, उसके लिए उसकी पदावधि में उसके विरुद्ध किसी भी न्यायालय में फौजदारी की कार्यवाही नहीं की जायगी। इसी प्रकार वैयक्तिक रूप में किए गए किसी कार्य के लिए उसके विरुद्ध दीवानी न्यायालय में कोई कार्यवाही तभी की जा सकेगी जबकि इस प्रकार की कार्यवाही की पूरी सूचना उसे दो माह पूर्व दे दी जाय।

राज्यपाल के वेतन, भत्ते तथा अन्य विशेषाधिकारों के सम्बन्ध में संसद को विधि बनाने का अधिकार है, लेकिन किसी राज्यपाल के कार्यकाल में उसके वेतन तथा भत्ते में किसी प्रकार की कटौती नहीं की जा सकेगी।

राज्यपाल की शक्तियाँ, अधिकार और कार्य

राज्यपाल राज्य की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान है। एक वैधानिक प्रधान होने के नाते उसे अनेक अधिकार और शक्तियाँ प्राप्त हैं। उसके अधिकारों, शक्तियों तथा कार्यों का अध्ययन हम निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

राज्यपाल की शक्तियाँ और कार्य
1. कार्यपालिकीय शक्तियाँ

1. कार्यपालिकीय शक्तियाँ— राज्य की कार्यपालिकीय शक्तियाँ राज्यपाल के हाथों में निहित हैं। फलतः राज्यपाल उन समस्त

1. संविधान (159वें अनुच्छेद) के अनुसार शपथ इस प्रकार है :

"मैं......अमुक......ईश्वर की शपथ लेता हूँ (या सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ) कि मैं श्रद्धापूर्वक (राज्य का नाम) के राज्यपाल का कार्य-पालन करूँगा तथा अपनी पूर्ण योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करूँगा एवं मैं (राज्य का नाम) की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूँगा।"

2. विधायी शक्तियाँ
3. वित्तीय शक्तियाँ
4. न्याय-सम्बन्धी शक्तियाँ
5. अन्य शक्तियाँ

शक्तियों का प्रयोग करता है जो कि राज्य की कार्यपालिका के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं। संक्षेप में राज्यपाल की कार्यपालिकीय शक्तियों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. राज्यपाल राज्य की मंत्रिपरिषद के प्रमुख—मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है।
2. मुख्यमंत्री की सलाह से वह अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है।
3. वह राज्य के लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों, राज्य के महाधिवक्ता (एडवोकेट जनरल) तथा राज्य के कतिपय अन्य उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति करता है।
4. राज्यपाल राज्य के विश्वविद्यालयों का कुलाधिपति (चांसलर) होता है। इस नाते वह विश्वविद्यालय के कुलपति की नियुक्ति करता है।
5. वह राज्य-शासन के संचालन-विषयक नियमों का निर्माण करता है।
6. वह मुख्यमंत्री की सलाह से राज्य की मंत्रिपरिषद के मंत्रियों में विभागों का वितरण करता है।
7. वह मुख्यमंत्री तथा अन्य मंत्रियों के त्यागपत्र स्वीकृत करता है।
8. यह जान लेने पर कि राज्य की मंत्रिपरिषद को विधानसभा में बहुमत प्राप्त नहीं है, मुख्यमंत्री की सलाह से मंत्रिपरिषद को भंग करता है।
9. राज्य में वैधानिक संकट उत्पन्न होने पर वह राष्ट्रपति को इस आशय की सूचना देता है।
10. जब राष्ट्रपति द्वारा राज्य में संकटकाल की घोषणा हो जाती है और मंत्रिपरिषद भंग हो जाती है तो राज्यपाल राष्ट्रपति के आदेशानुसार राज्य-शासन के समस्त सूत्र अपने हाथों में ले लेता है।
11. मध्यप्रदेश तथा असम जैसे राज्यों के राज्यपाल को अपने राज्य की जनजातियों के हितों की रक्षा करने का भी अधिकार है।
12. इसके अतिरिक्त राज्य की शान्ति और व्यवस्था बनाए रखने के लिए वह अन्य आवश्यक कदम उठाता है।

2. विधायी शक्तियाँ राज्यपाल को व्यवस्थापन के क्षेत्र में भी अनेक अधिकार प्राप्त हैं। जिस प्रकार राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग माना जाता है, उसी प्रकार राज्यपाल भी राज्य के विधान-मण्डल का अंग माना जाता है। राज्यपाल के विधायी अधिकारों और कार्यों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. राज्यपाल को विधान-मण्डल के एक या दोनों सदनों के अधिवेशनों को आमंत्रित करने, स्थगित करने या विधान-सभा को भंग करने का अधिकार है।
2. वह विधान-मण्डल के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में पृथक्-पृथक् प्रत्येक अधिवेशन के प्रारम्भ में भाषण दे सकता है।
3. वह विधान-मण्डल के किसी सदन में आवश्यकतानुसार सन्देश भेज सकता है।
4. वह विधान-परिषद के 1/6 सदस्यों को मनोनीत करता है।
5. यदि राज्यपाल को यह विश्वास हो जाय कि विधान-सभा में एंग्लो-इंडियन समुदाय का उचित प्रतिनिधित्व नहीं है तो वह उक्त समुदाय के प्रतिनिधियों को उचित संख्या में मनोनीत कर सकता है।

6. राज्य के विधान-मण्डल द्वारा पास कोई विधेयक तभी अधिनियम का रूप धारण कर सकता है, जबकि उस पर राज्यपाल के हस्ताक्षर हो जायँ। राज्यपाल-विधेयक पर अपनी स्वीकृति रोक कर विधान-मण्डल द्वारा पुनः विचार के लिए उसे वापस भेज सकता है। किन्तु यदि विधान-मण्डल दूसरी बार विधेयक को वापस कर देता है तो राज्यपाल को अपनी स्वीकृति देनी आवश्यक होगी।
7. वह कुछ विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए रोक सकता है।
8. जब राज्य के विधान-मण्डल का अधिवेशन न चल रहा हो तो उस स्थिति में आवश्यकता पड़ने पर राज्यपाल अध्यादेश (Ordinance) जारी कर सकता है। इन अध्यादेशों का महत्व वही होगा जो राज्य द्वारा बनाए गए कानूनों का होता है।

राज्यपाल द्वारा जारी किए गये अध्यादेश विधान-मण्डल की बैठक होते ही उसके समक्ष पेश किए जायेंगे। यदि विधान-मंडल चाहे तो प्रस्ताव पास कर उस अध्यादेश को अविलंब समाप्त कर सकता है, अन्यथा अध्यादेश विधान-मण्डल की प्रथम बैठक के छह सप्ताह के बाद स्वतः समाप्त समझा जायगा। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि राज्यपाल के अध्यादेश जारी करने की शक्ति पर कुछ प्रतिबन्ध हैं।

9. धन-विधेयक को छोड़कर अन्य विधेयकों को आवश्यक समझने पर विधान-मण्डल को पुनः विचारार्थ भेज सकता है, साथ ही वह अपने सुझाव-सन्देश भी भेज सकता है।

3. **वित्तीय शक्तियाँ**—राज्यपाल को कतिपय वित्तीय शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। इन शक्तियों को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. प्रत्येक वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ में राज्यपाल उस वर्ष के वार्षिक आय-व्यय का विवरण (बजट) विधान-मण्डल के समक्ष पेश करता है। इस बजट में राज्य के आय-व्यय का अनुमानित ब्योरा रहता है।
2. राज्यपाल की सिफारिश के बिना कोई धन-विधेयक विधान-मण्डल में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है।
3. किसी भी प्रकार के सरकारी आय-व्यय और अनुदान की माँग राज्यपाल की अनुमति के बिना विधान-मण्डल से प्रस्तुत नहीं की जा सकती।
4. राज्य की आकस्मिक निधि राज्यपाल के नियंत्रण में होती है। विधान-मण्डल की स्वीकृति न होने की स्थिति में राज्यपाल इस निधि से आकस्मिक व्यय के लिए अग्रिम धनराशि दे सकता है।
5. आवश्यकता पड़ने पर कोई पूरक माँग राज्यपाल की स्वीकृति से ही विधान-मण्डल में प्रस्तुत की जा सकती है।

4. **न्याय-सम्बन्धी शक्तियाँ**—न्याय के क्षेत्र में भी राज्यपाल को कुछ शक्तियाँ प्राप्त हैं। उसके न्याय-सम्बन्धी अधिकारों और कार्यों को संक्षेप में हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. राज्यपाल राष्ट्रपति को अपने राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति में परामर्श देता है।
2. राज्यपाल के सामने पद-ग्रहण के पूर्व प्रत्येक न्यायाधीश शपथ ग्रहण करता है।
3. उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के परामर्श से राज्यपाल अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। न्याय विभाग के अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति भी राज्यपाल उच्च न्यायालय और राज्य लोकसेवा आयोग के परामर्श से करता है।

4. राज्य द्वारा बनाए गए कानूनों के उल्लंघन करने के सम्बन्ध में जिन अभियुक्तों को सजा मिली हो, राज्यपाल उनकी सजा को कम कर सकता है, स्थगित कर सकता है, बदल सकता है या क्षमा कर सकता है। किन्तु मृत्यु-दण्ड को क्षमा करने का अधिकार राज्यपाल को नहीं है। इसी प्रकार संघीय विधियों के उल्लंघन करने वाले अपराधियों के दण्ड को क्षमा करने का अधिकार भी उसे नहीं है।

5. अन्य अधिकार—राज्यपाल की उपर्युक्त शक्तियों के अतिरिक्त कुछ अन्य अधिकार और कार्य भी हैं। इन्हें हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. राज्यपाल राज्य लोकसेवा आयोग की वार्षिक रिपोर्ट (प्रतिवेदन) को प्राप्त करता तथा उसे मंत्रिपरिषद के विचारार्थ भेजता है। इसके बाद वह प्रतिवेदन विधान-मण्डल में भेजा जाता है।
2. वह राज्य के आय-व्यय के सम्बन्ध में प्रदेश के महालेखा-परीक्षक के प्रतिवेदन को प्राप्त करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राज्यपाल को अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त हैं।

राज्यपाल की शक्तियों का मूल्यांकन

राज्यपाल की वास्तविक स्थिति

राज्यपाल की शक्तियों की दीर्घ श्रृंखला के सिंहावलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यों का राज्यपाल अनेक शक्तियों से समलंकृत है। राज्य-शासन के समस्त कार्य राज्यपाल के नाम से किए जाते हैं। राज्यपाल ही राज्य के मुख्यमन्त्री तथा मुख्यमन्त्री के परामर्श से मंत्रिपरिषद के अन्य मन्त्रियों की नियुक्तियाँ करता है। इसी प्रकार राज्य के अन्य उच्च पदों की नियुक्तियाँ भी उसी के हाथ में निहित हैं। व्यवस्थापन के क्षेत्र में भी उसे अनेक अधिकार प्राप्त हैं। उसके हस्ताक्षर के बिना कोई विधेयक अधिनियम का रूप धारण नहीं कर सकता। उसे राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर अध्यादेश जारी करने का अधिकार है। वही राज्य के विधान-मण्डल के अधिवेशन को आमंत्रित करता है, स्थगित करता है तथा विधान-सभा को भंग करता है। वित्तीय क्षेत्र में भी उसे महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हैं। उसकी अनुमति के बिना कोई धन-विधेयक सदन में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। धन-सम्बन्धी माँगें भी उसकी अनुमति के बिना सदन में प्रस्तुत नहीं की सकतीं। इसी प्रकार न्याय के क्षेत्र में भी उसे अनेक शक्तियाँ प्राप्त हैं।

इन शक्तियों के सामान्य अवलोकन से ऐसा लगता है कि राज्यपाल ही वस्तुतः राज्य-शासन का सर्वेसर्वा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सिद्धान्तः राज्यपाल राज्य का प्रधान है, राज्य की कार्यपालिका का अध्यक्ष है, राज्य-शासन का सर्वोपरि और सर्वोच्च पदाधिकारी है। पर इस प्रसंग में हमें यह न भूलना चाहिए कि भारत की शासन-व्यवस्था संसदात्मक व्यवस्था है और संसदात्मक व्यवस्था में सिद्धान्त और व्यवहार में विशाल अन्तराल होता है। अतएव सिद्धान्त में जो शक्तियाँ राज्यपाल की प्रतीत होती हैं, वे शक्तियाँ वस्तुतः राज्यपाल की न होकर मंत्रिपरिषद की होती हैं। दूसरे शब्दों में राज्यपाल एक वैधानिक प्रधान है। एक वैधानिक प्रधान होने के नाते वह राज्य करता है, शासन नहीं करता; वह राज्य का प्रधान है, शासन का प्रधान नहीं

इस दृष्टि से उसकी कुछ शक्तियों का एक संक्षिप्त पुनरावलोकन आवश्यक है। उदाहरण के लिए, हम उसकी मुख्यमन्त्री की नियुक्ति-सम्बन्धी शक्ति को ले सकते हैं। संविधान के अनुसार राज्यपाल मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करता है, किन्तु व्यवहार में वह उसी व्यक्ति को राज्य के मुख्यमन्त्री पद पर नियुक्त कर सकता है जिसके दल का विधान-सभा में बहुमत हो। इसी प्रकार अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति का उसका अधिकार भी औपचारिक है। राज्य की अन्य नियुक्तियों

में भी उसका अधिकार नाममात्र का होता है। उसकी वित्तीय और अन्य शक्तियों के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

इस प्रकार व्यवहार में राज्यपाल की शक्तियाँ वस्तुतः राज्य की मंत्रिपरिषद की शक्तियाँ हैं। राज्यपाल-पद पर नियुक्त अनेक व्यक्तियों ने समय-समय पर अपने पद की शक्तिहीनता का संकेत दिया है। उदाहरण के लिए, मध्य-प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल डॉ० पट्टाभि सीतारमैया ने अपने पद और स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि "मैं होटल का एक योग्यता-प्राप्त प्रबन्धक हूँ···राज्यपाल का कार्य आगन्तुकों का सम्मान करना, उनको चाय, भोजन और दावत देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" भूतपूर्व राज्यपाल श्री श्रीप्रकाश ने कहा था कि "मैं भली-भाँति जानता हूँ कि मुझे अपनी ओर से कुछ करना-धरना नहीं है, मैं तो केवल वैधानिक राज्यपाल हूँ, मुझे तो निर्दिष्ट स्थान पर केवल हस्ताक्षर करना है।" इसी प्रकार जब वी० वी० गिरि उत्तर-प्रदेश के राज्यपाल बने तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में अपनी स्थिति को स्वीकार करते हुए कहा कि "मैं अपने मन्त्रियों का मात्र परामर्शदाता रहूँगा, इससे अधिक और कुछ नहीं।"

एक अन्य राज्यपाल श्रीमती सरोजनी नायडू ने अपनी स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि "मैं सोने के पिंजड़े में बन्द चिड़ियाँ की भाँति हूँ"—I am a bird in a golden cage.

विभिन्न राज्यपालों द्वारा व्यक्त उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपाल वस्तुतः राज्य के वैधानिक प्रधान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दूसरे शब्दों में राज्यपाल राज्य का संवैधानिक और प्रतीकात्मक प्रमुख है जिसका कार्य राज्य की मंत्रिपरिषद के परामर्श से कार्य करना है। जैसा कि श्री गिरधारी लाल ने लिखा है कि "राज्यपाल की स्थिति वह नहीं है जो उसके पद से प्रतीत होती है। वह नाममात्र का प्रधान है, नाममात्र का कार्यपालक है, उसके पद का महत्व कार्य से अधिक शोभार्थ है। उसकी स्थिति एक अधिकारी की अपेक्षा सम्मान तथा प्रतिष्ठा की है।"

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि राज्य की राज-व्यवस्था में राज्यपाल की स्थिति एक 'स्वर्णिम शून्य' (Golden zero) या 'रबर की मुहर' (Rubber Stamp) की है। उसे न तो कोई शासन की शक्ति प्राप्त है और न ही उसके पद का कोई औचित्य है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। राज्यपाल न तो नितान्त शक्तिहीन पदाधिकारी है और न ही उसका पद मात्र शोभा या सजावट का पद है। उसके पद का अपना महत्व है, अपनी उपयोगिता है। उसके पद के महत्व और उपयोगिता का परिचय हमें निम्नलिखित तथ्यों से मिल जाता है—

1 राज्यपाल को विशिष्ट परिस्थितियों में अपने विवेक के प्रयोग का अधिकार है—यद्यपि संविधान में स्पष्ट रूप से राज्यपाल को अपने विवेक के अनुसार कार्य करने का अधिकार नहीं है। किन्तु विशिष्ट परिस्थितियों में उसे अपने विवेक के अनुसार कार्य करने का अधिकार है। ये परिस्थितियाँ संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(i) जब राज्य की विधान-सभा में किसी दल का स्पष्ट बहुमत न हो और राज्य के मुख्य मन्त्री की नियुक्ति का प्रश्न खड़ा हो।

(ii) जब मंत्रिपरिषद का विधान-सभा में बहुमत समाप्त हो जाय और उस मंत्रिपरिषद की पदच्युति का प्रश्न खड़ा हो।

(iii) जब मुख्यमन्त्री अपनी मंत्रिपरिषद का त्यागपत्र दे दे और त्यागपत्र देने के साथ ही विधान-सभा के भंग करने की सलाह दे।

(iv) जब अन्य कारणों से राज्य की विधान-सभा के विघटन का प्रश्न खड़ा हो।

(v) जब राज्य में संवैधानिक संकट खड़ा हो और उस सम्बन्ध में राष्ट्रपति को अपना प्रतिवेदन (रिपोर्ट) भेजना हो।

इन परिस्थितियों में राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है। इसके अतिरिक्त असम के राज्यपाल को असम की आदिम जातियों वाले क्षेत्र के प्रशासन की दिशा में अपने विवेक के प्रयोग का अधिकार प्राप्त है।

2. केन्द्रीय शासन और राज्य-शासन को मिलाने वाली कड़ी—राज्यपाल पद की दूसरी उपयोगिता केन्द्रीय शासन और राज्य-शासन को जोड़ने वाली कड़ी की है। दूसरे शब्दों में राज्यपाल एक ऐसी कड़ी है जो केन्द्रीय शासन और राज्य-शासन को एक-दूसरे से जोड़ती है। जैसा कि डॉ० पायली ने कहा है कि "राज्यपाल वह कड़ी है जो संघ को उसकी इकाइयों से जोड़ती है, वह माध्यम है जो केन्द्र और राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों को बनाए रखता है।"

3. राज्य में केन्द्र का प्रतिनिधि—राज्यपाल-पद के औचित्य और उपयोगिता का दूसरा आधार यह है कि राज्यपाल राज्य के केन्द्र के प्रतिनिधि का कार्य करता है। वह राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है। अतएव उसका एक प्रमुख कार्य राज्य में केन्द्रीय शासन का प्रतिनिधित्व करना है।

4. राज्य की शासन-व्यवस्था का प्रहरी—राज्यपाल राज्य की शासन-व्यवस्था का प्रमुख प्रहरी होता है। उसका यह प्रमुख कार्य होता है कि वह यह देखें कि राज्य का शासन संविधान के अनुसार चल रहा है या नहीं। जैसा कि डॉ० अम्बेदकर ने कहा था कि "राज्यपाल किसी दल का प्रतिनिधि नहीं है। वह समग्र राज्य के लोगों का प्रतिनिधि है! उसे यह देखना चाहिए कि राज्य का शासन ऐसे स्तर पर है जिसे अच्छा, सक्षम और ईमानदार प्रशासन कहा जायगा।" इसी प्रकार डॉ० पायली ने भी लिखा है कि "राज्यपाल सुविधा और सत्ता के स्थान पर आसीन एक तटस्थ दर्शक है जो यह देखता है कि राज्य में क्या हो रहा है। अपनी उस स्थिति के आधार पर वह राज्य-सरकार की गरिमा, स्थायित्व तथा उसके सामूहिक उत्तर-दायित्व को बनाये रखता है।" श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि "राज्यपाल संवैधानिक मर्यादा का प्रहरी है···।"[1]

5. राज्य-शासन का सहायक और पथ-प्रदर्शक—राज्यपाल को राज्य-शासन का सहायक और पथ-प्रदर्शक कहा जा सकता है। राज्य-शासन के सहायक के रूप में वह राज्य की शासन-व्यवस्था में एक संवैधानिक प्रधान के रूप में अपना योग देता है। राज्य-शासन के सर्वोच्च पदाधिकारी के रूप में वह शासन का पथ-प्रदर्शन करता है। जैसा कि डॉ० पायली ने लिखा है कि "राज्यपाल राज्य की मंत्रि-परिषद का सुविज्ञ परामर्शदाता है, ऐसा व्यक्तित्व है जो राज्य की अशान्त राजनीति को शान्त कर सकता है।" इसी प्रकार पी० के० सेन ने भी लिखा है कि "राज्यपाल का कार्य शासन-यंत्र के सरल संचालन में योग देना है। यह देखना है कि उसके हस्तक्षेप नहीं, प्रत्युत मैत्रीपूर्ण सहयोग से राज्य-शासन-रूपी रथ के पहिए चल रहे हैं।"

निष्कर्ष

इस प्रकार राज्यपाल राज्य-शासन का प्रधान प्रहरी और पथ-प्रदर्शक है। सामान्यतया वह एक वैधानिक प्रधान है जिसका कार्य मंत्रिमण्डल के परामर्श से राज्य-शासन का संचालन करना है। किन्तु विशिष्ट परिस्थितियों में वह राज्य की राज-व्यवस्था में प्रभावी भूमिका अदा कर सकता है। वस्तुतः एक सुयोग्य, सक्षम, अनुभवी और निष्पक्ष राज्यपाल अपने पद की गरिमा और उपयोगिता को स्थापित कर सकता है। जैसा कि बी० जी० खेर ने लिखा है कि संविधान सभा में कहा था कि "एक अच्छा राज्यपाल बहुत लाभ पहुँचा सकता है और एक बुरा राज्यपाल धूर्तता भी कर सकता है, भले ही उसे संविधान से कम शक्तियाँ मिली हों।"

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि राज्यपाल का पद राज्य-शासन में प्रभाव और प्रतिष्ठा का पद है। अन्त में हम प्रो० पायली के शब्दों में कह सकते हैं कि

1. 'The Govenor is the watch-dog of the Constitutional propriety.'
—K. M. Munshi

"राज्यपाल न तो नाममात्र का प्रधान है और न ही वह रबर की मुहर है, परन्तु एक ऐसा कार्याधिकारी है जिसका सृजन राज्य-शासन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।"

राज्यपाल और विधान-मण्डल

राज्यपाल और विधानसभा अनेक दृष्टियों से एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्ध को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. राज्यपाल राज्य के विधान-मण्डल का सदस्य नहीं होता, किन्तु वह राज्य विधान-मण्डल का अभिन्न अंग माना जाता है।
2. राज्यपाल विधानसभा के अधिवेशन को आमंत्रित करता, स्थगित करता या भंग करता है।
3. राज्य की विधानसभा में यदि एंग्लो-इण्डियन समुदाय का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं होता, तो राज्यपाल एंग्लो-इण्डियन समुदाय के लोगों को विधानसभा का सदस्य मनोनीत करता है।
4. राज्यपाल विधानसभा के $\frac{1}{6}$ सदस्यों को मनोनीत करता है।
5. राज्यपाल निर्वाचन-सम्बन्धी अपराध के लिए दोषी पाये गए किसी व्यक्ति को निर्वाचन आयोग की सिफारिश पर व्यवस्थापिका की सदस्यता से वंचित करता है।
6. विधान-मण्डल द्वारा पास किए गए विधेयकों पर राज्यपाल हस्ताक्षर करता है।
7. उसे धन-विधेयकों को छोड़कर साधारण विधेयकों पर अपनी स्वीकृति रोकने का अधिकार है। किन्तु यदि कोई साधारण विधेयक विधान-मंडल द्वारा दुबारा पास कर दिया जाता है तो उस पर उसे हस्ताक्षर करना अनिवार्य होगा।
8. जब विधान-मण्डल का अधिवेशन नहीं चल रहा होता, तब उसे अध्यादेश जारी करने का अधिकार है।
9. राज्यपाल राज्य के लोकसेवा आयोग तथा महालेखा-परीक्षक के प्रतिवेदनों को विचारार्थ व्यवस्थापिका के सामने पेश करता है।

राज्यपाल और राज्य की मन्त्रि-परिषद

राज्यपाल और मंत्रि-परिषद राज्य की कार्यपालिका के दो अपरिहार्य अंग हैं। राज्यपाल राज्य की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान है जबकि मंत्रि-परिषद राज्य की वास्तविक कार्यपालिका है। कार्यपालिका के अभिन्न अंग होने के नाते दोनों एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्ध को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. राज्यपाल मुख्य मन्त्री की नियुक्ति करता है तथा मुख्य मन्त्री की सलाह से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। सामान्यतया वह बहुमत दल के नेता को मुख्य मंत्री नियुक्त करता है। किन्तु जब विधानसभा में किसी दल का स्पष्ट बहुमत नहीं होता, तो राज्यपाल को अपने विवेक के अनुसार कार्य करने का अवसर मिलता है। मुख्य मंत्री की सलाह से वह अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है।

2. संविधान के अनुसार मंत्रि-परिषद राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद पर बनी रहेगी। फलतः जब तक मंत्रि-परिषद को विधानसभा का विश्वास प्राप्त रहता है, तब तक वह अपने पद पर बनी रहेगी, किन्तु विधानसभा का विश्वास खो देने पर उसे अपने पद पर बने रहने का अधिकार नहीं है। ऐसी स्थिति में मंत्रि-परिषद अपना त्यागपत्र दे देगी; अन्यथा राज्यपाल मंत्रि-परिषद को अपदस्थ कर देगा।

3. मुख्य मंत्री का यह कर्तव्य है कि वह राज्यपाल को शासन-सम्बन्धी आवश्यक सूचनाएं दे।

4. राज्यपाल स्वतः मुख्य मंत्री से शासन-सम्बन्धी आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सकता है।
5. राज्यपाल को मंत्रि-परिषद को परामर्श देने, प्रोत्साहित करने और चेतावनी देने का अधिकार है।
6. सामान्यतया राज्यपाल मंत्रि-परिषद की सलाह से कार्य करता है। किन्तु कुछ विषयों और परिस्थितियों में राज्यपाल को अपने विवेक के अनुसार कार्य करने का अधिकार है। इस प्रकार राज्यपाल और मंत्रि-परिषद एक-दूसरे से अनेक दृष्टियों से सम्बन्धित हैं।

लघु और अति लघु उत्तरीय प्रश्न और उनके उत्तर

लघ उत्तरीय प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—भारतीय संविधान के अनुसार राज्यपाल के पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति में क्या योग्यताएँ होनी चाहिए ?

उत्तर—(अ) वह भारत का नागरिक हो। (ब) वह 35 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो। (स) वह संसद या राज्य के विधान-मण्डल का सदस्य न हो। (द) वह लाभ के अन्य किसी पद पर न हो।

प्रश्न 2—राज्यपाल की कार्यपालिकीय शक्तियों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

उत्तर—(1) राज्यपाल राज्य की कार्यपालिका का वैधानिक प्रधान होता है। (2) राज्यपाल मुख्यमंत्री की नियुक्ति करता है। (3) मुख्यमंत्री की सलाह से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। (4) संकट-काल में राज्य का शासन संचालित करता है।

अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—राज्यपाल की नियुक्ति कौन करता है ?
उत्तर—राष्ट्रपति।
प्रश्न 2—राज्यपाल कितने वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता है ?
उत्तर—पाँच वर्ष।
प्रश्न 3—राज्यपाल को कितना वेतन मिलता है ?
उत्तर—11,000 रु० प्रतिमाह।
प्रश्न 4—क्या राज्यपाल मृत्यु-दण्ड पाये हुए व्यक्ति को क्षमा कर सकता है ?
उत्तर—नहीं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राज्यों के शासन में राज्यपाल का क्या महत्व है ? राज्यपाल तथा मंत्रि-परिषद के आपसी सम्बन्धों का वर्णन कीजिए। (उ० प्र०, 1975)

2. राज्यों के राज्यपाल किस प्रकार नियुक्त होते हैं ? उनके क्या कार्य हैं ? (उ० प्र०, 1976, 81, 85)

3. राज्यों के शासन में राज्यपाल का क्या स्थान है ? राज्यपाल व मंत्रि-परिषद का क्या सम्बन्ध है ? (उ० प्र०, 1978)

4. राज्यपाल की नियुक्ति और उसकी शक्तियों का वर्णन कीजिए। राज्यपाल का इस प्रदेश के शासन में क्या महत्व है ? (उ० प्र०, 1983)

"केन्द्र-शासित क्षेत्र भारत की संघात्मक व्यवस्था की लघु इकाइयाँ हैं।"

अध्याय 16

केन्द्र-शासित क्षेत्रों का शासन

● केन्द्र-शासित क्षेत्रों का वर्गीकरण ● प्रतिनिधिमूलक शासन वाले क्षेत्र ● दिल्ली क्षेत्र का प्रशासन ● प्रतिनिधिमूलक शासनरहित क्षेत्र।

आमुख

भारत की संघात्मक व्यवस्था के विवेचन के प्रसंग में हमने देखा था कि भारत की संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार भारतीय संघ में दो प्रकार की इकाइयाँ हैं : (1) राज्य और (2) केन्द्र-शासित क्षेत्र। जहाँ तक राज्यों का प्रश्न है, राज्यों के प्रशासन के विषय में हम पहले (राज्यपाल वाले अध्याय में) विचार कर चुके हैं तथा आगे भी विचार करेंगे। यहाँ हम केन्द्र-शासित क्षेत्रों की शासन-व्यवस्था पर प्रकाश डालेंगे।

सात केन्द्र-शासित क्षेत्र—इस समय भारतीय संघ में कुल 7 केन्द्र-शासित क्षेत्र हैं। ये क्षेत्र इस प्रकार हैं—

क्षेत्र का नाम	राजधानी	क्षेत्रफल (वर्ग किलोमीटर में)
1. दिल्ली	दिल्ली	1,485
2. दमण और ड्यू	पंजिम	3,813
3. पाण्डिचेरी	पाण्डिचेरी	480
4. अण्डमान और निकोबार द्वीप	पोर्ट ब्लेयर	8,293
5. लक्षद्वीप, मिनिकोय और अमीनीदीव	कोनीकोडे	32
6. चण्डीगढ़	चण्डीगढ़	114
7. दादर और नगरहवेली	सिलवासा	491

केन्द्र-शासित क्षेत्रों के प्रशासन की संवैधानिक व्यवस्था—केन्द्र-शासित क्षेत्रों की प्रशासन-व्यवस्था का प्रसंग संविधान के 329वें अनुच्छेद में आता है। इस अनुच्छेद में कहा गया है कि जब तक संसद केन्द्र-शासित क्षेत्रों के प्रशासन के लिए कोई पृथक् कानून नहीं बनाती, तब तक केन्द्र-शासित क्षेत्रों का प्रशासन राष्ट्रपति के हाथों में रहेगा। राष्ट्रपति अपने इस अधिकार के प्रयोग के लिए प्रशासक नियुक्त कर सकता है। इस प्रशासक के पद का नाम क्या होगा, इसका निर्धारण भी राष्ट्रपति करेगा। यदि राष्ट्रपति चाहे तो वह किसी केन्द्र-शासित क्षेत्र का प्रशासन उस क्षेत्र के समीपस्थ राज्यपाल को सौंप सकता है। संसद कानून बनाकर किसी भी केन्द्र-शासित क्षेत्र के शासन की रूपरेखा निर्धारित कर सकती है।

केन्द्र-शासित क्षेत्रों का वर्गीकरण

शासन के स्वरूप की दृष्टि से केन्द्र-शासित क्षेत्रों को हम दो वर्गों में रख सकते हैं—

1. वे क्षेत्र जहाँ प्रतिनिधिमूलक संस्थाएँ हैं।
2. वे क्षेत्र जहाँ प्रतिनिधिमूलक संस्थाएँ नहीं हैं।
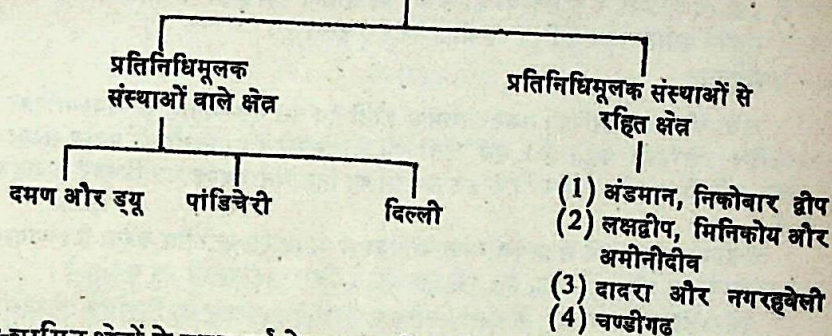
केन्द्र-शासित क्षेत्रों के प्रथम वर्ग के शासन की रूपरेखा

इन केन्द्र-शासित क्षेत्रों में से दो में विधानसभा और मंत्रिमंडल हैं, किन्तु दिल्ली के लिए 'मेट्रोपालिटन काउंसिल' का प्रावधान है।

इन केन्द्र-शासित क्षेत्र की प्रतिनिधि संस्थाओं, यथा विधानसभा तथा 'मेट्रोपालिटन काउंसिल' की सदस्या-संख्या इस प्रकार है—

क्षेत्र का नाम	सदस्य-संख्या	क्षेत्र का प्रधान
1. दमण-ड्यू	30	लेफ्टीनेण्ट गवर्नर
2. पांडिचेरी	30	"
3. दिल्ली	61 (मेट्रोपालिटन काउंसिल)	"

इस प्रकार सात केन्द्र-शासित क्षेत्रों में से दो क्षेत्रों में विधानसभाएँ हैं तथा दिल्ली में विधानसभा के स्थान पर 'मेट्रोपालिटन काउंसिल' है। दिल्ली की शासन-व्यवस्था पर हम अलग से विचार करेंगे। जहाँ तक दो केन्द्र-शासित क्षेत्रों, यथा दमण और ड्यू तथा पांडिचेरी का प्रश्न है, इन दोनों केन्द्र-शासित क्षेत्रों का शासन मिलता-जुलता है।

दो केन्द्र-शासित क्षेत्रों के शासन की रूपरेखा
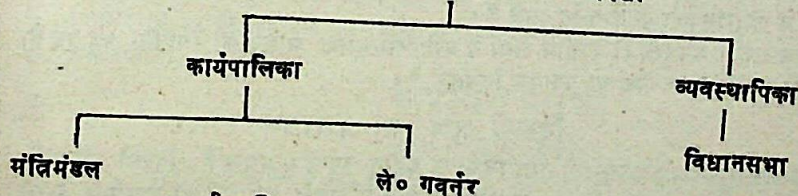
कार्यपालिका : लेफ्टीनेण्ट गवर्नर : मंत्रिमण्डल

इस प्रकार इन केन्द्र-शासित क्षेत्रों की कार्यपालिका का प्रधान लेफ्टीनेंट गवर्नर या उप-राज्यपाल होता है। इस उपराज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा पाँच वर्ष के लिए होती है। वह क्षेत्र में राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है। फलतः वह राज्य-शासन का केवल वैधानिक प्रधान ही नहीं होता है, वरन् वास्तविक शक्तियों का उपभोग भी करता है। उसके परामर्श के लिए क्षेत्र में एक मंत्रिमंडल होता है। यह मंत्रिमंडल अपने क्षेत्र की विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होता है। मंत्रिमंडल में एक मुख्यमन्त्री और उसकी सहायता के लिए अन्य मन्त्री

होते हैं। इनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। क्योंकि विधानसभा की सदस्य-संख्या कम होती है, इसलिए मंत्रिमंडल के सदस्यों की संख्या भी अधिक नहीं होती। क्षेत्र में एक सचिवालय होता है जिसका प्रधान प्रमुख सचिव या चीफ सेक्रेटरी होता है।

व्यवस्थापिका

क्षेत्र की व्यवस्थापिका एकसदनात्मक होती है। इस एकसदनात्मक व्यवस्थापिका को लेजिस्लेटिव एसेम्बली कहते हैं। इन क्षेत्रों की लेजिस्लेटिव एसेम्बली की सदस्य-संख्या 30 से अधिक नहीं हो सकती। एसेम्बली के इन सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के अनुसार होता है।

केन्द्रीय शासन इसमें से प्रत्येक व्यवस्थापिका में दो सदस्य मनोनीत करता है। व्यवस्थापिका का कार्यकाल पाँच वर्ष होता है। इसे एक वर्ष के लिए बढ़ाया भी जा सकता है।

एसेम्बली की अध्यक्षता के लिए स्पीकर होता है। स्पीकर का निर्वाचन एसेम्बली के सदस्यों द्वारा किया जाता है। स्पीकर की अनुपस्थिति में उसका कार्य डिप्टी स्पीकर द्वारा किया जाता है। प्रशासन में योग देने के लिए एसेम्बली कुछ समितियों का भी गठन करती है।

व्यवस्थापिका को अपने क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले विषयों के सम्बन्ध में विधि-निर्माण का अधिकार होता है। किन्तु कुछ ऐसे विषय हैं जिन पर विधेयक प्रस्तुत करने के लिए उप-राज्यपाल की पूर्वस्वीकृति लेना आवश्यक होता है।

विधानसभा द्वारा जब कोई विधेयक पारित हो जाता है तो उसे उपराज्यपाल के पास भेजा जाता है। उपराज्यपाल उसे राष्ट्रपति की अनुमति के लिए रख लेता है। उपराष्ट्रपति विधेयक पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर सकता है अथवा उसे पुनर्विचार के लिए वापस भेज देता है।

क्षेत्रों में न्याय का प्रबन्ध

संविधान के 241 (i) अनुच्छेद के अनुसार संसद को केन्द्रीय क्षेत्र के लिए उच्च न्यायालय गठित करने का अधिकार दिया गया है। इसके अनुसार संसद एक या एक से अधिक केन्द्र-शासित क्षेत्रों के लिए एक ही उच्च न्यायालय की व्यवस्था कर सकती है। इस अधिकार के अनुसार दिल्ली के लिए पृथक् उच्च न्यायालय की व्यवस्था की गई है। गोवा, दमण, दीव में ज्यूडीशियल कमिश्नर के न्यायालय को ही उच्च न्यायालय में परिणत कर दिया गया है। पाण्डिचेरी मद्रास उच्च न्यायालय के अन्तर्गत आता है। मिजोरम तथा अरुणांचल गोहाटी उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त दो केन्द्रीय क्षेत्रों में प्रतिनिधिमूलक शासन की स्थापना की गई है, किन्तु इनके कार्यक्षेत्र पर केन्द्र का व्यापक नियंत्रण है।

दिल्ली क्षेत्र का प्रशासन

दिल्ली भारत की राजधानी तथा विश्व के महान् नगरों में प्रमुख है। दिल्ली की ऐतिहासिक परम्परा तथा उसकी वर्तमान स्थिति के प्रकाश में उसके प्रशासन को रूपायित करने का प्रयास किया गया है। दिल्ली को एक नवम्बर, 1956 ई० को केन्द्र-शासित क्षेत्र बनाया गया। उसकी विशिष्ट स्थिति को देखते हुए संसद ने सन् 1966 ई० में दिल्ली प्रशासन-अधिनियम (Delhi Administration Act, 1966) का निर्माण किया। दिल्ली का वर्तमान प्रशासन इसी अधिनियम पर आधारित है।

दिल्ली क्षेत्र के प्रशासन की रूपरेखा पर यदि हम दृष्टि डालें तो देखेंगे कि उसके शासन के प्रमुख अंग इस प्रकार हैं—
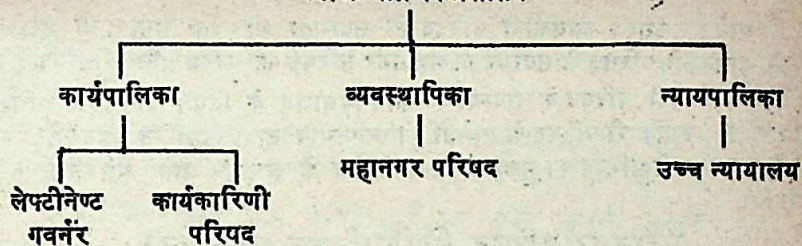
लेफ्टीनेण्ट गवर्नर या उपराज्यपाल

दिल्ली कार्यपालिका का प्रधान लेफ्टीनेण्ट गवर्नर या उपराज्यपाल होता है। उपराज्यपाल की नियुक्ति पाँच वर्ष के लिए राष्ट्रपति द्वारा होती है।

उपराज्यपाल क्षेत्र के शासन का प्रधान माना जाता है। उपराज्यपाल के कार्य और अधिकारों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

क्षेत्र का प्रधान होने के नाते उसे महानगर परिषद के अधिवेशन बुलाने, स्थगित करने, बैठक में भाग लेने, भाषण देने आदि का अधिकार है। शासन में उपराज्यपाल की सहायता और सलाह देने के लिए एक कार्यकारिणी परिषद होती है।

कार्यकारिणी परिषद् क्षेत्र के सामान्य प्रशासन की देखभाल करती है, किन्तु कुछ ऐसे विषय हैं जो सुरक्षित हैं और उनके शासन के सम्बन्ध में उपराज्यपाल को पूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। इन विषयों के शासन में उपराज्यपाल अपने विवेक से कार्य करता है। क्षेत्र की लोकसेवाएँ, गृह की शान्ति-व्यवस्था, दिल्ली पोलिस का संगठन आदि विषय इसी प्रकार के हैं। नई दिल्ली के सुप्रशासन के लिए भी उपराज्यपाल को विशेष अधिकार दिए गये हैं। कार्यकारिणी परिषद द्वारा नई दिल्ली के सम्बन्ध में किए गए किसी भी निर्णय पर उपराज्यपाल की सहमति होनी आवश्यक है। यदि परिषद तथा उपराज्यपाल के मध्य नई दिल्ली सम्बन्धी निर्णय पर मतभेद होता है तो उस विषय पर उपराज्यपाल का निर्णय अन्तिम माना जायगा।

कार्यपालिका-सम्बन्धी सभी निर्णय, चाहे वे उपराज्यपाल के स्वयं के विवेक की शक्तियों से सम्बन्धित हों अथवा अन्य विषयों से, उपराज्यपाल के नाम से प्रसारित किए जाते हैं।

उपराज्यपाल अपने कार्यों के लिए राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होता है। केन्द्रीय सरकार का गृह-विभाग उसे अपने अधिकारों के उचित प्रयोग के विषय में आवश्यक निर्देश दे सकता है।

कार्यकारी परिषद
(Executive Council)

उपराज्यपाल को शासन में सलाह और सहायता देने के लिए एक कार्यकारिणी परिषद है। कार्यकारिणी परिषद के सदस्यों की संख्या चार से अधिक नहीं हो सकती। इन चार सदस्यों में से एक मुख्य कार्यकारी पार्षद (Chief Executive Councillor) होता है तथा शेष कार्यकारी पार्षद (Executive Councillor) होते हैं। कायकारी परिषद के सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। वैधानिक दृष्टि से यह आवश्यक नहीं है कि ये सदस्य महापरिषद के बहुजन दल के सदस्य हों, किन्तु व्यवहार में बहुमत दल के सदस्य ही कार्यकारी परिषद के सदस्य नियुक्त किए जाते हैं। यदि कोई सदस्य महानगर परिषद की सदस्यता से किसी कारण से वंचित हो जाता है और लगातार छंह महीने तक उसका सदस्य नहीं रहता तो छह मास

व्यतीत हो जाने पर उसकी कार्यकारी परिषद की सदस्यता भी स्वतः समाप्त हो जाती है। इस प्रकार कार्यकारी परिषद के सदस्यों को महानगर परिषद का सदस्य होना आवश्यक है।

इन कार्यकारी परिषद के सदस्यों के कार्य-विभाजन के नियम बनाने का अधिकार राष्ट्रपति को है। कार्यकारी परिषद के सदस्यों को राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित वेतन और भत्ता मिलता है। कार्यकारी परिषद का मुख्य कार्य अपने क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले प्रशासन की व्यवस्था है।

महानगर परिषद (मेट्रोपालिटन काउंसिल)

दिल्ली क्षेत्र की व्यवस्थापिका को 'मेट्रोपालिटन काउंसिल' (Metropolitan Council) कहते हैं। वर्तमान समय में इसके कुल सदस्यों की संख्या 61 है। इसमें से 5 सदस्य उपराज्यपाल द्वारा नियुक्त किए जाते हैं और शेष सदस्य दिल्ली के नागरिकों द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित किए जाते हैं।

महानगर परिषद का कार्यकाल पाँच वर्ष होता है। परिषद का एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष होता है। इनका निर्वाचन परिषद के सदस्यों द्वारा होता है। इन्हें बहुमत से अपने पद से हटाया जा सकता है।

महानगर परिषद के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं—

1. राज्य-सूची तथा समवर्ती सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर विचार करना।
2. उपराज्यपाल द्वारा प्रेषित राज्य-सूची तथा समवर्ती सूची पर बने कानून को दिल्ली में लागू करने के प्रस्ताव पर विचार करना।
3. दिल्ली से सम्बन्धित बजट पर विचार करना।
4. अन्य कोई विषय जो उपराज्यपाल द्वारा विचारार्थ रखा जाय।

प्रतिनिधिमूलक शासनरहित क्षेत्र

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि संघीय क्षेत्रों या केन्द्र-शासित क्षेत्रों में से चार ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें प्रतिनिधिमूलक संस्थाएँ नहीं हैं। ये चार क्षेत्र हैं: (1) चण्डीगढ़, (2) अण्डमान-निकोबार द्वीपसमूह, (3) लक्षद्वीप, मिनीकोय और अमीनीदीव तथा (4) दादर और नगर-हवेली।

यहाँ हम इन संघीय क्षेत्रों की शासन की संक्षिप्त रूपरेखा पर एक दृष्टि डालेंगे—

1. चण्डीगढ़—चण्डीगढ़ क्षेत्र का उदय पंजाब के विभाजन के फलस्वरूप हुआ। यह भी दिल्ली की भाँति एक प्रकार का 'नगर-राज्य' है। किन्तु इसका शासन दिल्ली से सर्वथा भिन है। यहाँ प्रतिनिधिमूलक संस्थाएँ नहीं हैं। चण्डीचढ़ के शासन का सर्वेसर्वा एक चीफ कमिश्नर होता है। चीफ कमिश्नर की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है।

2. अण्डमान-निकोबार द्वीपसमूह—अण्डमान निकोबार द्वीप-समूह को केन्द-शासित क्षेत्र 1 नवम्बर, 1956 ई० में बनाया गया। इस क्षेत्र का प्रवन्ध भी एक 'चीफ कमिश्नर' द्वारा होता है जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। शासन की दृष्टि से सारे क्षेत्र को चार प्रमुख खंडों में विभक्त कर दिया गया है। प्रत्येक खंड के मुख्य अधिकारी होते हैं। ये अधिकारी चीफ कमिश्नर के अधीन कार्य करते हैं।

3. लक्षद्वीप, मिनीकोय और अमीनीदीव—ये द्वीपसमूह पहले मद्रास राज्य के अन्तर्गत थे, किन्तु राज्यों के पुनर्गठन के उपरान्त 1 नवम्बर, 1956 ई० को इन्हें एक पृथक् केन्द्र-शासित क्षेत्र बना दिया गया। इसका प्रशासन एक प्रशासक (ऐडमिनिस्ट्रेटर) द्वारा होता है। विकास-कार्यों के लिए एक पृथक् अधिकारी होता है। प्रशासन की सुविधा की दृष्टि से सारे क्षेत्र को

चार खण्डों में विभक्त कर दिया गया है। यह क्षेत्र न्याय की दृष्टि से केरल उच्च न्यायालय के अन्तर्गत आता है।

4. दादर और नगरहवेली—यह 72 ग्रामों से बना हुआ क्षेत्र है। सिलवासा इस क्षेत्र की राजधानी है। इस संघीय क्षेत्र का प्रशासन भी एक प्रशासक द्वारा होता है।

लघु तथा अति लघु उत्तरीय प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—किसी केन्द्र-शासित क्षेत्र का शासन कैसे होता है?

उत्तर—केन्द्र-शासित क्षेत्र की कार्यपालिका का प्रधान लेफ्टीनेण्ट गवर्नर होता है। इस लेफ्टीनेण्ट गवर्नर की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। वह केन्द्र-शासित क्षेत्र की वास्तविक शक्ति का उपभोग करता है।

अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—वर्तमान समय में कुल कितने केन्द्र-शासित क्षेत्र हैं?

उत्तर—सात।

प्रश्न 2—उन दो केन्द्र-शासित क्षेत्रों का नाम बताइए जहाँ पर कि प्रतिनिधिमूलक संस्थाएँ हैं?

उत्तर—पांडिचेरी और दिल्ली।

प्रश्न 3—उन चार केन्द्र-शासित क्षेत्रों का नाम बताइए जहाँ प्रतिनिधिमूलक संस्थाएँ नहीं हैं।

उत्तर—चण्डीगढ़, अण्डमान, निकोबार द्वीपसमूह, लक्षद्वीप, मिनिकोय एवं अमीनीदीव तथा दादर एवं नगर हवेली।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. केन्द्र-शासित क्षेत्रों को प्रशासन की दृष्टि से कितने वर्गों में रखा जा सकता है? उनके शासन के विषय में आप क्या जानते हैं?

2. उन केन्द्र-शासिन क्षेत्रों के प्रशासन पर प्रकाश डालिए जहाँ कि प्रतिनिधिमूलक संस्थाएँ हैं।

3. दिल्ली क्षेत्र के प्रशासन का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

4. उन केन्द्र-शासित क्षेत्रों के प्रशासन का संक्षिप्त परिचय दीजिए जहाँ कि प्रतिनिधि-मूलक संस्थाएँ नहीं हैं।

5. निम्नलिखित क्षेत्रों के शासन पर टिप्पणियाँ लिखिए—
1. लक्षद्वीव, मिनीकोय और अमीनीदीव
2. चण्डीगढ़।

लघु प्रश्न

1. दिल्ली क्षेत्र के प्रशासन पर दस वाक्य लिखिए।
2. दिल्ली की महानगर परिषद पर प्रकाश डालिए।

अति लघु प्रश्न

1. केन्द्र-शासित क्षेत्र की कुल संख्या बताइए।
2. दो केन्द्र-प्रशासित क्षेत्रों का नाम बताइए।
3. उन दो केन्द्र-शासित क्षेत्रों का नाम बताइए जहाँ प्रतिनिधि सभाएँ हैं।

"राज्य की मंत्रिपरिषद राज्य की शासन-व्यवस्था की वह धुरी है जिसके चारों ओर राज्य का शासन-चक्र आवृत्तियाँ लेता है।"

अध्याय 17

राज्य की मंत्रीपरिषद

● मन्त्रिपरिषद की रचना, संगठन ● मन्त्रिपरिषद की शक्तियाँ और कार्य ● मुख्य मंत्री ● मुख्य मंत्री और विधानसभा का सम्बन्ध

आमुख

मंत्रिपरिषद राज्य की वास्तविक कार्यपालिका है। वही राज्य-शासन की वह धुरी है जिसके चारों ओर राज्य का शासन-संयंत्र आवृत्तियाँ लेता है। यही राज्य-शासन का प्रमुख यान है, यही वह आधारशिला है जिस पर कि राज्य-शासन की समस्त व्यवस्था आधारित रहती है। जो स्थान केन्द में केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद का है, राज्य में वही स्थान राज्य की मंत्रिपरिषद का है। अतएव राज्य की शासन-व्यवस्था के सम्यक् ज्ञान के लिए राज्य की मंत्रिपरिषद की रचना, संगठन और शक्ति पर एक दृष्टि डालनी आवश्यक है।

राज्य की मंत्रिपरिषद की रचना, संगठन

संविधान के अनुच्छेद 163 में राज्य की मंत्रिपरिषद का प्रावधान किया गया है। इस अनुच्छेद के अनुसार, "उन बातों को छोड़कर, जिनमें राज्यपाल अपने विवेक से कार्य करता है, अन्य कार्यों के निर्वहन में उसे सहायता देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद होगी।"

राज्य की मन्त्रिपरिषद का प्रधान मुख्य मन्त्री होता है। मुख्य-मन्त्री की नियुक्ति राज्य का राज्यपाल करता है। मुख्य मन्त्री की सलाह से राज्यपाल अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करता है।

राज्यपाल उसी व्यक्ति को मुख्य मन्त्री नियुक्त करता है जिसका विधानसभा में बहुमत होता है। जब कभी विधानसभा में किसी दल का स्पष्ट बहुमत नहीं होता, तो वह कई दलों के संयुक्त संगठन के नेता को मुख्य मन्त्री पद पर नियुक्त करता है।[1]

मन्त्रिपरिषद के सदस्यों की संख्या कितनी होगी, इस विषय में संविधान में किसी निश्चित संख्या का उल्लेख नहीं है। मन्त्रिपरिषद की संख्या का निर्धारण सामान्यतया राज्य की स्थिति और आवश्यकता पर निर्भर करता है। साधारणतया बड़ी जनसंख्या वाले राज्यों में बड़ी मन्त्रिपरिषद और छोटी जनसंख्या वाले राज्यों में छोटी मन्त्रिपरिषद होती है। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश जैसे बड़े राज्य में मन्त्रिपरिषद के सदस्यों की संख्या 40-50 होती है। एक मन्त्रिपरिषद में कितने सदस्य होंगे, इसके निर्णय का पूर्ण अधिकार मुख्य मन्त्री को होता है।

मंत्रियों की योग्यता—मन्त्रिपरिषद की सदस्यता के लिए यह आवश्यक है कि वह विधान-मण्डल के किसी सदन का सदस्य हो। यदि नियुक्ति के समय कोई मन्त्री विधान-मण्डल का सदस्य नहीं होता, तो उसे नियुक्ति की तिथि से छह महीने के भीतर विधान-मण्डल के किसी

---

1. यदि विधानसभा के सदस्यगण किसी व्यक्ति को अपना नेता चुनने में सफल नहीं हो पाते और राज्यपाल को यह निर्णय लेना कठिन हो जाता है कि विधानसभा में किसे अधिकांश सदस्यों का समर्थन प्राप्त है तो उस दशा में वह राज्यपाल राज्य में वैधानिक तंत्र की असफलता की घोषणा कर राष्ट्रपति शासन की सिफारिश कर सकता है।

एक सदन का सदस्य निर्वाचित हो जाना आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं होता तो उसे मन्त्रि-पद से त्यागपत्र देना आवश्यक होगा।

मंत्रियों की श्रेणियाँ--संविधान में मन्त्रिपरिषद के विभिन्न मंत्रियों के वर्गीकरण का कोई प्रावधान नहीं है, किन्तु वर्तमान समय में राज्य-मंत्रिपरिषद में मन्त्रियों की तीन श्रेणियाँ होती हैं : (1) कैबिनेट मन्त्री या मन्त्रि-मण्डल के सदस्य (Cabinet Minister), (2) राज्य मन्त्री (State Minister), (3) उपमंत्री (Deputy Minister)। इसके अतिरिक्त संसदीय सचिव (Parliamentary Secretaries) होते हैं।

मन्त्रियों की इन श्रेणियों में मन्त्रि-मण्डल या कैबिनेट स्तर के मन्त्रियों का स्थान सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। मन्त्रि-मण्डल (Cabinet) के मन्त्री ही शासन के नीति-निर्धारण में योग देते हैं। मन्त्रिपरिषद के अन्य मन्त्रियों को मन्त्रि-मण्डल की बैठकों में भाग लेने का अधिकार नहीं होता। कैबिनेट स्तर के मन्त्री एक या अधिक प्रशासकीय विभागों के प्रधान होते हैं।

मंत्रियों का कार्य-विभाजन--मन्त्रियों में कार्य-विभाजन या विभागों का वितरण मुख्य मंत्री करता है। मुख्य मंत्री एक या एक से अधिक महत्वपूर्ण विभागों को अपने हाथों में रखता है। प्रत्येक विभाग एक मंत्री के अधीन होता है। उसकी सहायता के लिए राज्यमन्त्री और उप-मन्त्री तथा संसदीय सचिव होते हैं।

संविधान के अनुसार मध्य प्रदेश, बिहार तथा उड़ीसा राज्यों की मन्त्रिपरिषद में वहाँ की आदिम जातियों, अनुसूचित जातियों तथा पिछड़े वर्ग के लोगों के कल्याण के लिए एक-एक विशेष मन्त्री होता है।

मंत्रियों का वेतन और भत्ता—मन्त्रियों को कितना वेतन और भत्ता मिलेगा, इसका निश्चय राज्य का विधान-मण्डल करता है। विभिन्न राज्यों में मन्त्रियों का वेतन भिन्न-भिन्न होता है। साधारणतया यह वेतन 1000 रु० से लेकर 1,500 रु० तक होता है। इसके अतिरिक्त उन्हें निःशुल्क निवास-स्थान, टेलीफोन, वाहन तथा अन्य अनेक प्रकार की सुविधाएँ मिलती हैं।

मंत्रियों की शपथ—मन्त्रिपरिषद का प्रत्येक सदस्य अपना पद ग्रहण करते समय दो प्रकार की शपथ लेता है। पहली शपथ के अनुसार वह भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा तथा निष्ठा रखते हुए भय, पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना कर्तव्य-पालन का वचन देता है। दूसरी शपथ गोपनीयता की शपथ होती है। उस शपथ के अनुसार वह मंत्रिपरिषद की नीति और कार्यों की गोपनीय जानकारी को किसी के सामने व्यक्त न करने की शपथ लेता है। मंत्रिगण ये दोनों शपथें राज्य के राज्यपाल के सामने ग्रहण करते हैं।

मन्त्रिपरिषद का कार्यकाल—संविधान के अनुसार मन्त्रिपरिषद के सदस्य राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त (जब तक राज्यपाल चाहे) अपने पद पर बने रह सकते हैं। किन्तु व्यवहार में उनका कार्यकाल विधानसभा के कार्यकाल के अनुसार पाँच वर्ष होता है। यदि इस अवधि के पूर्व मंत्रिपरिषद के विरुद्ध विधानसभा में अविश्वास का प्रस्ताव पास हो जाता है तो मंत्रि-परिषद उसके पूर्व भी अपदस्थ हो सकती है।

मन्त्रिपरिषद का सामूहिक उत्तरदायित्व—मन्त्रिपरिषद का सामूहिक उत्तरदायित्व संसदात्मक व्यवस्था का एक अपरिहार्य लक्षण माना जाता है। मन्त्रिपरिषद के सामूहिक उत्तर-दायित्व का अर्थ यह है कि मन्त्रिपरिषद के सदस्य सामूहिक रूप से विधानसभा के प्रति उत्तर-दायी होते हैं। यदि विधानसभा मन्त्रिपरिषद के किसी एक सदस्य को किसी कार्य के लिए दोषी पाती है तो उस आधार पर सारी मन्त्रिपरिषद दोषी मानी जाती है। इसी प्रकार यदि विधानसभा किसी एक मन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर देती है तो यह अविश्वास का प्रस्ताव सारे मन्त्रिपरिषद के विरुद्ध माना जाता है। ऐसी स्थिति में मन्त्रिपरिषद के समस्त

मंत्रियों को त्यागपत्र देना होता है। इस प्रकार मंत्रिपरिषद एक इकाई के रूप में कार्य करती है। इसीलिए मंत्रिपरिषद के सदस्यों के विषय में कहा जाता है कि वे एकसाथ तैरते हैं और एकसाथ डूबते हैं—They swim and sink together.

मंत्रिपरिषद की कार्यवाही—मंत्रिपरिषद की बैठक प्रायः सप्ताह में एक बार होती है। पर इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सामन्यतया मंत्रिपरिषद की बैठक में कैबिनेट स्तर के मंत्री ही सम्मिलित होते हैं। फलतः ये बैठकें एक प्रकार से समस्त मंत्रिपरिषद की बैठक न होकर केवल मंत्रिपरिषद की अन्तरंग समिति अर्थात् मंत्रिमण्डल (कैबिनेट) की बैठक होती हैं।

मंत्रिपरिषद या मंत्रिमण्डल की बैठक की अध्यक्षता मुख्य मंत्री की अनुपस्थिति में मंत्रि-परिषद का कोई वरिष्ठ सदस्य करता है। बैठक में शासन और राज्य की प्रमुख समस्याओं पर विचार किया जाता है तथा महत्वपूर्ण निर्णय लिये जाते हैं। मंत्रिपरिषद द्वारा लिया गया निर्णय समस्त मंत्रिपरिषद का निर्णय माना जाता है। यदि कोई मंत्री इस निर्णय से असहमत होता है तो उसे अपने पद से त्यागपत्र देना होता है।

मंत्रिपरिषद का सचिवालय—मंत्रिपरिषद का प्रधान केन्द्र सचिवालय (Secretariat) या मुख्यालय होता है। यह सचिवालय राज्य की राजधानी में होता है। इस सचिवालय का प्रधान अधिकारी मुख्य सचिव (Chief Secretary) होता है। सचिवालय में अनेक विभाग होते हैं। प्रत्येक विभाग का प्रधान एक सचिव (Secretary) होता है। उत्तर प्रदेश में प्रत्येक विभाग का प्रधान सचिव 'सचिव तथा आयुक्त' (Secrerary-cum Commisioner) कहलाता है। सचिव की सहायता के लिए संयुक्त सचिव, उपसचिव इत्यादि अनेक अधिकारी होते हैं। इनके नीचे छोटे अधिकारी तथा कर्मचारी होते हैं। प्रत्येक सचिव और उसके अधीनस्थ अधिकारी और कर्मचारी अपने विभाग के मंत्री की अधीनता में कार्य करते हैं।

मंत्रि-परिषद की शक्तियाँ, अधिकार और कार्य

मंत्रिपरिषद राज्य की वास्तविक कार्यपालिका है। एक वास्तविक कार्यपालिका के नाते उसे अनेक शक्तियाँ प्राप्त हैं, उसके अनेक अधिकार हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से मंत्रिपरिषद की शक्तियों और कार्यों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. शासन की नीति का निर्धारण—मंत्रिपरिषद का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य शासन की नीति का निर्धारण है। इस दृष्टि से मन्त्रिपरिषद राज्य-शासन की समस्त नीति का निर्धारण करती है। दूसरे शब्दों में वह यह निश्चय करती है कि राज्य-शासन किस नीति का अनुगमन करे, राज्य की समस्याओं के समाधान के लिए कौन से कदम उठाये, कौन से कार्य करे, आदि।

2. राज्य-शासन की योजनाओं का निर्माण और क्रियान्वयन—मन्त्रिपरिषद का अन्य महत्वपूर्ण कार्य राज्य-शासन-सम्बन्धी योजनाओं का निर्माण तथा उनका कार्यान्वयन है। इस प्रकार मन्त्रिपरिषद राज्य की शासन-सम्बन्धी विविध समस्याओं के समाधान के लिए योजनाएँ बनाती तथा योजनाओं को व्यावहारिक रूप देने के लिए कदम उठाती है।

3. राज्य-शासन का संचालन—राज्य की कार्यपालिकीय शक्ति के समस्त सूत्र मन्त्रिपरिषद के हाथों में निहित होते हैं। अतएव राज्य के सामान्य शासन-सम्बन्धी समस्त कार्य मन्त्रिपरिषद द्वारा संचालित होते हैं। शासन-संचालन के लिए मन्त्रिपरिषद विभिन्न मन्त्रालयों में विभक्त होती है। प्रत्येक मन्त्रालय किसी मंत्री के अधीन होता है। मंत्री अपने अधीनस्थ अधिकारियों और कर्मचारियों की सहायता से अपने मन्त्रालय का प्रशासन करता है। इस प्रकार राज्य के क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले शासन के समस्त पक्षों का संचालन और व्यवस्था का कार्य मन्त्रिपरिषद करती है।

4. राज्य-शासन के उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति—मंत्रिपरिषद राज्य-शासन के अनेक महत्वपूर्ण अधिकारियों की नियुक्ति में योग देती है। राज्य का महाधिवक्ता, लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्य तथा इसी प्रकार के अन्य उच्च पदाधिकारियों की नियुक्ति राज्य का राज्यपाल मंत्रिपरिषद के परामर्श से करता है।

5. विधान-मण्डल में शासन का प्रतिनिधित्व—मंत्रि-परिषद के सदस्य विधान-मण्डल के भी सदस्य होते हैं। वे विधान-मण्डल में उपस्थित होते हैं। विधान-मण्डल के सदस्यों को वे शासन की नीति, शासन के कार्यक्रम तथा शासन की योजनाओं से अवगत कराते हैं। इसके साथ ही विधान मण्डल के सदस्यों द्वारा पूछे गये प्रश्नों इत्यादि का उत्तर देते हैं।

6. विधि-निर्माण—विधि-निर्माण का प्रमुख कार्य विधान-मण्डल या व्यवस्थापिका का है। किन्तु व्यवस्थापिका में प्रस्तुत होने वाले अधिकांश विधेयक सरकारी विधेयक होते हैं। ये सरकारी विधेयक मंत्रिपरिषद द्वारा ही प्रस्तुत किये जाते हैं। मंत्रिपरिषद ही यह निश्चित करती है कि किस विषय पर कौन-सा विधेयक प्रस्तुत किया जाय, किस अधिनियम में संशोधन किया जाय तथा किस अधिनियम को निरस्त किया जाय।

7. बजट तैयार करना—मन्त्रिपरिषद राज्य के आय-व्यय का वार्षिक ब्योरा (बजट) तैयार करती है। इस ब्योरे में वह यह निर्धारित करती है कि किस वस्तु पर कितना कर लगेगा, किस स्रोत से कितनी आय होगी और किस मद पर कितना व्यय किया जायगा। बजट तैयार करने के उपरान्त मन्त्रि-परिषद उसे राज्य के विधान-मंडल के समक्ष प्रस्तुत करती है। राज्य के विधान-मंडल की स्वीकृति के उपरांत वह पारित किया जाता है।

इस प्रकार मन्त्रिपरिषद राज्य की शासन-व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

मुख्यमन्त्री
(The Chief Minister)

राज्य की मन्त्रिपरिषद के सर्वप्रमुख और सर्वश्रेष्ठ पदाधिकारी को मुख्यमंत्री कहते हैं। यदि मन्त्रिपरिषद राज्य-शासन को संचालित करने वाली नौका है तो मुख्य मन्त्री उस नौका को चलाने वाला प्रमुख चालक है। मुख्यमन्त्री ही वस्तुतः मंत्रिपरिषद का स्रष्टा, संयोजक और संचालक होता है। उसे यदि राज्य-शासन की सर्वेसर्वा अथवा मंत्रिपरिषद का आदि और अन्त कहा जाय तो असंगत न होगा। अतएव राज्य की मंत्रिपरिषद के सम्यक् परिचय के लिए मुख्य मंत्री के पद और स्थिति पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।

मुख्यमन्त्री की नियुक्ति—संविधान के अनुच्छेद 164 (1) के अनुसार मुख्य मन्त्री की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा होगी। संसदात्मक प्रणाली के अनुसार राज्यपाल उसी व्यक्ति को मुख्यमन्त्री के पद पर नियुक्त करता है जिसे विधानसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त होता है।

इस प्रकार मुख्य मंत्री पद पर नियुक्ति के लिए यह आवश्यक है कि उसे विधानसभा के बहुमत का अथवा अधिकांश सदस्यों का समर्थन प्राप्त हो। इस कारण मुख्य मंत्री सामान्यतया विधानसभा के बहुमत दल का नेता होता है। पर कभी-कभी ऐसी भी स्थिति आ जाती है जबकि विधानसभा में किसी दल का स्पष्ट बहुमत नहीं होता। ऐसी स्थिति में कई दल मिलकर अपना नेता चुनते हैं। राज्यपाल इस प्रकार संयुक्त दल या संयुक्त विधायक दल के नेता को मुख्य मन्त्री पद पर नियुक्त करता है।

कभी-कभी ऐसी स्थिति आ जाती है जबकि विधान-सभा में किसी दल का बहुमत निश्चित नहीं हो पाता है। राज्यपाल ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति को उस राज्य में संवैधानिक

संकट उत्पन्न होने की सूचना देता है। राष्ट्रपति उस राज्य में संवैधानिक संकट की घोषणा कर राज्य का शासन अपने हाथ में ले लेता है। राज्य की विधान-सभा भंग कर दी जाती है और विधान-सभा के लिए नए निर्वाचन का आदेश दे दिया जाता है।

मुख्यमंत्री के लिए यह आवश्यक है कि वह विधान-मंडल का सदस्य हो। यदि कोई व्यक्ति विधान-सभा का सदस्य नहीं होता और मुख्यमंत्री नियुक्त कर दिया जाता है तो उसे छह महीने के अन्दर विधान-मंडल का सदस्य हो जाना आवश्यक होगा। यदि ऐसा नहीं होता तो मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त व्यक्ति का अपने पद से हटना आवश्यक हो जायगा।

राज्यों के राजनैतिक इतिहास में उन दृष्टांतों की कमी नहीं है जबकि ऐसे व्यक्तियों को मुख्यमंत्री नियुक्त किया गया जो कि विधान-सभा के सदस्य नहीं थे। बाद में वे विधानसभा के सदस्य चुने गए। उदाहरण के लिए, उत्तर-प्रदेश में श्री रामनरेश यादव (1977 ई०) तथा श्री विश्वनाथप्रताप सिंह (1980 ई०) जब मुख्यमंत्री नियुक्त हुए, तब वे विधान-सभा के सदस्य नहीं थे। बाद में उन्होंने विधान-सभा की सदस्यता प्राप्त की।[1]

इस प्रकार मुख्यमंत्री पद के लिए नियुक्त व्यक्ति को विधान-मंडल का सदस्य होना आवश्यक है।

मुख्यमन्त्री की शक्तियाँ, अधिकार व कार्य

मुख्यमन्त्री की शक्तियों, अधिकार व कार्यों को संक्षेप में हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं--

1. **मन्त्रिपरिषद का निर्माण**--मुख्यमंत्री का सर्वप्रथम कर्तव्य मंत्रिपरिषद का निर्माण होता है। मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त होने के उपरांत मुख्यमन्त्री अपनी मंत्रिपरिषद का गठन करता है। मंत्रिपरिषद के गठन के लिए मुख्यमन्त्री जो नाम राज्यपाल के पास भेजता है, उन्हीं नामों के अनुसार राज्यपाल मन्त्रियों की नियुक्ति करता है। अपनी मन्त्रिपरिषद के सदस्यों के चयन में मुख्यमंत्री उन सदस्यों की दल में स्थिति, उनके प्रभाव, अनुभव और अपने प्रति निष्ठा को ध्यान में रखता है।

मंत्रियों की नियुक्ति के साथ ही मुख्यमन्त्री को अपने मंत्रियों को मंत्रिपरिषद से अलग करने या अपदस्य करने का भी अधिकार है।

मन्त्रियों में कार्य-विभाजन—मुख्यमन्त्री का अन्य महत्वपूर्ण कार्य मंत्रियों में कार्य का विभाजन है। इसके मुख्यमंत्री अपने मंत्रियों में शासन के विभिन्न विभागों का वितरण करता है। यह पूर्णतया मुख्यमंत्री की इच्छा पर निर्भर करता है कि किस मंत्री को कौन-सा विभाग सौंपा जाय। वह जब चाहे मंत्रियों के विभागों में परिवर्तन कर सकता है। उसके इस अधिकार को चुनौती देने का अधिकार अन्य किसी को नहीं है।

3. **विभिन्न विभागों में समन्वय**—मुख्यमंत्री मंत्रिपरिषद के विभिन्न विभागों के मध्य समन्वय स्थापित करता है। वह यह देखता है कि उसकी मंत्रिपरिषद के विभिन्न विभागों में परस्पर समन्वय है, सहयोग है। यदि किन्हीं विभागों के मध्य कोई असहयोग या मतभेद खड़ा हो जाता है तो मुख्यमंत्री उस मतभेद को दूर करता है।

---

1. मुख्यमंत्री पद पर नियुक्त होने के बाद विधान-सभा के सदस्य नियुक्त होने वाले व्यक्तियों में कुछ अन्य के नाम इस प्रकार हैं : उत्तर-प्रदेश में चन्द्रभान-गुप्त (1960 ई०) तथा टी० एन० सिंह (1970 ई०), उड़ीसा में विश्वनाथ दास (1971 ई०) तथा नन्दिनी सतपथी, मध्य-प्रदेश में प्रकाशचन्द्र सेठी (1972), बिहार में केदार पांडे (1972), पश्चिम बंगाल में सिद्धार्थ शंकर रे (1972), महाराष्ट्र में बसन्त राव पाटिल (1177) तथा मध्य प्रदेश में अर्जुन सिंह (1988)।

4. शासन पर सामान्य नियंत्रण—मुख्यमंत्री का एक मुख्य कार्य राज्य-शासन का सामान्य नियंत्रण है। दूसरे शब्दों में मुख्यमन्त्री राज्य-शासन के समस्त पक्षों की देखभाल करता है। वह यह देखता रहता है कि उसके नियंत्रण और निर्देशन में शासन के विभिन्न पक्ष शासन-कार्य ठीक से चला रहे हैं या नहीं।

5. मंत्रिपरिषद की अध्यक्षता—मुख्यमन्त्री अपनी मंत्रिपरिषद का अध्यक्ष होता है. अध्यक्ष होने के नाते वह मंत्रिपरिषद की बैठकें बुलाता तथा उनकी अध्यक्षता करता है। वही मंत्रिपरिषद की बैठक का कार्यक्रम (एजेण्डा) निश्चित करता है। मंत्रिपरिषद की बैठकों में होने वाले वाद-विवाद या विचार-विमर्श में मुख्यमन्त्री के विचार ही सर्वाधिक महत्व रखते हैं। उसका निर्णय अन्तिम निर्णय माना जाता है।

6. शासन का प्रधान वक्ता—मुख्यमन्त्री राज्य-शासन का प्रधान वक्ता होता है। वह राज्य-शासन की नीति, कार्यक्रम और निर्णय के विषय में जो भी विचार व्यक्त करता है, वे विचार आधिकारिक विचार माने जाते हैं। इस प्रकार मुख्यमन्त्री राज्य-शासन का प्रधान वक्ता होता है।

7. विधान-सभा का नेता—मुख्यमंत्री विधान-सभा के बहुमत दल का नेता होता है। फलतः वह विधान-सभा का भी नेता माना जाता है। विधान-सभा का नेता होने के नाते वह सभा में शासन की ओर से प्रस्तुत किए जाने वाले कार्यक्रम का रूप तथा क्रम निर्धारित करता तथा उस कार्यवाही का नेतृत्व करता है। वही विधान-सभा में सरकार की नीतियों की घोषणा करता तथा अपनी मंत्रिपरिषद की नीति का पक्षपोषण करता है।

8. राज्य का नेतृत्व—मुख्यमन्त्री शासन और विधानसभा का प्रधान तो होता ही है, साथ ही वह राज्य का भी नेता माना जाता है। दूसरे शब्दों में मुख्यमंत्री केवल अपने दल का ही नेता नहीं होता, प्रत्युत एक दृष्टि से वह अपने राज्य का प्रधान नेता माना जाता है। वह एक प्रकार से सारे राज्य की जनता का प्रतिनिधि होता है। राज्य की जनता राज्य की उन्नति और प्रगति के लिए, राज्य की समस्याओं के समाधान के लिए उसी से आशा करती है।

9. मंत्रिपरिषद और राज्यपाल के मध्य कड़ी—मुख्यमंत्री राज्य की मंत्रिपरिषद और राज्यपाल के मध्य एक कड़ी का कार्य करता है। इस रूप में जहाँ एक ओर वह मंत्रिपरिषद की नीति, कार्यक्रम और उपलब्धियों से राज्यपाल को अवगत कराता है, वहीं दूसरी ओर राज्यपाल के विचारों से मंत्रिपरिषद को अवगत कराता है। मुख्यमंत्री द्वारा राज्यपाल से वार्तालाप के प्रसंग से दी गई जानकारी प्रामाणिक मानी जाती है। संसदीय शिष्टाचार और परम्परा के अनुसार मंत्रिपरिषद की नीति और कार्यों सम्बन्धी राज्यपाल को जानकारी देने का एकमात्र अधिकार मुख्यमंत्री का होता है, मंत्रिपरिषद के अन्य किसी मंत्री का नहीं।

निष्कर्ष

मुख्यमंत्री की शक्ति, कार्यों और अधिकारों के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि राज्य के प्रशासन में मुख्यमंत्री का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। राज्य में मुख्यमंत्री की स्थिति वही है जो कि केन्द्र में प्रधानमन्त्री की होती है। मुख्यमन्त्री ही मन्त्रिपरिषद का स्रष्टा, संरक्षक और संचालक होता है। वही राज्य-शासन का प्रधान, विधानसभा का नेता तथा राज्य-शासन का प्रमुख वक्ता होता है। वही राज्यपाल का प्रमुख परामर्शदाता, राज्यपाल और मंत्रिपरिषद के मध्य की कड़ी तथा राज्य-शासन का प्रमुख वक्ता होता है। वस्तुतः मुख्यमंत्री राज्य का वास्तविक कार्यपालक होता है। परन्तु इस संबंध में दो बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है—प्रथमतः यह कि मुख्यमन्त्री अपनी टीम का कप्तान होता है, वह तानाशाह नहीं होता। दूसरे यह कि मुख्यमन्त्री की स्थिति बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि उसका व्यक्तित्व कैसा है, दल में उसकी क्या स्थिति है तथा उसके दल के प्रधान सूत्रधारों का उसे कैसा समर्थन प्राप्त है।

मन्त्रिपरिषद और व्यवस्थापिका का सम्बन्ध

मंत्रिपरिषद तथा उसका प्रमुख मुख्यमंत्री राज्य की व्यवस्थापिका से अनेक दृष्टियों से सम्बंधित हैं। संक्षेप में इस सम्बंध को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं–

1. मंत्रिपरिषद राज्य की व्यवस्थापिका की शिशु होती है। एक दृष्टि से उसे व्यवस्थापिका की कार्यकारिणी समिति कहा जा सकता है।
2. मंत्रिपरिषद के सदस्य विधान-मंडल के सदस्य होते-हैं। यदि कोई व्यक्ति मंत्रिपद पर नियुक्त होने के समय विधान-मण्डल का सदस्य नहीं होता तो उसे अपनी नियुक्ति के छह महीने के अन्दर विधान-मण्डल का सदस्य हो जाना आवश्यक होगा।
3. संविधान के अनुच्छेद 164 के अनुसार मंत्रिपरिषद विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी होगी। उत्तरदायित्व के इस अधिकार के अनुसार विधान-सभा मंत्रिपरिषद पर कई विधाओं द्वारा नियंत्रण रखती है। ये विधाएँ मुख्यतया अग्रलिखित हैं—

अ—प्रश्न पूछकर
ब—काम रोको या स्थगन प्रस्ताव द्वारा
स—बजट में कटौती कर
द—प्रशासनिक जाँच कर
य—किसी विधेयक या नीति को अस्वीकृत कर
र—अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर।

4. मंत्रिपरिषद के सदस्य अपने पद पर तब तक बने रहते हैं जब तक कि उन्हें विधान-सभा का विश्वास प्राप्त रहता है। विधान-सभा द्वारा अविश्वास के प्रस्ताव के पारित होने पर मंत्रिपरिषद को त्यागपत्र देना आवश्यक हो जाता है।
5. मंत्रिपरिषद विधान-मण्डल की शासन की नीति, कार्यक्रम तथा समस्याओं आदि से अवगत कराती रहती है।
6. मंत्रिपरिषद व्यवस्थापन या विधि-निर्माण के क्षेत्र में विधान-मण्डल का नेतृत्व करती है। विधान-मंडल में प्रस्तुत अधिकांश विधेयक सरकारी विधेयक होते हैं जो मंत्रिपरिषद द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं।
7. मंत्रिपरिषद राज्य के विधान-मंडल के सहयोग से राज्य के स्वरूप की वित्तीय व्यवस्था का संचालन करती है।

इस प्रकर मंत्रिपरिषद और राज्य की व्यवस्थापिका एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

मुख्यमन्त्री और विधान-सभा का सम्बन्ध

जहाँ तक कि मुख्यमन्त्री और राज्य में विधान-मंडल का सम्बन्ध है, मुख्यमन्त्री मंत्रिपरिषद का प्रमुख होता है। अतएव मंत्रिपरिजद और विधान-मंडल के सम्बन्धों में मुख्यमन्त्री का प्रमुख योग रहता है। इसके अतिरिक्त मुख्यमन्त्री और विधान-मंडल के सम्बन्ध के कुछ अन्य पक्ष भी हैं। इन पक्षों को संक्षेप में हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. मुख्यमन्त्री विधानसभा के बहुमत दल का नेता होता है। बहुमत दल के नेता होने के कारण विधानसभा पर मुख्यमन्त्री का पूरा नियन्त्रण रहता है।
2. मुख्यमन्त्री विधानसभा में शासन के कार्यक्रम की रूपरेखा निर्धारित करता है।
3. मुख्यमन्त्री सदन में शासन का प्रमुख वक्ता माना जाता है।

4. मुख्यमन्त्री राज्यपाल को विधानसभा को भंग करने की सलाह देता है।[1]

लघु तथा अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—राज्य की मंत्रिपरिषद में कितने प्रकार के मन्त्री होते हैं ?

उत्तर—(1) कैबिनेट या मंत्रिमंडल स्तर के मंत्री, (2) राज्य मंत्री, (3) उपमन्त्री।

प्रश्न 2—राज्य की मन्त्रिपरिषद का विधान-मण्डल से क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—(1) राज्य की मंत्रिपरिषद के सदस्य विधान-मण्डल के सदस्य होते हैं। (2) मन्त्रिपरिषद विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होती है, फलतः वह तब तक अपने पद पर बनी रहती है जब तक कि विधानसभा का उसे विश्वास प्राप्त रहता है। (3) विधान-मण्डल मन्त्रिपरिषद के सदस्यों से प्रश्न करके तथा अनेक प्रकार के प्रस्ताव पास कर मंत्रिपरिषद पर नियंत्रण रखती है।

प्रश्न 3—मुख्यमन्त्री के मुख्य कार्य बताइए।

उत्तर—(1) मुख्यमन्त्री मंत्रिपरिषद का निर्माण करता है। (2) मन्त्रियों में कार्य-विभाजन करता है। (3) राज्य-शासन का मुख्य वक्ता होता है। (4) विधानसभा के बहुमत दल का नेतृत्व करता है। (5) राज्य-शासन का प्रमुख सूत्रधार होता है।

अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—मुख्यमन्त्री की कौन नियुक्ति करता है ?

उत्तर—राज्यपाल मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करता है।

प्रश्न 2—मुख्यमन्त्री के पद पर किस व्यक्ति को नियुक्त किया जाता है ?

उत्तर—उस व्यक्ति को जो विधान सभा के बहुमत दल का नेता होता है।

प्रश्न 3—मन्त्रिपरिषद राज्य में किस सदन के प्रति उत्तरदायी होती है ?

उत्तर—विधान सभा के प्रति।

प्रश्न 4—संयुक्त मन्त्रिपरिषद का कब निर्माण होता है ?

उत्तर—जब राज्य की विधानसभा में किसी एक दल का बहुमत नहीं होता।

प्रश्न 5—यदि कोई व्यक्ति मन्त्री बनने के समय विधान-मण्डल का सदस्य नहीं है तो उसे कितने समय के अन्दर विधान-मण्डल का सदस्य हो जाना चाहिए।

उत्तर—छह महीने के अन्दर।

प्रश्न 6—जब विधानसभा में मन्त्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास हो जाता है, तब क्या होता है ?

उत्तर—मन्त्रिपरिषद त्याग-पत्र दे देती है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राज्य की मंत्रिपरिषद की रचना कैसे होती है ? उसकी क्या शक्तियाँ और क्या कार्य हैं ?
2. राज्य की मंत्रिपरिषद के अधिकार और कार्यों पर प्रकाश डालिए।
3. राज्य की मंत्रिपरिषद के संगठन, शक्ति और स्थिति का विवेचन कीजिए।

1. मंत्रिपरिषद और राज्यपाल के सम्बन्धों के लिए पिछला अध्याय देखिए।

4. मुख्यमन्त्री की नियुक्ति किस प्रकार होती है ? मुख्यमन्त्री के क्या अधिकार और कार्य हैं ? राज्यपाल और मुख्यमन्त्री के क्या सम्बन्ध हैं ? (उ० प्र०, 1979, 85)

5. राज्य की मंत्रिपरिषद के संगठन और शक्ति पर प्रकाश डालिए और बतलाइए कि मंत्रिपरिषद तथा विधान-मंडल के क्या सम्बन्ध हैं ? (उ० प्र०, 1974, 89 91)

लघु प्रश्न

1. राज्य की मंत्रिपरिषद के मुख्य चार कार्य बताइए।
2. मुख्यमन्त्री तथा मंत्रिपरिषद का सम्बन्ध बताइए।
3. मुख्यमन्त्री और व्यवस्थापिका का सम्बन्ध बताइए।
4. राज्य की मंत्रिपरिषद का कैसे गठन होता है ?

अति लघु प्रश्न

1. मुख्यमन्त्री की नियुक्ति कौन करता है ?
2. राज्य की मंत्रिपरिषद विधान-मंडल के किस सदन के प्रति उत्तरदायी होती है ?
3. राज्य की मंत्रिपरिषद का क्या कार्यकाल है ?
4. यदि कोई व्यक्ति मन्त्री नियुक्त कर दिया जाता है, किन्तु वह विधान-मंडल का सदस्य नहीं है तो उसे कितनी अवधि के अंतर्गत विधान-मंडल का सदस्य हो जाना चाहिए।
5. राज्य का मंत्रिपरिषद अपने कार्यकाल के पहले त्याग-पत्र देने के लिए कब वाध्य होता है ?
6. जब राज्य के विधान-मंडल में किसी दल का स्पष्ट बहुमत नहीं होता, तब किस दल का नेता मुख्यमन्त्री बनता है ?
7. मुख्यमन्त्री के पद पर नियुक्त होने के लिए आवश्यक शर्तें क्या हैं ? (उ० प्र०, 1985)

"विधान-मण्डल राज्य की लघु संसद है। वह राज्य की राजनैतिक चेतना का दर्पण तथा राज्य की संसदात्मक व्यवस्था का शीर्षस्थ निकाय है।"

अध्याय 18

राज्य का विधान-मण्डल

● विधान-सभा का गठन या रचना ● विधान-सभा के अधिकार, शक्तियाँ और कार्य ● विधान-परिषद का संगठन ● विधान-परिषद् के अधिकार और कार्य ● विधान-सभा और विधान-परिषद के पारस्परिक सम्बन्ध ● विधान-मण्डल में विधि का निर्णय कैसे होता है ● राज्य के विधान-मण्डल की विधायी शक्ति पर प्रतिबन्ध

आमुख

राज्यों की व्यवस्थापिका भारत की संसदात्मक शृंखला की प्रादेशिक कड़ी है। जिस प्रकार केन्द्र में संसद के रूप में देश की सर्वोच्च व्यवस्थापिका है, उसी प्रकार राज्य में व्यवस्थापिका का प्रावधान है। कुछ राज्यों में यह व्यवस्थापिका एकसदनात्मक है और कुछ में द्विसदनात्मक है। जहाँ की व्यवस्थापिका में दो सदन हैं, वहाँ की व्यवस्थापिका को विधान-मण्डल कहते हैं। विधान-मण्डल के दो सदनों में से प्रथम सदन को विधानसभा तथा दूसरे सदन को विधान-परिषद कहते हैं। भारत के 25 राज्यों में से केवल छह राज्यों[1] में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका अर्थात् विधान-मण्डल है। शेष राज्यों में एकसदनात्मक व्यवस्थापिका है। जहाँ एकसदनात्मक व्यवस्थापिका है, उसे विधानसभा कहते हैं।

विधानसभा (Legislative Assembly) का गठन या रचना

विधानसभा राज्य की व्यवस्थापिका का प्रथम, लोकप्रिय और महत्वपूर्ण सदन है। वही वस्तुत: राज्य की जनता का वास्तविक प्रतिनिधि सदन है। राज्य को सर्वोच्च और सर्वप्रमुख विधायी शक्तियाँ उसी के हाथों में केन्द्रित हैं। यहाँ हम विधानसभा के संगठन, शक्ति, अधिकार और कार्यों पर प्रकाश डालेंगे।

विधानसभा की सदस्य-संख्या और निर्वाचन-क्षेत्र — संविधान द्वारा राज्य की विधानसभा के सदस्यों की अधिकतम और न्यूनतम संख्या निर्धारित की गई है। संविधान के 170वें अनुच्छेद के अनुसार विधानसभा के सदस्यों की अधिकतम संख्या 500 और न्यूनतम संख्या 60 निश्चित की गई है।

> विधानसभा का गठन या रचना
> 1. सदस्य-संख्या और निर्वाचन-क्षेत्र
> 2. स्थान-आरक्षण
> 3. सदस्यता के लिए योग्यताएं
> 4. मतदाताओं की योग्यताएँ
> 5. कार्यकाल
> 6. अध्यक्ष तथा अन्य पदाधिकारी

निर्वाचन की दृष्टि से प्रत्येक राज्य को भौगोलिक आधार पर अनेक निर्वाचन-क्षेत्रों में इस प्रकार विभाजित किया जाता है कि प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र की जनसंख्या तथा उसके लिए निर्धारित सदस्य-संख्या का अनुपात यथा-सम्भव समान रहे।

संविधान के इसी अनुच्छेद के अनुसार जनगणना के आधार पर राज्यों की विधानसभा के सदस्यों की कुल संख्या निर्धारित की जाती रही है। सन् 1971 ई० की जनगणना के आधार

---

1. भारत के जिन राज्यों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका है, उनके नाम इस प्रकार हैं—(1) उत्तर-प्रदेश, (2) तमिलनाडु, (3) बिहार, (4) महाराष्ट्र, (5) कर्णाटक तथा (6) जम्मू और कश्मीर।

पर विभिन्न राज्यों की विधान-सभाओं के सदस्यों की कुल जनसंख्या अगले पृष्ठ पर दिये चार्ट के अनुसार निर्धारित की गई थी।

वर्तमान समय में विधानसभा के सदस्यों की यही संख्या है। 42वें संशोधन अधिनियम के अनुसार 2001 ई० तक विधान-सभाओं के सदस्यों की यही संख्या निश्चित की गई है।[1]

स्थान-आरक्षण—अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा एंग्लो-इण्डियन समुदाय के लोगों को समुचित प्रतिनिधित्व दिलाने के लिए संविधान में पृथक् प्रावधान किया गया है।

इसके अनुसार राज्यपाल को अनुभव होता है कि उसके राज्य की विधानसभा में एंग्लो-इंडियन समुदाय को समुचित प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं है तो वह उस समुदाय के एक व्यक्ति को विधानसभा में मनोनीत कर सकता है।

इसी प्रकार अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए कुछ स्थान आरक्षित किए गए हैं। संविधान के 23वें संशोधन (1970) द्वारा पहले 26 जनवरी, 1980 ई० तक के लिए अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित किए गए थे। इसके बाद 1980 ई० के 45वें संशोधन अधिनियम के अनुसार अगले दस वर्षों के लिए पुनः इनके स्थान आरक्षित कर दिए गए हैं। इस प्रकार अब 26 जनवरी, 1990 ई० तक विधानसभा में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित रहेंगे।

सदस्यता के लिए योग्यताएँ—सन् 1951 ई० के जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम (The Representation of the Peoples Act) के अनुसार विधानसभा की सदस्यता के लिए निम्नलिखित योग्यताएँ निर्धारित की गई हैं—

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. उसकी आयु कम-से-कम 25 वर्ष हो।
3. वह संसद द्वारा प्रदत्त अन्य योग्यताएँ पूरी करता हो।

सदस्यता पर प्रतिबन्ध—कोई व्यक्ति एक ही समय में राज्य के विधान-मण्डल के दोनों सदनों या दो से अधिक विधान-मण्डल के लिए निर्वाचित हो जाता है यो उसे निर्धारित अवधि के अन्तर्गत एक सदन को छोड़कर अन्य की सदस्यता का परित्याग करना अनिवार्य होगा। इसके अतिरिक्त यदि कोई सदस्य विधानसभा की अनुज्ञा के बिना 60 दिन तक अनुपस्थित रहता है तो विधानसभा को उसका स्थान रिक्त घोषित करने का अधिकार होगा।

सदस्यता के लिए अयोग्यताएँ—निम्नलिखित अयोग्यताओं के होने पर कोई व्यक्ति विधानसभा का सदस्य नहीं हो सकता—

1. यदि वह भारत सरकार या किसी राज्य-सरकार के अधीन लाभ के पद पर हो।
2. यदि वह न्यायालय द्वारा पागल घोषित कर दिया गया हो।
3. यदि वह दिवालिया हो।
4. यदि वह भारत का नागरिक न हो, अथवा यदि उसने किसी विदेशी राज्य की नागरिकता ग्रहण कर ली हो, या वह किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा रखता हो।

मतदाताओं की योग्यताएँ—विधानसभा के सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष रीति से वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है। फलतः राज्य में रहने वाले सभी स्त्री-पुरुष मतदाता हो सकते हैं, किन्तु इसके साथ ही उनमें निम्नांकित योग्यताओं का होना आवश्यक है—

---

1. केन्द्र-शासित क्षेत्रों की विधानसभाओं की सदस्य-संख्या के लिए 'केन्द्र-शासित क्षेत्रों का प्रशासन' सम्बन्धी अध्याय देखिए।

1. वे भारत के नागरिक हों;
2. उनकी आयु कम-से-कम 21 वर्ष की हो;
3. निवास-स्थान, पागलपन, अपराध, भ्रष्टाचार या गैर-कानूनी कार्यों के आधार पर वे अयोग्य न ठहराए गए हों।

विधानसभा का कार्यकाल—सामान्यतया विधानसभा का कार्यकाल पाँच वर्ष होता है। पाँच वर्षों की अवधि समाप्त होने के बाद फिर से आम चुनाव होते हैं। राज्यपाल को पाँच वर्ष की अवधि के पूर्व भी विधानसभा को भंग करने का अधिकार है। ऐसा तभी होता है जबकि मंत्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दिया गया हो तथा विधानसभा में कोई दल अपनी सरकार बनाने में असमर्थ हो।

संकट-काल की घोषणा करने के उपरान्त संसद के कानून द्वारा विधानसभा का कार्यकाल बढ़ाया जा सकता है। किन्तु यह कार्यकाल एक वर्ष से अधिक नहीं होगा तथा संकट-काल की घोषणा समाप्त हो जाने के बाद यह कार्यकाल 6 माह की अवधि से अधिक नहीं होगा।[1]

सदन का अध्यक्ष, उपाध्यक्ष तथा अन्य पदाधिकारी—विधानसभा के दो मुख्य पदाधिकारी होते हैं—अध्यक्ष और उपाध्यक्ष। राज्य की विधानसभा के सदस्य अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का निर्वाचन करते हैं। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को विधानसभा का सदस्य होना अनिवार्य है।

निर्वाचन के उपरान्त विधानसभा अपने प्रथम अधिवेशन में अध्यक्ष (Speaker) का निर्वाचन करती है। अध्यक्ष के अतिरिक्त अध्यक्ष की अनुपस्थिति में कार्य करने के लिए वह एक उपाध्यक्ष का भी निर्वाचन करती है।

अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का कार्यकाल सामान्यतया पाँच वर्ष होता है। किन्तु विधानसभा के भंग होने पर वह अपने पद पर उस समय तक बना रहता है जब तक कि नई विधानसभा की प्रथम बैठक न हो जाय। यदि अध्यक्ष चाहे तो इस अवधि के पूर्व भी वह अपना त्यागपत्र दे सकता है। इसी प्रकार उपाध्यक्ष भी अपना त्यागपत्र दे सकता है। अध्यक्ष अपना त्यागपत्र उपाध्यक्ष को भेजता है और उपाध्यक्ष अपना त्यागपत्र अध्यक्ष के पास।

इसके अतिरिक्त अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को उनके कार्यकाल के पूर्व भी विधानसभा के बहुमत के प्रस्ताव द्वारा हटाया जा सकता है, किन्तु इसके लिए इस प्रकार के प्रस्ताव की सूचना उन्हें 14 दिन पूर्व देनी आवश्यक है।

सभा की जिस बैठक में अध्यक्ष की पदच्युति के विषय में विचार हो रहा हो, उस बैठक में वह उपस्थित रह सकता है तथा उसकी कार्यवाही में भाग ले सकता है। उसे इस अवसर पर अपना मत देने का भी अधिकार है, किन्तु तभी जब प्रस्ताव पर बराबर-बराबर मत आते हैं। जब ग्रन्थि की स्थिति उत्पन्न हो जाती ही जाती है तो उसे निर्णायक मत देने का अधिकार नहीं होगा। अध्यक्ष को निश्चित वेतन ओर भत्ते मिलते हैं।

विधानसभा के अध्यक्ष के कार्य और अधिकार—विधान सभा के अध्यक्ष के कार्य और अधिकार एक प्रकार से वही हैं जो कि लोकसभा में अध्यक्ष के होते हैं। संक्षेप में इन कार्यों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. वह विधानसभा की बैठकों की अध्यक्षता करता है तथा सदन की कार्यवाही संचालित करता है।
2. वह सदन के नेता के परामर्श से सदन की कार्यवाही का क्रम निर्धारित करता तथा भाषणों के लिए समय निर्धारित करता है।

---

1. संविधान के 42वें संशोधन-अधिनियम द्वारा विधानसभा का कार्यकाल 6 वर्ष कर दिया गया था, किन्तु 44वें संशोधन द्वारा यह कार्यकाल पुनः 5 वर्ष कर दिया गया।

3. वह सदन के नियमों की व्याख्या करता है।
4. वह सदन में शान्ति-व्यवस्था बनाए रखता है। सदन का अनुशासन और व्यवस्था भंग करने वाले सदस्यों को दण्डित करता है। इस दृष्टि से वह किसी सदन को सदन से बाहर जाने का आदेश दे सकता है या उसकी सदस्यता को निलम्बित कर सकता है।
5. यदि सदन में गम्भीर अव्यवस्था या अशान्ति उत्पन्न हो जाती है तो अध्यक्ष सदन का कार्य स्थगित या निलम्बित कर सकता है।
6. वह सदन की कार्यवाही से ऐसे शब्दों को निकाल देने का आदेश दे सकता है जो उसकी दृष्टि में मानहानिकारक, अशिष्ट, असंसदीय या अनुचित हैं।
7. वह शासन से पूछे जाने वाले प्रश्नों को स्वीकार करता तथा नियम के विरुद्ध पूछे गए प्रश्नों को अस्वीकृत करता है।
8. वह निश्चित करता है कि कौन-सा विधेयक धन-विधेयक है और कौन-सा नहीं।
9. वह किसी प्रश्न पर मतदान कराता और परिणाम की घोषणा करता है।
10. सामान्य स्थिति में वह मतदान में भाग नहीं लेता है; किन्तु जब किसी प्रश्न या प्रस्ताव पर पक्ष-विपक्ष में बराबर मत आते हैं तो उसे अपना 'निर्णायक मत' देने का अधिकार होता है।
11. वह सदन की दर्शक-दीर्घा (Visitor's gallery) में दर्शकों तथा प्रेस प्रतिनिधियों के प्रवेश को नियन्त्रित करता है।
12. वह सदन के प्रक्रिया-सम्बन्धी विवाद पर निर्णय देता और उसका निर्णय अन्तिम निर्णय माना जाता है।
13. वह प्रवर समितियों तथा सदन की अन्य समितियों के अध्यक्षों की नियुक्ति करता है।
14. वह विधान-मण्डल के संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता करता है।
15. वह राज्यपाल तथा राज्य की विधानसभा के मध्य सम्पर्क-सूत्र का कार्य करता है।

इस प्रकार विधानसभा का अध्यक्ष सदन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पदाधिकारी है। वह सदन की व्यवस्था का प्रबन्धक, संरक्षक और प्रहरी होता है।

अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उसके अधिकारों और शक्तियों का प्रयोग उपाध्यक्ष करता है।

अध्यक्ष का अपना अलग कार्यालय होता है। इस कार्यालय में अनेक अधिकारी और कर्मचारी कार्य करते हैं। ये अधिकारी और कर्मचारी पूरी तरह से अध्यक्ष के नियंत्रण में रहते हैं।

विधानसभा के अधिकार, शक्तियाँ और कार्य

विधानसभा राज्य विधान-मण्डल का प्रथम, प्रमुख और प्रतिनिधि सदन है। इस दृष्टि से उसे अनेक अधिकार और शक्तियाँ प्राप्त हैं। संक्षेप में हम विधानसभा के अधिकार और कार्यों को निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. विधायी अधिकार—विधानसभा राज्य की सर्वोच्च व्यवस्थापिका है। विधानसभा को राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले समस्त विषयों पर विधि-निर्माण का अधिकार है। इसके अतिरिक्त वह समवर्ती सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर भी विधि-निर्माण या कानून बनाने का अधिकार रखती है। किन्तु इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि

> **विधानसभा के अधिकार**
> 1. विधायी अधिकार

2. वित्तीय अधिकार
3. कार्यपालिकीय अधिकार
4. अन्य अधिकार

समवर्ती सूची पर राज्य के विधान-मण्डल के अतिरिक्त संसद को भी विधि-निर्माण का अधिकार है। अतएव यदि किसी समवर्ती सूची पर संसद और राज्य-विधानसभा द्वारा निर्मित अधिनियम में विरोध होगा तो ऐसी स्थिति में संसद द्वारा बनाए गए कानून को प्राथमिकता मिलेगी तथा विधानसभा द्वारा पास किया हुआ कानून रद्द माना जायगा।

2. वित्तीय अधिकार—विधानसभा को राज्य के वित्त पर नियंत्रण रखने का पूरा अधिकार प्राप्त है। फलत: इस दृष्टि से विधानसभा अनेक शक्तियों का प्रयोग करती हैं। कोई धन-विधेयक पहले विधानसभा में ही पेश किया जाता है। विधानसभा में पास हो जाने के उपरान्त धन-विधेयक विधानपरिषद में भेजा जाता है। जिन राज्यों में विधानपरिषद नहीं है, वहाँ इस प्रकार की कोई आवश्यकता नहीं होती।

विधानपरिषद धन-विधेयक प्राप्त होने के चौदह दिन के अन्दर उसे अपनी सिफारिशो के साथ वापस कर देती है। उसकी सिफारिशों को मानना या न मानना विधानसभा के ऊपर निर्भर करता हैं। यदि विधानसभा 14 दिन के अन्दर विधेयक वापस नहीं करती है तो वह धन-विधेयक उसी स्थिति में पास माना जायगा। इस प्रकार विधानपरिषद को केवल चौदह दिन तक धन-विधेयक को रोकने का अधिकार है। धन-विधेयक के क्षेत्र में वास्तविक शक्ति विधान-सभा के ही हाथों में निहित है। विधानसभा राज्य के आय-व्यय की अधिकांश मदों पर अपना नियंत्रण रखती है। केवल निम्नांकित मदें ऐसी हैं जिन पर विधानसभा को कोई संशोधन करने का अधिकार नहीं है—

1. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन।
2. राज्यपाल का वेतन एवं भत्ता।
3. सरकारी ऋण एवं उस पर ब्याज।
4. न्यायालय द्वारा जारी की गई डिग्री का भुगतान।
5. संविधान द्वारा अनिवार्य रूप से घोषित धनराशि।

3. कार्यपालिकीय अधिकार—राज्य की कार्यपालिका अर्थात् मंत्रि-परिषद मूलतया विधानसभा का ही शिशु होती है। संविधान के अनुसार वह मंत्रि-परिषद के प्रति उत्तरदायी हैं। फलत: मंत्रिपरिषद को जब तक विधानसभा में समर्थन प्राप्त रहता है, तब तक मंत्रिपरिषद अपने पद पर बनी रहती है।

इस दृष्टि से मंत्रिपरिषद पर विधानसभा कई प्रकार से नियंत्रण रखती है। विधानसभा द्वारा मन्त्रि-परिषद के नियंत्रण की विधाएं मुख्यतया निम्नलिखित हैं—

1. शासन की नोति निर्धारित कर।
2. वाद-विवाद तथा मन्त्रियों से शासन के मामलों में प्रश्न पूछकर।
3. अविश्वास के प्रस्ताव तथा काम रोको जैसे प्रस्तावों का प्रयोग कर।
4. कार्यपालिका की जाँच के लिए समिति नियुक्ति कर।
5. सरकारी विधेयकों को अस्वीकृत कर।
6. बजट में कटौती कर।

4. अन्य अधिकार—विधानसभा के उपर्युक्त अधिकारों के अतिक्ति कुछ अन्य अधिकार भी हैं। इन अन्य अधिकारों को संक्षेप में निम्नलिखिति रूप में रख सकते हैं—

1. विधानसभा के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेते हैं।
2. संविधान के कतिपय ऐसे अनुच्छेद या पक्ष हैं जिनके संशोधन के लिए राज्यों के कम-से-कम आधे विधान-मण्डलों का समर्थन आवश्यक है।

इस प्रकार विधानसभा राज्य की वास्तविक व्यवस्थापिका है। उसके कार्यों और अधिकारों के आधार पर हम कह सकते हैं कि विधानसभा राज्य की 'लघु लोकसभा' (House of People in miniature) है।

उत्तर प्रदेश की विधानसभा

उपर्युक्त विवेचन से विधानसभा के सामान्य संगठन और शक्तियों का परिचय मिल जाता है। उत्तर प्रदेश की विधानसभा का संगठन और उसकी शक्तियाँ भी इसी प्रकार की हैं। उत्तर प्रदेश की विशाल जनसंख्या और आकार के आधार पर उसकी विधानसभा की कुल सदस्य-संख्या 425 निर्धारित की गई है। इस प्रकार उत्तर प्रदेश की विधानसभा में कुल 425 सदस्य या विधायक होते हैं। इतने सदस्य देश की अन्य किसी विधानसभा में नहीं हैं।

इसी प्रकार उत्तर प्रदेश विधानसभा के भी अपने पदाधिकारी, यथा अध्यक्ष और उपाध्यक्ष हैं। अध्यक्ष की सहायता के लिए उसके नीचे अनेक अधिकारी और कर्मचारी हैं। उत्तर प्रदेश विधानसभा की राजधानी लखनऊ में अवस्थित है।

जहाँ तक कि विधानसभा के कार्यों और अधिकारों का प्रश्न है, विधानसभा के वे ही कार्य और अधिकार हैं जो कि अन्य विधानसभा के हैं। दूसरे शब्दों में उत्तर प्रदेश की विधान-सभा को अन्य विधानसभाओं की भाँति विधायी, वित्तीय तथा कार्यपालिकीय शक्तियाँ प्राप्त हैं।

विधानपरिषद
(Legislative Council)

विधानपरिषद राज्य विधानमंडल का दूसरा सदन है। अपनी रचना, संगठन, शक्ति एवं कार्यों की दृष्टि से यह (जैसा कि प्रायः द्विसदनात्मक व्यवस्था में होता है) एक द्वितीय स्तर का सदन है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 169 के अनुसार भारतीय संसद किसी भी राज्य में विधानपरिषद की स्थापना कर सकती है या किसी राज्य की स्थापित विधानपरिषद को समाप्त कर सकती है। किन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि जिस राज्य में विधानसभा की स्थापना की जाती है या परिषद का अन्त किया जाता है, उस राज्य की विधानसभा के बहुमत द्वारा उस आशय का प्रस्तान पास होना चाहिए।

संविधान में विधानपरिषद की रचना-विषयक प्रावधान

द्वितीय सदन या विधानपरिषद की रचना के सम्बन्ध में संविधान के 171वें अनुच्छेद में प्रावधान किए गए हैं। ये प्रावधान इस प्रकार हैं—

1. विधानपरिषद की कुल सदस्य-संख्या उस राज्य की विधानसभा की कुल सदस्य-संख्या की एक-तिहाई से अधिक नहीं होगी।
2. किन्तु किसी भी स्थिति में विधानपरिषद की सदस्य-संख्या 40 से कम नहीं होनी चाहिए।
3. जब तक संसद इस दिशा में कोई कानून नहीं बनाती, तब तक विधानपरिषद के संगठन का स्वरूप इस प्रकार होगा—

(i) समस्त सदस्यों का एक-तिहाई ($\frac{1}{3}$) उस राज्य की नगरपालिकाओं, जिलापरिषदों और ऐसी अन्य स्थानीय संस्थाओं द्वारा चुना जायगा जिन्हें कि संसद कानून द्वारा निर्दिष्ट करेगी।

(ii) विधानपरिषद के कुल सदस्यों का यथासम्भव बारहवाँ भाग ($\frac{1}{12}$) ऐसे लोगों द्वारा चुना जायगा जिन्होंने स्नातक स्तर की परीक्षा पास कर ली है और जिन्हें इस प्रकार की परीक्षा पास किए हुए कम से कम तीन वर्ष हो चुके हों।

(iii) विधानपरिषद का यथासम्भव बारहवाँ भाग ($\frac{1}{12}$) ऐसे लोगों द्वारा निर्वाचित किया जायगा जो कि राज्य के हायर सेकेन्ड्री स्तर या उससे ऊपर के स्तर की शिक्षण-संस्थाओं में कम-से-कम तीन वर्ष तक पढ़ा चुके हों।

(iv) विधानपरिषद की कुल सदस्य-संख्या का यथासम्भव एक-तिहाई भाग ($\frac{1}{3}$) विधान-सभा के सदस्यों द्वारा चुना जायगा। किन्तु विधानसभा के सदस्यों द्वारा निर्वाचित ये सदस्य स्वतः विधानसभा के सदस्य नहीं होंगे।

(v) विधानपरिषद के कुल सदस्यों का छठा भाग ($\frac{1}{6}$) राज्यपाल द्वारा मनोनीत किया जायगा। किन्तु राज्यपाल द्वारा मनोनीत ये सदस्य साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आन्दोलन तथा समाजसेवा के क्षेत्र में विशेष ज्ञान और अनुभव वाले व्यक्ति होंगे।

सात राज्यों में विधान-परिषद का गठन

वर्तमान समय में कुल पाँच राज्यों में विधान-परिषदें हैं। ये पाँच राज्य हैं, उत्तर प्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, कर्नाटक तथा जम्मू और कश्मीर।[1] इन राज्यों में विधान-परिषदों की सदस्य-संख्या तथा उसमें विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व इस प्रकार है—

विधान-परिषदों की सदस्य-संख्या

क्रमसंख्या	राज्य का नाम	स्थानीय संस्था से निर्वाचित	स्नातकों द्वारा निर्वाचित	शिक्षकों द्वारा निर्वाचित	विधानसभा द्वारा निर्वाचित	राज्यपाल द्वारा मनोनीत	कुल सदस्यों की संख्या
1	उत्तर प्रदेश	39	9	9	39	12	108
2	बिहार	34	8	8	34	12	96
3	महाराष्ट्र	22	7	7	30	12	78
4	कर्णाटक (मैसूर)	21	6	6	21	9	75
5	जम्मू-कश्मीर	6	—	2	22	6	36

1. 1 अगस्त, 1969 ई० को पश्चिम बंगाल की विधान-परिषद को समाप्त कर दिया गया। इसके बाद 7 जनवरी, 1970 ई० को पंजाब की विधान-परिषद समाप्त कर दी गई।

मई, 1985 ई० में आन्ध्र प्रदेश और 1986 ई० में तमिलनाडु की विधान-परिषद् समाप्त कर दी गई।

उत्तर प्रदेश की विधान-परिषद : संगठन, शक्ति और कार्य

विधान-परिषद का गठन या रचना—उत्तर प्रदेश की विधान-परिषद में कुल 108 सदस्य हैं। इन 108 सदस्यों में से छठा ($\frac{1}{6}$) तो राज्यपाल द्वारा मनोनीत होता है, शेष सदस्य विभिन्न वर्गों द्वारा निर्वाचित होते हैं। उत्तर प्रदेश की विधान-परिषद में इन विभिन्न वर्गों का अनुपात इस प्रकार है—

1. स्थानीय संस्थाओं का प्रतिनिधित्व—विधान-परिषद का यथासम्भव एक-तिहाई राज्य की स्थानीय संस्थाओं, यथा नगरमहापालिका, नगरपालिका, जिला-परिषद तथा टाउन एरिया जैसी स्थानीय संस्थाओं द्वारा निर्वाचित किया जाता है। इस वर्ग से वर्तमान समय में परिषद में 39 सदस्य चुने जाते हैं।

2. राज्य की विधानसभा का प्रतिनिधित्व—विधान-परिषद का यथासम्भव एक-तिहाई भाग (39 सदस्य) राज्य की विधानसभा के सदस्यों द्वारा निर्वाचित होता है। राज्य की विधान-सभा द्वारा निर्वाचित ये सदस्य विधानसभा के सदस्य नहीं होते।

3. विश्वविद्यालय के स्नातकों का प्रतिनिधित्व—विधान-परिषद की कुल सदस्य-संख्या का यथासम्भव बारहवाँ भाग (9 सदस्य) राज्य के विश्वविद्यालय के स्नातकों (ग्रेजुएट्स) द्वारा निर्वाचित होता है। कोई स्नातक तभी इस वर्ग का मतदाता हो सकता है जबकि उसे राज्य के किसी विश्वविद्यालय से स्नातक हुए कम-से-कम तीन वर्ष हो चुके हों।

4. अध्यापकों का प्रतिनिधित्व—परिषद की कुल सदस्य-संख्या का यथासम्भव बारहवाँ भाग (9 सदस्य) राज्य के अध्यापकों द्वारा निर्वाचित होते हैं। राज्य के अध्यापक निर्वाचक मण्डल के अन्तर्गत आने वाले मतदाताओं के लिए आवश्यक है कि वे राज्य माध्यमिक विद्यालय या इससे श्रेष्ठतर अन्य किसी शिक्षण-संस्थान में कम-से-कम तीन वर्ष से अध्यापन-कार्य कर रहे हों।

5. राज्यपाल द्वारा मनोनीत—परिषद के कुल सदस्यों का यथासम्भव छठा भाग (12 सदस्य) राज्यपाल द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। राज्यपाल जिन व्यक्तियों को मनोनीत करता है, वे व्यक्ति साहित्य, कला, सहकारिता-आन्दोलन या समाज-सेवा के क्षेत्र में अपने योग-दान तथा अनुभव के लिए सुविख्यात होने चाहिए।

इस प्रकार उत्तर प्रदेश की विधान-परिषद में मुख्यतया पाँच वर्गों के प्रतिनिधि रहते हैं। इसे संक्षेप में हम निम्नांकित रूप में रख सकते हैं—

उत्तर प्रदेश की विधान-परिषद का गठन

1. संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार राज्य की विधान-परिषद की कुल सदस्य-संख्या 40 से कम नहीं होनी चाहिए। किन्तु जम्मू और कश्मीर के लिए अपवाद-स्वरूप केवल 36 सदस्यों का प्रावधान किया गया है।

विधान-परिषद की सदस्यता के लिए योग्यताएँ—विधान-परिषद की सदस्यता के लिए अग्रलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है—

1. वह भारत का नागरिक हो,
2. वह तीस वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो,
3. वह राज्य की विधानसभा के किसी निर्वाचन-क्षेत्र का मतदाता हो,
4. वह पागल या दिवालिया न हो,
5. वह सरकार का वेतनभोगी कर्मचारी न हो और न उसे सरकार से कोई आर्थिक लाभ प्राप्त होता हो।

परिषद की निर्वाचन-प्रणाली—विधान-परिषद के सदस्यों का निर्वाचन सानुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के आधार पर एकल संक्रमणीय मत-पद्धति के अनुसार होता है।

परिषद का कार्यकाल—जिस प्रकार राज्यसभा एक स्थायी सदन है, उसी प्रकार विधान-परिषद भी एक स्थायी सदन है। इस प्रकार विधान-परिषद कभी भंग नहीं होती। इसके एक-तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष बाद अपना पद रिक्त करते रहते हैं। रिक्त होने वाले स्थानों पर नए सदस्य निर्वाचित होते हैं। इस प्रकार एक सदस्य को सामान्यतया छह वर्ष तक अपने पद पर बने रहने का अवसर मिल जाता है।

विधान-परिषद के पदाधिकारी—परिषद के दो प्रमुख पदाधिकारी होते हैं—सभापति (Chairman) और उपसभापति (Deputy Chairman)। इन दोनों पदाधिकारियों का निर्वाचन परिषद के सदस्यों द्वारा ही होता है। सभापति का कार्य परिषद का सभापतित्व करना तथा परिषद की कार्यवाही का संचालन करना होता है। इस प्रकार सभापति सदस्यों के भाषण की अनुमति देता, सदन में होने वाले वाद-विवाद को नियंत्रित करता, विचाराधीन प्रस्तावों पर मतदान कराता, उनका फल घोषित करता तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य करता है। सभापति को किसी प्रश्न पर पक्ष-विपक्ष में समान मत आने पर अपना निर्णायक मत देने का अधिकार है।

विधान-परिषद के सत्र—विधानसभा की भाँति विधान-परिषद के भी वर्ष में कम-से कम दो अधिवेशन होने चाहिए। एक सत्र की अंतिम बैठक और अगामी सत्र की पहली बैठक के बीच छह महीने से अधिक का अन्तर नहीं होना चाहिए।

विधानपरिषद के कार्य, अधिकार एवं शक्तियाँ

विधान-परिषद की शक्तियों, अधिकारों या कार्यों को संक्षेप में हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. विधायी अधिकार और कार्य—विधान-परिषद राज्य विधान-मंडल का दूसरा सदन है। अतएव विधि-निर्माण के क्षेत्र में उसे भी अधिकार प्राप्त हैं। विधान-परिषद में धन-विधेयक को छोड़कर कोई भी साधारण विधेयक प्रस्तावित किया जा सकता है। विधान-परिषद में पास हो जाने के बाद उसे विधानसभा का समर्थन मिलना आवश्यक होता है। यदि विधान-परिषद द्वारा पास विधेयक को विधानसभा का समर्थन नहीं मिल पाता तो वह विधेयक कानून का रूप धारण नहीं कर सकता।

इस प्रकार विधान-परिषद विधानसभा के सहयोग के बिना किसी साधारण विधेयक को कानून का रूप नहीं दिला सकती। इसके विपरीत यदि विधानसभा किसी विधेयक को पारित करती है और परिषद उस विधेयक को अस्वीकृत कर देती है तो विधानसभा अपनी अगली बैठक में विधेयक को पास कर पुनः विधान-परिषद के पास भेजेगी। यदि इस बार भी परिषद विधेयक को अस्वीकृत करती है या उसे एक मास से अधिक समय तक रोके रखती है तो विधेयक विधान-मंडल द्वारा उसी रूप में पास माना जायगा जिस रूप में कि वह दूसरी बार विधानसभा द्वारा पास किया गया था।

वित्तीय अधिकार—विधायी अधिकार की भाँति परिषद के वित्तीय अधिकार भी सीमित हैं। कोई वित्तीय विधेयक या धन-विधेयक विधान-परिषद में प्रस्तावित नहीं किया जा सकता। वह केवल विधानसभा में ही प्रस्तावित किया जा सकता है। विधानसभा द्वारा पास होने पर धन-विधेयक को विधान-परिषद के पास भेजा जाता है। विधान-परिषद को 14 दिन के अन्दर अपना सुझाव भेजना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करती तो विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास माना जायगा। धन-विधेयक के सम्बन्ध में दिए गए परिषद के सुझावों को मानना, न मानना विधानसभा की इच्छा पर निर्भर करता है।

कार्यपालिकीय अधिकार—विधानपरिषद के सदस्य मंत्रिपरिषद के सदस्य होते हैं। इसके अतिरिक्त विधानपरिषद मंत्रिपरिषद से प्रश्न पूछकर, वाद-विवाद कर तथा विविध प्रकार के प्रस्ताव पास कर मंत्रिपरिषद पर नियंत्रण रखती है। किन्तु संविधान के अनुसार मंत्रिपरिषद विधानसभा के प्रति उत्तरदायी है। अतएव मंत्रिपरिषद के नियंत्रण की वास्तविक शक्ति विधान-सभा के हाथों में है। विधानपरिषद यदि मंत्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव भी पास कर दे तो भी मंत्रिपरिषद की स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे अपने पद पर बनी रहती हैं।

इस प्रकार जहाँ तक कि शक्तियों या अधिकारों का प्रश्न है, मंत्रिपरिषद की स्थिति महत्वहीन है। वह एक सर्वथा शक्तिहीन सदन है।

क्या विधान-परिषद एक अनुपयोगी सदन है ? क्या उसे समाप्त कर देना चाहिए ?

विधान-परिषद की शक्तिहीनता तथा कई अन्य आधारों पर उसकी कटु आलोचना की गई है। आलोचना के प्रसंग में विधान-परिषद के विरुद्ध मुख्यतया निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं—

1. विधान-परिषद की रचना दोषपूर्ण है। उसमें समाज के सभी वर्गों का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं है।
2. विधान-परिषद पराजित राजनयिकों का आश्रय-स्थल है। विधानसभा या लोकप्रिय सदन के निर्वाचन में जो राजनेता पराजित हो जाते हैं, या जिनके प्रत्यक्ष निर्वाचन में जीतने की सम्भावना नहीं रहती, उन्हें विधान-परिषद का सदस्य बना दिया जाता है।
3. भारत एक निर्धन देश है। उसमें विधान-परिषद जैसे द्वितीय सदन के होने से अना-वश्यक धन का व्यय होता है। आलोचकों ने उसे व्यर्थ का बकवास करने वाला और खर्चीला सदन (Talkative and Expensive House) कहा है।
4. विधान-परिषद को सन्निहित हितों का दुर्ग कहा जा सकता है। आलोचकों के अनुसार विधान-परिषद कुछ विशिष्ट वर्गों के हितों की रक्षा के अतिरिक्त और कुछ नहीं करती।
5. आलोचकों ने विधान-परिषद की शक्ति और कार्यों की दृष्टि से भी आलोचना की है। उनके अनुसार विधान-परिषद के हाथों में वास्तविक शक्तियाँ नहीं हैं। उसकी विधायी, वित्तीय और कार्यपालिकीय शक्तियाँ महत्वहीन हैं। वह किसी साधारण विधेयक को अधिक से अधिक तीन महीने तक रोक सकती है। इसके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं कर सकती। धन-विधेयक को वह केवल 14 दिन तक रोक सकती है। इसी प्रकार राज्य की मंत्रिपरिषद पर भी उसका नियन्त्रण है। कारण स्पष्ट है,

मंत्रिपरिषद विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। विधानसभा द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव पास होने पर मंत्रिपरिषद त्यागपत्र देने के लिए बाध्य होती है जबकि विधान-परिषद द्वारा पास अविश्वास के प्रस्ताव का कोई महत्व नहीं है। इसी प्रकार विधान-परिषद को निर्वाचन के क्षेत्र में भी कोई महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त नहीं है। उदाहरण के लिए, विधान-परिषद को राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेने का अधिकार प्राप्त नहीं है, जबकि विधानसभा राष्ट्रपति के निर्वाचन में सक्रिय भूमिका निभाती है।

विधान-परिषद के दोषपूर्ण संगठन और उसकी अप्रभावी शक्तियों के कारण उसे सर्वथा एक अनुपयोगी सदन बताया गया है। उन्हें राज्य की व्यवस्थापिका का शोभा और श्रृंगार सदन कहा गया है। अतएव अनेक आलोचकों के अनुसार ऐसे शक्तिहीन और अनुपयोगी सदन को समाप्त कर देना चाहिए। विधान-परिषद की इसी सन्देहास्पद स्थिति के कारण उसे अनेक राज्यों में स्थापित नहीं किया गया। वर्तमान समय में भारत के 25 राज्यों में से केवल पांच राज्यों में ही विधान-परिषदों का अस्तित्व है। मध्य-प्रदेश में विधान-परिषद की स्थापना का प्रस्ताव पास हुआ, किन्तु आज तक वहां परिषद की स्थापना नहीं की गई। पंजाब और बंगाल में पहले विधान-परिषद थीं, किन्तु उन्हें बाद में समाप्त कर दिया गया। बिहार और उत्तर-प्रदेश की विधानसभाओं ने भी अपने-अपने राज्यों से विधान-परिषद को समाप्त करने का प्रस्ताव पास कर दिया था, किन्तु अभी इस प्रस्ताव को क्रियान्वित नहीं किया गया है। ये तथ्य इस बात का संकेत देते हैं कि विधान-परिषदें राज्य-विधान-मण्डल का दूसरा सदन नहीं, किन्तु दूसरे स्तर का सदन हैं। उनकी उपयोगिता, अस्तित्व और महत्व अनेक प्रश्न-चिह्नों से घिरा है।

विधान-परिषद सर्वथा अनुपयोगी सदन नहीं है---वह एक उपयोगी सदन है

यह सत्य है कि विधान-परिषद उतना शक्तिशाली सदन नहीं है जितना विभानसभा, किन्तु फिर भी उसे सर्वथा अनुपयोगी सदन नहीं कहा जा सकता। भारत की संसदात्मक और संवैधानिक व्यवस्था में उसका अपना महत्व है, अपना औचित्य है और अपनी उपयोगिता है। उसकी उपयोगिता एवं औचित्य के सम्बन्ध में अनेक तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। इन तर्कों को संक्षेप में हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. विधान-परिषद विधानसभा द्वारा शीघ्रता में पास किए गए विधेयकों पर अंकुश का कार्य करती है। इस प्रकार विधान-परिषद भावावेश में पास किए गए विधेयकों के मार्ग में अवरोध उत्पन्न कर अनुचित विधेयकों को पास होने से रोकने में योग देती है। इस प्रकार परिषद एक उपयोगी अवरोधक की भूमिका निभाती है।
2. यदि एक सदन को व्यवस्थापन की अपरिमित शक्ति दे दी जाय, तो वह निरंकुश हो जायगा। एक दूसरे सदन के रूप में विधान-परिषद का अस्तित्व इस प्रकार की निरंकुशता को रोकता है।
3. विधानसभा के सदस्य प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने जाते हैं। शांतिप्रिय, वरिष्ठ, अनुभवी और सुविज्ञ लोगों को प्रायः इस प्रकार के प्रत्यक्ष निर्वाचन में खड़ा होना रुचिकर नहीं होता। विधान-परिषद इस प्रकार के व्यक्तियों को सदस्य होने का अवसर प्रदान करती है। इसके साथ ही विधान-परिषद में अनेक विशिष्ट वर्गों को प्रतिनिधित्व मिल जाता है।
4. वर्तमान समय में विधानसभा का कार्यभार अत्यधिक बढ़ गया है। विधान-परिषद विधानसभा की सहायता कर उसके कार्यभार को हलका करने में योग देती है।

5. विधान-परिषद के पास विधेयकों पर विचार करने के लिए पर्याप्त समय होता है। अतएव विधान-परिषद के कारण विधेयकों पर अधिक विस्तार और अधिक सावधानी से विचार किया जाता है।

इन्हीं कारणों से विधान-परिषद व्यवस्थापिका का एक उपयोगी अंग मानी गई है।

विधान-मण्डल के दोनों सदनों का सम्बन्ध : विधानसभा और विधान-परिषद का तुलनात्मक विवेचन

विधानसभा और विधान-परिषद राज्य के विधान-मण्डल के दो महत्वपूर्ण अंग हैं। दोनों ही प्रदेश की लोकतांत्रिक व्यवस्था के आधार-स्तम्भ हैं। दोनों ही राज्य की व्यवस्थापिका-रूपी रथ के दो चक्र हैं। यदि विधानसभा जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदस्यों का प्रभावशाली सदन है तो दूसरी ओर विधान-परिषद विशिष्ट वर्गों का प्रतिनिधित्व करने वाली परोक्ष रूप से निर्वाचित परिषद। यदि विधानसभा शासन में परिवर्तन करने के लिए अस्थायी माध्यम है तो विधान-परिषद शासन में सन्तुलन बनाए रखने वाला एक स्थायी सदन। किन्तु जहाँ तक शक्ति, अधिकार और प्रभाव का प्रश्न है, दोनों सदनों में पर्याप्त अन्तर है। "यदि विधानसभा राज्य के राजनैतिक गगन का प्रकाशमान नक्षत्र है तो विधान-परिषद की स्थिति एक टिमटिमाते हुए दीपक की है।"

दोनों सदनों के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन हम निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

1. कार्यपालिका के नियन्त्रण की दृष्टि से—कार्यपालिका के नियन्त्रण की दृष्टि से बाह्य रूप से दोनों की स्थिति समान प्रतीत होती है। दोनों सदनों के सदस्य मंत्रिपरिषद के सदस्य होते हैं। दोनों सदनों को राज्य की कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिपरिषद से प्रश्न पूछने, उसके कार्यों, उपलब्धियों और असफलताओं पर वाद-विवाद करने, मन्त्रिपरिषद के विरुद्ध विविध प्रकार के प्रस्ताव पास करने का अधिकार है। किन्तु संविधान के अनुसार मंत्रिपरिषद विधानसभा के प्रति उत्तरदायी है। उत्तरदायित्व और अधिकार साथ-साथ चलते हैं। फलतः मंत्रिपरिषद तभी तक अपने पद पर बनी रहती है जब तक कि उसे विधानसभा का विश्वास प्राप्त रहता है। विधानसभा के द्वारा मंत्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास-प्रस्ताव के पास होने का अर्थ होगा मंत्रिपरिषद का त्यागपत्र। विधान-परिषद भी मंत्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर सकती है, किन्तु विधान-परिषद के प्रस्ताव मात्र कागजी उद्गार के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। इस प्रकार कार्यपालिका के नियन्त्रण के सूत्र द्वारा विधान-मण्डल के ये दोनों सदन परस्पर सम्बन्धित हैं। किन्तु जो शक्ति और श्रेष्ठता विधानसभा को प्राप्त है, वह विधान-परिषद को प्राप्त नहीं है।

> **विधानसभा और विधान-परिषद का तुलनात्मक विवेचन**
> 1. कार्यपालिका के नियन्त्रण की दृष्टि से
> 2. साधारण विधेयकों की दृष्टि से
> 3. धन-विधेयकों की दृष्टि से
> 4. निर्वाचन-अधिकार की दृष्टि से

2. साधारण विधेयकों की दृष्टि से—साधारण विधेयकों की दृष्टि से भी दोनों सदन एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। दोनों सदन व्यवस्थापिका के दो अंग हैं। विधायी प्रक्रिया में दोनों सदनों को अधिकार रहता है। उदाहरण के लिए, दोनों सदनों में साधारण विधेयक प्रस्तावित हो सकते हैं। दोनों सदनों में विधेयक पर विचार करना आवश्यक है। दोनों सदनों के सहयोग से विधेयक पास होकर राज्यपाल के हस्ताक्षर के उपरान्त कानून का रूप धारण करता है। किन्तु यदि किसी साधारण विधेयक के विषय में दोनों सदनों में मतभेद हो जाता है तो स्थिति विधान-

सभा के ही पक्ष में रहेगी। विधान-परिषद साधारण विधेयक को अपने पास अधिक से अधिक तीन महीने तक रोक सकेगी। विधानसभा द्वारा उसी विधेयक के दुबारा पास हो जाने पर विधान-परिषद को एक महीने के अन्दर निर्णय लेना आवश्यक होगा। यदि वह ऐसा नहीं करेगी, या परिषद पुनः ऐसे सुझाव का संशोधन प्रस्तुत करेगी जो विधानसभा को मान्य नहीं होंगे तो विधेयक उसी रूप में पारित माना जायगा जिस रूप में विधानसभा द्वारा वह दुबारा पास किया गया था। इस प्रकार कानून-निर्माण की दृष्टि से दोनों सदन परस्पर सम्बन्धित हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में भी विधानसभा की इच्छा निर्णायक है और विधान-परिषद की स्थिति गौण है।

3. धन-विधेयकों की दृष्टि से—कोई भी धन-विधेयक या वित्तीय विधेयक विधानसभा में ही पहले पेश किया जा सकता है। उसे विधान-परिषद में प्रस्तावित नहीं किया जा सकता। विधानसभा द्वारा पास होने पर धन-विधेयक विधान-परिषद के पास भेजा जाता है। धन-विधेयक को विधान-परिषद अपने सुझावों के उपरान्त 14 दिन के अन्दर वापस कर सकती है। परिषद के सुझावों को मानने के लिए विधानसभा बाध्य नहीं है। फलतः विधान-परिषद धन-विधेयक को 14 दिन से अधिक समय तक रोकने की अधिकारिणी नहीं है। इस प्रकार धन-विधेयक की दृष्टि से विधान-परिषद की स्थिति अत्यन्त नगण्य है।

4. निर्वाचन-अधिकार की दृष्टि से—निर्वाचन की दृष्टि से यदि हम दोनों सदनों का तुलनात्मक अध्ययन करें तो देखेंगे कि विधानसभा की स्थिति परिषद से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। विधानसभा को भारतीय राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेने का अधिकार है, किन्तु विधान-परिषद को राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेने का कोई अधिकार प्राप्त नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विधानसभा और विधान-परिषद अनेक दृष्टियों से एक-दूसरे से सम्बंधित हैं, पर इस संबंध में विधानसभा की स्थिति श्रेष्ठ और सशक्त है, जबकि विधान-परिषद की स्थिति एक गौण और अशक्त सदन की है।

उत्तर-प्रदेश की विधानसभा और विधान-परिषद :
एक तुलनात्मक शब्द-चित्र

विधानसभा और विधान-परिषद के तुलनात्मक विवेचन को संक्षेप में हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

विधानसभा

(प्रथम सदन)

1. रचना—सदस्य-संख्या =425।

2. सदस्यों की योग्यताएँ—(1) भारत का नागरिक हो। (2) वह 25 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो। (3) पागल या दिवालिया न हो तथा भीषण अपराध में दण्डित न हुआ हो। (4) सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर न हो।

3. निर्वाचन-पद्धति—विधानसभा के सदस्यों का निर्वाचन राज्य के नागरिकों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से गुप्त मतदान-पद्धति के अनुसार होता है।

विधान-परिषद

(द्वितीय सदन)

1. रचना—सदस्य-संख्या =108।

2. सदस्यों की योग्यताएँ—(1) भारत का नागरिक हो। (2) 30 वर्ष की आयु पुरी कर चुका हो। (3) वह पागल, दिवालिया न हो या भीषण अपराध में दण्डित न हुआ हो। (4) सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर न हो।

3. निर्वाचन-पद्धति—इसमें सदस्यों का अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचन होता है। ये सदस्य विभिन्न वर्गों और हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। 12 सदस्य राज्यपाल द्वारा मनोनीत होते हैं।

4. कार्यकाल—सामान्यतया इसका कार्यकाल 5 वर्ष होता है। परन्तु विशेष परिस्थिति में उसे इस कार्यकाल के पहले भी भंग किया जा सकता है।

5. शक्तियाँ—वह शक्तिशाली सदन है। इसके हाथों में मुख्यतया कार्यपालकीय, विधायी और वित्तीय शक्तियाँ निहित हैं।

4. कार्यकाल—यह स्थायी सदन है जिसके एक-तिहाई सदस्य प्रति दो वर्ष बाद अवकाश ग्रहण करते रहते हैं।

5. शक्तियाँ—यह एक शक्तिहीन सदन है।

दोनों सदनों पर समान रूप से लागू होने वाले प्रावधान

सदस्यों का वेतन और भत्ते—उत्तर प्रदेश राज्य विधान-मण्डल संशोधन अधिनियम, 1987 के अनुसार प्रदेश विधान-सभा तथा विधान-परिषद के सदस्यों के वेतन और भत्तों में पर्याप्त वृद्धि की गई है। वर्तमान समय में विधानसभा और विधान-परिषद के प्रत्येक सदस्य को 850 रुपये मासिक वेतन तथा अधिवेशन के दिनों में 85 रुपये प्रतिदिन भत्ता मिलता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सदस्य को प्रतिमाह निर्वाचन-क्षेत्र-भत्ता, चिकित्सा-भत्ता, यात्रा-भत्ता तथा निःशुल्क निवास की सुविधा प्राप्त है।

प्रत्येक सदस्य को प्रदेश में यात्रा करने के लिए निःशुल्क रेलवे कूपन तथा राजकीय बसों के पास मिलते हैं। इसके अतिरिक्त प्रदेश के बाहर यात्रा करने के लिए वर्ष में 85,000 हजार कि० मी० के रेलवे कूपन मिलते हैं।

सदस्यों की शपथ—विधान-मण्डल के दोनों सदनों के प्रत्येक सदस्य अपना स्थान ग्रहण करने के पूर्व राज्यपाल के सामने शपथ-ग्रहण करते हैं। इस शपथ में वह भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखने, भारत की प्रभुसत्ता तथा अखण्डता को अक्षुण्ण रखने तथा अपने कर्तव्यों के श्रद्धापूर्वक निर्वहन का वचन देता है।

सदस्यों के विशेषाधिकार—संसदीय परम्परा के अनुसार विधान-मण्डल के सदस्यों को कतिपय विशेषाधिकार प्राप्त हैं। ये विशेषाधिकार संक्षेप में इस प्रकार हैं—

1. संविधान तथा संविधान के अन्तर्गत बनाए गए नियमों द्वारा लगाए गए प्रतिबन्धों को छोड़कर प्रत्येक सदस्य को विधान-मण्डल के अपने सदन में बोलने या भाषण देने की पूरी स्वतन्त्रता होगी।
2. विधान-मण्डल में दिए गए भाषण के लिए किसी सदस्य पर न्यायालय में कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकेगा।
3. विधान-मण्डल की परिधि के अन्दर किसी भी सदस्य को सम्बंधित सदन के अध्यक्ष या सभापति की अनुमति के बिना बन्दी नहीं बनाया जा सकता। यदि क्षेत्र के बाहर किसी सदस्य को बन्दी बनाया जाता है तो इसकी सूचना सम्बंधित सदन के अध्यक्ष को देनी आवश्यक है।

सदन के अधिवेशन और गणपूर्ति—सदन के अधिवेशन को आमंत्रित करने का कार्य राज्यपाल द्वारा होता है। राज्यपाल को ही सदन की बैठक के स्थगन का अधिकार है।

संविधान के अनुसार वर्ष में विधान-मण्डल के कम-से-कम दो अधिवेशन होने चाहिए। एक अधिवेशन की पहली बैठक और दूसरे अधिवेशन की पहली बैठक के मध्य छह माह से अधिक का अन्तर नहीं होना चाहिए।

प्रत्येक सदन की गणपूर्ति (Quorum) दस या कुल संख्या का 1/10, जो भी अधिक हो वही, मानी जायगी।

राज्य में विधि-निर्माण की प्रक्रिया : राज्य विधान-मण्डल में कानून किस प्रकार बनते हैं ?

राज्य विधान-मंडल राज्य की व्यवस्थापिका है। अतएव इसका प्रमुख कार्य विधि-निर्माण है। राज्य के विधान-मंडल को उन सब विषयों पर विधि-निर्माण का अधिकार है जिसका कि राज्य-सूची या समवर्ती सूची[1] में उल्लेख हैं।

राज्य द्वारा विधि-निर्माण की प्रक्रिया पर विचार करने के पूर्व हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि जिन राज्यों में एकसदनात्मक व्यवस्थापिका है, वहाँ एक सदन के माध्यम से ही विधि-निर्माण की प्रक्रिया पूरी होती है। इसके विपरीत जहाँ पर दो सदनात्मक व्यवस्थापिका है, वहाँ विधि-निर्माण के कार्य में दोनों सदनों का योग रहता है। उत्तर-प्रदेश में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका है। यहाँ विधान-मंडल के दो सदन हैं। अतएव विधि-निर्माण में दोनों सदनों का योग रहता है।

विधान-मंडल की विधायी प्रक्रिया को हम प्रधानतया दो प्रमुख भागों में विभक्त कर सकते हैं—

1. साधारण विधेयक-सम्बन्धी प्रक्रिया।
2. धन-विधेयक-सम्बन्धी प्रक्रिया।

साधारण विधेयक-सम्ब्रन्धी प्रक्रिया

साधारण विधेयक दो प्रकार के हो सकते हैं—सरकारी विधेयक तथा गैर-सरकारी विधेयक या निजी विधेयक (Private Members Bill)। सरकारी विधेयक वह विधेयक होता है जो कि मन्त्रिपरिषद के किसी मन्त्री द्वारा सदन में प्रस्तुत किया जाता है। गैर-सरकारी विधेयक उस विधेयक को कहते हैं जो राज्य विधान-मंडल के किसी अन्य सदस्य (ऐसे सदस्य जो मन्त्रिपरिषद के सदस्य नहीं होते) द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

सरकारी विधेयकों के लिए कोई पूर्वसूचना (Notice) देने की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु गैर-सरकारी विधेयकों के लिए एक महीने पूर्व की सूचना देनी आवश्यक होती है।

किसी विधेयक को कानून का रूप धारण करने के लिए मुख्यतया निम्नलिखित अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है –

1. **विधेयकों की प्रस्तुति तथा शपथ-वाचन**—किसी भी साधारण विधेयक की सदन में प्रस्तुति की तिथि पहले निश्चित कर दी जाती है। उस निश्चित तिथि को विधेयक प्रस्तुत करने वाला सदस्य अपने स्थान पर खड़ा होकर उस विधेयक को प्रस्तावित करने के लिए सदन से अनुमति माँगता है और इसके बाद विधेयक के शीर्षक को पढ़कर सुनाता है। यदि आवश्यक समझता है तो उस विधेयक के विषय में एक संक्षिप्त भाषण भी दे सकता है।

इसके बाद सदन का अध्यक्ष उपस्थित सदस्यों का मत लेता है। यदि सदन के उपस्थित सदस्यों का बहुमत विधेयक को प्रस्तुत करने की अनुमति दे देता है तो अध्यक्ष (या सभापति) विधेयक की प्रस्तुति की घोषणा कर देता है। इसके बाद उस विधेयक को सरकारी गजट (शासन की सूचना-सम्बन्धी पत्रिका) में प्रकाशित कर दिया जाता है। छपे हुए विधेयक की प्रतियाँ सदस्यों को वितरित कर दी जाती हैं जिससे वे उसका अच्छी तरह अध्ययन कर अपने विचार व्यक्त कर सकें। विधेयक पास करने की प्रकिया का यह पहला चरण होता है। इसे प्रथम वाचन (First Reading of the Bill) कहते हैं।

1. राज्य-सूची या समवर्ती सूची के अन्तर्गत कौन-कौन से विषय आते हैं, इसके लिए केन्द्र और राज्य के सम्बंध' सम्बन्धी अध्याय देखिये।

(2) **द्वितीय वाचन**—प्रथम वाचन के उपरान्त निश्चित तिथि को विधेयक प्रस्तावित करने वाला सदस्य यह प्रस्ताव रखता है कि इसके विधेयक का द्वितीय वाचन किया जाय। इसके बाद सदन में विधेयक के मुख्य सिद्धान्तों पर विचार किया जाता है। इस अवस्था में विधेयक के सामान्य सिद्धान्तों पर ही वाद-विवाद किया जाता है, उसकी प्रत्येक धारा पर बहस नहीं होती।

यदि विचार-विमर्श के बाद विधेयक को स्वीकृत कर लिया जाता है तो विधेयक दूसरे स्तर पर पारित या पास माना जाता है। यदि सदन उसे अस्वीकृत कर देता है तो वह अस्वीकृत माना जाता है।

सदन द्वारा स्वीकृत होने पर विधेयक को प्रवर समिति[1] (Select Committee) के पास भेज दिया जाता है।

3. **प्रवर समिति अवस्था**—प्रवर समिति में विधेयक की प्रत्येक धारा पर, उसके प्रत्येक पक्ष पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाता है। इस प्रकार विचार करने के प्रसंग में अनेक सुझाव और संशोधन प्रस्तुत किए जाते हैं। इन सुझावों और संशोधनों के आधार पर समिति एक प्रतिवेदन तैयार करती है। समिति इस प्रतिवेदन के साथ विधेयक को सदन के पास वापस भेज देती है।

4. **प्रतिवेदन पर सदन में विचार**—प्रवर समिति द्वारा भेजे गए प्रतिवेदन पर सदन में विस्तार से विचार होता है। इस प्रक्रिया में समिति द्वारा प्रस्तुत संशोधनों पर विचार किया जाता है। सदस्य अपने भी संशोधन और सुझाव प्रस्तुत करते हैं। समिति द्वारा प्रस्तावित तथा सदस्यों द्वारा प्रस्तुत सुझावों और संशोधनों पर विचार करने के उपरान्त उन संशोधनों पर मतदान होता है। यदि कोई संशोधन प्रस्तुत नहीं होता, तो मूल धारा पर विचार किया जाता है। विधि-निर्माण की समग्र प्रक्रिया में प्रतिवेदन अवस्था अत्यन्त महत्वपूर्ण अवस्था मानी जाती है।

5. **तृतीय वाचन**—प्रतिवेदन अवस्था के उपरांन्त तृतीय वाचन की अवस्था प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में विधेयक के साधारण सिद्धान्तों पर पुनः विचार-विमर्श होता है, वाद-विवाद होता है। इसके साथ ही विधेयक की भाषा या शब्दावली में आवश्यक सुधार किया जाता है। इस अवस्था में विधेयक की धाराओं में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता। इस स्थिति में या तो सम्पूर्ण विधेयक को स्वीकार कर लिया जाता है या अस्वीकार। यदि विधेयक को मतदान के आधार पर बहुमत का समर्थन मिल जाता है तो विधेयक स्वीकृत समझा जाता है। यदि बहुमत का समर्थन नहीं मिलता तो विधेयक अस्वीकृत हो जाता है।

6. **विधेयक पर दूसरे सदन में विचार**—एक सदन द्वारा विधेयक स्वीकृत हो जाने पर उसे दूसरे सदन के पास भेजा जाता है।[2] दूसरे सदन में विधेयक को उन्हीं अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है जिन अवस्थाओं से होकर विधेयक प्रथम सदन से गुजरा था।

यदि विधानसभा द्वारा पारित विधेयक विधान-परिषद के पास भेजा जाता है तो विधान-परिषद विधेयक के सम्बन्ध में अग्रांकित कदम उठा सकती है—

---

1. सदन किसी विशेष विधेयक का अध्ययन करने और उस पर अपने विशिष्ट विचार व्यक्त करने के लिए समय-समय पर विशेष समिति नियुक्त करता है। ऐसी समित को प्रवर समिति कहते हैं। सदन के कुछ सदस्य इस समिति के सदस्य होते हैं। इसमें सामन्यतया 25 से लेकर 30 सदस्य तक होते हैं।

2. जिन राज्यों में दूसरा सदन नहीं होता, वहाँ विधेयक विधानसभा में उपर्युक्त प्रक्रिया से गुजरने के उपरान्त राज्यपाल के पास हस्ताक्षर के लिए भेज दिया जाता है।

1. वह विधेयक पर तीन महीने के अन्दर अपनी स्वीकृति दे सकती है।
2. वह विधेयक पर अपनी स्वीकृति तीन महीने तक के लिए रोक सकती है।
3. वह विधेयक को अपने सुझावों के साथ तीन महीने के अन्दर विधानसभा के पास वापस भेज सकती है।
4. वह विधेयक को अस्वीकृत कर उसे विधानसभा को वापस भेज सकती है।

पहली स्थिति में अर्थात् विधानपरिषद द्वारा पास होने पर विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास माना जायगा और हस्ताक्षर के लिए राज्यपाल के पास भेज दिया जायगा।

यदि विधानपरिषद तीन महीने तक विचार नहीं करती या अपने सुझावों के साथ वापस कर देती है अथवा उसे अस्वीकृत कर देती है तो इन दशाओं में विधानसभा विधेयक पर पुनः विचार करेगी। पुनः विचार करने के उपरान्त विधान-परिषद के पास पुनः भेज देती है।

यदि इस बार भी विधान-परिषद उस विधेयक को अस्वीकार कर देती है, या ऐसे संशोधन या सुझाव प्रस्तुत करती है जो विधानसभा को मान्य नहीं है अथवा दूसरी बार विधेयक के आने पर आने की तिथि से एक माह तक कोई निर्णय नहीं लेती तो विधेयक विधान-मंडल के दोनों सदनों द्वारा उसी रूप में पास माना जायगा जिस रूप में कि विधानसभा द्वारा दूसरी बार पास हुआ था।

7. राज्यपाल की स्वीकृति—दोनों सदनों द्वारा पास हो जाने पर विधेयक राज्यपाल के हस्ताक्षर के लिए भेज दिया जाता है। राज्यपाल के हस्ताक्षर होने के उपरान्त विधेयक (Bill) अधिनियम (Act) का रूप धारण कर लेता है। किन्तु यदि राज्यपाल चाहे तो विधेयक पर अपनी स्वीकृति न देकर अपने सुझावों के साथ उसे विधान-मंडल के पास वापस भेज सकता है। ऐसी स्थिति में विधान-मंडल विधेयक पर दुबारा विचार करेगा। इस विचार-प्रक्रिया में वह राज्यपाल के सुझावों को स्वीकार कर सकता है या अस्वीकृत कर सकता है। किन्तु विधान-मंडल द्वारा दुबारा विचार होने और पास किए जाने के बाद राज्यपाल को अपनी स्वीकृति देनी आवश्यक होगी।

राज्यपाल को कुछ विशेष प्रकार के विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए रोकने का अधिकार है। ऐसे विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के बाद ही अधिनियम बन सकेंगे।

राज्य विधान-मंडल की विधायी प्रक्रिया के उपर्युक्त विवेचन से हम कई निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

1. कोई साधारण विधेयक विधान-मंडल के किसी सदन में प्रस्तावित किया जा सकता है।
2. प्रस्तावित होने के बाद विधेयक को कई अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है।
3. विधेयक पर दोनों सदनों में विचार होना आवश्यक है।
4. यदि दोनों सदनों में किसी विधेयकों के सम्बन्ध में मतभेद होता है तो विधानसभा दूसरी बार विधेयक पर विचार करती है। दूसरी बार विधानसभा में पास विधेयक को विधान-परिषद अधिक-से-अधिक एक महीने के लिए रोक सकती है। इसके बाद विधेयक दोनों सदनों द्वारा पास माना जायगा।
5. राज्य विधान-मंडल में किसी विधेयक के बारे में मतभेद के सम्बन्ध में दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन का प्रावधान नहीं है, जैसा कि संसद के सम्बंध में है।
6. राज्य विधान-मंडल में विधि-निर्माण-प्रक्रिया में शक्ति-सन्तुलन विधानसभा के पक्ष में है।
7. विधान-मंडल द्वारा पास विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के बाद अधिनियम का रूप ग्रहण करता है।

धन-विधेयक के पास होने की प्रक्रिया

धन-विधेयक या वित्तीय विधेयक (Money Bill) वे विधेयक होते हैं जिनमें राज्य का आय-व्यय-सम्बन्धी कोई प्रस्ताव या प्रश्न निहित होता है। दूसरे शब्दों में धन-विधेयक या वित्तीय विधेयक के अन्तर्गत निम्नांकित प्रकार के विधेयक आते हैं—

1. किसी कर को लागू करने, समाप्त करने, परिवर्तन या व्यवस्थित करने से सम्बन्धित विधेयक।
2. ऋण लेने, राज्य द्वारा अनुदान प्रदान करने अथवा राज्य के किसी आर्थिक कार्य से सम्बन्धित विधेयक।
3. राज्य की संचित निधि (Consolidated Fund) तथा आकस्मिकता निधि (Contingency Fund) को किसी रूप में प्रभावित करने वाले विधेयक।
4. वे अन्य विधेयक जिन्हें विधानसभा का अध्यक्ष वित्त विधेयक की संज्ञा देगा।

वित्तीय विधेयक की प्रक्रिया के प्रमुख पक्ष इस प्रकार हैं—

1. कोई भी धन-विधेयक या वित्तीय विधेयक केवल विधानसभा में ही प्रस्तावित किया जा सकता है। उसे विधान-परिषद में प्रस्तावित नहीं किया जा सकता।
2. कोई भी धन-विधेयक के लिए पहले राज्यपाल की अनुमति लेनी आवश्यक है। राज्यपाल की अनुमति के विना कोई धन-विधेयक विधानसभा में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।
3. धन-विधेयक राज्य की मन्त्रिपरिषद के वित्त मन्त्री (Finance Minister) द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।
4. विधानसभा में पास हो जाने के उपरांत धन-विधेयक को विधान-परिषद के पास भेजा जाता है।
5. विधानपरिषद को धन-विधेयक पर 14 दिन के अन्तर्गत अपना निर्णय लेना होता है।
6. यदि विधानपरिषद धन-विधेयक को 14 दिन के अन्दर वापस नहीं करती तो वह विधेयक 14 दिन की अवधि समाप्त होने पर दोनों सदनों द्वारा पास माना जायगा।
7. विधानपरिषद द्वारा धन-विधेयक के सम्बन्ध में दिए गए सुझाव या किए गए संशोधन को मानना, न मानना विधानसभा की इच्छा पर निर्भर करता है।
8. दोनों सदनों द्वारा इस प्रकार पास हो जाने पर विधेयक को राज्यपाल के हस्ताक्षर के लिए भेज दिया जाता है। राज्यपाल के हस्ताक्षर हो जाने के बाद धन-विधेयक अधिनियम का रूप धारण कर लेगा।

कुछ प्रमुख धन-विधेयक

धन-विधेयक के कई रूप होते हैं। कुछ प्रमुख धन-विधेयक इस प्रकार हैं—

1. वार्षिक आय-व्यय विवरण (Annul Budget)
2. अनुदान की माँग (Demand for Grants)
3. विनियोग विधेयक (Appropriation Bill)
4. अन्य वित्त-विधेयक (Finance Bill)

1. वार्षिक आय-व्यय विवरण—प्रत्येक वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ में उस वर्ष के अनुमानित आय-व्यय का विवरण राज्यपाल विधानसभा के समक्ष रखवाता है। इसी को वार्षिक आय-व्यय-विवरण (Annul Budget) कहते हैं। इस विवरण में एक ऐसा भी वर्ग रहता है जिसे

संचित निधि कहते हैं और जो विधानसभा की स्वीकृति से मुक्त रहता है। इस वर्ग पर केवल वाद-विवाद ही हो सकते हैं। संचित निधि वाले व्ययों के अन्तर्गत राज्यपाल के वेतन और भत्ते, विधानमण्डल के दोनों सदनों के उपाध्यक्ष, अध्यक्ष, सभापति और उपसभापति के वेतन और भत्ते, राज्य के ऋण-सम्बन्धी व्यय, उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन और भत्ते, न्यायालय के निर्णय, आज्ञप्ति या पंचाट के भुगतान में आने वाली राशियाँ और अन्य खर्च जो विधान मण्डल विधि द्वारा निश्चित करे, संचित निधि के अन्तर्गत रखे जाते हैं।

वार्षिक वित्त-विवरण के अन्य बर्गों पर विधानसभा अपनी स्वीकृति दे सकती है, कटौती कर सकती है, या संशोधन कर सकती है।

2. अनुदान की माँग---वार्षिक आय-व्यय विवरण की संचित निधि को छोड़कर अन्य खर्चों की अनुमानित राशियाँ विधानमण्डल के समक्ष स्वीकृति के लिए माँग के रूप में रखी जाती हैं। इन्हें अनुदान की माँग (Demand for Grants) कहते हैं। विधानसभा इन्हें स्वीकृत या अस्वीकृत कर सकती है।

3. विनियोग-विधेयक—अनुदान की माँग स्वीकृत होने के बाद खर्च के लिए तथा संचित निधि पर भारित खर्च के लिए एवं संचित निधि से रुपया निकालने के लिए विधेयक विधानसभा में पेश किया जाता है। इसे विनियोग-विधेयक (Appropriation Bill) कहते हैं। विनियोग-विधेयक पर वाद-विवाद हो सकता है, लेकिन इसमें संशोधन नहीं होता। विनियोग-विधेयक के स्वीकृत होने के बाद संचित निधि से खर्च किया जाता है।

4. अन्य वित्त-विधेयक—वार्षिक वित्त-विवरण वित्तीय वर्ष के आरम्भ में ही प्रस्तुत किया जाता है। उसके पारित हो जाने के बाद वित्तीय वर्ष के बीच में यदि यह जान पड़े कि किसी बात या मद के लिए स्वीकृत अनुदान अपर्याप्त है या किसी नये मद पर व्यय करना अनिवार्य हो गया है अथवा किसी मद में स्वीकृत राशि से अधिक व्यय हो गया है, तो राज्यपाल विधानसभा के सामने एक अनुपूरक वित्तीय विवरण (Supplementary Budget) उपस्थित कर सकता है। विधानसभा इसे स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है।

राज्य के विधान-मण्डल की विधायी शक्ति पर प्रतिबन्ध

राज्य की विधायी प्रक्रिया असीमित या अनियंत्रित नहीं है। उस पर अनेक प्रतिबंध हैं। इन प्रतिबंधों को संक्षेप में हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. कतिपय ऐसे विषय हैं जिन पर बनाए गए कानून तब तक लागू नहीं हो सकते जब तब कि उन्हें राष्ट्रपति की स्वीकृति न मिल जाय। इन विषयों में राज्य द्वारा नागरिकों की सम्पत्ति पर अधिकार, उन वस्तुओं पर कर जिन्हें संसद ने अनिवार्य वस्तुएँ घोषित की हैं; तथा समवर्ती सूची के अन्तर्गत आने वाले ऐसे विषय जिन पर संसद ने विधि-निर्माण किया है, किन्तु राज्य द्वारा निर्मित कानून से उनका विरोध होता हो।
2. वाणिज्य-व्यापार या आवागमन की सुविधा पर प्रतिबंध लगाने वाले कानून राष्ट्रपति की अनुमति के बिना प्रस्तावित नहीं हो सकते।
3. संकटकाल की घोषणा हो जाने पर भारतीय संसद को राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर भी विधि-निर्माण का अधिकार प्राप्त हो जाता है।
4. राज्य में वैधानिक संकट उपस्थित होने पर राज्य की विधानसभा राष्ट्रपति द्वारा भंग कर दी जाती है।
5. यदि राज्यसभा राज्यसूची के अन्तर्गत आने वाले किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का विषय घोषित कर देती है तो भारतीय संसद द्वारा उस विषय पर कानून बनाया जा सकता है। किन्तु इस प्रकार के कानून निश्चित अवधि तक ही लागू रहते हैं।

लघु तथा अति लघु उत्तरीय प्रश्न तथा उनके उत्तर

लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—विधानसभा के सदस्य होने के लिए व्यक्ति में क्या योग्यताएँ होनी चाहिए ?

उत्तर—(1) वह भारत का नागरिक हो। (2) उसकी आयु 25 वर्ष के कम न हो। (3) वह संसद द्वारा निर्धारित योग्यताएँ पूरी करता हो। (4) उसका नाम मतदाता-सूची में हो। (5) वह सरकार के अधीन कोई लाभ का पद धारण न किए हो।

प्रश्न 2—उत्तर प्रदेश विधानसभा का गठन कैसे किया जाता है ?

उत्तर—उत्तर प्रदेश विधानसभा में 425 सदस्य हैं। इन सदस्यों का निर्वाचन प्रदेश के वयस्क नागरिकों द्वारा होता है। इसी प्रकार प्रत्येक राज्य की विधानसभा के सदस्यों का निर्वाचन होता है। प्रत्येक राज्य की विधानसभा के सदस्यों की संख्या अलग-अलग है।

प्रश्न 3—उत्तर प्रदेश की विधान-परिषद का गठन कैसे होता है ?

उत्तर—उत्तर प्रदेश विधान-परिषद में सदस्यों की कुल संख्या 108 है। इसके सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से होता है। इसमें कुल संख्या का एक-तिहाई स्थानीय संस्थाओं के प्रतिनिधियों द्वारा, एक-तिहाई विधानसभा के प्रतिनिधियों द्वारा, बारहवाँ भाग राज्य के स्नातकों द्वारा, अन्य बारहवाँ भाग अध्यापक प्रतिनिधियों द्वारा चुना जाता है। 12 सदस्य राज्यपाल द्वारा मनोनीत किए जाते हैं।

प्रश्न 4—विधान-परिषद के सदस्य पद पर निर्वाचित होने के लिए क्या योग्यताएँ हैं ?

उत्तर—(1) वह भारत का नागरिक हो। (2) वह तीस वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो। (3) वह राज्य की विधान-सभा के किसी निर्वाचन-क्षेत्र का मतदाता हो। (4) वह पागल या दिवालिया न हो। (5) वह सरकार का वेतनभोगी कर्मचारी न हो।

अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—उत्तर प्रदेश विधान-सभा के सदस्यों की कुल संख्या कितनी है ?

उत्तर—425।

प्रश्न 2—उत्तर प्रदेश विधान-परिषद के सदस्यों की कुल संख्या कितनी है ?

उत्तर—108।

प्रश्न 3—उन राज्यों का नाम बताइए जहाँ वर्तमान समय में विधान-परिषद है।

उत्तर—(1) उत्तर प्रदेश, (2) बिहार, (3) महाराष्ट्र, (4) कर्नाटक, (5) जम्मू-कश्मीर।

प्रश्न 4—उन दो राज्यों के नाम बताइए जहाँ विधान-परिषद समाप्त कर दी गई है।

उत्तर—(1) पश्चिमी बंगाल, (2) पंजाब।

प्रश्न 5—उत्तर प्रदेश विधान-मण्डल के सदस्यों के वेतन और भत्ते क्या हैं ?

उत्तर—वर्तमान समय में उत्तर प्रदेश के विधान-मण्डल के प्रत्येक सदस्य का मूल वेतन 850 रुपये निर्वाचन-क्षेत्रीय भत्ता 2,600 रुपये, वर्ष के पूरे 365 दिन प्रतिदिन के हिसाब से 85 रुपये भत्ता तथा मकान किराए के लिए 350 रु० मासिक भत्ता दिया जाता है। इसके अतिरिक्त विधायकों को पेंशन की भी व्यवस्था है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत में ६.इ राज्य (उत्तर प्रदेश) के विधान-मंडल के संगठन और कार्यों पर प्रकाश डालिए। (उ० प्र०, 1982

2. राज्यों में विधान-मंडलों में कानून बनाने की क्या प्रक्रिया है ? समझाकर लिखिए। (उ० प्र०, 1976, 81)

3. उत्तर प्रदेश की विधानपरिषद की रचना किस प्रकार होती है ? उसके कार्यों का वर्णन कीजिए। (उ० प्र०, 1974, 76, 80)

4. विधानपरषिद का संगठन बताइए। इस राज्य में विधानपरिषद के महत्व और उसकी आवश्यकता पर प्रकाश डालिए। (उ० प्र०, 1984)

5. अपने राज्य की विधानसभा की शक्तियों तथा उसके कार्यों की व्याख्या कीजिए। (उ० प्र०, 1979)

6. उत्तर प्रदेश के विधान-मंडल के दोनों सदनों के पारस्परिक सम्बन्ध पर प्रकाश डालिए। (उ० प्र०, 1983, 90)

7. इस राज्य की विधान सभा के संगठन का संक्षिप्त परिचय देते हुए उसके कार्यों और शक्तियों का वर्णन कीजिए।

लघु प्रश्न

1. विधानसभा के सदस्यों की योग्यताओं और अयोग्यताओं पर प्रकाश डालिए।
2. विधानसभा के कार्यपालिकीय अधिकार बताइए।
3. विधानसभा के विधायी कार्य बताइए। (उ० प्र०, 1985)
4. विधानपरिषद की सदस्यता के लिए आवश्यक योग्यताएँ बताइए।
5. विधानसभा के अध्यक्ष के पाँच अधिकार और कार्य बताइए।
6. विधानसभा किस प्रकार मंत्रिपरिषद पर नियंत्रण रखती है ? (उ० प्र०, 1990)

अति लघु प्रश्न

1. उत्तर प्रदेश की विधानसभा में कुल कितने सदस्य होते हैं ?
2. उत्तर प्रदेश की विधानपरिषद में कुल कितने सदस्य होते हैं ?
3. विधानसभा का कार्यकाल कितना है ?
4. विधानसभा की सदस्यता के लिए कम-से-कम कितनी आयु होनी चाहिए ?
5. विधानपरिषद की सदस्यता के लिए कम-से-कम कितनी आयु होनी चाहिए ?
6. विधानपरिषद में राज्यपाल द्वारा कितने सदस्य मनोनीत किए जाते हैं ?
7. विधानपरिषद में कितने सदस्य राज्य के शिक्षकों द्वारा मनोनीत होते हैं ?
8. विधानपरिषद के दो मुख्य पदाधिकारियों के नाम बताइए।
9. विधानसभा के अध्यक्ष के अधिकार बताइए।
10. वित्तीय विधेयक विधान-मंडल के किस सदन में पहले पेश किया जाता है ?
11. उन दो राज्यों का नाम बताइए जहाँ विधानपरिषद है।
12. विधानपरिषद के सदस्यों का कार्यकाल बताइए।

अध्याय 19

राज्य की न्याय-व्यवस्था : उच्च न्यायालय तथा अधीनस्थ न्यायालय

● उच्च न्यायालय का संगठन ● उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार ● उच्च न्यायालय की स्वतन्त्रता के लिए प्रावधान ● राजस्व न्यायालय ● विशेष न्यायालय ● जिले की न्याय-व्यवस्था

आमुख

उच्च न्यायालय राज्य की न्यायपालिका का शीर्षस्थ अंग है। वह देश की समन्वित न्याय-शृंखला की प्रादेशिक कड़ी है। राज्य के न्यायिक संगठन का शीर्षस्थ अभिकरण है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 214 से लेकर 237 तक राज्य के उच्च न्यायालय के संगठन और शक्तियों पर प्रकाश डालते हैं। उदाहरण के लिए, अनुच्छेद 214 में कहा गया है कि 'प्रत्येक राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय होगा।' संविधान के अनुसार संसद को यह अधिकार है कि यदि वह चाहे तो कानून द्वारा दो या दो से अधिक राज्यों के लिए अथवा दो या दो से अधिक राज्य तथा एक या एक से अधिक संघ-शासित क्षेत्र के लिए एक ही उच्च न्यायालय का प्रावधान कर सकती है। उदाहरण के लिए, पश्चिमी बंगाल व अंडमान तथा निकोबार द्वीप-समूह के लिए एक ही उच्च न्यायालय है। इसी प्रकार असम, मिजोरम, त्रिपुरा, अरुणाचल, मणिपुर, नागालैंड व मेघालय के लिए एक ही उच्च न्यायालय है। केरल तथा महाराष्ट्र के उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार में कतिपय केन्द्र-शासित क्षेत्र आते हैं।

आगे दी हुई तालिका से विविध राज्यों के उच्च न्यायालयों की क्षेत्र-परिधि का एक परिचय मिल जायेगा—

उच्च न्यायालय का नाम	स्थापना का वर्ष	कार्य-केन्द्र	सहायक न्याय-पीठ	प्रादेशिक क्षेत्राधिकार राज्य या क्षेत्र का नाम
1. इलाहाबाद	1866	इलाहाबाद	लखनऊ	उत्तर प्रदेश
2. आन्ध्र	1954	हैदराबाद		आन्ध्र प्रदेश
3. बम्बई	1861	महाराष्ट्र	नागपुर	महाराष्ट्र
4. कलाकत्ता	1861	कलकत्ता		पश्चिमी बंगाल और अण्डमान तथा निकोबार द्वीपसमूह
5. दिल्ली	1966	दिल्ली	नई दिल्ली	
6. गौहाटी	1972	गौहाटी	इम्फाल और अगरतला	आसाम, मणिपुर, नागा-लैंड, त्रिपुरा, मेघालय, मिजोरम, अरुणाचल
7. गुजरात	1960	अहमदाबाद		गुजरात
8. हिमाचल	1971	शिमला		हिमाचल प्रदेश
9. जम्मू-कश्मीर	1928	श्रीनगर	जम्मू	जम्मू-कश्मीर
10. केरल	1956	एर्नाकुलम		केरल तथा लक्षद्वीप

11. मध्य प्रदेश	1956	जबलपुर	ग्वालियर तथा इन्दौर	मध्य प्रदेश
12. मद्रास	1861	मद्रास		तमिलनाडु तथा पाण्डिचेरी
13. मैसूर	1884	बंगलोर		कर्णाटक
14. उड़ीसा	1948	कटक		उड़ीसा
15. पटना	1916	पटना	राँची	बिहार
16. पंजाब और हरियाणा	1947	चंडीगढ़		पंजाब, हरियाणा तथा चण्डीगढ़
17. राजस्थान	1949	जोधपुर	जयपुर	राजस्थान
18. सिक्किम	1975	गंगटोक		सिक्किम

उच्च न्यायालय का संगठन (रचना) न्यायाधीशों की संख्या

उच्च न्यायालय का गठन एक मुख्य न्यायाधीश तथा कुछ अन्य न्यायाधीशों द्वारा होता है। किसी उच्च न्यायालय में कितने न्यायाधीश होंगे, इसका निर्णय राष्ट्रपति करता है। न्यायालय की स्थिति, कार्य तथा प्रादेशिक क्षेत्र के अनुसार विभिन्न उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की संख्या अलग-अलग होती है। उदाहरण के लिए, इलाहाबाद उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की कुल स्वीकृत संख्या 60 है। इसमें से 44 न्यायाधीश स्थायी तथा 16 अतिरिक्त न्यायाधीश होते हैं, जबकि कलकत्ता उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या 37 है।

कार्य की अधिकता के कारण उच्च न्यायालय में कुछ समय के लिए अस्थायी न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाती है। ये अस्थायी न्यायाधीश एक या दो वर्ष के लिए नियुक्त किये जाते हैं।

संविधान के 224वें अनुच्छेद के अनुसार मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति लेकर उपयुक्त व्यक्ति को 'तदर्थ न्यायाधीश' (Adhoc judge) के पद पर कार्य करने के लिए आमन्त्रित कर सकता है।

न्यायाधीशों की नियुक्ति—उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश तथा सम्बन्धित राज्य के राज्यपाल के परामर्श से करता है।

उच्च न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति भी राष्ट्रपति करता है। इनकी नियुक्ति में राष्ट्रपति भारत के सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश तथा राज्य के राज्यपाल के अतिरिक्त उस राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की भी सलाह लेता है।

संसद उच्च न्यायालय के संगठन में परिवर्तन कर सकती है। इस प्रकार राज्य के विधान-मण्डल को उच्च-न्यायालय के संगठन में परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की योग्यताएँ—उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति में अग्रलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है—

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. वह कम-से-कम 10 वर्ष तक भारत के किसी क्षेत्र में न्याय-सम्बन्धी पद पर कार्य कर चुका हो अथवा एक या एक से अधिक उच्च न्यायालय का लगातार 10 वर्ष तक अधिवक्ता रह चुका हो।

यदि कोई व्यक्ति न्यायिक पद तथा अधिवक्ता दोनों कार्यों को मिलाकर दस वर्ष का अनुभव रखता हो, तो वह न्यायाधीश नियुक्त होने के योग्य माना जायगा।

3. वह 62 वर्ष से कम आयु का हो।

42वें संशोधन द्वारा नई योग्यता का समावेश—संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम (1976) में उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति के लिए निम्नांकित प्रावधान किए गये हैं—

1. ऐसा कोई व्यक्ति उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किया जा सकता है जो 10 वर्ष तक किसी न्यायाधिकरण के सदस्य के पद पर रह चुका हो या संघ या राज्य के अधीन कोई ऐसा पद धारण कर चुका हो जिसमें विधि का विशेष ज्ञान अपेक्षित हो।
2. ऐसा व्यक्ति जो राष्ट्रपति की दृष्टि में सुविख्यात न्यायशास्त्री है, भी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर नियुक्त हो सकता है।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन—संविधान के 54वें संशोधन अधिनियम के अनुसार उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन में वृद्धि की गई है। इस संशोधित व्यवस्था के अनुसार मुख्य न्यायाधीश को 9,000 रुपये प्रति माह वेतन तथा 500 रुपये प्रति माह भत्ता और अन्य न्यायाधीशों को 8000 रु० प्रति माह वेतन तथा 300 रुपया प्रति माह भत्ता मिलता है।

अवकाश-प्राप्ति के बाद मुख्य न्यायाधीश को 54 हज़ार रु० तथा अन्य न्यायाधीशों को 48 हजार स्पष्ट वार्षिक पेंशन के रूप में मिलता है।

संसद को कानून द्वारा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन में वृद्धि करने या परिवर्तन करने का अधिकार है। किन्तु किसी भी न्यायाधीश के वेतन, भत्ते आदि में उसकी पदावधि के अन्तर्गत कटौती नहीं की जा सकती। उच्च न्यायालय (साथ ही सर्वोच्च न्यायालय) के न्यायाधीशों के वेतन में केवल एक स्थिति में कटौती की जा सकती है और वह तब जबकि वित्तीय संकटकाल की घोषणा की जा चुकी हो और वित्तीय संकटकाल के प्रावधान लागू हों।

न्यायाधीशों का स्थानान्तरण—संविधान के अनुच्छेद 222 के अनुसार राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश के परामर्श से उच्च न्यायालय के किसी न्यायाधीश को एक उच्च न्यायालय से दूसरे उच्च न्यायालय में स्थानान्तरित कर सकता है। सामान्यतया स्थानान्तरण के नियम को अपनाया नहीं जाता, किन्तु विशेष परिस्थितियों में स्थानान्तरण के नियम को अनेक अवसरों पर अपनाया गया है।

इधर यह माँग बल पकड़ती जा रही है कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश निष्पक्ष रूप से कार्य कर सकें, इसलिए उनका स्थानान्तरण होना चाहिए।

अवकाश-प्राप्त न्यायाधीशों की वकालत पर प्रतिबन्ध—न्याय का कार्य निष्पक्ष रूप से सम्पन्न हो, इस दृष्टि से अवकाश-प्राप्त न्यायाधीशों की वकालत पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। संविधान के अनुच्छेद 220 के अनुसार उच्च न्यायालय का कोई भी स्थायी न्यायाधीश अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त उस उच्च न्यायालय या न्यायाधिकरण में वकालत नहीं कर सकता जहाँ वह न्यायाधीश रह चुका है। वह केवल सर्वोच्च न्यायालय तथा अपनी सेवा के न्यायालय के अतिरिक्त अन्य उच्च न्यायालयों में वकालत कर सकता है।

न्यायाधीशों द्वारा शपथ-ग्रहण— प्रत्येक न्यायाधीश नियुक्ति के उपरान्त तथा पद ग्रहण करने के पूर्व राज्यपाल या राज्यपाल द्वारा इस दृष्टि से नियुक्त किसी अन्य व्यक्ति के सामने एक शपथ ग्रहण करता है। इस शपथ में वह यह प्रतिज्ञा करता है कि वह भारत के संविधान के प्रति श्रद्धा तथा निष्ठा रखेगा और सम्यक् प्रकार से एवं श्रद्धापूर्वक अपनी योग्यता, ज्ञान तथा विवेक से अपने कर्तव्यों का भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना पालन करेगा तथा संविधान एवं कानून की मर्यादा को बनाए रखेगा।

उच्च न्यायालय का कार्य-केन्द्र—सामान्यतया उच्च न्यायालय का मुख्य कार्य-केन्द्र उस राज्य की राजधानी में होता है। किन्तु कुछ राज्यों में ऐसा नहीं है। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश में उच्च न्यायालय का मुख्य कार्य-केन्द्र इलाहाबाद में है। इसकी एक शाखा लखनऊ में स्थापित है।[1]

उच्च न्यायालय का अधिकार और कार्यक्षेत्र

उच्च न्यायालय को अपने क्षेत्र के अन्तर्गत महत्वपूर्ण न्यायिक अधिकार प्राप्त हैं। इन अधिकारों तथा उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार का अध्ययन हम निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

1. प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (Original jurisdiction)
2. अपीलीय क्षेत्राधिकार (Appellate jurisdiction)
3. प्रशासकीय क्षेत्राधिकार (Administrative jurisdiction)
4. अभिलेख न्यायालय के रूप में कार्य (A Court of Record)

1. उच्च न्यायालय का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार

उच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार से आशय उस क्षेत्राधिकार से है जिसके अनुसार कि कोई विवाद उच्च न्यायालय में प्राथमिक स्तर पर विचारार्थ प्रस्तुत हो सकता है।

उच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत मुख्यतया निम्नलिखित प्रकार के विवाद आते हैं—

1. संविधान-सम्बन्धी
2. मौलिक अधिकार-सम्बन्धी
3. अन्य अधिकार-क्षेत्र

(क) संविधान-सम्बन्धी—उच्च न्यायालय के समक्ष प्रायः ऐसे विवाद आते हैं जिनमें कि संविधान की व्याख्या-सम्बन्धी प्रश्न निहित होता है। इस प्रकार के विवादों की सुनवाई नीचे की अदालतों में नहीं हो सकती।

इस दृष्टि से उच्च न्यायालय राज्य-विधान-मण्डल द्वारा पारित किसी ऐसे कानून को अवैध घोषित कर सकता है जो संविधान के प्रावधानों के प्रतिकूल हो। इसके अतिरिक्त संविधान की व्याख्या की दृष्टि से महत्वपूर्ण विवादों को सर्वोच्च न्यायालय में भेजने की अनुमति प्रदान कर सकता है।[2]

---

1. लखनऊ शाखा के पूर्ण क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत अवध के 9 जिले आते हैं। इन जिलों में लखनऊ, रायबरेली, सीतापुर, खीरी, उन्नाव, हरदोई, बाराबंकी, बहराइच और गोंडा आते हैं।

इसके अतिरिक्त फैजाबाद, सुल्तानपुर और प्रतापगढ़ जिलों के विवाद पर लखनऊ शाखा भी विचार कर सकती है और इलाहाबाद भी। शेष अन्य जिलों के मुकदमों पर इलाहाबाद के उच्च न्यायालय में ही विचार होगा।

इधर पश्चिमी जिलों के नागरिकों की सुविधा के लिए इलाहाबाद हाईकोर्ट की एक शाखा की मेरठ में भी स्थापना करने की माँग की जाती रही है।

2. 42वें संशोधन अधिनियम (1976) में यह व्यवस्था की गई थी कि राज्य के किसी कानून की संवैधानिक वैधता पर विचार करने के लिए उच्च न्यायालय के कम-से-कम पाँच न्यायाधीशों की न्यायपीठ (बेंच) का होना अनिवार्य है। किन्तु 43वें संशोधन अधिनियम द्वारा इस प्रतिबन्ध को समाप्त कर दिया गया है।

(ख) मौलिक अधिकार-सम्बन्धी—मौलिक अधिकारों की दशा में भी उच्च न्यायालय को महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। संविधान के अनुच्छेद 226 के अनुसार उच्च न्यायालय को मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए विविध प्रकार के लेख, आदेश या रिट जारी करने का अधिकार है। ये 'रिट' इस प्रकार हैं: (1) बन्दी-प्रत्यक्षीकरण, (2) परमादेश, (3) प्रतिषेध-लेख, (4) अधिकार-पृच्छा तथा (5) उत्प्रेषण-लेख।

(ग) अन्य मौलिक अधिकार-क्षेत्र—उपर्युक्त क्षेत्राधिकार के अतिरिक्त उच्च न्यायालय को निम्नांकित मामलों में भी प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं—

1. विवाह-कानून तथा विवाह-विच्छेद-विषयक विवादों से सम्बन्धित मामले।
2. नाबालिग, पागल या अपरिपक्व मस्तिष्क के व्यक्तियों के संरक्षक नियुक्त करने तथा वसीयतनामा-विषयक मामले।
3. वे सब मामले जो भारतीय संविधान लागू होने के पूर्व किसी उच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आते थे।

2. अपीलीय क्षेत्राधिकार

अपीलीय क्षेत्राधिकार से आशय उस क्षेत्राधिकार से है जिसमें उच्च न्यायालय नीचे के न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपीलें सुनता है। उच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार के मुख्यतया दो पक्ष हैं—

(क) दीवानी-सम्बन्धी अपीलीय क्षेत्राधिकार
(ख) फौजदारी-सम्बन्धी अपीलीय क्षेत्राधिकार

(क) दीवानी-सम्बन्धी अपीलीय क्षेत्राधिकार—दीवानी अपीलीय क्षेत्राधिकार के अनुसार उच्च न्यायालय को उन मामलों की अपीलें सुनने का अधिकार है जिनकी धनराशि दस हज़ार रुपये से अधिक है।

इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उच्च न्यायालय में अपील किसी प्रक्रिया के प्रश्न पर की जा सकती हैं, तथ्य के प्रश्न पर नहीं। इसी प्रकार दीवानी मामलों में अपील के दो रूप हो सकते हैं: पहली अपील और दूसरी अपील। पहली अपील तभी की जा सकती है जब कि मूल निर्णय सिविल जज का हो तथा उसकी न्यूनतम मालियत दस हज़ार रुपये हो। दूसरी अपील तब की जा सकती है जब मूल निर्णय मुंसिफ द्वारा हो एवं उसके विरुद्ध निम्न अदालत में ही एक बार अपील की सुनवाई हो चुकी हो। ऐसे निर्णय के विरुद्ध द्वितीय अपील तभी सम्भव है जब कोई गहन कानूनी प्रश्न निहित हो, अन्यथा नहीं।

आयकर, विक्रीकर तथा राज्य-करों से सम्बन्धित अपीलें उच्च न्यायालय में की जा सकती हैं। राजस्व-सम्बन्धी मामलों तथा भूमि-अधिग्रहण-सम्बन्धी मामलों की अपीलें भी इसके क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आती हैं।

इलाहाबाद, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और पटना के उच्च न्यायालयों में प्रारम्भिक तथा अपीलीय क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत किसी एक न्यायाधीश द्वारा दिए गए निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में पुनः अपील की जा सकती है।

(ख) फौजदारी-सम्बन्धी अपीलीय क्षेत्राधिकार—फौजदारी-सम्बन्धी मामलों में जिन न्यायिक निर्णयों के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है, वे इस प्रकार हैं—

1. जब निर्णय किसी सेशन न्यायालय ने दिया हो एवं निर्णय सत्र न्यायाधीश अथवा अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश का हो। सहायक सत्र न्यायाधीश के निर्णय के विरुद्ध अपील की सुनवाई सत्र न्यायाधीश करता है, उच्च न्यायालय नहीं।
2. जब भारतीय दण्ड संहिता की धारा 124 (क) के अन्तर्गत किसी जिला न्यायाधीश ने दण्ड दिया हो।

3. जब सत्र न्यायाधीश अथवा अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश अपीलार्थी को मृत्युदण्ड अथवा कारावास से दण्डित करे।
4. जब इन्हीं अदालतों द्वारा जमानत-जब्ती का आदेश हो।

3. प्रशासकीय क्षेत्राधिकार

1. प्रशासकीय क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत उच्च न्यायालय मुख्यतया निम्नांकित कार्य करता है—

1. उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ न्यायालयों की जाँच कर सकता है तथा उनके कागज-पत्रों को मँगवाकर देख सकता है।
2. उच्च न्यायालय अपने नीचे के न्यायालयों को संचालित करने के लिए नियम-निर्माण करता है।
3. उच्च न्यायालय अपने अधीनस्थ किसी भी न्यायालय के मुकदमों को वहाँ से हटाकर दूसरे न्यायालय में भेज सकता है।
4. उच्च न्यायालय अपने कतिपय अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति करता है। इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उच्च न्यायालय के अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति की दशा में राज्यपाल को भी कुछ अधिकार प्राप्त हैं। वह लोकसेवा आयोग से परामर्श लेने का आदेश दे सकता है।
5. उच्च न्यायालय वकीलों, अधिवक्ताओं तथा बैरिस्टरों की फीस निश्चित करता है। उच्च न्यायालय द्वारा निर्धारित फीस के अनुसार ही वकीलों को फीस लेने का अधिकार होता है, उससे अधिक नहीं।

4. अभिलेख न्यायालय के रूप में कार्य

संविधान के अनुच्छेद 215 के अनुसार प्रत्येक उच्च न्यायालय एक अभिलेख न्यायालय है।[1] अभिलेख न्यायालय (Court of Records) होने के नाते उच्च न्यायालय के निर्णयों को साक्ष्य या प्रमाण के रूप में अन्य न्यायालयों में प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त उच्च न्यायालय अपने विरुद्ध मानहानि के मुकदमों की सुनवाई कर सकता है तथा अपमान के लिए अपराधी व्यक्ति को दंडित कर सकता है।

उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार को हम संक्षेप में निम्नलिखित रेखाचित्र के रूप में रख सकते हैं—
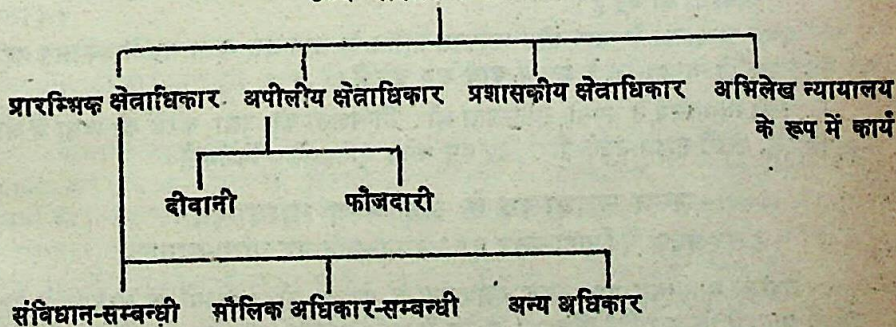
1. अभिलेख न्यायालय से आशय उस न्यायालय से होता है जिसके लेख प्रामाणिक और महत्वपूर्ण माने जाते हैं। ऐसे न्यायालय को मानहानि के लिए दंड देने का भी अधिकार होता है।

उच्च न्यायालय के कर्मचारी और अधिकारी

मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों के अतिरिक्त प्रत्येक उच्च न्यायालय के कार्यालय की व्यवस्था के लिए अन्य अनेक अधिकारी और कर्मचारी होते हैं। इस पदाधिकारियों में सर्वोच्च पदाधिकारी 'रजिस्ट्रार' कहलाता है। रजिस्ट्रार की सहायता के लिए सहायक रजिस्ट्रार, उप-रजिस्ट्रार आदि होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक अधिकारी और कर्मचारी होते हैं।

उच्च न्यायालय के प्रशासन-सम्बन्धी कार्यों तथा अधीनस्थ न्यायालयों के नियन्त्रण का मुख्य कार्य एक न्यायाधीश को सौंप दिया जाता है। इस न्यायाधीश को प्रशासकीय न्यायाधीश (Administrative Judge) कहते हैं।

उच्च न्यायालय की स्वतंत्रता के लिए प्रावधान

उच्च न्यायालय की स्वतंत्रता के लिए अनेक प्रावधान हैं। इन प्रावधानों को संक्षेप में हम अग्रलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति न्यायिक योग्यता के आधार पर होती है। नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को है जो इस अधिकार के प्रयोग में भारत के प्रधान न्यायाधीश, उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा राज्य के राज्यपाल की सलाह लेता है।
2. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को निश्चित वेतन, भत्ते तथा सुविधाएँ मिलती हैं। उनके वेतन में सामान्यतया उनके कार्यकाल में कोई कटौती नहीं की जा सकती।
3. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन तथा सेवा-शर्तों के विषय में कानून और नियम बनाने का अधिकार विधान-मण्डल को नहीं है। यह अधिकार संसद को है।
4. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का वेतन तथा भत्ते आदि भारत की संचित निधि से दिए जाते हैं। राज्य विधान-मण्डल को इस निधि पर मतदान का अधिकार नहीं है।
5. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के निर्णयों या कार्यों के सम्बन्ध में विधान-मण्डल में वाद-विवाद नहीं हो सकता है। इस दृष्टि से उच्च न्यायालय को विधान-मण्डल के प्रभाव से मुक्त करने का प्रयास किया गया है।
6. उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्यकाल लम्बा है। वे 62 वर्ष की अवस्था तक अपने पद पर बने रहते हैं। अवकाश-प्राप्ति के बाद उनको समुचित पेंशन की व्यवस्था की गई है।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश अवकाश-प्राप्ति के बाद उस न्यायालय में वकालत नहीं कर सकते जहाँ वे न्यायाधीश के रूप में कार्य कर चुके हैं।

उच्च न्यायालय ने अपनी स्वतन्त्रता और निष्पक्षता की रक्षा करने की दिशा में जो कार्य किए हैं, उसके साक्षी उसके द्वारा दिए गए अनेक ऐतिहासिक निर्णय हैं।

उच्च न्यायालय के अधीनस्थ न्यायालय

उत्तर प्रदेश में जिला-स्तर या जनपद-स्तर पर न्याय-व्यवस्था

सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालय के संगठन और शक्तियों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संविधान ने देश में एक एकात्मक न्याय-व्यवस्था (Integrated Judicial System) का प्रावधान किया है। सर्वोच्च न्यायालय इस एकात्मक न्याय-व्यवस्था का शीर्षस्थ या सर्वोच्च अंग है। सर्वोच्च न्यायालय या उच्चतम न्यायालय के नीचे राज्यों के उच्च न्यायालय आते हैं।

उच्च न्यायालय के नीचे उसके अधीनस्थ न्यायालय आते हैं। उच्च न्यायालय की अधीनस्थ न्याय-व्यवस्था को जानने के लिए हमें प्रदेश के जनपद-स्तर या जिला-स्तर के न्यायालयों पर दृष्टि डालनी आवश्यक है।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से जिले की न्याय-व्यवस्था को हम तीन प्रमुख वर्गों में रख सकते हैं—

1. दीवानी न्यायालय
2. फौजदारी न्यायालय
3. माल-सम्बन्धी न्यायालय

दीवानी अथवा व्यवहार न्यायालय (Civil Courts)

दीवानी धनराशि, चल या अचल सम्पत्ति से सम्बन्धित पारस्परिक व्यवहार-सम्बन्धी विवाद दीवानी न्यायालयों के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार के विवादों में (जैसा कि प्राय: अन्य विवादों में भी होता है) दो पक्ष होते हैं : वादी तथा प्रतिवादी। वादी अभियोग चलाता है और प्रतिवादी अपने बचाव में अपनी सफाई प्रस्तुत करता है। जिले में दीवानी न्याय-व्यवस्था के संगठन का सर्वोच्च या शीर्षस्थ न्यायालय जिला न्यायाधीश का न्यायालय होता है। उसके नीचे क्रमश: खफीफा न्यायालय, दीवानी न्यायाधीश, मुंसिफ तथा न्याय पंचायतें होती हैं।

जिला न्यायाधीश—प्रत्येक जिले में एक जिला न्यायाधीश (District judge) होता है। जिले में दीवानी मामलों का यह मुख्यतम न्यायाधीश होता है। इसे प्रारम्भिक तथा अपीलीय दोनों प्रकार के विवादों की सुनवाई का अधिकार होता है।

जिला न्यायालय को दस हजार रुपये के ऊपर तक के विवादों की प्रारम्भिक सुनवाई का अधिकार होता है। इसके अतिरिक्त यह 10,000 रु० तक के मूल्य के या उससे ऊपर के विवादों की अपीलों की सुनवाई करता है। ये अपीलें नीचे के न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध की जाती हैं। यह सहायक सत्र न्यायाधीश के विरुद्ध अपील सुन सकता है।

न्याय-सम्बन्धी कार्यों के अतिरिक्त जिला न्यायाधीश नाबालियों तथा पागलों के अभिभावकों की नियुक्ति तथा उनकी सम्पत्ति का भी प्रबन्ध करता है। नीचे के न्यायालयों की जाँच का कार्य भी यही करता है।

जिला न्यायाधीन को सेशन्स जज भी कहा जाता है। सेशन्स जज के रूप में वह फौजदारी-विषयक विवादों की सुनवाई करता है। इस प्रकार जिला न्यायाधीश को 'डिस्ट्रिक्ट तथा सेशन्स जज' कहते हैं। जिला न्यायाधीश की नियुक्ति राज्यपाल न्यायालय के परामर्श से करता है।

कभी-कभी कार्य की अधिकता होने पर जिले में अतिरिक्त, संयुक्त अथवा सहायक जिला न्यायाधीश की भी नियुक्त की जाती है। लोगों को जिला न्यायाधीश के समान अधिकार प्राप्त होते हैं।

दीवानी न्यायाधीश (Civil Judge)—जिला न्यायाधीश के नीचे दीवानी न्यायाधीश तथा उपन्यायधीश का न्यायालय होता है। न्यायालयों के न्यायाधीशों के नियुक्ति-सम्बन्धी नियमों का निर्णय राज्यपाल करता है, किन्तु वह इस सम्बन्ध में राज्य के लोकसेवा-आयोग की सहायता लेता है। दीवानी न्यायाधीश की पदोन्नति, स्थानान्तरण (तबादला) तथा अवकाश आदि का अधिकार उच्च न्यायालय का है। इन न्यायाधीशों का अधिकार-क्षेत्र जिला न्यायाधीश के समान ही होता है। जिला न्यायाधीश की भाँति दीवानी न्यायाधीशों के निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील की जाती है। इन्हें 5001 रुपये से लेकर 1,00000 रुपये तक के दीवानी मुकदमों की सुनवाई का अधिकार रहता है।

लघुवाद या खफीफा न्यायालय (Small Causes Courts)—वरिष्ठ तथा अभिज्ञ दीवानी न्यायाधीश को जज खफीफा पद पर नियुक्त किया जाता है। उन्हें तुच्छ दीवानी वादों को सरसरी तौर पर सुनकर निर्णय देने का अधिकार होता है। उन्हें 5000 रु० तक के विवादों को सुनने का अधिकार होता है।

मुन्सिफ मैजिस्ट्रेट (Munsif Magistrate)—दीवानी न्यायाधीश के नीचे मुंसिफ मैजिट्रेट का न्यायालय होता है। मुंसिफ मैजिस्ट्रेट की नियुक्ति राज्यपाल लोकसेवा आयोग की सिफारिशों के अनुसार करता है।

मुंसिफ मैजिस्ट्रेट को 1,0000 रुपये तक के विवादों की सुनवाई का अधिकार होता है। कुछ मुंसिफ मैजिस्ट्रेटों को उच्च न्यायालय 10,000 से ऊपर के विवादों को सुनने का अधिकार दे सकता है। इनके निर्णयों के विरुद्ध अपीलें जिला न्यायाधीश के न्यायालय में होती हैं। इन्हें स्वत: अपीलें सुनने का अधिकार नहीं होता।

न्याय पंचायतें—प्रदेश की न्याय-शृंखला की लघुतम कड़ी ग्रामीण अंचलों में बिखरी हुई न्याय पंचायतें होती हैं। न्याय पंचायतों की 500 रु० तक के विवादों पर विचार करने का अधिकार होता है। न्याय पंचायतों के निर्णय के विरुद्ध अपील का अधिकार नहीं होता। न्याय पंचायतों में वकीलों को भी पैरवी करने का अधिकार नहीं होता।

दीवानी न्यायालय के संगठन तथा क्षेत्राधिकार को हम अगली तालिका द्वारा संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—

दीवानी न्यायालय का संगठन और क्षेत्राधिकार

दीवानी न्यायालय का नाम	क्षेत्राधिकार
1. जिला न्यायाधीश (डिस्ट्रिक्ट जज)	दस हजार रुपये से ऊपर के मामलों की प्रारम्भिक सुनवाई तथा नीचे के न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपीलें।
2. अतिरिक्त न्यायाधीश तथा दीवानी न्यायाधीश (सिविल जज)	5001 रुपये से एक लाख रुपये तक के विवादों की अपीलें। इनका अधिकार-क्षेत्र जिला न्यायाधीश के बराबर ही होता है।
3. मुंसिफ मैजिस्ट्रेट	दस हजार रु० तक के विवादों की सुनवाई।
4. खफीफा न्यायाधीध	पाँच हजार रु० तक के विवादों की सुनवाई।
5. न्याय पंचायतें	500 रुपये तक के विवादों को सुनवाई।

फौजदारी न्यायालय (Criminal Courts)

जनपद या जिले के स्तर पर न्याय-संगठन की दूसरी महत्वपूर्ण व्यवस्था फौजदारी न्यायालयों की है। फौजदारी न्यायालय लड़ाई-झगड़े, मारपीट, हत्या, जालसाजी आदि के मामलों को सुनते हैं। प्रत्येक जिले में एक फौजदारी न्यायालय होता है। उसके नीचे फौजदारी के अधीनस्थ न्यायालय होते हैं। जिले में फौजदारी न्यायालय के संगठन के मुख्य पक्षों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. सत्र न्यायालय या सेशन्स जज (Session's Judge)—जिला स्तर पर फौजदारी का सबसे बड़ा न्यायालय सत्र न्यायाधीश का न्यायालय होता है। वही जिला न्यायाधीश तथा सत्र न्यायाधीश भी होता है। जब वह फौजदारी विवादों को सुनता है तो 'सेशन्स जज कहलाता है और जब दीवानी मामलों को सुनता है तो जिला न्यायाधीश कहलाता है।

सत्र न्यायाधीश को प्रारम्भिक तथा अपीलीय दोनों प्रकार के क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं। प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत हत्या, डकैती एवं सत्र न्यायालय के प्रसंज्ञान से सम्बन्धित अन्य मुकदमे, जैसे गम्भीर अपराधों पर विचार होता है। जहाँ तक अपीलीय क्षेत्राधिकार का प्रश्न है, उसके न्यायालय में दण्डाधिकारी के अपीलीय निर्णयों के विरुद्ध अपीलें की जाती हैं।

सेशन्स जजों की सहायता के लिए जिले में अतिरिक्त तथा सहायक सत्र न्यायाधीश (सेशन्स जज) होते हैं।

इन सत्र न्यायाधीशों की नियुक्ति राज्यपाल उच्च न्यायालय की सहमति से करता है। इस पद पर दो प्रकार की नियुक्तियाँ होती हैं : एक तो नीचे के मुन्सिफ मैजिस्ट्रेट की पदोन्नति कर दी जाती है, दूसरे सात वर्ष तक वकील या अधिवक्ता के रूप में कार्य करने वाले व्यक्ति भी नियुक्त किये जाते हैं। सेशन्स जज को मृत्यु-दण्ड देने तक का अधिकार होता है।

2. प्रथम श्रेणी का दण्डाधिकारी (First Class Magistrate)—सेशन्स जज के नीचे प्रथम श्रेणी के दण्डाधिकारी (Magistrate) होते हैं। सामान्यतया जिलाधीश प्रथम श्रेणी का दण्डाधिकारी होता है। उसे 5,000 रुपये तक का जुर्माना तथा तीन वर्ष तक की सजा देने का अधिकार होता है।

3. द्वितीय न्यायिक दण्डाधिकारी—द्वितीय श्रेणी के दण्डाधिकारी को एक वर्ष तक का कारावास व 1000 रुपये तक का जुर्माना करने का अधिकार होता है।

4. विशेष न्यायिक दण्डाधिकारी—बड़े नगरों में अवैतनिक दंडाधिकारियों का भी प्रावधान है। ये लोग सेशन्स जज के नीचे रहकर फौजदारी के विवाद सुनते हैं।

5. न्याय पंचायत—न्याय पंचायतें छोटे-छोटे फौजदारा विवादों को सुनती हैं। इन्हें 100 रुपये तक जुर्माना करने का अधिकार होता है।

फौजदारी न्यायालय के संगठन को तालिका के रूप में इस प्रकार रख सकते हैं—

फौजदारी न्यायालय के संगठन

न्यायालय	अधिकार-क्षेत्र
1. सत्र न्यायाधोश (सेशन्स जज)	मृत्यु-दंड देने का अधिकार
2. प्रथम श्रेणी का दंडाधिकारी	तीन वर्ष तक का कारावास और 5000 रु० तक जुर्माना
3 द्वितीय श्रेणी का दंडाधिकारी	एक वर्ष तक का कारावास और 1000 रु० तक जुर्माना
4. न्याय पंचायत	कारावास का दंड देने का अधिकार नहीं है। केवल 100 रुपये तक का जुर्माना कर सकते हैं।

राजस्व न्यायालय

राजस्व परिचय—राज्य की न्यायिक संगठन-शृंखला की अन्य महत्वपूर्ण कड़ी 'राजस्व परिषद' है जो प्रशासनिक शब्दावली में राजस्व पटल या 'बोर्ड ऑव रेवेन्यू' (Board of

Revenue) कहलाता है। जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है, राजस्व न्यायालय का प्रमुख और एकमात्र कार्यक्षेत्र राजस्व-विषयक विवाद या माल-सम्बंधी मुकदमों सी मुनवाई है। इसमें नीचे की अदालतों की अपीलों पर सुनवाई होती है।

आयुक्त (Commissioner)—राजस्व या मालगुजारी की दृष्टि से सारा राज्य कई कमिश्नरियों में विभक्त कर दिया जाता है। प्रत्येक कमिश्नरी में कई जिले होते हैं। कमिश्नरी का प्रधान आयुक्त या कमिश्नर कहलाता है। कमिश्नर जिलों के शासन की देखभाल करता, अपने क्षेत्र में मालगुजारी वसूल करवाता तथा माल-सम्बंधी मुकदमों पर विचार करता है। कमिश्नर जिलाधीश के फैसलों के विरुद्ध सुनवाई करता है। आयुक्त के द्वारा दिये गये निर्णयों के विरुद्ध राजस्व परिषद में अपीलें की जाती है।

जिलाधीश (District Collector)—मालगुजारी-विषयक जिले के मामलों की सुनवाई जिलाधीश के न्यायालय में होती है। उसकी सहायता के लिए अतिरिक्त जिलाधीश, सहायक जिलाधीश आदि अधिकारी होते हैं।

सब-डिविजनल आफिसर (Sub-divisional officer, S.D.O.)—प्रत्येक जिला कई परगनों (Sub-divisions) में बँटा होता है। ये जिलाधीश के अधीन रह कर कार्य करते हैं।

उत्तर प्रदेश की न्याय-व्यवस्था---एक दृष्टि

दीवानी न्यायालय	फौजदारी न्यायालय	राजस्व न्यायालय
उच्च न्यायालय ↓ जिला न्यायाधीश का न्यायालय ↓ दीवानी न्यायाधीश (सिविल जज) का न्यायालय ↓ मुंसिफ का न्यायालय ↓ खफीफा जज का न्यायालय ↓ न्याय-पंचायत	उच्च न्यायालय ↓ सेशन जज का न्यायालय ↓ प्रथम श्रेणी का दंडाधिकारी ↓ द्वितीय श्रेणी का दंडाधिकारी ↓ विशेष न्यायिक दंडाधिकारी ↓ न्याय-पंचायत	उच्च न्यायालय ↓ राजस्व परिषद ↓ आयुक्त (कमिश्नर) का न्यायालय ↓ जिलाधीश (कलेक्टर) का न्यायालय ↓ डिप्टी कलेक्टर का न्यायालय ↓ तहसीलदार का न्यायालय ↓ नायब तहसीलदार का न्यायालय

तहसीलदार—प्रत्येक परगना तहसीलों में बँटा होता है। तहसील का प्रधान तहसीलदार होता है। इसका मुख्य कार्य तहसील में शान्ति-व्यवस्था बनाए रखना, तहसील की मालगुजारी वसूल करना तथा अपने क्षेत्र के मालगुजारी-विषयक विवादों पर विचार करना होता है।

माल-सम्बन्धी न्यायालय के उपर्युक्त संगठन को संक्षेप में हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

न्यायालय	अधिकार-क्षेत्र
राजस्व परिषद	कमिश्नरी के निर्णयों के विरुद्ध अपीलों की सुनवाई।
आयुक्त (कमिश्नर)	जिलाधीश के निर्णयों के विरुद्ध अपीलों पर विचार।
जिलाधीश	तहसीलदार के निर्णयों के विरुद्ध अपीलों पर विचार।
तहसीलदार	मालगुजारी की वसूली तथा मालगुजारी-विषयक छोटे मामलों पर विचार।

लघु और अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—उच्च न्यायालय के न्यायाधीश पद पर नियुक्त होने के लिए व्यक्ति में क्या योग्यताएँ होनी चाहिए।

उत्तर—(1) वह भारत का नागरिक हो। (2) उसकी आयु 62 वर्ष से कम हो। (3) वह एक से अधिक उच्च न्यायालयों में दस वर्षों तक वकालत कर चुका हो। (4) भारत के किसी भी न्यायालय में कम-से-कम दस वर्ष तक न्यायाधीश के पद पर काम कर चुका हो।

प्रश्न 2—उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार बताइए।

उत्तर—(1) प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार। (2) दीवानी तथा फौजदारी अधिकार क्षेत्र। (3) प्रबंध संबंधी अधिकार-क्षेत्र।

अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की कौन नियुक्ति करता है ?

उत्तर—राष्ट्रपति।

प्रश्न 2—उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों को कितना वेतन मिलता है।

उत्तर—मुख्य न्यायाधीश को 9,000 रुपये मासिक तथा अन्य न्यायाधीशों को 8,000 रुपये मासिक।

प्रश्न 3—उच्च न्यायालय के न्यायाधीश कितनी आयु तक अपने पद पर बने रहते हैं ?

उत्तर—62 वर्ष तक।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. उच्च न्यायालय के संगठन और क्षेत्राधिकार पर विचार कीजिए। (उ० प्र०, 1984)
2. उत्तर प्रदेश में उच्च न्यायालय के संगठन, अधिकार तथा कार्यों पर प्रकाश डालिए। (उ० प्र०, 1976, 88)
3. उत्तर प्रदेश की न्याय-व्यवस्था के संगठन का वर्णन कीजिए। (उ० प्र०, 1990)

4. उत्तर प्रदेश की न्याय-व्यवस्था के विषय में संक्षेप में विचार कीजिए।

(उ० प्र०, 1974)

5. निम्नांकित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
   (1) राजस्व-परिषद
   (2) जिले की न्याय-व्यवस्था
   (3) फौजदारी न्यायालय।

लघु प्रश्न

1. उच्च न्यायालय के न्यायाधीश पद पर नियुक्त होने के लिए क्या योग्यताएँ हैं ?
2. उच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार के विषय में आप क्या जानते हैं ?
3. उच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार पर प्रकाश डालिए।
4. उच्च न्यायालय की स्वतंत्रता के लिए क्या प्रावधान किए गए हैं।
5. जिला न्यायाधीश पर प्रकाश डालिए।
6. सत्र न्यायाधीश पर संक्षेप में विचार कीजिए।
7. राजस्व परिषद के विषय में आप क्या जानते हैं ?

अति लघु प्रश्न

1. उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति कौन करता है ?
2. उच्च न्यायालय के दो क्षेत्राधिकार बताइए।
3. उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीशों को कितना वेतन मिलता है।
4. जिले में न्याय-व्यवस्था का सबसे बड़ा न्यायालय कौन है ?
5. उच्च न्यायालय के न्यायाधीश किसके सामने अपने पद की शपथ ग्रहण करते हैं ?
6. उत्तर प्रदेश के उच्च न्यायालय में वर्तमान समय में कुल कितने न्यायाधीश हैं ?
7. न्याय पंचायत कितना अर्थदंड दे सकती है ?

"भारत की संघात्मक व्यवस्था में केन्द्र अत्यन्त शक्तिशाली है तथा राज्यों की स्थिति गौरवपूर्ण नगरपालिकाओं की है।"

अध्याय 20

केन्द्र और राज्यों के सम्बन्ध

● दो प्रकार की इकाइयां ● शक्ति-वितरण की तीन अनुसूचियां ● केन्द्र और राज्यो के सम्बन्ध के तीन आधार।

आमुख

भारत की संवैधानिक व्यवस्था एक संघात्मक व्यवस्था है। संघात्मक शासन में जहां एक ओर केन्द्र में संघीय सरकार होती है, वहां दूसरी ओर संघ के अंतर्गत आने वाली उनकी इकाइयों की सरकारें होती हैं। संघ और इकाइयों के पारस्परिक संबंध संविधान द्वारा निर्धारित होते हैं। भारतीय संविधान भी इसका अपवाद नहीं है। भारतीय संविधान भारतीय संघ और उसकी इकाइयों के पारस्परिक संबंधों पर विस्तार से प्रकाश डालता है। यहां हम भारतीय संविधान के इसी महत्वपूर्ण पक्ष का विवेचन करेंगे। भारतीय संघ और उसकी इकाइयों के पारस्परिक संबंधों का विवेचन करने के पूर्व हमें भारतीय संघ की इकाइयों के स्वरूप के विषय में जान लेना आवश्यक है।

दो प्रकार की इकाइयों का प्रावधान

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि भारतीय संघ में दो प्रकार की इकाइयां हैं—बड़ी इकाइयां जिन्हें राज्य (States) कहते हैं और छोटी इकाइयां जिन्हें केन्द्र-शासित क्षेत्र या संघ-शासित क्षेत्र (Union Territories) कहते हैं।

वर्तमान समय में बड़ी इकाइयां या राज्यों की कुल संख्या 25 है जब कि छोटी इकाइयों की संख्या 7 है।

ये इकाइयां इस प्रकार हैं—

1. असम
2. आन्ध्र प्रदेश
3. उड़ीसा
4. उत्तर प्रदेश
5. कर्नाटक
6. केरल
7. गुजरात
8. जम्मू और कश्मीर
9. तमिलनाडु
10. नागालैंड
11. पंजाब
12. पश्चिमी बंगाल
13. बिहार
14. महाराष्ट्र
15. मध्य प्रदेश
16. मणिपुर
17. मेघालय
18. राजस्थान
19. हरियाणा
20. हिमाचल प्रदेश
21. त्रिपुरा
22. सिक्किम
23. मिजोरम
24. अरुणाचल
25. गोवा

संघीय क्षेत्र या केन्द्र-शासित इकाइयां

1. अंडमान तथा निकोबार द्वीपसमूह

2. दमन, ड्यू
3. चंडीगढ़
4. दिल्ली
5. दादर और नगरहवेली
6. पांडिचेरी
7. लक्षद्वीप तथा मिनीकाय द्वीप-समूह

इनमें से जहाँ तक संघ-शासित क्षेत्रों का प्रश्न है, इनकी शासन-व्यवस्था पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। संघ-शासित क्षेत्रों पर केन्द्र का पूर्ण नियंत्रण है। केन्द्र द्वारा शासित होने के कारण इन इकाइयों की स्थिति केन्द्र-शासन के प्रशासनिक संभाग की सी है।

दूसरे प्रकार की इकाइयाँ अर्थात् राज्यों की स्थिति इनसे सर्वथा भिन्न है। राज्यों को भारत की संघात्मक व्यवस्था की पूर्ण इकाइयाँ कहा जा सकता है। इन इकाइयों को अपने क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है। संघीय शासन से उनके अपने संवैधानिक संबंध हैं। यहाँ हम संघ की इन्हीं पूर्ण इकाइयाँ (राज्यों) के संदर्भ में भारत के केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करेंगे।

केन्द्र और राज्यों के मध्य शक्ति-वितरण का प्रावधान: तीन अनुसूचियाँ

शक्ति-वितरण या केन्द्र और राज्यों के मध्य शक्तियों का सम्यक् विभाजन किसी भी संघात्मक व्यवस्था का आधारभूत अंग होता है। शक्तियों का वितरण जहाँ एक ओर संघ और राज्यों के कार्यक्षेत्र का निरूपण करता है, वहाँ दूसरी ओर वह केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक संबंधों पर भी प्रकाश डालता है। एक संघात्मक संविधान होने के नाते भारतीय संविधान में भी शक्ति-वितरण का निश्चित प्रावधान है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद 246 तथा सातवीं अनुसूची संघ और राज्यों के मध्य शक्ति-वितरण का वैधानिक आधार प्रस्तुत करते हैं।

संविधान के अनुच्छेद 246 के अन्तर्गत आने वाली सातवीं अनुसूची में केन्द्र और राज्यों के कार्यक्षेत्र का निदर्शन करने वाली तीन सूचियों का उल्लेख है। इन सूचियों में संघ और राज्यों के शासन-सम्बन्धी समस्त विषयों को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। ये सूचियाँ इस प्रकार हैं—

1. संघीय सूची (Union list)
2. राज्य-सूची (State list)
3. समवर्ती सूची (Concurrent list)

1. संघीय-सूची (Union list)—इस सूची के अन्तर्गत उन विषयों का उल्लेख है जो केन्द्र-सरकार या संघीय शासन के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। इस सूची के अन्तर्गत सामान्यतया वे विषय आते हैं जो राष्ट्रीय महत्व के हैं, सारे देश की शासन-व्यवस्था से सम्बन्ध रखते हैं। संघीय सूची में कुल 97 विषय हैं।

> **शक्ति-वितरण की तीन अनुसूचियाँ**
> 1. संघीय सूची
> 2. राज्य-सूची
> 3. समवर्ती सूची

संघीय सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों में कुछ मुख्य विषय इस प्रकार हैं: सुरक्षा, विदेशी सम्बंध, युद्ध और सन्धि, अणु-शक्ति, रेल, वायुयान, समुद्री जहाज, डाक, तार, टेलीफोन, बेतार, मुद्रा-निर्माण, रिजर्व बैंक, विदेशी व्यापार, बाट व नाप, विदेशी ऋण, सीमा-शुल्क, कृषि के अतिरिक्त अन्य आय पर कर, कारपोरेशन कर, प्राचीन स्मारक, जन-गणना आदि।

2. राज्य-सूची (State list)—राज्य-सूची में वे विषय आते हैं जो प्रधानतया राज्य के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले विषय माने जाते हैं। वर्तमान समय में इस सूची में कुल 62 विषय हैं।

राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों में मुख्य विषय इस प्रकार हैं : पुलिस, न्याय, जेल, स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य, कृषि, सिंचाई, वन, सार्वजनिक आमोद-प्रमोद, मछली-व्यवसाय, ग्राम-सुधार, मालगुजारी, पशुओं की रक्षा, मादक वस्तुओं का उत्पादन और नियन्त्रण आदि।

मूल संविधान में इस सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों की कुल संख्या 66 थी। सातवें संविधान द्वारा पहले यह विषय सम्पत्ति अधिग्रहण, राज्य सूची से हटा दिया गया। 42 वें संशोधन अधिनियम द्वारा चार विषय शिक्षा, वन व जंगली जानवर, पक्षियों की रहना तथा नाम व तौल राज्य सूची से हटाकर समवर्ती सूची में जोड़ दिए गए। फलतः वर्तमान समय राज्य सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों की संख्या कुल 62 हैं।

मूल संविधान में समवर्ती सूची में कुल 47 विषय थे : 42 वें संशोधन द्वारा चार विषय राज्य सूची से हटाकर समवर्ती सूची के अन्तर्गत कर दिए गए। इसके अतिरिक्त राज्य सूची में एक अन्य विषय जनसंख्या नियंत्रण और परिवार नियोजन जोड़ दिया गया। इस प्रकार पाँच विषयों के बढ़ जाने से समवर्ती सूची की संख्या अब कुल 52 हो गई है।

3. समवर्ती सूची (Concurrent list)—यह वह सूची है जिस पर केन्द्र तथा राज्य दोनों सरकारों को विधि-निर्माण का अधिकार है। डॉ० पायली ने समवर्ती सूची को एक गोधूलि-क्षेत्र (Twilight zone) की संज्ञा दी है। गोधूलि-क्षेत्र इस अर्थ में कि केन्द्र और राज्य, दोनों सरकारों को इस क्षेत्र में विधिनिर्माण का समान अधिकार प्राप्त है। वर्तमान समय में समवर्ती सूची में कुल 52 विषय है।

अवशिष्ट विषय—इस प्रकार संघीय सूची में 97 राज्य-सूची में 62 तथा समवर्ती सूची के अन्तर्गत 52 विषय आते हैं। इस प्रकार शक्ति-वितरण की एक व्यापक योजना का प्रावधान किया गया। किन्तु कुछ ऐसे विषय भी सामने आ सकते हैं जिनका इनमें से किसी सूची में उल्लेख न हो। ऐसे बचे हुए या अवशिष्ट विषयों के सम्बंध में कह दिया है कि वे विषय केन्द्रीय शासन के हाथों में होंगे।

केन्द्र और राज्यों के सम्बन्ध के तीन वैधानिक आधार

संविधान में वर्णित केन्द्र और राज्यों के मध्य शक्ति-वितरण की तीन अनुसूचियों को दृष्टि-पथ में रखते हुए यदि हम केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन करेंगे तो हम कह सकते हैं कि केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध को मुख्यतया तीन रूपों में रख सकते हैं—

1. विधायीसम्बन्ध
2. प्रशासकीय सम्बन्ध
3. वित्तीय सम्बन्ध

विधायी सम्बन्ध

विधायी सम्बन्ध से आशय उस सम्बन्ध से है जिसके अनुसार केन्द्र और राज्य विधि-निर्माण की शक्ति और प्रक्रिया द्वारा एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं। भारत की संघात्मक व्यवस्था में केन्द्र में संघीय संसद (Union Parliament) को तथा राज्यों में राज्य के विधान मण्डल या विधानसभा को विधि-निर्माण का अधिकार है। संसद के विधि-निर्माण का प्रधान

क्षेत्र संघीय सूची है और राज्यों के विधानमण्डल का विधानसभा को राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर विधि-निर्माण का प्रमुख अधिकार है। समवर्ती सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर संसद और राज्यों की व्यवस्थापिका दोनों को विधि-निर्माण का अधिकार मिला हुआ है।

सामान्यता देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि केन्द्र और राज्य दोनों के सर्वथा पृथक् क्षेत्र हैं। पर व्यवहार में दोनों ही एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बंधित हैं। यह सम्बंध हमें केन्द्र की श्रेष्ठता और राज्यों को केन्द्र के प्रति अधीनता के रूप में दिखलाई पड़ता है। उदाहरण के लिए, भारत की संवैधानिक व्यवस्था में अनेक ऐसे अवसर हैं, जबकि राज्य के अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर विधि-निर्माण की दिशा में केन्द्र को शक्ति प्राप्त होती है। इन अवसरों को संक्षेप में हम निम्नलिखित रूप से रख सकते हैं—

1. राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों के राष्ट्रीय महत्व के होने पर—संविधान के अनुच्छेद 24वें के अनुसार यदि राज्य सभा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से यह प्रस्ताव पास कर लेती है कि राज्य-सूची में वर्णित कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का हो गया है तो उस विषय पर संसद को विधि-निर्माण का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इस आधार पर निर्मित अधिनियम की मान्यता केवल एक वर्ष तक रहती है। यदि राज्यसभा इसको पुनः पास कर देती है, तो उसकी अवधि एक वर्ष तक बढ़ जायगी। अवधि समाप्त होने के बाद इस प्रकार निर्मित अधिनियम केवल 6 महीने तक प्रभावी रहेगा।

2. राष्ट्रीय संकट की घोषणा पर—संविधान के अनुच्छेद के अनुसार यदि युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह सम्बन्धी संकटकाल की घोषणा कर दी गई है तो संसद राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर सारे देश के किसी भाग के लिए विधियों का निर्माण कर सकेगी। किन्तु इस प्रावधान के अनुसार निर्मित अधिनियम आपातकाल की अवधि समाप्त होने के बाद केवल छह महीने तक प्रभावी रहेगा। इस अवधि के उपरांत वह स्वतः समाप्त समझा जायेगा।

3. राज्य में संवैधानिक संकट के उत्पन्न होने पर—राज्य में संवैधानिक संकट उत्पन्न होने पर राज्य-शासन के समस्त सूत्र राष्ट्रपति के हाथों आ जाते हैं। ऐसी स्थिति में राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर विधि-निर्माण का अधिकार संसद को मिल जाता है।

4. दो या दो-से अधिक राज्यों के प्रस्ताव—यदि दो या दो-से अधिक राज्यों के विधानमण्डल एक प्रस्ताव पास करके राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर कानून बनाने के लिए संसद से निवेदन करते हैं तो संसद ऐसी स्थिति में उन राज्यों के लिए कानून बना सकती है।

5. अन्तर्राष्ट्रीय संधि के प्रवर्तन के लिए—संसद किसी अन्तर्राष्ट्रीय संधि या समझौते को लागू करने के लिए राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले विषय पर कानून बना सकती है।

6. समवर्ती सूची के विषय में केन्द्रीय विधियों की श्रेष्ठता—समवर्ती सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों के सम्बन्ध में केन्द्र तथा राज्य दोनों को विधि बनाने का अधिकार है। यदि इस सूची के अन्तर्गत आने वाले विषय पर केन्द्र और राज्यों द्वारा बनाए गए कानूनों में परस्पर विरोध होता हो तो ऐसी अवस्था में संसद का कानून मान्य होगा राज्यों का नहीं।

7. कतिपय विधियों के निर्माण पर केन्द्र का नियंत्रण—कतिपय विषयों पर विधियों के निर्माण के क्षेत्र में केन्द्र सरकार का राज्य पर पूर्ण नियंत्रण रहता है। कुछ ऐसे विषय हैं

पर विधि-निर्माण के लिए राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति लेनी आवश्यक होती है। साथ ही कुछ ऐसे विषय हैं जिन्हें राज्यपाल राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित कर सकता है।

इस प्रकार जहां तक विधायी सम्बन्धों का प्रश्न है, हम कह सकते हैं कि केन्द्र और राज्य एक-दूसरे के घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं। किंतु इस सम्बन्ध में केन्द्र की स्थिति श्रेष्ठतर है और राज्य की स्थिति गौण है।

प्रशासकीय सम्बन्ध

केन्द्र और राज्यों की सम्बन्ध-शृंखला की दूसरी कड़ी केन्द्र और राज्य के प्रशासकीय सम्बन्ध हैं। इन सम्बन्धों का अध्ययन हम निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

1. राज्य की कार्यपालिका-शक्ति का नियन्त्रित प्रयोग—भारत की संवैधानिक व्यवस्था में अनेक ऐसे प्रावधान हैं जो संघीय सरकार की कार्यपालिकीय शक्ति को प्राथमिकता प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए, संविधान के 357वें अनुच्छेद में कहा गया है कि, "प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार होना चाहिए कि संघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में बाधा या प्रतिकूल प्रभाव न पड़े···।" इस प्रकार इस प्रावधान द्वारा राज्य की कार्यपालिका को संघीय कार्यपालिका के नियंत्रण में रखने का स्पष्ट आधार प्रदान किया गया है।

2. केन्द्र द्वारा राज्य की सरकारों को निर्देश—संविधान के 253वें अनुच्छेद के अनुसार संघीय सरकार को राज्यों को निर्देश देने का अधिकार है। ये निर्देश राज्य-सरकार को शासन के क्षेत्र में किसी निश्चित नीति का अनुगमन करने या शासन-विषयक कोई निश्चित कार्य करने से सम्बंधित होते हैं। राज्य सरकार इन निर्देशों को मानने के लिए बाध्य होती है।

3. संघ के अन्तर्गत आने वाले विषयों के प्रबंध का राज्यों को आदेश—भारतीय संघ का राष्ट्रपति राज्य-सरकार की सहमति से संघ के अन्तर्गत आने वाले विषय या कार्य के प्रबंध को राज्यों को सौंप सकता है। इसके अतिरिक्त यदि संसद किसी संघीय विषय पर कानून बना रही है तो वह उन विषयों के प्रबंध के सम्बन्ध में राज्य-शासन तथा राज्य के पदाधिकारियों को उस सीमा तक शक्ति प्रदान कर सकती है जिस सीमा तक वह विधि राज्य के ऊपर लागू होती है।

4. संचार-साधनों की रक्षा के लिए राज्य सरकारों को निर्देश—समस्त संचार-साधन, यथा रेल, वायुयान, हवाई अड्डे तथा अन्य राष्ट्रीय महत्व के आवागमन तथा संचार-साधनों की सुरक्षा के लिए राज्य-सरकारों को आवश्यक निर्देश दे सकती है। राज्य-सरकार इन निर्देश का पालन करने के लिए बाध्य होगी। इन निर्देशों का पालन करने के लिए राज्य-सरकार को जो अतिरिक्त व्यय करना पड़ेगा, उसे संघ-शासन वहन करेगा।

5. बाह्य आक्रमण तथा आन्तरिक अशांति पर राज्य की सुरक्षा का दायित्व केन्द्र पर—संविधान के अनुसार संघ सरकार का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक राज्य की बाह्य आक्रमण और आंतरिक अशांति के अवसर पर सुरक्षा करे।

6. संघ के सशस्त्र बलों द्वारा राज्य की सहायता—संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम के अनुसार संघीय सरकार को यह अधिकार है कि वह किसी भी राज्य में कानून और व्यवस्था की गम्भीर समस्या के खड़े होने पर संघ को केन्द्रीय पुलिस या अन्य किसी सशस्त्र बल को भेज दे। राज्य में इस प्रकार भेजा गया बल पूर्णतया केन्द्रीय सरकार के निर्देशन में कार्य करेगा। 44वें संशोधन अधिनियम द्वारा इस सम्बंध में एक प्रावधान किया गया है, वह यह कि संघ सरकार सम्बद्ध राज्य सरकार की अनुमति के बिना वहाँ केन्द्रीय पुलिस नहीं भेजेगी।

7. राज्य में वैधानिक संकट की घोषणा पर संघीय शासन की शक्ति का विस्तार—राज्य में संवैधानिक संकट की घोषणा हो जाने पर राज्य-शासन के समस्त सूत्र संघ-शासन के हाथों में

आ जाते हैं। ऐसी स्थिति में राज्य-सरकार केन्द्रीय शासन की पूर्णतया अधीनस्थ इकाई के रूप में कार्य करती है।

8. अखिल भारतीय सेवाओं का प्रावधान—भारत की संवैधानिक व्यवस्था के अनुसार संघीय सरकार को अखिल भारतीय सेवाओं के संगठन और स्थापना का अधिकार है। उदाहरण के लिए भारतीय प्रशासकीय सेवा (Indian Administrative Service—I. A. S.) तथा भारतीय पोलिस सेवा (Indian Police Service—I. P. S.) को ले सकते हैं। इन सेवाओं की स्थापना केन्द्रीय सरकार द्वारा की गई है। इन सेवाओं के अधिकारियों की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है, किन्तु इन सेवाओं से सम्बंधित अधिकारियों की राज्यों में नियुक्ति होती है। इसके अतिरिक्त आवश्यकता होने पर राज्यों के अनुरोध पर केन्द्रीय सरकार अन्य अखिल भारतीय सेवाओं की स्थापना भी कर सकती है।

9. राज्यों के राज्यपाल की नियुक्ति—राष्ट्रपति राज्यपाल की नियुक्ति करता है। राज्यपाल राज्य की संवैधानिक व्यवस्था का प्रधान होता है। राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त राज्यपाल राज्य के केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है। इस प्रकार राज्यपाल के माध्यम से केन्द्रीय सरकार जहाँ एक ओर राज्यों की गतिविधियों से अपने को अवगत रखती है, वहाँ दूसरी ओर राज्यों की शासन-व्यवस्था पर अपना नियन्त्रण रखती है।

10. न्यायिक व्यवस्था द्वारा नियंत्रण—राष्ट्रपति राज्यों के उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है। इसके अतिरिक्त संविधान में सारे देश में न्यायिक एकरूपता लाने की व्यवस्था की गई है। उदाहरण के लिए, संविधान के 245वें अनुच्छेद के अनुसार, प्रत्येक राज्य का क्षेत्राधिकार उसकी सीमा तक सीमित है। अतएव यह आशंका थी कि एक राज्य दूसरे राज्य की सार्वजनिक क्रियाओं, अभिलेखों तथा न्यायिक कार्यवाहियों को मान्यता न दे। इस स्थिति को दूर करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 261 का प्रावधान किया गया है कि भारत के राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र संघ की तथा प्रत्येक राज्य की सार्वजनिक क्रियाओं, अभिलेखों तथा न्यायिक कार्यवाहियों को पूरी मान्यता मिलेगी।

11. अन्तर्राज्यीय नदियों और जल सम्बन्धी वादों का निर्णय—संविधान के अनुच्छेद 272 में यह प्रावधान किया गया है कि संसद को यह अधिकार दिया गया है कि वह कानून बनाकर किसी अन्तर्राज्यीय नदी अथवा नदीघाटी के जल के प्रयोग, वितरण या नियंत्रण के सम्बंध में उत्पन्न विवाद का निर्णय करने के लिए कदम उठाये। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार अन्तर्राज्यीय नदियों के जल-विषयक विवाद को सुलझाने के लिए कदम उठाता है।

12. अन्तर्राज्यीय परिषद की स्थापना का अधिकार केन्द्र को है—राष्ट्रपति को अन्तर्राज्यीय परिषद (Inter State Council) की स्थापना का अधिकार है। इस परिषद का मुख्य कार्य निम्नलिखित होगा—

1. राज्यों के पारस्परिक विवादों की जाँच करना।
2. उन सभी विषयों पर जानकारी प्राप्त करना जिनमें कुछ राज्यों अथवा सभी राज्यों का समान हित हो, तथा
3. उन विषयों पर सामान्य हित निर्धारित करने के उद्देश्य से अपने सुझाव देना।

13. राज्यों के मुख्य मन्त्रियों के विरुद्ध आरोपों की जाँच—यदि किसी राज्य के मुख्यमंत्री के विरुद्ध अपने पद के दुरुपयोग, भ्रष्टाचार या कदाचार का आरोप लगाया जाता है तो केन्द्र सरकार उस मुख्यमंत्री के विरुद्ध लगाए गए आरोपों की जाँच का प्रबंध करती है।

इस प्रकार प्रशासकीय दृष्टि से भी केन्द्र और राज्य एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बंधित हैं।

वित्तीय सम्बन्ध

केन्द्र और राज्य की सम्बंध-शृंगला की तीसरी कड़ी वित्तीय सम्बंध हैं। वित्तीय सम्बंधों की सम्यक् व्यवस्था के अभाव में केन्द्र और राज्यों के स्वस्थ सम्बन्धों की कल्पना नहीं की जा सकती। जैसा कि प्रसिद्ध विधिशास्त्री श्री दुर्गादास वसु ने लिखा है, "कोई भी संघ राज्य सफल नहीं हो सकता जब तक कि संविधान द्वारा प्रदत्त उत्तरदायित्वों के निर्वहन के लिए संघ तथा राज्यों के पास पर्याप्त आर्थिक साधन न हों।"

केन्द्र और राज्य अपने दायित्व का सम्यक् रूप से निर्वहन कर सकें, इस दृष्टि से संविधान में दोनों के वित्तीय सम्बंधों का समुचित प्रावधान किया गया है। इन प्रावधानों के प्रकाश में हम केन्द्र और राज्यों के वित्तीय सम्बंधों का विवेचन करेंगे। केन्द्र और राज्यों के वित्तीय सम्बंधों का अध्ययन हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

1. **राजस्व-वितरण की दृष्टि से**—केन्द्र और राज्यों के वित्तीय सम्बंधों का प्रथम आधार राजस्व-वितरण है।

राजस्व वितरण की दृष्टि से संघ और राज्यों के राजस्व-स्रोतों को अलग-थलग कर दिया गया है। संघीय राजस्व या संघीय आय के साधनों में मुख्यतया ये उल्लेखनीय हैं: कृषि-आय के अतिरिक्त अन्य आयकर, निर्यात और आयात कर, कृषि-भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति पर कर, शराब, अफीम, गाँजा और भाँग आदि मादक द्रव्यों के अतिरिक्त तम्बाकू तथा अन्य मादक द्रव्यों पर कर रेल, समुद्र या वायु मार्ग से ले जाने वाली वस्तुओं पर या यात्रियों पर सीमा-शुल्क, निगम-कर, कम्पनियों के मूलधन पर कर आदि के प्राप्त होने वाली आय के साधन मूलतया संघीय राजस्व के अंग हैं। राज्य की आय के मुख्य साधनों में भूमि, कृषि, आयकर, मालगुजारी, भूमि तथा भवन कर, शराब, अफीम, गाँजा, भाँग आदि पर कर, खनिज पदार्थों पर कर, बिक्री कर, मनोरंजन कर आदि आते हैं।

इस प्रकार केन्द्र और राज्यों की आय के स्रोत और साधन अलग-अलग हैं। किन्तु इन पृथक् साधनों के होते हुए भी कतिपय ऐसे प्रावधान हैं जो केन्द्र और राज्य दोनों को एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से जोड़ते हैं। इन प्रावधानों को संक्षेप में हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. कुछ कर ऐसे हैं जो संघ-सरकार द्वारा लगाए जाते हैं, किन्तु राज्यों को वसूल करने के लिए दे दिए जाते हैं। इन करों को राज्य-सरकारें अपने व्यय के लिए रख लेती हैं।
2. कुछ कर ऐसे हैं जिन्हें संघ-सरकार लगाती और वसूल भी करती है, किन्तु जिन राज्यों से उन करों को वसूल किया जाता है, उन्हीं राज्यों को उन करों को दे दिया जाता है।
3. कुछ कर ऐसे हैं जो संघ-सरकार द्वारा लगाए जाते हैं तथा संघ सरकार द्वारा वसूल किये जाते हैं, किन्तु इन्हें संघ तथा राज्य की सरकारों में वितरित कर दिया जाता है। इस प्रकार राजस्व-वितरण की दृष्टि से केन्द्र और राज्य परस्पर सम्बंधित हैं।

2. **राज्यों को दिये जाने वाले अनुदान की दृष्टि से**—केन्द्र और राज्य के वित्तीय सम्बंधों का अन्य आधार केन्द्र द्वारा राज्यों को दिया जाने वाला अनुदान है। संविधान में राज्यों को तीन प्रकार के सहायक अनुदान (Grants-in aid) देने का प्रावधान है—

प्रथमतः असम, बिहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल राज्यों को जूट तथा उनसे बनी वस्तुओं पर निर्यात-कर के बदले में दिया जाने वाला अनुदान।

दूसरे, असम जैसे राज्यों की आदिम जातियों तथा दुर्बल वर्ग के लोगों के कल्याण के लिए दिया जाने वाला अनुदान।

तीसरे, किसी भी सार्वजनिक कार्य के लिए दिया जाने वाला अनुदान।

ये सहायक अनुदान राज्यों के लिए अत्यन्त उपयोगी होते हैं।

3. राज्यों के ऋण लेने की दृष्टि से—संविधान केन्द्र तथा राज्य दोनों सरकार को ऋण लेने लेने का अधिकार प्रदान करता है। किन्तु केन्द्र और राज्य की सरकारें इस अधिकार का प्रयोग संविधान द्वारा निर्धारित सिद्धांतों तथा संसद-निर्मित नियमों के अनुसार ही करेंगी। जहाँ तक राज्यों का प्रश्न है, संविधान द्वारा राज्यों के ऋण लेने के अधिकार पर ये मर्यादाएँ लगाई गई हैं—

1. प्रथमतः कोई राज्य केवल भारत में ही ऋण ले सकता है।
2. राज्य विधान-मण्डल कानून बनाकार राज्य के ऋण लेने की शक्ति को नियंत्रित कर सकता है।
3. भारत सरकार संसदीय कानून के अनुसार किसी राज्य को ऋण दे सकती है।
4. जब तक किसी राज्य के पास संघ सरकार का ऋण बाकी रहता है तब तक भारत सरकार की अनुमति के बिना कोई राज्य नया ऋण नहीं ले सकता।

4. वित्तीय संकटकाल की दृष्टि से—भारतीय संविधान में वित्तीय संकट का प्रावधान है। वित्तीय संकटकाल में राज्य की वित्तीय व्यवस्था पर केन्द्रीय सरकार का नियंत्रण बढ जाता है। उदाहरण के लिए वित्तीय संकटकाल में राष्ट्रपति धन-विधेयक को अपने विचार के लिए सुरक्षित कर सकता है। संघ-सरकार राज्य-सरकार को वित्तीय अधिकारों के प्रयोग की दिशा में कोई निर्देश दे सकती है। राष्ट्रपति संविधान के उन पक्षों को निलम्बित कर सकता है जिनका सम्बन्ध संघ और राज्यों के मध्य आय के विभाजन से या राज्यों को दिए जाने वाले अनुदान से है।

5. वित्तीय आयोग की दृष्टि से—संविधान के अनुच्छेद 280 के अनुसार राष्ट्रपति को वित्तीय आयोग के गठित करने का अधिकार है। इस आयोग का कार्यकाल पाँच वर्ष होता है। प्रत्येक पाँच वर्ष की समाप्ति पर नया आयोग गठित किया जाता है। आयोग का प्रमुख कार्य संघ तथा राज्यों के मध्य करों के वितरण, राज्य को दिए जाने वाले अनुदान तथा संघ और राज्यों के वित्तीय सम्बन्ध के विषय में राष्ट्रपति को अपनी सिफारिशें देना होता है।

6. राज्यों के आय-व्यय की जाँच की दृष्टि से—राज्यों के आय-व्यय के निरीक्षण को प्रधान सूत्र केन्द्रीय सरकार के हाथों में है। इस दृष्टि से भारतीय संविधान में नियंत्रक तथा महालेखा-परीक्षक (Comptroller and Auditor General of India) के पद का प्रावधान है। इस अधिकारी का प्रमुख कार्य यह देखना होता है कि भारत सरकार तथा राज्य सरकारों का आय-व्यय नियम के अनुसार हो रहा है या नहीं। इस अधिकारी की नियुक्ति राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद के परामर्श से करता है। नियंत्रक और महालेखा-परीक्षक के नीचे राज्यों के महालेखा परीक्षक होते हैं। इन अधिकारियों की नियुक्ति भी संघ-सरकार द्वारा होती है।

इस प्रकार वित्तीय दृष्टि से भी केन्द्र और राज्य परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। किन्तु अन्य क्षेत्रों की भांति इस क्षेत्र में भी शक्ति के प्रमुख सूत्र केन्द्र के हाथों में ही निहित हैं।

केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का मूल्यांकन

केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक संबंध संविधान के प्रवर्तन से लेकर आज तक विवाद के विषय रहे हैं। संविधान में केन्द्र को शक्तिशाली बनाने के लिए जो प्रावधान किए गए थे, उनकी संविधान सभा में ही कटु आलोचना की गई थी। तब से लेकर आज तक भारत की संघात्मक

केन्द्र और राज्यों के सम्बन्ध—एक दृष्टि

विधायी सम्बन्ध	प्रशासकीय सम्बन्ध	वित्तीय सम्बन्ध
1. संविधान में तीन सूचियों का उल्लेख है : संघ-सूची, राज्य-सूची, समवर्ती सूची।	1. राज्य अपनी कार्यपालिका-शक्ति का इस प्रकार प्रयोग करेगा जिससे कि संघीय विषयों से विरोध न हो।	1 संघीय तथा राज्यों के राजस्व के स्रोत विभक्त हैं।
2. संघ-सूची पूर्णतया संघ-सरकार के अधिकार में रहती हैं।	2. संघ-सरकार राज्यों को निदेश दे सकती हैं।	2. संघीय राजस्व के कुछ साधनों के राज्यों में वितरण की व्यवस्था हैं।
3. समवर्ती सूची पर दोनों का अधिकार होता है।	3. संघ-सरकार राज्यों को कुछ संघीय विषयों के प्रबन्ध का कार्य सौंप सकती है।	3. राजस्व-वितरण की प्रक्रिया में केन्द्र की श्रेष्ठता स्थित है।
4. राज्य-सूची पर राज्यों का अधिकार है, किन्तु विशिष्ट स्थिति में राज्य-सूची के अंतर्गत आने वाले विषयों पर संसद को विधि-निर्माण का अधिकार है।	4. संकटकाल में राज्य के शासन पर केन्द्र का नियन्त्रण बढ़ जाता है।	4. संघ-सरकार राज्यों को सहायता-अनुदान तथा ऋण देती हैं।
5. संसद राज्यसभा के विशेष प्रस्ताव पर राज्यों में संवैधानिक संकट तथा राष्ट्रीय संकट एवं अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के लिए राज्य-सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर कानून बना सकती है।	5. अखिल भारतीय सेवाएँ अथवा आई० ए० एस० तथा आई० पी० एस० की नियुक्ति संघ सरकार द्वारा होती है।	5. वित्तीय संकट के समय केन्द्र को अधिक शक्ति मिल जाती है।
6. समवर्ती सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर निर्मित कानून में विरोध की स्थिति में संघीय कानूनों को वरीयता दी जायगी।	6. राज्यपाल की नियुक्ति केन्द्र-सरकार द्वारा होती है।	6. राष्ट्रपति वित्तीय आयोग को गठित करता।
7. राज्यों द्वारा निर्मित कुछ कानूनों के निर्माण में राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति आवश्यक है। कुछ कानून राज्यपाल राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए सुरक्षित रख सकता है।	7. अन्तर्राज्यीय जल-सम्बन्धी विवादों के निर्णय, अन्तर्राज्यीय परिषद की स्थापना व मुख्यमन्त्रियों के विरुद्ध लगाए गए आरोपों को जाँच का अधिकार संघ-सरकार को है।	7. राज्यों के आय-व्ययों के खातों की जाँच की व्यवस्था संघीय सरकार के नियन्त्रण में है।

व्यवस्था में राज्यों की स्थिति तथा केन्द्र की शक्ति-सम्पन्नता को लेकर अनेक प्रकार की आलोचनाएँ की जाती हैं। आलोचकों के अनुसार भारत की संघात्मक व्यवस्था में राज्यों की स्थिति 'गौरवपूर्ण नगरपालिकाओं' (Glorified Municipalities) की सी है।[1] एक आलोचक के अनुसार "भारतीय संघ में केन्द्र तो अत्यधिक रक्त-संचय में ग्रस्त है और राज्य रक्तहीनता की शिकार है।"[2]

केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक संबंधों को लेकर जो आलोचनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं, उनके मुख्य पक्ष इस प्रकार हैं—

1. केन्द्र को राज्य की अपेक्षा अत्यधिक शक्तिशाली बना दिया गया है।
2. राज्यों को नहीं के बराबर स्वायत्तता प्रदान की गई है।
3. राज्यों के प्रशासन पर केन्द्र का प्रभावशाली नियंत्रक है।
4. वित्तीय दृष्टि से राज्य केन्द्र की कृपा पर निर्भर कर दिए गए हैं।

इस प्रकार प्रधानतया इन्हीं आधारों पर केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक संबंधों की कटु आलोचना की जाती है। आलोचना ही नहीं, समय-समय पर कतिपय राज्यों के प्रभावशाली कुछ राजनैतिक दल राज्यों की अधिक स्वायत्तता तथा उसके प्रविधान के लिए संविधान में आवश्यक संशोधन की माँग करते रहे हैं। उदाहरण के लिए सन् 1971 ई० में तमिलनाडु में डी० एम० के० पार्टी की सरकार ने केन्द्र-राज्य संबंधों पर पुनर्विचार के लिए राजमन्नार समिति Rajmannar Committee on Centre-State Relation) की स्थापना की। इस समिति ने राज्यों को अधिक स्वायत्तता प्रदान करने का सुझाव दिया था। इसी प्रकार कुछ वर्षों पूर्व पश्चिमी बंगाल, केरल, तमिलनाडु तथा जम्मू-कश्मीर आदि के मुख्य मंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ था जिसमें राज्यों की स्वायत्तता की माँग की गई थी।

इस प्रकार की माँगें तथा भारत के राजनैतिक क्षितिज पर उभरने वाली घटनाएँ इस तथ्य का संकेत देती हैं कि केन्द्र और राज्य संबंधी वर्तमान व्यवस्था के संबंध में कुछ लोगों में तीव्र असंतोष रहा है।

क्षेत्रीय असंतुलन तथा कतिपय अन्य बातें इस असंतोष को उभारती रही हैं। किन्तु इस असंतोष का मूल कारण कतिपय राजनेताओं का संकुचित स्वार्थ रहा है।

कतिपय विदेशी शक्तियाँ कुछ स्वार्थी राजनेताओं से गठबंधन कर क्षेत्रवाद को बढ़ावा देकर केन्द्रीय सरकार को कमजोर बनाने का प्रयास कर रही हैं। उनका मुख्य प्रयोजन भारत की राष्ट्रीय एकता को नष्ट कर, उसका विघटन कर कमजोर और विभाजित भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना है। पंजाब में खालिस्तान की माँग और उस माँग से संबंधित घटनाएँ इस तथ्य का प्रमाण हैं।

आज आवश्यकता इस बात की है कि हम धर्म, क्षेत्रवाद आदि की संकीर्ण भावनाओं से ऊपर उठकर राष्ट्र के व्यापक हित को ध्यान में रख कर कार्य करें। हमें यह न भूलना चाहिए कि केन्द्र-सरकार का शक्तिशाली होना भारत के लिए नितांत आवश्यक है। भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब केन्द्रीय शासन कमजोर हुआ है, तब-तब भारत पर विदेशियों ने आक्रमण किया है और भारत की राजनीतिक स्वाधीनता समाप्त हुई है। अतएव हमें संकुचित स्वार्थ से दूर रहना चाहिए तथा भारत का विघटन करने वाली शक्तियों में सावधान रहना

---

1. 'The units of Indian Federation have been reduced to the position of glorified municipalities.'

2. 'There is apoplexy at the Centre and anaemia at the circumference.'

चाहिए। हमें सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि हम सब भारत के अभिन्न अंग हैं। हमारा अस्तित्व भारत के अस्तित्व पर निर्भर करता है। भारत की प्रगति का अर्थ है हमारी प्रगति और भारत की क्षति का अर्थ है हमारी क्षति। भारत की प्रगति के लिए, भारत की सुरक्षा के लिए एक शक्तिशाली केन्द्र आवश्यक है। अतएव केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक संबंध इस तथ्य को ध्यान में रख कर निर्धारित होने चाहिए। इस प्रकार राज्यों की उचित माँगों तथा राष्ट्र के व्यापक हित के प्रकाश में केन्द्र और राज्यों के मध्य स्वस्थ संबंधों के विकास का प्रयास करना चाहिए। इस प्रयास में हमें अपनी संवैधानिक व्यवस्था तथा उस व्यवस्था की छाँह में विकसित परम्पराओं से समुचित सहायता मिल सकती है।

केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक संबंधों को स्वस्थ दिशा देने के लिए भारत सरकार ने सर्वोच्च न्यायालय के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश आर० एस० सरकरिया की अध्यक्षता में एक आयोग गठित की थी। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट पेश कर दी है। आशा है, आयोग की सिफारिशें या सुझाव केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक संबंधों को सुधारने में महत्वपूर्ण योग देंगे।

लघु तथा अति लघु उत्तरीय प्रश्न और उनके उत्तर

लघु उत्तरीय प्रश्न और उनके प्रश्न

प्रश्न 1—केन्द्र और राज्य के विधायी सम्बन्ध संक्षेप में बताइए।

उत्तर—विधायी दृष्टि से संविधान में समस्त विषयों को तीन सूचियों में विभक्त किया गया है : संघ सूची, राज्य सूची तथा समवर्ती सूची। संघ सूची में 97 विषय हैं, राज्य सूची में 62 विषय हैं तथा समवर्ती सूची में 52 विषय हैं। संघ सूची पर विधि-निर्माण का अधिकार केवल केन्द्र को है। राज्य सूची पर राज्यों का अधिकार है। समवर्ती सूची पर संघ और राज्य दोनों का अधिकार है। किन्तु विशेप परिस्थितियों में राज्य सूची के अंतर्गत आने वाले कुछ विषयों पर संसद को विधि-निर्माण का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

अति लघु प्रश्न

प्रश्न 1—संघीय सूची में कितने वियष हैं ?

उत्तर—97।

प्रश्न 2—राज्य सूची में कितने विषय हैं ?

उत्तर—62।

प्रश्न 3—समवर्ती सूची में कितनें विषय हैं ?

उत्तर—52।

प्रश्न 4—संघीय सूची के अन्तर्गत आने वाले दो विषयों का नाम बताइए।

उत्तर—प्रतिरक्षा, विदेशी संबंध।

प्रश्न 5—राज्य सूची के अन्तर्गत आने वाले दो विषयों का नाम बताइए।

उत्तर—पुलिस, सिंचाई।

प्रश्न 6—समवर्ती सूची के अन्तर्गत आने वाले दो विषयों का नाम बताइए।

उत्तर—शिक्षा, नाप व तौल।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक संबंधों का विवेचन कीजिए।

2. संघ तथा राज्यों के पारस्परिक संबंध के विषय में आप क्या जानते हैं ?
3. 'केन्द्र में अत्यधिक रक्त-संचय है, किन्तु राज्य रक्तहीनता से ग्रस्त हैं' इस कथन के प्रकाश में केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक संबंधों का विवेचन कीजिए।
4. भारतीय संघ में केन्द्र की क्या शक्तियाँ हैं ?
5. केन्द्र राज्यों के वित्तीय तथा विधायी संबंधों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।

लघु प्रश्न

1. केन्द्र और राज्य के विधायी संबंधों पर प्रकाश डालिए।
2. केन्द्र और राज्यों के प्रशासकीय संबंधों पर प्रकाश डालिए।
3. केन्द्र और राज्य के वित्तीय संबंध पर पाँच वाक्य लिखिए।

अति लघु प्रश्न

1. संघ और राज्यों के मध्य विषय का विभाजन संविधान की किस अनुसूची में दिया गया है ?
2. संघीय सूची में कितने विषय हैं ?
3. राज्य सूची में कितने विषय हैं ?
4. समवर्ती सूची में कितने विषय हैं ?
5. उन दो विषयों का नाम बताइये जो समवर्ती सूची के अंतर्गत आते हैं।
6. उन विषयों का नाम बताइये जो 42वें संशोधन अधिनियम द्वारा राज्य सूची से हटाकर समवर्ती सूची के अंतर्गत लाए गए हैं।
7. शिक्षा किस सूची के अंतर्गत आती है ?
8. सरकारिया आयोग किस लिए गठित किया गया है ?
9. किस सूची के अंतर्गत सबसे अधिक विषय आते हैं ?

'सुदक्ष नागरिक सेवाओं के अभाव में कोई देश कदापि उन्नति नहीं कर सकता, भले ही वहाँ के मन्त्रीगण कितने ही देशभक्त और उदात्त आदर्शों वाले क्यों न हों।'

—एच० वी० कामथ

अध्याय 21

लोकसेवाएँ तथा लोकसेवा आयोग

● भारतीय लोकसेवाओं का वर्गीकरण ● लोकसेवकों की नियुक्ति ● अखिल भारतीय तथा संघीय लोकसेवाओं की नियुक्ति की नई प्रक्रिया ● सिविल सेवकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था ● राज्यसेवाओं की नियुक्ति की प्रक्रिया ● संघीय लोकसेवा आयोग ● राज्य लोकसेवा आयोग।

आमुख

लोकसेवाएँ आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था का अपरिहार्य अंग मानी जाती हैं। लोकसेवाओं की उपयोगिता और आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए प्रसिद्ध राजशास्त्री डॉ० हरमन फाइनर ने लिखा है कि 'लोकसेवाओं के बिना कोई शासन नहीं चल सकता।' वस्तुतः लोकसेवाएँ किसी भी राजनीतिक व्यवस्था का मेरुदंड होती हैं। फिर भी जनतंत्र या प्रतिनिधिमूलक शासनतंत्र में उनका महत्व और भी बढ़ जाता है। इसका प्रमुख कारण जनतंत्र की प्रतिनिधिमूलक व्यवस्था में जन-प्रतिनिधियों का समय-समय पर बदलते रहना होता है। उदाहरण के लिए, संसदात्मक जनतंत्र में मंत्रिमंडल बनते और बिगड़ते हैं, मंत्री आते हैं और जाते हैं, पर लोकसेवाओं से जुड़े पदाधिकारी स्थायी रूप से अपने पद पर बने रहते हैं। फलतः लोकसेवाएँ शासन में स्थायित्व, निरंतरता और एकरूपता का संचार करती हैं। लोकसेवाओं का एक अन्य लाभ यह भी है कि लोकसेवक अपने कार्य के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित होते हैं जब कि इन प्रतिनिधियों को यह प्रशिक्षण सुलभ नहीं होता। अपनी विशेष योग्यता और प्रशिक्षण के कारण नौकरशाही शासन को अधिक सक्षम बनाती है, इसीलिए लोकसेवकों को विशेषज्ञ (Experts) तथा मंत्रियों को अल्पज्ञ या नौसिखुआ (Amateurs) कहा जाता है। संसदीय शासन मूलतया इन्हीं अल्पज्ञों और विशेषज्ञों का मिश्रित रूप होता है। संसदीय शासन में नौकरशाही की महती भूमिका को स्वीकार करते हुए हरबर्ट मारिसन ने लिखा है कि "लोकसेवाएँ संसदीय जनतंत्र की वास्तविक कीमत हैं।" भारत की संसदात्मक व्यवस्था भी इसका अपवाद नहीं है। भारत में लोकसेवाओं की एक अत्यन्त सुगठित, सुनियोजित तथा सुव्यवस्थित व्यवस्था है। विश्व में बहुत कम देश ऐसे हैं जहाँ कि इस प्रकार की लोकसेवाएँ सुलभ हैं।

भारतीय लोकसेवाओं का वर्गीकरण

भारतीय सेवाओं को दो प्रधान वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—सैनिक सेवाएँ तथा असैनिक सेवाएँ। जहाँ तक कि सैनिक सेवाओं का प्रश्न है, सैनिक सेवाएँ या प्रतिरक्षा सेवाओं के तीन प्रमुख अंग हैं—स्थलसेना, जलसेना और वायुसेना।

सेवाओं का दूसरा वर्ग असैनिक सेवाओं या सिविल सेवाओं का है। असैनिक सेवाएँ, सिविल सेवाएँ या नागरिक सेवाएँ तीन प्रधान वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं—

1. अखिल भारतीय सेवाएँ (All India Services)
2. संघीय या केन्द्रीय सेवाएँ (Central Services)
3. राज्य सेवाओं (State Services)

सैनिक सेवाओं की नियुक्ति, भर्ती या सगठन की विधा पृथक् है और असैनिक या सिविल सेवाओं की संगठन-विधि अलग है।

यहाँ हम सिविल सेवाओं के संगठन पर प्रकाश डालेंगे।

1. अखिल भारतीय सेवाएँ (All India Services)—अखिल भारतीय सेवाओं से आशय उन सेवाओं से है जिनका संबंध सारे देश से होता है। अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारी संघ तथा राज्य सरकारों के अधीन रहकर कार्य करते हैं। अखिल भारतीय सेवाओं के अन्तर्गत कार्य करने वाले अधिकारी भारत के किसी भी भाग में नियुक्त किए जा सकते हैं, किसी भी भाग में भेजे जा सकते हैं या स्थानान्तरित किए जा सकते हैं।

अखिल भारतीय सेवाओं में दो सेवाएँ सर्वप्रमुख हैं। ये सेवाएँ हैं : 'भारतीय प्रशासकीय सेवा'—इंडियन ऐडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस (I. A. S.) तथा 'भारतीय पोलिस सेवा'—इंडियन पोलिस सर्विस (I. P. S.)।[1]

इन दो सेवाओं के अतिरिक्त अखिल भारतीय सेवाओं के अन्तर्गत राज्यसभा द्वारा पारित प्रस्ताव के अनुसार सन् 1961 ई० में कुछ राज्य सेवाओं, यथा वन सेवा तथा स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सेवा आदि को भी अखिल भारतीय सेवाओं का रूप प्रदान किया गया है।

इस प्रकार वर्तमान समय में अखिल भारतीय सेवाओं के अन्तर्गत प्रधानतया 'इंडियन एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस', 'इंडियन पोलिस सर्विस', 'इंडियन फॉरेस्ट सर्विस', 'इंडियन इंजीनियरिंग सर्विस' तथा 'इंडियन मेडिकल सर्विस' आती हैं।

2. संघीय या केन्द्रीय सेवाएँ (Union or Central Services)—संघीय या केन्द्रीय सेवाओं से आशय उन सेवाओं से है जो मूलतया संघीय सूची के अन्तर्गत आने वाले विषयों की व्यवस्था के लिए संगठित की गई हैं, यथा—विदेश विभाग, रेल, तार, डाक, आयकर, सीमा-शुल्क, उत्पत्ति-कर आदि। संघीय सेवाओं के अन्तर्गत आने वाली सेवाओं में 'भारतीय विदेश सेवा' ('इंडियन फारेन सर्विस'), 'इंडियन आडिट ऐण्ड एकाउंट्स सर्विस', 'इंडियन डिफेंस एकाउंट्स सर्विस', 'इंडियन कस्टम्स ऐण्ड सेण्ट्रल एक्साइज सर्विस', 'इंडियन इन्कम टैक्स सर्विस', 'इंडियन पोस्टल सर्विस' 'इंडियन रेलवे एकाउंट्स सर्विस', 'इंडियन रेलवे ट्रैफिक सर्विस', आदि आती हैं। इन सेवाओं के अन्तर्गत कार्य करने वाले अधिकारी केन्द्रीय सरकार के अधीन रहकर कार्य करते हैं। इन्हें भारत के किसी भी भाग में भेजा जा सकता है, किन्तु ये राज्य सरकार के अधीन नहीं रहते। ये पूर्णतया संघीय सरकार के अधीन रहते तथा उसी के नियंत्रण में कार्य करते हैं।

3. राज्यों की सेवाएँ—जिस प्रकार सारे देश और संघीय विषयों के लिए अखिल भारतीय और संघीय सेवाओं का प्रावधान है उसी प्रकार राज्य-स्तर पर राज्यों की सेवाएँ हैं। राज्य सेवाओं के अन्तर्गत आने वाली सेवाओं मेंप्रादेशिक सिविल सेवा, प्रादेशिक पुलिस सेवा, प्रादेशिक शिक्षा सेवा, प्रादेशिक चिकित्सा और स्वास्थ्य सेवा, प्रादेशिक परिवहन सेवा, बिक्री कर सेवा आदि आती हैं। ये विभिन्न प्रदेशों या राज्यों की अपनी-अपनी प्रादेशिक सेवाएँ होती हैं। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश की अपनी राज्य सेवाएँ हैं।

इसी प्रकार भारत के अन्य राज्यों की अपनी-अपनी सेवाएँ हैं।

उपर्युक्त तीन प्रकार की सेवाओं की निम्नांकित तालिका द्वारा हम इस प्रकार रख सकते हैं—

---

1. स्वाधीनता के पूर्व इस सेवा को 'इंडियन सिविल सर्विस' (I. C. S.) कहा जाता था। स्वाधीनता के बाद सन् 1943 ई० में आई० सी० एस० को आई० ए० एस० का नाम दिया गया।

भारत की लोकसेवाएँ

अखिल भारतीय सेवाएँ
(1) आई० ए० स०
(2) आई० पी० एस० आदि।

संघीय सेवाएँ
(1) इंडियन फारेन सर्विस
(2) इंडियन आडिट ऐण्ड एकाउंट्स सर्विस
(3) इंडियन कस्टम्स ऐण्ड सेण्ट्रल एक्साइज
(4) इंडियन डिफेंस एकाउंट्स सर्विस
(5) इंडियन इन्कम-टैक्स सर्विस
(6) इंडियन पोस्टल सर्विस
(7) इंडियन रेलवे एकाउंट्स सर्विस
(8) इंडियन रेलवे ट्रैफिक सर्विस
(9) डिफेंस लैंड् ऐण्ड कैंटोमेंट सर्विस आदि।

राज्यों की सेवाएँ
(1) प्रादेशिक सिविल सर्विस
(2) प्रादेशिक न्याय सेवा
(3) प्रादेशिक पोलिस सेवा
(4) प्रादेशिक जेल सेवा
(5) चिकित्सा व स्वास्थ्य सर्विस
(6) प्रादेशिक परिवहन सेवा
(7) प्रादेशिक एकाउंट्स सेवा आदि।

लोकसेवकों की नियुक्ति

लोकसेवकों की नियुक्ति की निश्चित प्रक्रिया होती है। संविधान के अनुसार अखिल भारतीय और संघीय या केन्द्र के अधीनस्थ सेवाओं की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है और राज्यों की सेवाओं की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा होती है; किन्तु राष्ट्रपति या राज्यपाल स्वेच्छा से ये नियुक्तियाँ नहीं करते। राष्ट्रपति संघीय लोकसेवा आयोग की सिफारिशों के अनुसार नियुक्तियाँ करता है। इसी प्रकार राज्यपाल राज्य के लोकसेवा आयोग की सिफारिशों के अनुसार नियुक्तियाँ करता है।

अखिल भारतीय तथा संघीय लोकसेवाओं की नियुक्ति की नई प्रक्रिया

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि अखिल भारतीय सेवाओं की नियुक्ति राष्ट्रपति संघीय लोकसेवा की सिफारिशों के अनुसार करता है।

संघीय लोकसेवा आयोग इन सेवाओं पर नियुक्ति हेतु प्रतिवर्ष प्रतियोगिता-परीक्षाएँ आयोजित करता है।[1]

प्रतियोगिता-परीक्षा की सूचना देश के प्रमुख समाचार-पत्रों में प्रकाशित कर दी जाती है। प्रतियोगिता में स्नातक स्तर (ग्रेजुएट स्टैण्डर्ड) की परीक्षा पास कोई भी भारतीय नागरिक सम्मिलित हो सकता है, किन्तु उसकी आयु 21 वर्ष से कम और 26 वर्ष[2] से अधिक नहीं होनी

1. इंडियन फारेस्ट सर्विस, इंजीनियरिंग सर्विस तथा मेडिकल सर्विस के लिए अधिकारियों की नियुक्ति की प्रक्रिया अलग है।

2. पहले अखिल भारतीय और संघीय सेवाओं के लिए अधिकतम आयु 28 वर्ष निर्धारित की गई थी। किन्तु अभी हाल में उसे 26 वर्ष कर दिया गया है।

चाहिए। अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति तथा इस प्रकार कुछ अन्य वर्ग के लोगों के लिए अधिकतम आयु सीमा में कुछ छूट दी गई है। प्रत्येक व्यक्ति अधिक-से-अधिक तीन बार परीक्षा में बैठ सकता है। यदि तीसरी बार भी सफल नहीं होता तो उसे फिर बैठने की अनुमति नहीं दी जाती। सन् 1979 ई० के पूर्व समस्त अखिल भारतीय और संघीय सेवाओं के लिए एक ही लिखित परीक्षा होती थी। लिखित परीक्षा में सफल प्रत्याशियों की मौखिक परीक्षा होती थी। उसके उपरान्त सफल परीक्षार्थियों की सूची प्रकाशित कर दी जाती थी; किन्तु 1979 ई० से परीक्षा-प्रणाली में मौखिक परिवर्तन कर दिया गया है। इस परिवर्तित व्यवस्था के अनुसार अखिल भारतीय सेवाओं तथा अन्य संघीय सेवाओं की परीक्षा-प्रणाली का स्वरूप इस प्रकार है—

1. प्रारम्भिक परीक्षा (Preliminary Examination)
2. मुख्य परीक्षा (Main Examination)
3. साक्षात्कार परीक्षा (Interview Test)

1. प्रारम्भिक परीक्षा (Preliminary Examination)—यह सन् 1979 ई० से प्रवर्तित संघीय सिविल सेवाओं के लिए आयोजित प्रतियोगिता परीक्षा का प्रथम चरण है। इस परीक्षा में निम्नांकित दो प्रश्न-पत्र होते हैं—

प्रथम प्रश्न-पत्र—सामान्य अध्ययन (General Studies)	......	100 अंक
द्वितीय प्रश्न-पत्र—एक वैकल्पिक विषय[3]	....	300 अंक

इस परीक्षा में जो प्रत्याशी सफल हो जाते हैं, उन्हें मुख्य परीक्षा में बैठने का अवसर मिलता है; जो इस परीक्षा में असफल हो जाते हैं, उन्हें मुख्य परीक्षा में बैठने की अनुमति नहीं दी जाती। प्रारम्भिक परीक्षा में प्रश्न-पत्र हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में पूछे जाते हैं। ये प्रश्न-पत्र वस्तुनिष्ठ प्रश्नों (ObjectiveQuestions) के रूप होते हैं।

2. मुख्य परीक्षा (Main Examination)—यह सिविल सेवाओं की प्रतियोगिता-परीक्षा का दूसरा चरण है। प्रारम्भिक परीक्षा में उत्तीर्ण परीक्षार्थी इस परीक्षा में सम्मिलित होने के अधिकारी होते हैं। इस परीक्षा में कुल मिलाकर आठ प्रश्न-पत्र होते हैं। ये प्रश्न-पत्र इस प्रकार हैं---

प्रथम प्रश्न-पत्र--	संविधान की आठवीं अनुसूची में दी गई भारतीय भाषाओं में से एक भाषा	...	300 अंक
द्वितीय प्रश्न-पत्र—	अंग्रेजी	...	300 अंक
तृतीय तथा चतुर्थ प्रश्न-पत्र—	सामान्य अध्ययन	...	प्रत्येक 300 अंक
पाँचवाँ, छठा, सातवाँ तथा आठवाँ प्रश्न-पत्र—	वैकल्पिक विषयों में से कोई दो विषय	...	प्रत्येक प्रश्न-पत्र 300 अंकों का होता है

3. साक्षात्कार परीक्षा (Interview Test)—मुख्य परीक्षा में सफल प्रत्याशियों को साक्षात्कार परीक्षा के लिए बुलाया जाता है। साक्षात्कार परीक्षा वर्तमान समय में केवल 250 अंकों की होती है। साक्षात्कार परीक्षा को संघीय सिविल सेवाओं सम्बन्धी परीक्षा का तृतीय और अन्तिम चरण कहा जा सकता है।

---

3. वैकल्पिक विषयों के अन्तर्गत भारतीय इतिहास, राजनीतिविज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, भूगोल, दर्शन, वाणिज्य, कृषिविज्ञान, इंजीनियरिंग आदि के कुछ विषय होते हैं।

संघीय लोकसेवा आयोग की सिफारिशों के आधार पर राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति—संघीय लोकसेवा आयोग द्वारा आयोजित परीक्षाओं के आधार पर आयोग सफल प्रत्याशियों की एक सूची (Merit List) प्रकाशित करता है। यह सूची परीक्षा में प्राप्त अंकों के अनुसार बनाई जाती है। आयोग इसी सूची को राष्ट्रपति के पास देता है। राष्ट्रपति उसी के अनुसार नियुक्ति कर देता है।[1]

सिविल सेवकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था

अखिल भारतीय तथा संघीय सेवाओं के लिए नियुक्त अधिकारियों को कुछ समय के लिए अपनी सेवा की आवश्यकता के अनुरूप प्रशिक्षण दिया जाता है।

प्रशिक्षण पूरा होने के उपरान्त उन्हें अपने-अपने पदों का कार्यभार सँभालने के लिए विभिन्न स्थानों में भेज दिया जाता है।

राज्य-सेवाओं की नियुक्ति की प्रक्रिया

राज्य की प्रमुख सेवाओं में राज्य सिविल सेवा (P. C. S.) राज्य पोलिस सेवा (P. P. S.), राज्य की न्यायिक सेवा, राज्य की शिक्षा सेवा, राज्य एकाउण्ट्स सेवा, राज्य परि-वहन सेवा, राज्य बिक्रीकर सेवा आदि के लिए राज्य का लोकसेवा आयोग प्रतिवर्ष प्रतियोगिता परीक्षाएँ आयोजित करता है। इन प्रतियोगिता परीक्षाओं में सफल प्रत्याशियों की राज्यपाल द्वारा नियुक्ति होती है।

राज्य को चिकित्सा सेवा, स्वास्थ्य सेवा या इंजीनियरिंग सेवा-जैसी विशेष प्राविधिक ज्ञान वाली सेवाओं के लिए लिखित परीक्षा के स्थान पर केवल साक्षात्कार परीक्षा ही होती है।

लोकसेवाओं के विशेष अधिकार

संविधान संघ तथा राज्य की सिविल सेवाओं के अधिकारियों को कतिपय विशेष अधिकार प्रदान करता है। ये अधिकार संक्षेप में इस प्रकार हैं—

1. प्रत्येक सिविल सेवक निश्चित आयु तक अपने पद पर बना रहता है।
2. प्रत्येक सिविल सेवक को निश्चित प्रक्रिया के अनुसार ही अपने पद से अलग किया जा सकता है।
3. किसी भी सिविल सेवक को उसे नियुक्त करने वाले अधिकारी से निम्न स्तर के अधिकारी द्वारा हटाया नहीं जा सकता।

प्रत्येक सिविल सेवक को निश्चित वेतन तथा निश्चित भत्ते मिलते हैं। उनके वेतन में सामान्यतया कटौती नहीं की जा सकती। केवल वित्तीय संकटकाल में ही उनके वेतन में कटौती की जा सकती है। उन्हें पदोन्नति (प्रमोशन) का भी उपयुक्त अवसर मिलता है।

भारतीय संविधान में लोकसेवाओं का प्रावधान

भारतीय संविधान में लोकसेवाओं के लिए 'सार्वजनिक सेवा' (Public Service) शब्द-पद का प्रयोग किया गया है। संविधान में जो प्रावधान किया गया है, उसके अनुसार भारत में लोकसेवाओं के अन्तर्गत मुख्यतया निम्नलिखित व्यक्ति आते हैं—

1. वह व्यक्ति जो भारत-संघ की प्रशासकीय सेवा का सदस्य हो।

---

1. व्यवहार में यह सूची गृह मंत्रालय के पास भेजी जाती है। राष्ट्रपति का हस्ताक्षर एक औपचारिक प्रक्रिया है।

2. वह व्यक्ति जो कि अखिल भारतीय सेवा का सदस्य हो।
3. वह व्यक्ति जो किसी राज्य की प्रशासकीय सेवा का सदस्य हो।
4. वह व्यक्ति जो भारत-संघ के अधीन प्रशासकीय पद का धारी हो।
5. वह व्यक्ति जो किसी राज्य के अधीन प्रशासकीय पद का धारी हो।

भारत में इन पाँच वर्गों के लोक सामान्यतया लोकसेवाओं का निर्माण करते हैं।

लोकसेवाओं के कार्य

भारत की राजनीतिक व्यवस्था में लोकसेवाओं का अपना स्थान है। अपने विशेष ज्ञान और अनुभव से शासन को लाभान्वित कर लोकसेवक भारत की संसदात्मक व्यवस्था को स्थिरता और गति प्रदान करते हैं। लोकसेवकों के कार्य को संक्षेप में हम इस प्रकार रख सकते हैं—

1. **नीति-निर्माण में मंत्रियों को परामर्श**—लोकसेवकों का प्रमुख कार्य नीति-निर्माण में मंत्रियों को परामर्श देना होता है। जैसा कि ई० एफ० डेल ने लिखा है कि 'लोक सेवाओं का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य मंत्रियों को यह परामर्श देना होता है कि वे क्या निर्णय लें।
2. **निर्मित नीतियों और कानूनों का क्रियान्वयन**—लोकसेवकों का अन्य महत्वपूर्ण कार्य शासन द्वारा निर्धारित नीति तथा निर्मित कानूनों का तत्परता से क्रियान्वयन करना है।
3. **विधि-निर्माण में योग**—विधि-निर्माण का मुख्य कार्य व्यवस्थापिका का होता है, किन्तु व्यवस्थापिका द्वारा जो भी सरकारी विधेयक प्रस्तुत किये जाते हैं, उनके प्रारूप लोकसेवकों द्वारा ही पास किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त लोकसेवक व्यवस्थापिका द्वारा पास किये गये अधिनियमों के अनुरूप नियमों का निर्माण करते हैं। इस प्रक्रिया को प्रदत्त व्यवस्थापन (डेलीगेटेड लेजिस्लेशन) कहते हैं।
4. **वित्त-संबंधी कार्य**—लोकसेवकों द्वारा वित्त-सम्बन्धी अनेक कार्य किए जाते हैं। इस दृष्टि से आय-व्यय-विषयक आँकड़े एकत्रित करना, आय-व्यय का अनुमानित ब्योरा तैयार करना, इस सम्बन्ध में आवश्यक अन्य कर्तव्यों का पालन स्थायी व्यवस्थापिका के कार्य माने जाते हैं।
5. **शासन के विभिन्न अंगों में समन्वय**—शासन के विविध अंग, विविध पक्ष तथा विविध विभाग होते हैं। लोकसेवक इन विविध अंगों को जोड़ने वाली कड़ी का कार्य करते हैं। दूसरे शब्दों में लोकसेवक शासन के विविध अंगों के मध्य समन्वय और सहयोग स्थापित कर उनका नियन्त्रण और निर्देशन करते हैं।

भारतीय लोकसेवाओं की शासन में भूमिका और महत्व

भारत की राजनीतिक व्यवस्था में लोकसेवाओं का अपना महत्व है। यदि लोकसेवाओं को भारतीय शासन-व्यवस्था की शिरायें और धमनियाँ कहा जाय तो असंगत न होगा। योग्यता के आधार पर नियुक्ति तथा विशेष शिक्षा और प्रशिक्षण-प्राप्त लोकसेवक शासन से लम्बे समय तक जुड़े रहकर प्रशासन का विशेष अनुभव प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार शासन के विशेष अनुभव के कारण वे शासन-संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। एक प्रकार से वे प्रशासनिक योग्यता के अक्षय आगार बन जाते हैं। उनकी तुलना में मंत्रीगण अपेक्षाकृत कम अनुभव रखते हैं। मंत्रियों को शासन का कोई सुव्यवस्थित प्रशिक्षण भी प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार लोकसेवाओं के कारण संसदीय शासन विशेषज्ञों और अविशेषज्ञों का अपूर्व संगम बन जाता है।

लोकसेवक राजनीतिक दृष्टि से अप्रतिबद्ध होते हैं, सक्रिय राजनीति से दूर रहते हैं, शासन के नियमों के अनुसार वे त्यागपत्र दिये बिना सक्रिय राजनीति में भाग नहीं ले सकते। इसलिए वे निष्पक्ष रूप से अपने कर्तव्य का पालन करने में समर्थ होते हैं।

लोकसेवक शासन की नीति को क्रियान्वित करने के लिए उत्तरदायी होते हैं। इस दृष्टि से वे शासन के एक प्रकार से हाथ मुँह और आँख का काम करते हैं।

भारतीय लोकसेवकों ने भी अपनी भूमिका निभाने का प्रयास किया है। इसी भूमिका के कारण वे भारत की प्रशासनिक व्यवस्था के आधार-स्तम्भ बन गये हैं। किन्तु इन सब उपलब्धियों के बावजूद लोकसेवाओं के कुछ अपने दोष हैं। भारत की राजनीतिक व्यवस्था में लोकसेवायें अपनी सही भूमिका अदा कर सकें, इसलिए इन दोनों का निवारण आवश्यक है।

संघीन लोकसेवा आयोग (Union Public Service Commission)

संघीय तथा राज्य के लोकसेवा आयोगों का प्रावधान संविधान के चौदहवें खंड में अनुच्छेद 315 से लेकर 323 तक किया गया है। उदाहरण के लिए, 315 (1) अनुच्छेद में कहा गया है कि संघ के लिए एक लोकसेवा आयोग तथा प्रत्येक राज्य के लिए राज्य लोकसेवा आयोग होगा। इसी प्रकार इसी अनुच्छेद के अगले खण्डों में कहा गया है कि यदि दो या दो से अधिक राज्य इस बात के लिए तैयार हो जाते हैं कि उनके लिए संयुक्त लोकसेवा आयोग हो तो उनके लिए संयुक्त लोकसेवा आयोग की व्यवस्था हो सकती है। किन्तु इसके लिए उन राज्यों के विधान-मंडल द्वारा इस आशय का प्रस्ताव पास होना चाहिए तथा उस प्रस्ताव के अनुरूप संसद द्वारा अधिनियम निर्मित होना चाहिए।

संघीय लोकसेवा आयोग का गठन—संघीय लोकसेवा आयोग का एक अध्यक्ष तथा कुछ अन्य सदस्य होते हैं। वर्तमान समय में संघीय लोकसेवा आयोग में एक अध्यक्ष तथा सात अन्य सदस्य हैं।

संघीय लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है। नियुक्ति करते समय राष्ट्रपति इस बात का ध्यान रखता है कि वे व्यक्ति आयोग-सम्बन्धी अपने कर्तव्य-पालन करने में सक्षम हों। फलतः आयोग के अध्यक्ष पद पर ऐसे व्यक्ति ही नियुक्त किए जाते हैं जो अपने दीर्घ अनुभव, प्रखर ज्ञान, निष्पक्षता तथा ईमानदारी के लिए विख्यात हों। संवैधानिक प्रावधान के अनुसार आधे सदस्य ऐसे होने चाहिए जो कि अपनी नियुक्ति की तिथि तक भारत सरकार अथवा किसी राज्य-सरकार के अधीन कम-से-कम 10 वर्ष तक पद धारण कर चुके हों।

संघीय लोकसेवा के आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों का कार्यकाल—संघीय लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों का कार्यकाल उनकी नियुक्ति की तिथि से 6 वर्ष होता है, किन्तु 65 वर्ष की आयु हो जाने पर वे अवकाश प्राप्त कर लेते हैं। लोकसेवा आयोग का सदस्य यदि चाहे तो अवकाश-ग्रहण करने की तिथि से पूर्व भी अपने पद से त्यागपत्र दे सकता है।

सदस्यों की पदच्युति—संविधान के 317वें अनुच्छेद के अनुसार राष्ट्रपति लोकसेवा आयोग के किसी सदस्य को निम्नांकित परिस्थितियों में पदच्युत कर सकता है—

1. यदि वह दिवालिया हो गया हो।
2. यदि वह अपने कार्यकाल में अपने पद से भिन्न कोई सार्वजनिक पद स्वीकार कर ले।
3. यदि यह व्यक्ति राष्ट्रपति की दृष्टि में मानसिक तथा शारीरिक अस्वस्थता के कारण अपने पद पर कार्य करने के लिए अक्षम हो।

इसके अतिरिक्त यदि कोई सदस्य अनाचार, भ्रष्टाचार या रिश्वतखोरी के लिए दोषी पाया जाता है तो उसे अपने पद से हटाया जा सकता है। किन्तु इस प्रकार इसके आरोप की जाँच

की एक निर्धारित प्रक्रिया है। इसके अनुसार राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय को इस प्रकार की जाँच का कार्य सौंपेगा। इस प्रकार की जाँच के बाद ही वह इस दिशा में कोई निर्णय लेगा। जाँच की अवधि में ऐसे सदस्य को राष्ट्रपति निलम्बित कर सकता है।

सदस्यों की निष्पक्षता के लिए प्रावधान : उनके पद की मर्यादाएँ

संघीय लोकसेवा आयोग के सदस्य अपने कर्तव्य का निष्पक्षतापूर्वक पालन कर सकें, इसके लिए कतिपय प्रावधान किए गए हैं। ये प्रावधान इस प्रकार हैं—

1. अपने कार्यकाल की समाप्ति पर लोकसेवा आयोग के सदस्य को पुनः अपने पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता।
2. संघीय लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्य अपने कार्यकाल की समाप्ति पर संघीय अथवा राज्य सरकार के किसी पद पर नियुक्त नहीं किए जा सकते।
3. संघीय लोकसेवा आयोग का सदस्य किसी राज्य लोकसेवा आयोग का सदस्य बनाया जा सकता है, किन्तु वह राज्य-सरकार के अधीन आय के अन्य किसी पद पर नियुक्त नहीं हो सकता।

लोकसेवा आयोग की स्वतन्त्रता के रक्षा-विषयक प्रावधान

भारतीय संविधान में कतिपय ऐसे प्रावधान हैं जिनका प्रयोजन लोकसेवा आयोग की स्वतंत्रता की रक्षा करना है। इन प्रवाधानों को संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. आयोग के सदस्यों का कार्यकाल निश्चित है। इस कार्यकाल में कटौती नहीं की जा सकती।
2. आयोग के सदस्यों को संविधान द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार ही हटाया जा सकता है।
3. आयोग के सदस्यों को पर्याप्त वेतन और भत्ते दिए जाते हैं। उनके कार्यकाल में उनके वेतन में कोई कटौती नहीं की जा सकती।
4. आयोग के सदस्यों को वेतन संघ-सरकार की संचित निधि से दिया जाता है। अतएव वह संसदीय नियन्त्रण से मुक्त रहता है।
5. नियुक्ति के उपरान्त सदस्यों की सेवा-शर्तों में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता।
6. आयोग के अध्यक्ष या सदस्यों के कार्यकोल की समाप्ति के बाद उन्हें किसी सरकारी पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता।
7. अवकाश-प्राप्ति के उपरान्त अध्यक्ष और सदस्यों को उपयुक्त पेंशन की व्यवस्था है।

संघीय लोकसेवा आयोग के कार्य

संविधान के 320वें अनुच्छेद में संघीय लोकसेवा आयोग के कार्यों का उल्लेख है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से संघीय लोकसेवा आयोग के कार्यों को निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. संघीय सेवाओं के लिए प्रतियोगिता-परीक्षाओं का आयोजन—संघीय लोकसेवा आयोग का सर्वप्रमुख कार्य संघीय सेवाओं की नियुक्ति के लिए प्रतियोगिता-परीक्षाओं का आयोजन है। संघीय लोकेसेवा आयोग प्रतिवर्ष संघीय सेवाओं से सम्बन्धित विभिन्न पदों पर नियुक्तियों के लिए प्रतियोगिता-परीक्षाओं का आयोजन करता है। अखिल भारतीय और संघीय सेवाओं के अतिरिक्त संघीय लोकसेवा आयोग प्रतिरक्षा सेवाओं के विभिन्न प्रशिक्षण-विद्यालयों एवं प्रतिरक्षा संस्थाओं (Academies) में प्रवेश के लिए परीक्षाओं का आयोजन करता है।

अखिल भारतीय सेवाओं तथा संघीय सेवाओं के लिए आयोजित परीक्षाओं के परीक्षा-परिणामों के आधार पर आयोग सफल प्रत्याशियों को विभिन्न पदों पर नियुक्ति की सिफारिश करता है। इन सिफारिशों के आधार पर राष्ट्रपति नियुक्तियाँ करता है।

2. संघ-शासन को परामर्श प्रदान करना—संघीय लोकसेवा आयोग का अन्य महत्वपूर्ण कार्य संघीय शासन की कतिपय महत्वपूर्ण विषयों में अपना परामर्श देना है। जिन विषयों पर संघीय लोकसेवा आयोग सरकार को आदेश देता है, उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं—

1. असैनिक सेवाओं तथा असैनिक पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में।
2. असैनिक सेवाओं से सम्बन्धित पदाधिकारियों की पदोन्नति व स्थानान्तरण के सम्बन्ध में।
3. असैनिक सेवाओं से सम्बन्धित पदाधिकारियों से सम्बन्धित अनुशासनात्मक कार्यवाहियों के सम्बन्ध में।
4. सेवारत सरकारी अधिकारियों या कर्मचारियों के विरुद्ध की गई वैधानिक कार्यवाही में खर्चे के दावों के सम्बन्ध में।
5. सरकारी अधिकारियों पर मुकदमा चलाए जाने की स्थिति में उन्हें खर्च देने के सम्बन्ध में।
6. राष्ट्रपति द्वारा निर्दिष्ट अन्य किसी विषय के सम्बन्ध में।

इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि संघ सरकार लोकसेवा आयोग से परामर्श ले सकती है, किन्तु संघीय-सरकार लोकसेवा आयोग के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं है।

3. वार्षिक प्रतिवेदन या रिपोर्ट भेजना—संघीय लोकसेवा आयोग का अन्य महत्वपूर्ण कार्य राष्ट्रपति को अपने कार्यों की रिपोर्ट देना है। संघीय आयोग प्रतिवर्ष एक प्रतिवेदन तैयार करता है। इस प्रतिवेदन में यह उल्लेख रहता है कि उसने कितनी प्रतियोगिता-परीक्षाएँ आयोजित कीं, संघीय सेवाओं से सम्बन्धित कितने लोगों की नियुक्तियों की सलाह दी, प्रतियोगिता-परीक्षाओं में सम्मिलित होने वाले लोगों का स्तर कैसा था, आदि।

संघीय लोकसेवा आयोग से प्राप्त प्रतिवेदन को राष्ट्रपति संसद को भेज देता है।

राज्य लोकसेवा आयोग (State Public Service Commission)

संघ की भाँति राज्य में भी एक लोकसेवा आयोग प्रावधान है। राज्य लोकसेवा आयोग में एक अध्यक्ष तथा कुछ सदस्य होते हैं। उत्तर प्रदेश लोकसेवा आयोग में एक अध्यक्ष तथा सात अन्य सदस्य होते हैं।

सदस्यों की नियुक्ति—राज्य लोकसेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति राज्यपाल करता है। नियुक्ति करते समय राज्यपाल को इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि आयोग के कम-से-कम आधे सदस्य ऐसे होने चाहिए जिन्हें नियुक्ति के समय कम-से-कम दस वर्ष तक भारत सरकार या राज्य-सरकार की सेवा का अनुभव हो।

सदस्यों को कार्यकाल—राज्य लोकसेवा आयोग के सदस्यों को 6 वर्ष के लिए उसके पद पर नियुक्त किया जाता है, किन्तु 62 वर्ष की आयु होने पर वे अपने पद से हट जाते हैं।[1] इसके पहले भी यदि वे चाहें तो अपने पद से त्यागपत्र दे सकते हैं।

---

1. पहले राज्य लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की सेवा-निवृत्ति की आयु 66 वर्ष थी, किन्तु 41वें संशोधन-अधिनियम द्वारा इसे 62 वर्ष कर दिया गया है।

राज्य लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों का वेतन—राज्य लोकसेवा आयोग के सदस्यों को निश्चित वेतन और भत्ता मिलता है। यह वेतन उन्हें राज्य की संचित निधि से दिया जाता है।

राज्य लोकसेवा आयोग के कार्य—राज्य लोकसेवा आयोग के कार्यों को संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. राज्य लोकसेवा आयोग राज्य के सिविल सेवकों की नियुक्ति के लिए प्रतियोगिता-परीक्षाओं का आयोजन और व्यवस्था करता है। परीक्षा में सफल प्रत्याशियों की सूची वह राज्यपाल को भेजता है। राज्यपाल उसी सूची के अनुसार नियुक्तियाँ करता है।
2. राज्य लोकसेवा आयोग सरकारी अधिकारियों तथा कर्मचारियों की नियुक्ति तथा पदोन्नति आदि के लिए आवश्यक नियमों का निर्माण करता है।
3. राज्य लोकसेवा आयोग अनेक विषयों पर राज्य-शासन को परामर्श देता है। जिन विषयों के सम्बन्ध में राज्य लोकसेवा आयोग सिफारिशें करता है, वे मुख्यतया इस प्रकार हैं—

(i) राज्य में असैनिक सेवाओं एवं पदों पर नियुक्ति के लिए प्रतियोगिता-परीक्षाओं का आयोजन।

(ii) प्रतियोगिता-परीक्षाओं में सफल प्रत्याशियों की सूची का प्रकाशन तथा उस सूची को राज्यपाल के पास प्रेषित करना।

(iii) सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति पदोन्नति इत्यादि के विषय में नियम-निर्माण करना।

(iv) राज्य लोकसेवा आयोग अनेक विषयों पर राज्य-सरकार को परामर्श देता है। जिन विषयों पर राज्य लोकसेवा आयोग राज्य-सरकार का परामर्श देता है, उनमें से मुख्य ये हैं—

(क) प्रत्याशियों की भर्ती, पदोन्नति व स्थानान्तरण के सम्बन्ध में।

(ख) राज्य के सरकारी कर्मचारियों को प्रभावित करने वाली अनुशासनात्मक कार्यवाहियों के विषय में।

(ग) राज्य के सरकारी कर्मचारियों पर मुकदमा चलाये जाने की स्थिति में उन्हें खर्च देने के सम्बन्ध में।

(घ) सेवारत सरकारी कर्मचारियों को पहुँची हानि व उसके द्वारा किये गये खर्चों के दावों के सम्बन्ध में।

(ङ) राज्यपाल द्वारा निर्दिष्ट किसी अन्य सम्बन्ध में।

संघीय लोकसेवा आयोग तथा राज्य लोकसेवा आयोगों का महत्व : उपयोगिता

लोकसेवा आयोग के महत्व के विषय में दो मत नहीं हो सकते। संविधान में संघीय लोकसेवा आयोग तथा राज्यों के लोकसेवा आयोगों का प्रावधान कर हमारे संविधान-निर्माताओं ने अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया है। वस्तुतः निष्पक्ष, निष्ठावान्, कर्तव्य-परायण, सुविज्ञ और सुप्रशिक्षित लोकसेवाएँ किसी देश के लिए वरदान होती हैं। लोकसेवा आयोग ही वे माध्यम हैं जिनकी सहायता से निष्पक्ष लोकसेवाओं की नियुक्ति और संगठन किया जा सकता

है। इसलिए लोकसेवा आयोग को लोकतन्त्र का आधार-स्तम्भ (A bulwark of democracy) कहा गया है। संक्षेप में हम लोकसेवा आयोग की उपयोगिता और महत्व को निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. लोकसेवा आयोग शासन से सम्बन्धित विविध पदों के लिए उपयुक्त पदाधिकारियों और कर्मचारियों का चयन कर स्थायी कार्यपालिका की आवश्यकता की पूर्ति करता है।
2. लोकतन्त्र में सत्ता विभिन्न राजनैतिक दलों के हाथों में बदलती रहती है। फलत: सरकारी पदाधिकारिकों की नियुक्ति का कार्य यदि सत्तारूढ़ राजनैतिक दलों के हाथों में छोड़ दिया जाता तो वह निष्पक्ष न रहता। लोकसेवा आयोग इस अभाव की पूर्ति कर निष्पक्ष लोकसेवाओं की नियुक्ति में स्तुव्य योग देता है।
3. लोकसेवा आयोग लोकसेवकों के न्यायोचित अधिकारों की रक्षा में योग देता है। इसी दृष्टि से लोकसेवा आयोग को 'सिविल सेवाओं का संरक्षक' (Guardian of the Civil Services) कहा जाता है।

इस प्रकार लोकसेवा आयोग लोकसोवओं के स्रष्टा, संयोजक और संरक्षक होते हैं।

लघु तथा अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1--संघीय लोकसेवा आयोग का गठन कैसे होता है ?

उत्तर---संघीय लोकसेवा आयोग में एक अध्यक्ष और कुछ सदस्य होते हैं। इनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। वर्तमान समय में संघीय लोकसेवा आयोग में एक अध्यक्ष तथा सात सदस्य हैं। संघीय लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष या सदस्यों की नियुक्ति छह वर्ष के लिए की जाती है, किन्तु 65 वर्ष की आयु हो जाने पर वे अवकाश ग्रहण कर लेते हैं।

प्रश्न 2—संघीय लोकसेवा आयोग के सदस्य निष्पक्षतापूर्वक कार्य कर सकें, इसके लिए क्या प्रावधान किए गए हैं ?

उत्तर---(1) संघीय लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्य अपने कार्यकाल की समाप्ति पर किसी पद पर नियुक्त नहीं किए जा सकते। (2) आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों का कार्यकाल निश्चित होता है। इस कार्यकाल में कटौती नहीं की जा सकती। (3) आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों को संविधान द्वारा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार ही हटाया जा सकता है। (4) आयोग के सदस्यों और अध्यक्ष को समुचित वेतन, भत्ते और सुविधाएँ दी जाती हैं। अवकाश प्राप्ति के बाद उन्हें समुचित पेंशन और भत्ते दिए जाते हैं।

प्रश्न 3—संघीय लोकसेवा आयोग के मुख्य कार्य क्या हैं ?

उत्तर—(1) संघीय लोकसेवा आयोग संघीय सेवाओं में भर्ती के लिए प्रतियोगिता-परीक्षाओं का आयोजन करता है। (2) संघीय लोकसेवा आयोग संघीय पदों पर नियुक्ति के लिए संघीय सरकार को परामर्श देता है। (3) संघीय लोकसेवा आयोग राष्ट्रपति को अपने कार्यों की रिपोर्ट देता है।

प्रश्न 4—राज्य लोकसेवा आयोग का कैसे गठन होता है ?

उत्तर—राज्य सेवा आयोग में एक अध्यक्ष और कुछ सदस्य होते हैं। इनकी नियुक्ति राज्य के राज्यपाल द्वारा होती है। ये अपने पद पर 62 वर्ष की आयु तक बने रहते हैं।

प्रश्न 5—राज्य लोकसेवा आयोग के क्या कार्य हैं ?

उत्तर—राज्य लोकसेवा आयोग के मुख्य कार्य इस प्रकार है : (1) राज्य की विभिन्न सेवाओं के लिए प्रतियोगी परीक्षाओं का आयोजन, (2) प्रतियोगी परीक्षाओं में सफल उम्मीदवारों की नियुक्ति के लिए सरकार को परामर्श, (3) राज्य सरकार को राज्य सेवा के कर्मचारियों अधिकारियों आदि के सम्बन्ध में सलाह देना तथा (4) राज्य सरकार को अपने कार्यों के विषय में वार्षिक रिपोर्ट देना।

अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—संघीय लोकसेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति कौन करता है ?

उत्तर—राष्ट्रपति।

प्रश्न 2—संघीय लोकसेवा आयोग के सदस्य कितनी आयु तक अपने पद पर बने रहते हैं ?

उत्तर—65 वर्ष तक।

प्रश्न 3—राज्य सेवा आयोग के सदस्य कितनी आयु तक अपने पद पर बने रहते हैं ?

उत्तर—62 वर्ष की आयु तक।

प्रश्न 4—प्रदेश लोकसेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति कौन करता है ? (उ० प्र०, 1988)

उत्तर—राज्यपाल।

प्रश्न 5—उत्तर प्रदेश में शासकीय महाविद्यालयों के अध्यापकों का चयन कौन करता है ?

उत्तर—राज्य लोकसेवा आयोग।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संघीय लोकसेवा आयोग की रचना तथा कार्यों पर प्रकाश डालिए
2. लोकसेवा आयोग से आप क्या समझते हैं ? संघीय लोकसेवा आयोग के महत्व तथा कार्यों पर प्रकाश डालिए। (उ० प्र०, 1977, 80, 82)
3. उत्तर प्रदेश लोकसेवा आयोग की रचना तथा कार्यों पर प्रकाश डालिए।
4. संघीय लोकसेवा आयोग का क्या कार्य है ? उसका क्या महत्व है? लोकसेवा आयोग की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए क्या प्रावधान किए गए हैं ?
5. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए—
   (i) राज्य लोकसेवा आयोग।
   (ii) संयुक्त लोकसेवा आयोग।

लघु प्रश्न

1. लोकसेवाओं के पांच मुख्य कार्य बताइए।
2. संघीय लोकसेवा आयोग का गठन कैसे होता है ?
3. संघीय लोकसेवा आयोग के पांच कार्य बताइए ?
4. लोकसेवा आयोग के सदस्यों को कैसे निकाला जा सकता है ?
5. लोकसेवा आयोग की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए क्या प्रावधान किए गए हैं ?
6. राज्य लोकसेवा आयोग का गठन कैसे होता है ?

7. राज्य लोकसेवा आयोग के चार कार्य बताइए।
8. लोकसेवा आयोग के महत्व पर पंक्तियाँ लिखिए।

अति लघु प्रश्न

1. संघीय लोकसेवा आयोग के सदस्य कितनी आयु तक अपने पद पर बने रहते हैं ?
2. राज्य लोकसेवा आयोग के सदस्य अपने पद पर कितनी आयु तक बने रहते हैं ?
3. संघीय लोकसेवा आयोग की नियुक्ति कौन करता है ?
4. राज्य लोकसेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति करता है ?
5. संघीय कर्मचारियों के वेतन में कमी किस परिस्थिति में की जा सकती है ?

"निर्वाचन स्वाधीन नागरिकों का महापर्व है। यह उनमें समय-समय पर नवचेतना का संचार करता है। निर्वाचन आयोग इस महापर्व को सम्पन्न करने में स्तुत्य योग देने वाला एक सशक्त साधन है।"

अध्याय 22

विविध प्रकरण

● निर्वाचन आयोग ● भारत में निर्वाचन-प्रक्रिया के मुख्य पक्ष ● भारत का महान्यायवादी ● भारत का नियन्त्रक महालेखा-परीक्षक ● लोकपाल ● लोक-आयुक्त।

निर्वाचन आयोग (Election Commission)

भारत में निर्वाचन-व्यवस्था को निष्पक्ष, स्वतन्त्र और स्वस्थ वनाने के लिए निर्वाचन आयोग का प्रावधान किया गया है।

जैसा कि संविधान के पन्द्रहवें खंड के 324वें अनुच्छेद में कहा गया है कि संसद, प्रत्येक राज्य की व्यवस्थापिका तथा राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए एक आयोग होगा जो निर्वाचन आयोग (Election Commission) कहलायेगा।

निर्वाचन आयोग का गठन--निर्वाचन आयोग का प्रधान एक मुख्य निर्वाचन-आयुक्त (चीफ एलेक्शन कमिश्नर) होता है। मुख्य निर्वाचन-आयुक्त की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। मुख्य निर्वाचन-आयुक्त का कार्यकाल एक निश्चित अवधि तक होता है। इस अवधि का निर्धारण राष्ट्रपति करता है। किन्तु संवैधानिक प्रावधान के अनुसार नियुक्ति के वाद उसकी सेवा-शर्तों में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। मुख्य निर्वाचन-आयुक्त के अतिरिक्त उसकी सहायता के लिए अन्य निर्वाचन-आयुक्त (कलेक्शन कमिश्नर) होते हैं। उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।

निर्वाचन-आयुक्त का प्रमुख सहायक उपनिर्वाचन आयुक्त होता है। यह वरीयता-क्रम में आयुक्त के वाद आता है। भारतीय प्रशासनिक सेवा या केन्द्रीय सरकार की किसी सेवा के किसी वरीय अधिकारी को उपनिर्वाचन-आयुक्त नियुक्त किया जाता है।

निर्वाचन आयोग का स्टॉफ--निर्वाचन आयोग का अपना सचिवालय होता है। इस सचिवालय में सचिव, सहायक सचिव तथा अनेक अधिकारी और कर्मचारी होते हैं।

निर्वाचन के अवसर पर निर्वाचन आयोग को विशेष स्टाफ की आवश्यकता होती है। अतएव राज्य, जिला स्तर आदि पर अनेक अधिकारी होते हैं। ये अधिकारी राज्य-प्रशासन से सम्बन्धित होते हैं। राज्य-स्तर पर सामान्यतया निम्नलिखित अधिकारी होते हैं—

मुख्य चुनाव पदाधिकारी—राज्य-स्तर पर मुख्य चुनाव पदाधिकारी और उपचुनाव पदाधिकारी होते हैं। जिला-स्तर पर जिला चुनाव पदाधिकारी (डिस्ट्रिक्ट एलेक्शन आफिसर) होता है। ये पदाधिकारी सिविल सेवा के वरिष्ठ व्यक्ति होते हैं।

कुछ राज्यों में तहसील-स्तर पर भी एक चुनाव पदाधिकारी होता है। हर स्तर पर चुनाव पदाधिकारी की सहायता के लिए एक उपचुनाव पदाधिकारी होता है।

निर्वाचन क्षेत्र के स्तर पर सामान्यतया दो प्रकार के कार्य किए जाते हैं--(1) निर्वाचन सूची (एलेक्टोरल रोल) की तैयारी तथा (2) चुनाव का संचालन।

पहले काम के लिए चुनाव-निबन्धन पदाधिकारी होते हैं और दूसरे काम के लिए चुनाव पदाधिकारी (रिटर्निंग आफिसर)।

मतदान के समय मतदान-केन्द्र पर एक पीठासीन अधिकारी (प्रिसाइडिंग आफिसर) तथा उसकी सहायता के लिए मतदान पदाधिकारी पोलिंग आफिसर) होते हैं।

निर्वाचन आयोग के कार्य

निर्वाचन आयोग का प्रमुख कार्य देश में स्वतन्त्र और निष्पक्ष निर्वाचनों का संचालन है। इस दृष्टि से निर्वाचक आयोग निर्वाचन-सम्बन्धी मुख्यतया निम्नलिखित कार्य करता है —

1. वह मतदाताओं की सूची तैयार करता तथा समय-समय पर उसे संशोधित करता है।

2. निर्वाचन आयोग निर्वाचन की तिथि की घोषणा करता।

3. वह नामांकन-पत्र भरने, नाम वापस लेने तथा नामांकन पदों की जाँच-तिथि घोषित करता है। इस प्रसंग में वह निश्चित नियम निर्धारित करता है। उदाहरण के लिए, नामांकन-पत्र किन आधारों पर स्वीकृत किए जायेंगे और किन आधारों पर अस्वीकृत, इन सारी बातों से सम्बन्धित नियम वही निर्धारित करता है।

4. वह निर्वाचन-सम्बन्धी समस्त अधिकारियों पर नियन्त्रण करता है।

5. वही राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करता है। उसके द्वारा मान्यता-प्राप्त दल को विशेष प्रतिष्ठा मिलती है।

6. वही यह निश्चित करता है कि कौन दल क्षेत्रीय स्थिति का है और कौन राष्ट्रीय स्थिति का।

7. सभी राजनीतिक दलों के अपने चुनाव-चिह्न (पार्टी सिम्बल) होते हैं। निर्वाचन आयोग इन विभिन्न दलों के चुनाव-चिह्न निर्धारित करता है। इसके अतिरिक्त वह उन प्रत्याशियों के चुनाव-चिह्नों को भी निर्धारित करता है जो स्वतन्त्र रूप से चुनाव लड़ते हैं।

8. वह निर्वाचन के समय राजनीतिक दलों तथा सम्बन्धित अन्य लोगों की व्यवहार-संहिता निश्चित करता है। इस व्यवहार-संहिता का प्रमुख उद्देश्य निर्वाचन के समय चुनाव के अनुकूल और उचित वातावरण बनाए रखना होता है।

9. जब कभी संसद या राज्य के विधान-मंडल में किसी सदस्य की योग्यता के विषय में कोई विवाद खड़ा हो जाता है तो निर्वाचन आयोग से परामर्श माँगा जाता है। इसी परामर्श के आधार पर राष्ट्रपति और राज्यपाल अपना प्रतिवेदन करते हैं।

भारत में निर्वाचन-प्रक्रिया के मुख्य पक्ष

भारत में निर्वाचन-प्रक्रिया के गनेक चरण तथा अनेक सोपान हैं। इन्हें संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. निर्वाचन-प्रक्रिया का प्रथम चरण मतदाता-सूची का निर्माण है। इस दृष्टि से सम्बन्धित क्षेत्र के वयस्क नागरिकों की पूरी सूची तैयार की जाती है। जो व्यक्ति किसी कारण से मताधिकार से वंचित कर दिए जाते हैं, उनका नाम मतदाता-सूची से हटा दिया जाता है। यह मतदाता-सूची निर्वाचन के सामान्यतया 3, 4 महीने पूर्व बनाई जाती है। प्रायः प्रतिवर्ष निर्वाचन-सूची का संशोधन किया जाता है।

2. निर्वाचन की तिथि घोषित कर दी जाती है।

3. निर्वाचन तिथि की घोषणा के उपरान्त नामांकन-तिथि की घोषणा की जाती है। सम्बन्धित क्षेत्र का प्रत्याशी इस कार्य के लिए अधिकृत पदाधिकारी के सामने जाकर अपना नामांकन-पत्र प्रस्तुत करते हैं। यदि नामांकन-पत्र सही होता है तो उसे स्वीकार कर लिया जाता है। यदि उसमें दोष होते हैं तो उसे अस्वीकृत कर दिया जाता है। प्रत्येक प्रत्याशी को नामांकन-पत्र के साथ एक निश्चित धनराशि (सिक्योरिटी) जमा करनी होती है। यदि प्रत्याशी को निर्वाचन में निश्चित मत नहीं मिलते तो उसकी यह 'सिक्योरिटी' की धनराशि जब्त कर ली जाती है।

4. नामांकन-पत्र प्राप्त होने की तिथि के बाद एक तिथि नामांकन-पत्र वापस करने के लिए निर्धारित की जाती है। जो प्रत्याशी अपना नाम वापस लेना चाहते हैं, वे इस तिथि को अपना नाम वापस ले लेते हैं।

5. इसके उपरान्त प्रत्याशी अपना चुनाव-अभियान प्रारंभ कर देते हैं। चुनाव-अभियान के विषय में निर्धारित नियमों का पालन करना आवश्यक होता है।

6. निर्वाचन के दिन के लिए मतदान-केन्द्रों की व्यवस्था की जाती है। ये मतदान-केन्द्र प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र में इस प्रकार बनाये जाते हैं कि सामान्यतया प्रत्येक एक हजार मतदाता को अपने निवास के चार किलोमीटर के अन्तर्गत मतदान की सुविधा मिल जाये।

7. मतदान-केन्द्रों में निश्चित अधिकारियों की नियुक्ति होती है। इन अधिकारियों के पास कुछ मतदान-केन्द्रों की सूची तथा बैलेट पेपर या मतपत्र होते हैं। प्रत्येक मतदाता को ये मतपत्र दे दिये जाते हैं। इन मतपत्रों पर सम्बन्धित प्रत्याशी का नाम तथा उसका चुनाव-चिह्न अंकित रहता है। मतदाता मतपत्र लेकर उस पर निशान लगा देता है। मतदान गुप्त पद्धति से होता है, इसलिए बूथ में गुप्त मतदान के लिए स्थान बना रहता है। मतपत्र लेते समय प्रत्येक मतदाता के हाथ में एक निशान लगा दिया जाता है, ताकि वह दूसरे के नाम पर पुनः मत न दे दे।

8. मतदान का समय निश्चित रहता है। मतदान के समय की समाप्ति पर किसी को मत नहीं देने दिया जाता।

9. मतदान समाप्त होने पर बैलेट बाक्स को सीलबन्द करके जिले के मुख्य केन्द्र में भेज दिया जाता है। वहाँ पर मतों की गणना होती है और निर्वाचन-क्षेत्र के चुनाव-परिणाम घोषित कर दिये जाते हैं।

भारत का महान्यायवादी (Attorney General of India)

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 76 में भारत के लिए महान्यायवादी (एटार्नी जनरल) का प्रावधान किया गया है। इस प्रावधान के अनुसार भारत के महान्यायवादी की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। वह राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त (अर्थात् जब तक राष्ट्रपति चाहे) अपने पद पर बना रहता है। महान्यायवादी के पद पर वही व्यक्ति नियुक्त किया जा सकता है जिसमें कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश चुने जाने की योग्यता हो। महान्यायवादी को 7000 रु० मासिक वेतन तथा निश्चित भत्ता मिलता है। उसे निजी वकालत (प्राइवेट प्रैक्टिस) करने की भी छूट होती है।

महान्यायवादी के मुख्य कार्य संक्षेप में इस प्रकार हैं—

1. महान्यायवादी का मुख्य कार्य उन वैधानिक मामलों में राष्ट्रपति को परामर्श देना है जिनके विषय में वह उससे परामर्श माँगे।
2. वह वे सब कानूनी कार्य करता है जिन्हें राष्ट्रपति उसे सौंपता है तथा संविधान अथवा किसी कानून द्वारा उसे सौंपे जाते हैं।

अपने कर्तव्यों के पालन के लिए महान्यायवादी भारत के किसी भी न्यायालय के समक्ष उपस्थित हो सकता है। उसे यह भी अधिकार है कि वह संसद के किसी सदन में या दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में अथवा संसद की किसी समिति के समक्ष उपस्थित होकर अपने विचार व्यक्त कर सके, किन्तु उसे संसद में अपना मत देने का अधिकार नहीं होता।

इस प्रकार महान्यायवादी भारत सरकार से सम्बन्धित समस्त वैधानिक मामलों का प्रमुख परामर्शदाता और प्रतिनिधि होता है। इस नाते महान्यायवादी किसी भी मामले में किसी व्यक्ति या संस्था को सरकार के विरुद्ध कोई परामर्श नहीं दे सकता। इसी प्रकार वह सरकार की पूर्व अनुमति के बिना किसी कम्पनी का 'डायरेक्टर' नहीं हो सकता।

नियंत्रक और महालेखा-परीक्षक

संविधान के 148वें[1] अनुच्छेद में नियन्त्रक और महालेखा-परीक्षक का प्रावधान किया गया है। नियंन्त्रक और महालेखा-परीक्षक की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। उसके अपदस्थ करने की वही प्रक्रिया है जो कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के अपदस्थ करने में अपनाई जाती है।

नियन्त्रक तथा महालेखा-परीक्षक की नियुक्ति 6 वर्ष के लिए की जाती है। उसके वेतन तथा भत्ते इत्यादि के निश्चित करने का अधिकार संसद को है। वर्तमान समय में उसे 4000 रुपये मासिक वेतन तथा कतिपये भत्ते मिलते हैं। उसका वेतन और भत्ते भारत की संचित निधि से दिये जाते हैं। उसके सेवाकाल में उसके वेतन में कोई कटौती नहीं की जा सकती। अवकाश प्राप्त करने पर वह भारत सरकार या किसी राज्य-सरकार के अधीन कोई पद ग्रहण नहीं कर सकता।

नियंत्रक तथा महालेखा-परीक्षक को अनेक महत्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। पहले नियंत्रक तथा महालेखा-परीक्षक को दो प्रकार के कार्य करने होते थे—एक एकाउंटेण्ट के रूप में और दूसरे लेखा-परीक्षक (आडीटर) के रूप में। एकाउण्टेण्ट के रूप में वह राष्ट्रपति की सहमति पर संघ व राज्य के हिसाब रखने की प्रक्रिया निर्धारित करता था। लेखा-परीक्षक के रूप में वह सार्वजनिक धन के व्यय की जाँच करता था। किन्तु 1 अक्टूबर, सन् 1976 ई० से एकाउण्टेण्ट तथा लेखा-परीक्षक, दोनों के कार्य अलग-अलग कर दिये गये हैं।

लेखा-परीक्षक के अन्तर्गत वह मुख्यतया निम्नलिखित कार्य करता है—

1. वह संघीय सरकार तथा राज्य-सरकार के व्यय का निरीक्षण करता है। इस निरीक्षण में वह यह देखता है कि स्वीकृत नियमों के अनुसार धन का व्यय किया गया है या नहीं।

2. वह वार्षिक वित्तीय विवरण के विषय में सूचना तथा सहायता प्रदान करता है।

3. वह लेखा-निरीक्षण की एक वार्षिक रिपोर्ट तैयार करता है। यह रिपोर्ट या प्रतिवेदन सम्बन्धित सरकार की व्यवस्थापिका (यदि संघ से सम्बन्धित है तो संसद के सामने और यदि राज्य से सम्बन्धित है तो राज्य के विधान-मंडल) के सामने प्रस्तुत किया जाता है।

4. नियन्त्रक तथा महालेखा-परीक्षक संसद की लोकसेव समिति को लोकव्यय के निरीक्षण में सहायता देता है।

लोकपाल (Lok Pal)

1. संविधान के 148वें अनुच्छेद से लेकर 151वें तक के अनुच्छेदों में उसके पद और शक्तियों की व्यवस्था की गई है।

लोकपाल—राजनैतिक जीवन से भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए तथा राजनैतिक व्यवस्था को स्वच्छ और स्वस्थ स्वरूप प्रदान करने के लिए लोकपाल पद का सृजन किया गया है। लोकपाल पद के सृजन के लिए संसद ने अभी हाल में एक कानून बनाया है। इस कानून के अनुसार संघीय मन्त्रियों के विरुद्ध कदाचार या भ्रष्टाचार के आरोपों की जाँच के लिए लोकपाल नामक एक अधिकारी होगा। लोकपाल पद के मुख्य पक्ष इस प्रकार हैं—

(1) लोकपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश की सलाह से करेगा।

(2) लोकपाल पद पर उसी व्यक्ति को नियुक्त किया जा सकेगा जो सर्वोच्च न्यायालय का कार्यरत या निवृत्त (अवकाश-प्राप्त) न्यायाधीश होगा या जिसमें सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर नियुक्त होने की योग्यताएँ होंगी। कोई ऐसा व्यक्ति जो संसद या विधान-मंडल का सदस्य है, लोकपाल पद पर नियुक्त नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार लोकपाल पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी व्यवसाय, ट्रस्ट या लाभ के पद से सम्बन्धित न हो और न ही वह किसी राजनैतिक दल का सदस्य हो।

(3) लोकपाल का कार्यकाल पाँच वर्ष होगा।

(4) लोकपाल संघीय मन्त्रियों, राज्य-स्तर के मन्त्रियों तथा संसदीय सचिव के विरुद्ध लगाए गए कदाचार या भ्रष्टाचार के आरोपों की जाँच करेगा।

(5) प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभा के अध्यक्ष, सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीश, भारत का महालेखा परीक्षक, मुख्य चुनाव आयुक्त, संघीय लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्य पर जाँच के आरोप नहीं लगाए जा सकेंगे।

(6) लोकपाल के यहाँ किसी संघीय मन्त्री, राज्य मन्त्री या संसदीय सचिव आदि के विरुद्ध आरोप लगाने वाले व्यक्ति को एक हजार रुपये की जमानत की राशि तथा साथ में शपथ-पत्र (हलफनामा) देना आवश्यक होगा।

(7) यदि कोई व्यक्ति झूठे आरोप लगाता है तो वह दंड का भागी होगा।

(8) आरोप उन्हीं अपराधों के लिए लगाए जा सकेंगे जो आरोप की जाँच के लिए दिए गए आवेदन की तिथि से पाँच वर्ष के अन्दर किए गए हों। पाँच वर्ष से पूर्व के अपराधों के लिए जाँच नहीं हो सकेगी।

(9) लोकपाल को यह अधिकार होगा कि वह मिथ्या प्रतीत होने वाले निराधार आरोपों पर विचार न करे।

(10) जाँच के बाद लोकपाल अपना प्रतिवेदन प्रधानमन्त्री को देगा। प्रधानमन्त्री तीन महीने के अन्तर्गत लोकपाल को यह सूचित करेगा कि उसने उस प्रतिवेदन (रिपोर्ट) पर क्या कार्यवाही की है या क्या कार्यवाही करने जा रहा है।

(11) लोकपाल अपने कार्य का निर्भीकता और निष्पक्षता से सम्पादन कर सके, इसके लिए अधिनियम में यह प्रावधान किया गया है कि लोकपाल को कार्यकाल के पहले अपने पद से तभी हटाया जा सकेगा जबकि उसके विरुद्ध कदाचार का आरोप सिद्ध हो जाय। कदाचार की जाँच राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश या प्रधान न्यायाधीश द्वारा मनोनीत अन्य सर्वोच्च न्यायालय का अन्य न्यायाधीश करेगा। कदाचार के आरोप के सिद्ध होने पर राष्ट्रपति लोकपाल को अपदस्थ कर सकता है।

उत्तर प्रदेश में लोक-आयुक्त

संघीय स्तर पर अभी लोकपाल की नियुक्ति नहीं हो पाई है, किन्तु कतिपय राज्यों में लोक-आयुक्त-विषयक अधिनियम बन चुके हैं और लोक-आयुक्त पद का सृजन कर दिया गया है

अब तक जिन राज्यों में लोक-आयुक्त पद का सृजन किया गया है, वे राज्य हैं—महाराष्ट्र, राजस्थान, बिहार तथा उत्तर प्रदेश।

उत्तर प्रदेश में उत्तर प्रदेश लोक-आयुक्त तथा उपलोक-आयुक्त अधिनियम 1975 ई० में पारित हुआ था। यह अधिनियम सितम्बर, 1977 ई० में व्यवहार में लाया गया। इस अधिनियम के अनुसार लोक-आयुक्त की नियुक्ति और शक्तियाँ इस प्रकार हैं—

लोक-आयुक्त की नियुक्ति—लोक-आयुक्त की नियुक्ति राज्यपाल उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा विधानसभा में विरोधी (प्रतिपक्ष) दल के नेता के परामर्श से करेगा। उपलोक-आयुक्त की नियुक्ति राज्यपाल लोक-आयुक्त के परामर्श से करेगा। लोक-आयुक्त या उपलोक-आयुक्त किसी राजनैतिक दल से सम्बन्धित किसी लाभ के पद को ग्रहण नहीं करेंगे। लोक-आयुक्त पद पर वही व्यक्ति नियुक्त किया जायगा जो कि उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर काम कर चुका हो।

लोक-आयुक्त का कार्यकाल—लोक-आयुक्त का कार्यकाल पाँच वर्ष होगा। अपना कार्यकाल समाप्त करने के उपरान्त लोक-आयुक्त उत्तर प्रदेश सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर कार्य नहीं कर सकेगा।

लोक-आयुक्त का वेतन—यदि लोक-आयुक्त के पद पर कोई ऐसा व्यक्ति नियुक्त किया जाता है जो कि उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायधीश या सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश रह चुका है तो उसे 4,000 रु० मासिक वेतन मिलेगा। इसके अतिरिक्त वह यदि अन्य पद पर काम कर चुका है तो उसे 3,500 रुपये मासिक वेतन मिलेगा।

लोक-आयुक्त का अधिकार-क्षेत्र—लोक-आयुक्त का प्रमुख कार्य राज्य-शासन से संबंधित पदाधिकारियों के विरुद्ध लगाए गए आरोपों की जाँच करना या शिकायतों की सुनवाई कर यह पता लगाना है कि वे आरोप या शिकायतें सही हैं या गलत। इस प्रकार लोक-आयुक्त को राज्य-मंत्रिपरिषद के किसी मन्त्री, एम० एल० ए०, एम० एल० सी० तथा सचिवालय के उच्च पदाधिकारी, यथा सचिव, संयुक्त सचिव, अतिरिक्त सचिव तथा विशेष सचिव, नगरपालिका, जिला बोर्ड जैसी स्थानीय संस्थाओं तथा जिला-स्तर की सहकारी समितियों के अध्यक्ष या मैनेजिंग डायरेक्टर आदि के विरुद्ध शिकायतें सुनने या आरोपों की जाँच करने का अधिकार प्राप्त है।

जाँच करने के उपरान्त आरोप सही पाने पर वह अभियुक्त के विरुद्ध उपयुक्त कार्यवाही करने के लिए सक्षम सत्ताधिकारी (मुख्यमन्त्री) को सूचित करेगा। अभियुक्त को दिए गए दंड की सूची लोक-आयुक्त को दी जायगी। यदि अभियुक्त को दिए गए दंड से लोक-आयुक्त संतुष्ट नहीं है तो वह इस आशय की विशेष रिपोर्ट राज्य के राज्यपाल को देगा।

आरोप की जाँच के लिए आवेदन करने की प्रक्रिया—उत्तर प्रदेश लोक-आयुक्त तथा उपलोक-आयुक्त अधिनियम के अनुसार लोक-आयुक्त के यहाँ शिकायत करने के लिए एक निर्धारित फार्म में आवेदन-पत्र देना होगा। आवेदन-पत्र के साथ जमानत (सिक्युरिटी) के रूप में 1000 रु० नकद जमा करने होंगे। यदि आरोप सही पाए जायेंगे तो जमानत की धनराशि वापस कर दी जायगी। यदि आरोप झूठे सिद्ध हुए तो जमानत की धनराशि जब्त कर ली जायगी। इसके अतिरिक्त झूठे आरोप लगाने वाले व्यक्ति को तीन साल तक की सजा भी देने का प्रावधान है।

लोक-आयुक्त का कार्यालय—लोक-आयुक्त का कार्यालय लखनऊ में है। कार्यालय का मुख्य पदाधिकारी एक सेक्रेटरी होता है। उसकी सहायता के लिए अन्य सहायक अधिकारी और कर्मचारी होते हैं।

लोकपाल—राजनैतिक जीवन से भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए तथा राजनैतिक व्यवस्था को स्वच्छ और स्वस्थ स्वरूप प्रदान करने के लिए लोकपाल पद का सृजन किया गया है। लोकपाल पद के सृजन के लिए संसद ने अभी हाल में एक कानून बनाया है। इस कानून के अनुसार संघीय मन्त्रियों के विरुद्ध कदाचार या भ्रष्टाचार के आरोपों की जाँच के लिए लोकपाल नामक एक अधिकारी होगा। लोकपाल पद के मुख्य पक्ष इस प्रकार हैं—

(1) लोकपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश की सलाह से करेगा।

(2) लोकपाल पद पर उसी व्यक्ति को नियुक्त किया जा सकेगा जो सर्वोच्च न्यायालय का कार्यरत या निवृत्त (अवकाश-प्राप्त) न्यायाधीश होगा या जिसमें सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर नियुक्त होने की योग्यताएँ होंगी। कोई ऐसा व्यक्ति जो संसद या विधान मंडल का सदस्य है, लोकपाल पद पर नियुक्त नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार लोकपाल पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी व्यवसाय, ट्रस्ट या लाभ के पद से सम्बन्धित न हो और न ही वह किसी राजनैतिक दल का सदस्य हो।

(3) लोकपाल का कार्यकाल पांच वर्ष होगा।

(4) लोकपाल संघीय मन्त्रियों, राज्य-स्तर के मन्त्रियों तथा संसदीय सचिव के विरुद्ध लगाए गए कदाचार या भ्रष्टाचार के आरोपों की जाँच करेगा।

(5) प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभा के अध्यक्ष, सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीश, भारत का महालेखा परीक्षक, मुख्य चुनाव आयुक्त, संघीय लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्य पर जाँच के आरोप नहीं लगाए जा सकेंगे।

(6) लोकपाल के यहाँ किसी संघीय मन्त्री, राज्य मन्त्री या संसदीय सचिव आदि के विरुद्ध आरोप लगाने वाले व्यक्ति को एक हजार रुपये की जमानत की राशि तथा साथ में शपथ-पत्र (हलफनामा) देना आवश्यक होगा।

(7) यदि कोई व्यक्ति झूठे आरोप लगाता है तो वह दंड का भागी होगा।

(8) आरोप उन्हीं अपराधों के लिए लगाए जा सकेंगे जो आरोप की जाँच के लिए दिए गए आवेदन की तिथि से पाँच वर्ष के अन्दर किए गए हों। पाँच वर्ष से पूर्व के अपराधों के लिए जाँच नहीं हो सकेगी।

(9) लोकपाल को यह अधिकार होगा कि वह मिथ्या प्रतीत होने वाले निराधार आरोपों पर विचार न करे।

(10) जाँच के बाद लोकपाल अपना प्रतिवेदन प्रधानमन्त्री को देगा। प्रधानमन्त्री तीन महीने के अन्तर्गत लोकपाल को यह सूचित करेगा कि उसने उस प्रतिवेदन (रिपोर्ट) पर क्या कार्यवाही की है या क्या कार्यवाही करने जा रहा है।

(11) लोकपाल अपने कार्य का निर्भीकता और निष्पक्षता से सम्पादन कर सके, इसके लिए अधिनियम में यह प्रावधान किया गया है कि लोकपाल को कार्यकाल के पहले अपने पद से तभी हटाया जा सकेगा जबकि उसके विरुद्ध कदाचार का आरोप सिद्ध हो जाय। कदाचार की जाँच राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश या प्रधान न्यायाधीश द्वारा मनोनीत अन्य सर्वोच्च न्यायालय का अन्य न्यायाधीश करेगा। कदाचार के आरोप के सिद्ध होने पर राष्ट्रपति लोकपाल को अपदस्थ कर सकता है।

उत्तर प्रदेश में लोक-आयुक्त

संघीय स्तर पर अभी लोकपाल की नियुक्ति नहीं हो पाई है, किन्तु कतिपय राज्यों में लोक-आयुक्त-विषयक अधिनियम बन चुके हैं और लोक-आयुक्त पद का सृजन कर दिया गया है।

अब तक जिन राज्यों में लोक-आयुक्त पद का सृजन किया गया है, वे राज्य हैं—महाराष्ट्र, राजस्थान, बिहार तथा उत्तर प्रदेश।

उत्तर प्रदेश में उत्तर प्रदेश लोक-आयुक्त तथा उपलोक-आयुक्त अधिनियम 1975 ई० में पारित हुआ था। यह अधिनियम सितम्बर, 1977 ई० में व्यवहार में लाया गया। इस अधिनियम के अनुसार लोक-आयुक्त की नियुक्ति और शक्तियाँ इस प्रकार हैं—

लोक-आयुक्त की नियुक्ति—लोक-आयुक्त की नियुक्ति राज्यपाल उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा विधानसभा में विरोधी (प्रतिपक्ष) दल के नेता के परामर्श से करेगा। उपलोक-आयुक्त की नियुक्ति राज्यपाल लोक-आयुक्त के परामर्श से करेगा। लोक-आयुक्त या उपलोक-आयुक्त किसी राजनैतिक दल से सम्बन्धित किसी लाभ के पद को ग्रहण नहीं करेंगे। लोक-आयुक्त पद पर वही व्यक्ति नियुक्त किया जायगा जो कि उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर काम कर चुका हो।

लोक-आयुक्त का कार्यकाल—लोक-आयुक्त का कार्यकाल पाँच वर्ष होगा। अपना कार्यकाल समाप्त करने के उपरान्त लोक-आयुक्त उत्तर प्रदेश सरकार के अधीन किसी लाभ के पद पर कार्य नहीं कर सकेगा।

लोक-आयुक्त का वेतन—यदि लोक-आयुक्त के पद पर कोई ऐसा व्यक्ति नियुक्त किया जाता है जो कि उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायधीश या सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश रह चुका है तो उसे 4,000 रु० मासिक वेतन मिलेगा। इसके अतिरिक्त वह यदि अन्य पद पर काम कर चुका है तो उसे 3,500 रुपये मासिक वेतन मिलेगा।

लोक-आयुक्त का अधिकार-क्षेत्र—लोक-आयुक्त का प्रमुख कार्य राज्य-शासन से संबंधित पदाधिकारियों के विरुद्ध लगाए गए आरोपों की जाँच करना या शिकायतों की सुनवाई कर यह पता लगाना है कि वे आरोप या शिकायतें सही हैं या गलत। इस प्रकार लोक-आयुक्त को राज्य-मंत्रिपरिषद के किसी मन्त्री, एम० एल० ए०, एम० एल० सी० तथा सचिवालय के उच्च पदाधिकारी, यथा सचिव, संयुक्त सचिव, अतिरिक्त सचिव तथा विशेष सचिव, नगरपालिका, जिला बोर्ड जैसी स्थानीय संस्थाओं तथा जिला-स्तर की सहकारी समितियों के अध्यक्ष या मैनेजिंग डायरेक्टर आदि के विरुद्ध शिकायतें सुनने या आरोपों की जाँच करने का अधिकार प्राप्त है।

जाँच करने के उपरान्त आरोप सही पाने पर वह अभियुक्त के विरुद्ध उपयुक्त कार्यवाही करने के लिए सक्षम सत्ताधिकारी (मुख्यमन्त्री) को सूचित करेगा। अभियुक्त को दिए गए दंड की सूची लोक-आयुक्त को दी जायगी। यदि अभियुक्त को दिए गए दंड से लोक-आयुक्त संतुष्ट नहीं है तो वह इस आशय की विशेष रिपोर्ट राज्य के राज्यपाल को देगा।

आरोप की जाँच के लिए आवेदन करने की प्रक्रिया—उत्तर प्रदेश लोक-आयुक्त तथा उपलोक-आयुक्त अधिनियम के अनुसार लोक-आयुक्त के यहाँ शिकायत करने के लिए एक निर्धारित फार्म में आवेदन-पत्र देना होगा। आवेदन-पत्र के साथ जमानत (सिक्युरिटी) के रूप में 1000 रु० नकद जमा करने होंगे। यदि आरोप सही पाए जायेंगे तो जमानत की धनराशि वापस कर दी जायगी। यदि आरोप झूठे सिद्ध हुए तो जमानत की धनराशि जब्त कर ली जायगी। इसके अतिरिक्त झूठे आरोप लगाने वाले व्यक्ति को तीन साल तक की सजा भी देने का प्रावधान है।

लोक-आयुक्त का कार्यालय—लोक-आयुक्त का कार्यालय लखनऊ में है। कार्यालय का मुख्य पदाधिकारी एक सेक्रेटरी होता है। उसकी सहायता के लिए अन्य सहायक अधिकारी और कर्मचारी होते हैं।

वित्त आयोग (Finance Commission)

वित्त आयोग का गठन—वित्त आयोग का प्रावधान भारतीय संविधान में किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 280 में कहा गया है कि राष्ट्रपति संविधान लागू होने के दो वर्ष बाद तथा उसके बाद प्रत्येक पाँच वर्ष पर एक वित्त आयोग (फाइनेंस कमीशन) की नियुक्ति करेगा। आयोग के सदस्यों की संख्या तथा उनके चयन आदि का निश्चय संसद करेगी।

संविधान के इस प्रावधान के प्रकाश में सन् 1951 ई० में वित्तीय आयोग अधिनियम पास हुआ। सन् 1955 ई० में इस अधिनियम में संशोधन किया गया।

अधिनियम में निर्धारित व्यवस्था के अनुसार एक अध्यक्ष (Chairman) तथा चार सदस्य होते हैं।

वित्त आयोग के कार्य—वित्त आयोग के मुख्य कार्य संक्षेप में इस प्रकार हैं—

1. केन्द्र और राज्य के मध्य आय का विभाजन। दूसरे शब्दों में लगाए जाने वाले अथवा लगाए जाने योग्य करों का बँटवारा करना तथा यह निश्चय करना कि करों से प्राप्त आय को संघ तथा राज्यों के मध्य किस अनुपात से बाँटा जाय।

2. भारत की संचित निधि तथा राजस्व में से राज्यों को सहायता देने के लिए सिद्धान्तों का निर्धारण।

3. राज्यों से हुए समझौतों की शर्तों को बनाए रखने या उनमें परिवर्तन करने का निश्चय।

4. किसी अन्य ऐसे विषय पर विचार करना जो राष्ट्रपति की दृष्टि से राष्ट्र की सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था के लिए उपयोगी है।

वित्त आयोग की सिफारिशों को मानने के लिए राष्ट्रपति बाध्य नहीं है। किन्तु आयोग का अध्यक्ष राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है, अतएव आयोग की सिफारिशों को मानना राष्ट्रपति का नैतिक दायित्व है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. निर्वाचन आयोग के संगठन और कार्यों के विषय में आप क्या जानते हैं ?
2. भारत में निर्वाचन की प्रक्रिया पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।
3. लोक-आयुक्त की नियुक्ति किस प्रकार होती है ? उसके पद और अधिकार के विषय में आप क्या जानते हैं ?
4. वित्त आयोग के संगठन और कार्यों पर प्रकाश डालिए।
5. निम्नांकित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—
   (i) भारत का महान्यायवादी।
   (ii) नियन्त्रक और महालेखा-परीक्षक।
   (iii) लोकपाल।

लघु प्रश्न

1. निर्वाचन आयोग के चार मुख्य कार्य बताइए।
2. नियन्त्रक और महालेखा-परीक्षक के मुख्य कार्य बताइए।
3. लोकपाल के क्या कार्य है ?
4. भारत के महान्यायवादी के क्या कार्य हैं ?
5. वित्तीय आयोग के विषय में आप क्या जानते हैं ?

अध्याय 23

स्थानीय स्वशासन की संस्थाएँ

● स्थानीय स्वशासन का अर्थ ● स्थानीय स्वशासन का महत्व ● स्थानीय संस्थाओं का वर्गीकरण ● नगरों की स्थानीय संस्थाएं : नगर महापालिका, टाउन एरिया, नोटीफाइड एरिया तथा छावनी बोर्ड ● ग्रामीण क्षेत्र की स्थानीय संस्थाएँ : जिला-परिषद, क्षेत्रीय समिति, ग्राम-सभा, ग्राम-पंचायत तथा न्याय-पंचायत

आमुख

जनतंत्र जनता का, जनता के द्वारा तथा जनता के हित में किया गया शासन है। भारतीय राजनैतिक व्यवस्था जनतंत्र की इसी अवधारणा पर आधारित है। भारतीय संविधान में वर्णित शासन-संस्थाएं जनतंत्र के इसी आदर्श रूप की सुखद अभिव्यक्तियाँ हैं। किन्तु जनतंत्र तभी सार्थक दिखलाई पड़ता है जबकि वह आधार में विद्यमान हो। स्थानीय संस्थाएँ जनतंत्र के इसी आदर्श को चरितार्थ करती हैं। इसीलिए स्थानीय संस्थाओं को जनतंत्र की आधारशिलाएँ कहा गया है। अतएव भारत की जनतांत्रिक व्यवस्था के अध्ययन के प्रसंग में इन आधारभूत जनतांत्रिक संस्थाओं का अध्ययन परम आवश्यक है। इन संस्थाओं के अध्ययन के पूर्व स्थानीय स्वशासन के अर्थ और महत्व के विषय में भी दो शब्द कह देने आवश्यक हैं।

स्थानीय स्वशासन का अर्थ

स्थानीय स्वशासन से आशय शासन की उस व्यवस्था से है जिसमें स्थानीय संस्थाओं द्वारा स्थानीय आवश्यकताओं और समस्याओं के समाधान का प्रयास किया जाता है। एक राजशास्त्री के अनुसार कतिपय समस्याओं में स्थानीय संस्थाओं को अपनी इच्छानुसार अधिकार प्रदान करने की व्यवस्था का नाम स्थानीय स्वशासन है। इस प्रकार स्थानीय स्वशासन स्थानीय समस्याओं का स्थानीय संस्थाओं के माध्यम से स्थानीय व्यक्तियों द्वारा किया गया शासन है। डी० टाकविल के अनुसार, "स्थानीय संस्थाओं में स्वतंत्र राष्ट्रों की शक्ति छिपी रहती है।" प्रो० लास्की के अनुसार, "स्थानीय संस्थाएँ शासन के अन्य अंगों से कहीं अधिक श्रेष्ठतर लोकतन्त्र की शिक्षा देती हैं।" लार्ड ब्राइस के अनुसार, "स्थानीय स्वशासन लोकतन्त्र का सर्वश्रेष्ठ विद्यालय है।"

स्थानीय स्वशासन का महत्व

इस प्रकार स्थानीय संस्थाओं का अपना महत्व है। स्थानीय संस्थाओं के प्रमुख पक्षों को हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—

1. यह स्थानीय लोकतन्त्र की सर्वोत्तम पाठशाला होता है।
2. इससे लोगों को शासन का अनुभव प्राप्त होता है।
3. इससे नागरिकों में राजनैतिक चेतना की वृद्धि होती है।
4. स्थानीय समस्याओं की जानकारी स्थानीय व्यक्तियों को अधिक होती है। इसलिए स्थानीय संस्थाओं द्वारा वे अपनी समस्याओं का भलीभाँति हल निकाल सकते हैं।
5. स्थानीय संस्थाओं द्वारा व्यक्ति की अपनी स्वतंत्रता और महत्ता का विशेष परिचय मिलता है।

6. स्थानीय स्वशासन नागरिकों में नागरिक गुणों के विकास में योग देता है।
7. स्थानीय स्वशासन नागरिकों में सहयोग की भावना जागृत करता है।
8. स्थानीय स्वशासन में केन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों पर अवरोध खड़ा करता है।
9. स्थानीय स्वशासन नौकरशाही की शक्तियों को सीमित करता है।
10. स्थानीय शासन देशभक्ति की भावना का विकास करता है।

उत्तर प्रदेश में स्थानीय स्वशासन-संस्थाओं का वर्गीकरण

देश के अन्य भागों की भाँति उत्तर प्रदेश की स्थानीय संस्थाओं को दो प्रमुख वर्गों में रखा जा सकता है—

1. नगरों की स्थानीय संस्थाएँ
2. ग्रामों की स्थानीय संस्थाएँ

नगरों की स्थानीय संस्थाओं के मुख्यतया निम्नलिखित रूप पाए जाते हैं—

(1) नगर महापालिका, (2) नगरपालिका, (3) टाउन एरिया, (4) नोटीफाइड एरिया तथा (5) छावनी बोर्ड।

ग्रामीण क्षेत्रों की स्थानीय संस्थाएँ इस प्रकार हैं—

(1) जिला-परिषद, (2) क्षेत्र समिति तथा (3) ग्राम-पंचायत।

इस वर्गीकरण को तालिका के रूप में हम इस प्रकार रख सकते हैं—

स्थानीय संस्थाओं का वर्गीकरण

नगरों की संस्थाएँ	ग्रामीण क्षेत्र की संस्थाएँ
1. नगर महापालिका	1. जिला-परिषद
2. नगरपालिका	2. क्षेत्र समिति
3. टाउन एरिया	3. ग्राम सभा
4. नोटीफाइड एरिया	4. ग्राम पंचायत
5. छावनी बोर्ड	5. न्याय पंचायत
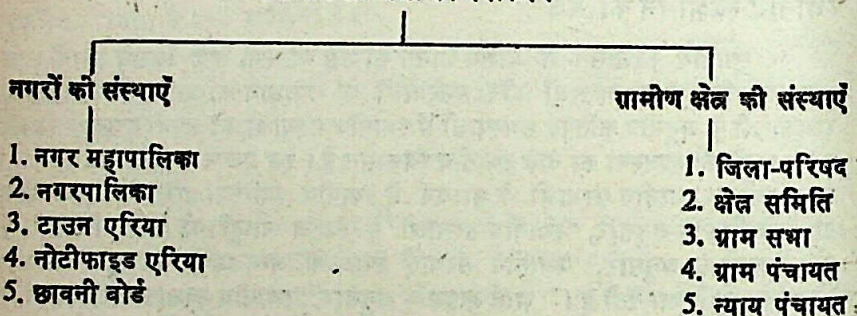
नगरों की स्थानीय संस्थाएँ

1

नगर महापलिका

(Municipal Corporation)

नगर महापालिका (म्युनिसिपल कार्पोरेशन) नगरों की स्थानीय संस्थाओं की सबसे बड़ी इकाइयाँ हैं। उत्तर प्रदेश में नगर महाधालिका की स्थापना सर्वप्रथम सन् 19 0 ई० में हुई। उत्तर प्रदेश नगर महापालिका अधिनिनियम 1959 ई० के अनुसार इन नगर महापालिकाओं का गठन किया गया था।

महापालिका में सदस्यों की संख्या - उत्तर प्रदेश नगर महापालिका अधिनियम 1959 ई० के अनुसार पाँच नगरों में महापालिकाओं का गठन किया गया था। ये पाँच नगर हैं कानपुर,

आगरा, वाराणसी, इलाहाबाद तथा लखनऊ। इन पाँच नगरों के नामों के प्रथम अक्षर से मिल कर 'कवाल' (Kaval) शब्द बना है। इन नगरों को सम्मिलित रूप से Kaval Towns (कवाल टाउन्स) कहा जाता है। अभी हाल में इन पाँच नगरों के अतिरिक्त तीन अन्य नगरों में भी महापालिका की स्थापना का प्रावधान किया गया है। ये नगर हैं बरेली, मेरठ और गोरखपुर। इन विभिन्न नगर महापालिकाओं में सदस्यों की संख्या अलग-अलग निर्धारित की गई है। निर्धारित व्यवस्था के अनुसार किसी नगर महापालिका के सदस्यों की संख्या 90 से अधिक नहीं हो सकती।

सदस्यों (सभासदों) का निर्वाचन—महापालिका के सदस्यों को सभासद (कौंसिलर) कहा जाता है। महापालिका के सभासदों के दो वर्ग होते हैं—सभासद तथा विशिष्ट सभासद। साधारण सदस्य या सभासद सीधे जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं और इन्हीं निर्वाचित सभासदों द्वारा विशिष्ट सभासद का निर्वाचन होता है।

साधारण सदस्य या सभासद (कौंसिलर) का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के अनुसार किया जाता है। चुनाव के लिए सारे महापालिका-क्षेत्र को कई 'वार्डों' में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक 'वार्ड' से एक या एक से अधिक सदस्य निर्वाचित किए जाते हैं। 1978 ई० में संशोधित अधिनियम के अनुसार क्षेत्र का प्रत्येक व्यक्ति, जिसकी आयु 18 वर्ष हो चुकी है तथा अन्य दृष्टि से मतदाता होने का अधिकारी है, मतदाता होगा।

साधारण सदस्यों या सभासदों के निर्वाचन के उपरान्त निश्चित संख्या में विशिष्ट सदस्यों या विशिष्ट सभासदों का निर्वाचन किया जाता है। महापालिका के निर्वाचित सभासद इन विशिष्ट सभासदों का निर्वाचन करते हैं।

विशिष्ट सभासद के पद पर निर्वाचित होने के लिए उसमें निम्नलिखित योग्यताएँ होनी चाहिए—

1. वह उस नगर का निवासी हो।
2. वह कम-से-कम 35 वर्ष की आयु प्राप्त कर चुका हो।
3. वह पागल, दिवालिया या भीषण अपराध के लिए दण्डित न किया गया हो।

सभासद के लिए योग्यताएँ—सभासद के लिए निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है –

1. उसकी आयु 21 वर्ष की हो और उसका नाम मतदाता-सूची में हो।
2. वह पागल या दिवालिया न हो।
3. वह सरकारी कर्मचारी न हो।
4. वह महापालिका में किसी लाभ के पद पर न हो।
5. वह सहकारी सेवा में भ्रष्टाचार के अपराध में निष्कासित न किया गया हो।
6. उस पर महापालिका का कर बकाया न हो।
7. यदि उसे 6 मास से अधिक कारावास का दण्ड मिला हो और सजा काटे हुए उसे 5 वर्ष से अधिक समय बीत चुका हो।

कार्यकाल—महापालिका का कार्यकाल 5 वर्ष होगा। विशेष परिस्थितियों में इस कार्यकाल में दो वर्ष की वृद्धि की जा सकती है।

महापालिका के पदाधिकारी—महापालिका के अधिकारियों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(1) निर्वाचित पदाधिकारी, (2) स्थायी पदाधिकारी।

निर्वाचित पदाधिकारी में दो पदाधिकारी होते हैं—(1) मेयर (Mayor) या नगर-प्रमुख और (2) डिप्टी मेयर (Deputy Mayor) या उपनगर-प्रमुख।

1. मेयर (नगर प्रमुख)—मेयर (नगर प्रमुख) का निर्वाचन नगर महापालिका के सदस्यों द्वारा किया जाता है।

नगर-प्रमुख (मेयर) के निर्वाचन में खड़े होने वाले प्रत्याशी में निम्नांकित योग्यताएँ होनी चाहिए—

1. उसकी आयु कम-से-कम 30 वर्ष की हो।
2. उसी नगर का निवासी हो।
3. वह नगर महापालिका के लाभ के पद पर न हो या नगर महापालिका के ठेके इत्यादि न लेता हो।
4. वह सरकारी कर्मचारी न हो।

नगर-प्रमुख का कार्यकाल 5 वर्ष है। इस कार्यकाल के पहले भी वह अपना त्यागपत्र दे सकता है।

नगर-प्रमुख का पद अत्यन्त महत्त्व का पद है। वह नगर का अत्यन्त सम्मानित व्यक्ति माना जाता है। वह नगर महापालिका का अध्यक्ष होता है। वही महापालिका की बैठकों की अध्यक्षता करता है तथा उसकी कार्यवाही का संचालन करता है।

2. उप-नगर-प्रमुख—उप-नगर-प्रमुख या डिप्टी मेयर नगर महापालिका द्वारा निर्वाचित अधिकारी होता है। इसका निर्वाचन नगर महापालिका के सदस्यों द्वारा पाँच वर्ष के लिए होता है। उप-नगर-प्रमुख पद के लिए खड़े होने वाले व्यक्ति को महापालिका का सदस्य होना चाहिए तथा उसमें वे सभी योग्यताएँ होनी चाहिए जो कि नगर-प्रमुख के लिए आवश्यक हैं। उप-नगर-प्रमुख का महापालिका के नित्यप्रति के प्रशासनिक कार्यों में पूरा हाथ रहता है। वह निगम की कार्यकारिणी समिति तथा विकास समिति का पदेन अध्यक्ष होता है। इसके अतिरिक्त वह नगर-प्रमुख की अनुपस्थिति में उसके कार्यों की देखरेख करता है।

नगर-प्रमुख और उप-नगर-प्रमुख अवैतनिक अधिकारी होते हैं, किन्तु उन्हें सरकार द्वारा स्वीकृत निश्चित भत्ता और अन्य सुविधायें मिलती हैं।

3. मुख्य नगर अधिकारी—मुख्य नगर अधिकारी महापालिका का स्थायी पदाधिकारी होता है। उसकी नियुक्ति राज्य-सरकार द्वारा की जाती है। वह भारतीय प्रशासकीय सेवा (इण्डियन ऐडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस) का सदस्य होता है। मुख्य नगर अधिकारी प्रशासन के सभी महत्वपूर्ण कार्यों पर नियन्त्रण रखता है। वह महापालिका द्वारा निर्धारित नीति को क्रियान्वित करता, महापालिका को आवश्यकता होने पर परामर्श देता तथा राज्य-सरकार और महापालिका के मध्य एक कड़ी का कार्य करता है। नगर की सुव्यवस्था और विकास की दिशा में उसका महत्वपूर्ण योग हो सकता है।

महापालिका के अन्य स्थायी अधिकारी और कर्मचारी उसके नियन्त्रण में होते हैं।

4. कुछ अन्य अधिकारी—नगर महापालिका के कुछ अधिकारियों में (1) उप-नगर

अधिकारी, (2) सहायक नगर अधिकारी, (3) नगर अभियन्ता, (4) नगर स्वास्थ्य अधिकारी तथा (5) मुख्य नगर लेखा-परीक्षक हैं। इनकी सहायता के लिए अन्य अनेक कर्मचारी रहते हैं।

नगर महापालिका की समितियाँ—नगर महापलिका अपना कार्य कई समितियों की सहायता से करती है। इन समितियों में दो स्थायी समितियाँ होती हैं। ये समितियाँ निम्नलिखित हैं—(1) कार्यकारिणी समिति, (2) विकास समिति।

कार्यकारिणी समिति में 12 सदस्य होते हैं जो महापालिका के साधारण और विशिष्ट सदस्यों द्वारा चुने जाते हैं। इस समिति का कार्यकाल महापालिका के कार्यकाल के साथ समाप्त होता है। इसके आधे सदस्य प्रतिवर्ष सेवा-निवृत्त होते हैं। उप-नगर-प्रमुख इसका अध्यक्ष होता है। इस समिति को महापालिका की मुख्य कार्यकारिणी कहा जा सकता है क्योंकि यही महापालिका के सामान्य प्रशासन, वित्त और नियन्त्रण का कार्य करती है।

महापालिका की दूसरी समिति विकास समिति है। इसमें 10 सदस्य निर्वाचित तथा दो सदस्य संयोजित होते हैं। इस समिति का कार्यकाल भी महापालिका के कार्यकाल के साथ चलता है, परन्तु इसके आधे सदस्य प्रतिवर्ष सेवा-निवृत्त होते जाते हैं। संयोजित सदस्यों का भी कार्यकाल एक वर्ष होता है। इस समिति का अध्यक्ष भी उप-नगर-प्रमुख होता है। इसका कार्य महापालिका के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्र का सब दृष्टियों से विकास करना होता है।

इन दो स्थायी समितियों के अतिरिक्त महापालिका अन्य समितियाँ भी संगठित कर सकती है। ये समितियाँ विद्युत्, परिवहन इत्यादि से सम्बन्धित हो सकती हैं।

नगर महापालिका के कार्य—नगर महापालिका के कार्यों की सूची बड़ी लम्बी है। उत्तर प्रदेश नगर महापालिका अधिनियम में नगर महापालिकाओं के 38 प्रकार के अनिवार्य और 43 प्रकार के ऐच्छिक कार्यों का उल्लेख है। संक्षेप में इसके मुख्य कार्यों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. सड़कों का निर्माण करना तथा उनको स्वच्छ रखने की व्यवस्था करना।
2. प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था करना।
3. सरकारी भवनों, नालियों, बाजारों, पाठशालाओं तथा अन्य सार्वजनिक उपयोग के निर्माण-कार्य करना।
4. स्वास्थ्य-सम्बन्धी कार्यों को करना जिसके अन्तर्गत स्वास्थ्य-केन्द्रों, अस्पतालों, टीका लगवाने तथा सम्बन्धित अन्य आवश्यक कार्य आते हैं।
5. पानी और प्रकाश की व्यवस्था करना।
6. मेले, हाट-बाजार, प्रदर्शनी आदि की व्यवस्था करना।
7. दैवी आपत्ति के समय जनता की सहायता करना।
8. श्मशान-घाट की व्यवस्था करना।
9. हानिकारक व्यापारों को बन्द करना।

मनोरंजन-केन्द्रों की स्थापना तथा उनकी व्यवस्था करना।

नगर महापालिका की आय के स्रोत—नगर महापालिका की आय के मुख्य दो स्रोत हैं: (1) अनिवार्य कर तथा (2) वैकल्पिक कर। अनिवार्य कर के अन्तर्गत सम्पत्ति-कर, गृह-कर, जल कर, सीवर कर, स्वच्छता-कर, वाहन-कर आदि आते हैं। वैकल्पिक करों के अन्तर्गत वे सब कर आते हैं जो पहले से नगरपालिकाओं (म्युनिस्पैलिटीज) द्वारा इस हेतु निश्चित हैं। इसके अतिरिक्त महापालिका सरकार से ऋण भी ले सकती है।

महापालिका के आय-व्यय का एक विवरण (बजट) प्रतिवर्ष मुख्य नगर अधिकारी द्वारा तैयार किया जाता है, उसे कार्यकारिणी समिति के सामने पेश किया जाता है और अन्त में महापालिका के समस्त सभासदों की बैठक में उसे रखा जाता है।

नगर महापालिका पर सहकारी नियन्त्रण—यद्यपि महापालिका एक स्थानीय स्वशासित संस्था है, फिर भी राज्य-सरकार का उस पर अंकुश रहता है। सरकार यह नियन्त्रण मुख्यतया निम्नलिखित रूप में रखती है—

1. यदि सरकार यह समझती है कि महापालिका अपने कार्य का भली-भाँति सम्पादन नहीं कर रही है तो उसे विघटित कर सकती है। नगर महापालिका का विघटन कर उसकी व्यवस्था के लिए एक प्रशासक (ऐडमिनिस्ट्रेटर) नियुक्त कर दिया जाता है।
2. महापालिका के किसी भी विभाग के कार्य आदि के निरीक्षण के लिए कोई अधिकारी नियुक्त कर सकती है।
3. सरकार मुख्य नगर अधिकारी या महापालिका की समिति से कोई विवरण, सूचना अथवा प्रतिवेदन माँग सकती है।

इस प्रकार राज्य-सरकार नगर महापालिका पर अपना पूरा नियन्त्रण रखती है, पर आन्तरिक दृष्टि से महापालिकाओं को अपने निश्चित कार्यों को करने के लिए पर्याप्त स्तवन्त्रता मिली है।

2

नगरपालिकाएँ
(Municipal Boards)

नगरपालिकाएँ (म्युनिस्पैलिटीज) नगरों की स्थानीय संस्थाओं की दूसरी महत्त्वपूर्ण इकाइयाँ हैं। नगरपालिका की स्थापना उन नगरों में की जाती है जहाँ की जनसंख्या 20 हजार से अधिक होती है। उत्तर प्रदेश में 20 हजार से अधिक व 5 लाख से कम की जनसंखया वाले नगरों में नगरपालिकाएँ स्थापित की गई हैं। नगरपालिका के सदस्यों की संख्या नगर की जनसंख्या के आधार पर निर्धारित की जाती है, किन्तु किसी भी नगरपालिका में 20 से कम व 80 से अधिक सदस्य नहीं हो सकते।

सदस्यों की योग्यतायें—नगरपालिका की सदस्यता के लिए निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है—

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. 21 वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो।
3. विगत 6 महीने से नगर में निवास करता हो।
4. सरकारी कर्मचारी अथवा नगरपालिका का ठेकेदार न हो।
5. उस पर नगरपालिका का कोई कर शेष न हो।
6. पागल, दिवालिया या अपराधी न हो।

निर्वाचन-पद्धति—नगरपालिका के निर्वाचन के लिए सम्पूर्ण नगर कई वार्डों (क्षेत्रों) में विभाजित कर दिया जाता है। प्रत्येक वार्ड से उसकी जनसंख्या के आधार पर पूर्वनिश्चित संख्या में सदस्यों का निर्वाचन किया जाता है।

मतदाताओं की योग्यता—नगरपालिका के सदस्यों के निर्वाचन में वही व्यक्ति मत दे सकता है जो भारत का नागरिक हो, जिसकी अवस्था 18 वर्ष से कम न हो, जो नगर में कम-से-कम 6 महीने से निवास कर रहा हो तथा जो पागल, दिवालिया व अपराधी घोषित न किया गया हो तथा जिसका नाम उस क्षेत्र के मतदाताओं की सूची में हो।

नगरपालिका के पदाधिकारी—नगरपालिका का अध्यक्ष सभापति (चेयरमैन) कहलाता है। यह जनता द्वारा निर्वाचित व्यक्ति होता है। इसके अतिरिक्त वरिष्ठ उपप्रधान (Senior Vice-Chairman) तथा कनिष्ठ उपप्रधान (Junior Vice-Chairman) होते हैं। ये पदाधिकारी अवैतनिक होते हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ स्थायी अधिकारी होते हैं जो कि वैतनिक होते हैं। इन अधिकारियों में एक्जीक्यूटिव आफिसर, सेक्रेटरी, इंजीनियर, चीफ सेनिटरी इन्सपेक्टर इत्यादि मुख्य हैं।

नगरपालिका की समितियाँ—नगरपालिका अपना कार्य-संचालन करने के लिए कुछ समितियों का निर्माण कर लेती है। ये समितियाँ मुख्यतया निम्नलिखित होती हैं—

1. शिक्षा समिति
2. स्वास्थ्य समिति
3. अर्थ समिति
4. निर्माण समिति
5. चुंगी समिति
6. परिवहन समिति
7. जल समिति

इन समितियों में पाँच से लेकर दस सदस्य तक होते हैं। प्रत्येक समिति का अपना सभापति या संयोजक होता है।

नगरपालिका के कार्य—नगरपालिका के कार्यों को मुख्यतया दो भागों में रख सकते हैं—(1) अनिवार्य कार्य, (2) ऐच्छिक कार्य।

अनिवार्य कार्य के अन्तर्गत मुख्यतया निम्नलिखित कार्य आते हैं—

1. नगर की स्वच्छता और सफाई का प्रबन्ध।
2. संक्रामक रोगों की रोकथाम।
3. नगर-निवासियों के पीने के लिए शुद्ध पानी की व्यवस्था।
4. नगर के बालक-बालिकाओं के लिए निःशुल्क प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा का प्रबन्ध।
5. नगर में नई सड़कों का निर्माण तथा पुरानी सड़कों की मरम्मत।
6. नगर में प्रकाश का व्यवस्था।
7. नगर में जन्म लेने वालों तथा मरने वालों का लेखा रखना।
8. रिक्शा, ताँगा, इक्का आदि पर कर लगाना।
9. मुहल्ला तथा सड़कों का नाम रखना और मकानों का नम्बर लगाना।
10. नगर में जलकर लगाना।
11. नगर में आने वाली वस्तुओं पर चुंगी वसूल करना।
12. भवनों के नक्शे पास करना।

13. बूचड़खानों का निरीक्षण करना।
14. खाद्य पदार्थों की मिलावट को रोकना।

नगरपालिका के ऐच्छिक कार्यों में मुख्य निम्नलिखित हैं

1. जन-साधारण की ज्ञानवृद्धि के लिए पार्कों, उद्यानों, व्यायामशालाओं, स्वास्थ्य-सुधार-क्लबों आदि की व्यवस्था।
2. जन-साधारण की ज्ञानवृद्धि के लिए पुस्तकालय, वाचनालय, अजायबघर, चित्रशाला आदि की व्यवस्था करना।
3. जनता की सुविधा के लिए बस, टैक्सी तथा अन्य प्रकार की सस्ती सवारियों का प्रबन्ध करना।
4. नगर की आर्थिक उन्नति के लिए कुटीर उद्योगों की स्थापना।
5. नगर में यात्रीगृह, धर्मशाला और प्याऊ आदि का निर्माण।
6. गन्दी बस्तियों को उजाड़कर उनके स्थान पर सस्ते और टिकाऊ भवनों की व्यवस्था।
7. अनाथालय, विधवाश्रम आदि की स्थापना।

नगरपालिका की आय के साधन—नगरपालिका की आय के मुख्य साधन निम्नलिखित हैं—

1. भूमि-भवन कर,
2. जलकर
3. चुंगी,
4. व्यापार और पेशा कर,
5. सवारी गाड़ियों पर कर,
6. शिक्षा-शुल्क,
7. नावों और पुलों पर कर,
8. पशुओं पर कर,
9. मवेशीखानों पर कर,
10. बूचड़खानों पर कर,
11. नगरपालिका की सम्पत्ति से आय,
12. राज्य-सरकार से प्राप्त आर्थिक सहायता।

नगरपालिका का नियन्त्रण—यद्यपि नगरपालिका एक स्वशासित संस्था है, फिर भी अन्य स्थानीय संस्थाओं की भाँति उस पर सरकार का नियन्त्रण रहता है। सरकार यह नियन्त्रण अधलिखित रूप में करती है—

1. वह नगरपालिका के बजट पर अपनी स्वीकृति देती है।
2. नगरपालिका के आर्थिक कार्यों की जाँच करती है।
3. एक्जीक्यूटिव आफिसर तथा हेल्थ आफिसर आदि की नियुक्ति करती है।
4. यदि किसी नगरपालिका का कार्य असन्तोषजनक होता है तो उसे भंग कर अपने अधिकार में ले लेती है।

नगरपालिकाओं पर सरकार किस सीमा तक नियन्त्रण और हस्तक्षेप रखती है ?

नगरपालिकाएँ स्थानीय स्वशासन की महत्वपूर्ण इकाइयाँ हैं। पर शासन कई प्रकार से

नगरपालिकाओं पर नियन्त्रण रखता है। सरकार द्वारा नगरपालिकाओं के नियन्त्रण को संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. नगरपालिकाओं के संगठन और शक्ति सम्बन्धी कानून के निर्माण द्वारा—नगरपालिकाओं के संगठन, रचना और अधिकारों के विषय में कानून बनाने का अधिकार राज्य-सरकार को होता है। फलतः इस प्रकार के कानून का निर्माण कर वह नगरपालिकाओं के संगठन, स्वरूप और शक्तियों को प्रभावित और नियन्त्रित करती है।

2. नगरपालिकाओं के अधिकारियों की नियुक्ति द्वारा—नगरपालिकाओं के कतिपय अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार राज्य-शासन के हाथों में होता है। इस प्रकार सरकार नियुक्ति के अधिकार के माध्यम से नगरपालिकाओं पर नियन्त्रण रखती है।

3. नगरपालिका को आर्थिक सहायता देकर—राज्य-सरकार नगरपालिका को समय-समय पर आर्थिक सहायता देती है। आर्थिक सहायता के माध्यम से वह नगरपालिका पर नियन्त्रण रखती है।

4. नगरपालिकाओं की जाँच के द्वारा—नगरपालिकाओं के आय-व्यय-सम्बन्धी लेखों की जाँच का अधिकार सरकार को है। इस दृष्टि से सरकार का एक अलग विभाग है जिसे 'लोकल फण्ड्स एकाउण्ट्स' कहते हैं।

5. नगरपालिकाओं को भंग करके—शासन को अधिनियम के अनुसार विशिष्ट आधारों पर नगरपालिकाओं को भंग करने का अधिकार है। सरकार अपने आदेश द्वारा नगरपालिका को भंग कर देती है। नगरपालिका को भंग करने के बाद सरकार नगरपालिका का प्रशासन प्रशासक को सौंप देती है। इसे सरकार स्वतः नियुक्त करती है।

3

टाउन एरिया कमेटी

टाउन एरिया कमेटी का संगठन—दस हजार से अधिक तथा बीस हजार से कम की जनसंख्या वाले नगरों में टाउन एरिया (नगर-क्षेत्र) समितियाँ बनाई जाती हैं। टाउन एरिया कमेटी के सदस्यों की संख्या राज्य की सरकारें निश्चित करती हैं। इन सदस्यों का निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है। कुछ सदस्य राज्य-सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। अनुसूचित जातियों के लिए स्थान सुरक्षित रहते हैं। टाउन एरिया का अपना निर्वाचित चेयरमैन (सभापति) होता है। कार्यपालिकीय कार्यों के लिए एक समिति होती है जिसके अधिक से अधिक सात सदस्य होते हैं।

टाउन एरिया कमेटी के कार्य—टाउन एरिया कमेटी के अधिकार अत्यन्त सीमित हैं। इसके मुख्य कार्य अपने क्षेत्र में गली-कूचों की सफाई, शुद्ध जल, नई सड़कों का निर्माण, पुरानी सड़कों की मरम्मत, हानिकारक व्यापार पर नियन्त्रण, मवेशीखाना की व्यवस्था, रोशनी का प्रबन्ध तथा छूत की बीमारियों की रोकथाम हैं।

आय के साधन—टाउन एरिया कमेटी की आय के मुख्य साधन निम्नलिखित हैं—

1. अपने क्षेत्र के मकानों, जमीन तथा जायदाद पर करों से प्राप्त आय,
2. टाउन एरिया के नियमों को तोड़ने पर किये जाने वाले जुर्मानों से आय,
3. नजूल की भूमि के किराये और उसकी बिक्री से आय,
4. मवेशीखाने की आय, तथा

5. जिला-परिषद व सरकार की दी हुई सहायता से प्राप्त आय।

सरकारी नियन्त्रण टाउन एरिया कमेटी की कार्यवाही पर सरकार का पूरा नियंत्रण रहता है। सरकार यह नियन्त्रण उस क्षेत्र के तहसीलदार, एस० डी० ओ० आदि के द्वारा कराती है।

4

नोटीफाइड एरिया

संगठन और कार्य—नोटीफाइड एरिया समितियाँ उन छोटे कस्बों में स्थापित की जाती हैं जिन स्थानों की जनसंख्या 5000 से लेकर 10,000 तक होती है। नोटीफाइड एरिया समितियों की सदस्य-संख्या राज्य-सरकार निश्चित करती है। इसमें प्राय: 5 से लेकर 9 तक सदस्य होते हैं। इनमें से कुछ सदस्य निर्वाचित होते हैं और कुछ मनोनीत। इन समितियों को बहुत कम अधिकार प्राप्त हैं। साधारणतया ये अपने क्षेत्र की सड़कों, पानी की व्यवस्था, सफाई की व्यवस्था तथा रोशनी इत्यादि की देखभाल करती हैं। इनकी भी आय अत्यन्त कम होती है।

5

कैंटूनमेंट बोर्ड (छावनी बोर्ड)

कैंटनमेंट बोर्ड (छावनी बोर्ड)—जिन नगरों में सैनिकों की छावनियाँ होती हैं, उस सैनिक क्षेत्र का प्रबन्ध करने के लिए कैंटूनमेंट बोर्ड या छावनी बोर्ड बनाये जाते हैं। छावनी बोर्ड राज्य-सरकार के नियन्त्रण से मुक्त होते हैं, पर संघ-सरकार का नियन्त्रण होता है। छावनी बोर्ड में दो प्रकार के सदस्य होते हैं: (1) सेना के मनोनीत अधिकारी, (2) छावनी-क्षेत्र में निवास करने वाली जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि। इसका अध्यक्ष सैनिक अधिकारी होता है और उपाध्यक्ष प्राय: निर्वाचित सदस्यों द्वारा चुना जाता है। छावनी बोर्ड अपने क्षेत्र के नागरिकों तथा सैनिकों को नागरिक सुविधाएँ प्रदान करने का कार्य करते हैं। छावनी बोर्डों पर संघ-सरकार के प्रतिरक्षा मन्त्रालय का पूरा नियन्त्रण होता है।

ग्रामीण क्षेत्र की स्थानीय संस्थाएँ

1

जिला-परिषद (District Board)

ग्रामीण अंचल से सम्बन्धित स्थानीय स्वशासन की एक महत्वपूर्ण इकाई जिला-परिषद है। उत्तर प्रदेश में सन् 1961 ई० के जिला परिषद अधिनियम के अनुसार जिला-परिषदों का गठन किया गया है।[1] यहाँ हम जिला-परिषद के विविध पक्षों का अध्ययन करेंगे।

जिला-परिषद का संगठन: निर्वाचित सदस्य—जिला-परिषद का संगठन मुख्यतया निम्नलिखित निर्वाचित सदस्यों द्वारा होता है—

1. जिले की समस्त क्षेत्र समितियों के प्रमुख।
2. जिले की प्रत्येक क्षेत्र-समिति द्वारा अपने सदस्यों में निर्वाचित एक निश्चित संख्या में सदस्य।

---

1. सन् 1962 ई० में इस अधिनियम में कुछ और संशोधन किये गये थे।

3. जिले की नगरपालिका का अध्यक्ष।
4. जिले की समस्त पंजीकृत सहकारी समितियों का एक निर्वाचित प्रतिनिधि।
5. जिले के सहकारी बैंकों का एक निर्वाचित प्रतिनिधि।
6. जिले की गन्ना समितियों का एक निर्वाचित प्रतिनिधि।
7. जिले के सहकारी संघ का एक निर्वाचित प्रतिनिधि।
8. जिले के संसद तथा विधान-मण्डल के सभी निर्वाचित सदस्य।
9. जिले की सामाजिक सेवा संस्थाओं से राज्य-सरकार द्वारा मनोनीत अधिक-से-अधिक तीन सदस्य।
10. जिन जिलों में गन्ना समितियाँ हैं, वहाँ गन्ना समिति का प्रतिनिधि।

ज़िला-परिषद के सहयोजित सदस्य

जिला परिषद में निर्वाचित सदस्यों के अतिरिक्त कुछ सहयोजित सदस्य (Co-opted members) भी होंगे। ये सहयोजित सदस्य दो वर्गों के होंगे : (अ) स्त्रियाँ तथा (ब) अनुसूचित जाति।

जहाँ तक स्त्रियाँ का प्रश्न है, उनके लिए यह प्रावधान है कि जिन जिलों में सात से अधिक खण्ड नहीं हैं, उन जिलों से 3 स्त्री सदस्य सहयोजित की जायेंगी तथा जिन ज़िलों में सात से अधिक खण्ड हैं, वहाँ से 5 स्त्री सदस्य सहयोजित की जायेंगी।

इसी प्रकार अनुसूचित जातियों के सदस्यों के सहयोजन के लिए यह व्यवस्था की गयी है कि सात खण्डों वाली जिला-परिषद में तीन से लेकर दस तक तथा सात से अधिक खण्डों वाली जिला-परिषद में पाँच से लेकर दस तक सदस्य हों।[1]

जिला-परिषद का कार्यकाल—जिला परिषद का कार्यकाल 5 वर्ष का होता है, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर राज्य-सरकार उसके कार्यकाल को बढ़ा सकती है। सरकार यदि चाहे तो उसके कार्यकाल की समाप्ति के पहले भी उसे भंग कर सकती है।

जिला-परिषद के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष—जिला-परिषद का एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष होता है। अध्यक्ष का निर्वाचन जिला-परिषद के सदस्य गुप्त मतदान-पद्धति के अनुसार करते हैं। अध्यक्ष के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह जिला-परिषद का सदस्य हो। कोई सम्मानित व्यक्ति जो जिला-परिषद का सदस्य नहीं है, परिषद के सदस्यों द्वारा अध्यक्ष निर्वाचित किया जा सकता है। अध्यक्ष जिस तिथि को निर्वाचित किया जाता है, उस तिथि से लेकर परिषद के समाप्त होने तक अपने पद पर बना रहता है। परन्तु उपाध्यक्ष केवल एक वर्ष के लिए निर्वाचित होता है। उपाध्यक्ष को परिषद का सदस्य होना आवश्यक है। अध्यक्ष की आयु कम-से-कम 30 वर्ष होनी चाहिए। उसके अतिरिक्त उसमें परिषद के सदस्य चुने जाने की सभी योग्यताएँ होनी चाहिए। अध्यक्ष का कार्य जिला-परिषद तथा उसकी समितियों की बैठक बुलाना, उनकी अध्यक्षता करना, बैठकों में अनुशासन और नियन्त्रण बनाये रखना तथा अधिनियम द्वारा निर्धारित परिषद के प्रशासन की देखभाल करना तथा अन्य आवश्यक कार्य करना है।

---

1. राज्य-सरकार ने जिला परिषद में अनुसूचित जातियों की संख्या इस प्रकार निश्चित की है—अल्मोड़ा 8, बरेली 9, पीलीभीत 6, देहरादून 7, रामपुर 4, बलिया 9, नैनीताल 6, पौड़ी-गढ़वाल 6, टिहरी-गढ़वाल 5, चमोली, उत्तरकाशी व पिथोरागढ़ के अतिरिक्त अन्य जिलों में 10।

जिला-परिषद के स्थायी अधिकारी—जिला-परिषद के स्थायी अधिकारियों में मुख्य अधिकारी, वित्त अधिकारी, स्वास्थ्य अधिकारी, कार्याधिकारी, अभियन्ता (इंजीनियर), कर अधिकारी, शिक्षा अधीक्षक, पंचायत राज अधीक्षक आदि होते हैं।

जिला-परिषद की समितियाँ—जिला-परिषद अपने महत्वपूर्ण कार्यों का संपादन विभिन्न समितियों के द्वारा करती है। इस समितियों में मुख्य निम्नलिखित हैं—(1) कार्य समिति, (2) वित्त समिति, (3) शिक्षा समिति, (4) सार्वजनिक निर्माण समिति, (5) जन-स्वास्थ्य समिति, (6) परिवार नियोजन समिति।

जिला-परिषद के कार्य—जिला-परिषद ग्रामीण क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाली स्थानीय संस्था है। इस नाते वह ग्रामीण क्षेत्रों के लिए आवश्यक और उपयोगी सभी कार्यों को सम्पन्न करती है।

इन कार्यों को संक्षेप में हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. नई सार्वजनिक सड़कों और पुलों का निर्माण कराना तथा पुरानी सड़कों और पुलों की मरम्मत कराना।
2. नई सड़कें बनवाने के लिए भूमि अर्जित करना।
3. ग्राम-अन्तर्ग्राम और जिला की सड़कों का वर्गीकरण करना।
4. ऐसे मेलों का वर्गीकरण और प्रबन्ध करना जिनका प्रबन्ध राज्य-सरकार नहीं करती। यह वर्गीकरण ग्राम पंचायत, क्षेत्र समिति और जिला परिषद के मेलों के रूप में किया जाता है।
5. ग्रामीण क्षेत्र में गाँव सभा की परिधि के बाहर लगने वाले पशु मेलों का नियंत्रण करना।
6. प्राइमरी तथा जूनियर स्तर तक की शिक्षा की व्यवस्था करना, विद्यालयों का निरीक्षण करना, पुस्तकालयों तथा अध्यापक-प्रशिक्षण-केन्द्रों की व्यवस्था करना।
7. निर्धन-गृह, अनाथालय आदि की स्थापना करना और उनका निरीक्षण करना।
8. ग्रामीण क्षेत्र के नागरिकों की चिकित्सा और स्वास्थ्य इत्यादि का प्रबन्ध करना, महामारी-जैसे संक्रामक रोगों की रोकथाम करना तथा परिवार-नियोजन-केन्द्रों की व्यवस्था करना।
9. जिला-नियोजन की रूपरेखा तैयार करना, क्षेत्र समितियों द्वारा प्रस्तुत योजनाओं का अध्ययन करना, उनकी जाँच करना और उनका समन्वय करना।
10. पशु-चिकित्सा के लिए सुविधा प्रदान करना।
11. पीने के लिए पानी की व्यवस्था करना, तालाब, कुएँ आदि के निर्माण की व्यवस्था करना।
12. ग्रामीण क्षेत्र में जन्म-मरण के आँकड़ों का संकलन करना।
13. जिले की ग्राम पंचायतों तथा क्षेत्र समितियों के कार्यों की सामान्य रूपरेखा तैयार करना।
14. राज्य द्वारा माँगे हुए विषयों का विवरण तथा प्रतिवेदन तैयार एवं प्रस्तुत करना।

इस प्रकार जिला-परिषदों को ग्रामीण क्षेत्र की स्थानीय व्यवस्था और विकास के लिए अनेक कार्यों को करने का अधिकार दिया गया है।

जिला-परिषद की आय के साधन—जिला-परिषद की आय के मुख्यतया अग्रलिखित साधन हैं—

1. विक्रय तथा सम्पत्ति पर कर,
2. परिषद की अचल सम्पत्ति का उपयोग करने वालों से प्राप्त शुल्क,
3. लाइसेंस से प्राप्त शुल्क,
4. मेलों, हाटों तथा प्रदर्शनियों से प्राप्त शुल्क,
5. विद्यालयों से प्राप्त शुल्क,
6. निर्माण-कार्यों से प्राप्त शुल्क,
7. नावों पर लगाये गये शुल्क,
8. पशुओं की रजिस्ट्री से शुल्क,
9. परिषद द्वारा निर्मित पुलों से पथ-कर,
10. राज्य-सरकार की स्वीकृति से लगाये गये अन्य कर,
11. सवारियों पर कर,
12. बाजारों में व्यवसाय करने वाले दलालों, आढ़तियों, तौलों तथा मापकों पर शुल्क,
13. मेलों तथा बाजारों में बिकने वाले पशुओं की रजिस्ट्री से शुल्क।

जिला-परिषद पर सरकारी नियंत्रण—अन्य स्थानीय संस्थाओं की भाँति जिला-परिषद पर भी सरकार का नियंत्रण रहता है। सरकार यह नियंत्रण जिलाधीश के माध्यम से करती है—

1. जिलाधीश या उसके द्वारा नियुक्त अधिकारी जिला-परिषद की चल सम्पत्ति तथा किसी भी रजिस्टर का निरीक्षण कर सकते हैं।
2. कमिश्नर की आज्ञा से जिलाधीश परिषद की बैठकों में भाग ले सकता है।
3. जिलाधीश परिषद के नियोजन तथा विकास सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण कर सकता है।
4. विशेष परिस्थितियों से राज्य-सरकार परिषद के सदस्यों को हटा सकती है और उसे भंग कर सकती है। इसी प्रकार अन्य साधनों से सरकार परिषद पर अपना नियंत्रण रखती है।

2

क्षेत्र समिति

उत्तर प्रदेश में स्थानीय स्वशासन की दिशा में किया गया एक अन्य प्रयोग क्षेत्र समितियों की स्थापना है। क्षेत्र समितियों की स्थापना 1960 ई० के उत्तर प्रदेश क्षेत्र समिति तथा जिला-परिषद अधिनियम के अनुसार की गई है। इस अधिनियम के अनुसार 1963 ई० में गठित जिला-परिषदों के साथ ही क्षेत्रीय समितियों की भी स्थापना की गई। क्षेत्रीय समितियाँ एक प्रकार से जिला-परिषदों और पंचायतों के मध्य की कड़ियाँ हैं। यहाँ हम उनके संगठन और कार्यों आदि पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

क्षेत्र समिति का संगठन—क्षेत्र समिति का संगठन निम्नलिखित व्यक्तियों से होता है—

1. उस क्षेत्र के विकास-खण्ड के अन्तर्गत ग्राम-सभाओं के प्रधान,
2. विकास-खण्ड के अन्तर्गत स्थित प्रत्येक टाउन एरिया समिति का चेयरमैन तथा प्रत्येक नोटीफाइड एरिया समिति का प्रधान,
3. विकास-खण्ड के अन्तर्गत स्थित पंजीकृत सहकारी समितियों के दो से पाँच तक प्रतिनिधि,

4. विकास-खण्ड से सम्बन्धित निर्वाचन-क्षेत्रों में लोकसभा तथा विधानसभा के सदस्य, और
5. विकास-खण्ड में निवास करने वाले राज्यसभा या विधान-परिषद के सदस्य।

उपर्युक्त सदस्यों के अतिरिक्त कुछ महिला तथा अनुसूचित जातियों के सदस्य भी होते हैं जो ग्राम प्रधानों द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं और कोवाप्ट कहलाते हैं।

क्षेत्र-समिति के प्रमुख तथा उपप्रमुख--प्रत्येक क्षेत्र समिति का प्रधान एक प्रमुख होगा जिसका निर्वाचन क्षेत्र समिति के सदस्यों द्वारा किया जायगा। ऐसा व्यक्ति जो समिति का सदस्य नहीं है प्रमुख चुना जा सकता है, पर निर्वाचित हो जाने के बाद वह समिति का पदेन सदस्य मान लिया जायगा। इसके अतिरिक्त दो उपप्रमुख होंगे जो समिति के सदस्यों में से समिति द्वारा चुने जायेंगे। इधर कुछ समय से प्रमुख के चुनाव के लिए प्रत्यक्ष प्रणाली का प्रावधान सरकार के विचाराधीन है।

सदस्य और प्रमुख निर्वाचित होने वाले व्यक्तियों की अयोग्यताएँ—निम्नलिखित व्यक्ति समितियों के सदस्य या प्रमुख नहीं निर्वाचित किये जा सकेंगे—

1. दिवालिया जो उससे मुक्त नहीं किये गये हैं।
2. सरकार या स्थानीय सस्था में लाभ के पद पर आसीन लोग।
3. किसी सरकारी या अर्द्ध-सरकारी पद से भ्रष्टाचार के अपराध में दोषी पाये गये व्यक्ति।
4. वह व्यक्ति जिसे सरकारी आज्ञा से विधि का व्यवसाय करने से रोक दिया गया है।
5. कोढ़ अथवा किसी अन्य संसर्गजन्य असाध्य रोग से ग्रस्त व्यक्ति।

क्षेत्र समिति का कार्यकाल--क्षेत्र समिति का कार्यकाल पाँच वर्ष होगा, किन्तु सरकार इस कार्यकाल को एक वर्ष के लिए बढ़ा सकती है।

क्षेत्र समिति की समितियाँ—क्षेत्र समिति के कार्यों को सुगमतापूर्वक संचालित करने के लिए तीन उपसमितियाँ होती हैं—

1. कार्यकारिणी उपसमिति
2. उत्पादन उपसमिति
3. कल्याण उपसमिति

खण्ड विकास अधिकारी—प्रत्येक क्षेत्र में सरकार द्वारा नियुक्त एक खण्ड विकास अधिकारी होता है। वह क्षेत्र समिति के निर्णय को क्रियान्वित करता है तथा क्षेत्र समिति का मुख्य कार्यपालक अधिकारी होता है।

क्षेत्र समिति का मुख्य कार्य—संक्षेप में हम क्षेत्र समिति के मुख्य कार्य को अग्रलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. अपने क्षेत्र में कृषि का विकास करना।
2. भूमि का संरक्षण करना।
3. बीज गोदामों की स्थापना करना।
4. सहकारिता का प्रचार व प्रसार करना।
5. सिंचाई के लघु साधनों की व्यवस्था करना।
6. कुटीर उद्योग को प्रोत्साहित करना।

7. सिंचाई के लघु साधनों की व्यवस्था करना।
8. कुटीर उद्योग को प्रोत्साहन देना।
9. पशुपालन तथा पशु-चिकित्सा की व्यवस्था करना।
10. सामान्य चिकित्सा की व्यवस्था करना।
11. संक्रामक रोगों से जन-स्वास्थ्य की रक्षा करना।
12. प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था करना।
13. हरिजन-कल्याण का प्रयास करना।
14. गाँव सभाओं द्वारा निर्मित योजनाओं का पर्यवेक्षण एवं समन्वय करना।

3

ग्राम सभा (गाँव सभा)

ग्राम सभा का संगठन—ग्राम सभा को ग्रामीण स्वराज की आधारशिला कहा जा सकता है। साधारणतया एक हजार की जनसंख्या वाले ग्राम या ग्राम-समूह के लिए गाँव सभा की स्थापना का प्रावधान है। किन्तु ग्राम पंचायत अधिनियम में किये गये संशोधन के अनुसार 250 तक की जनसंख्या वाले ग्राम के लिए एक ग्राम सभा संगठित की जा सकती है। वर्तमान समय में उत्तर प्रदेश में 72,428 गाँव सभाएँ हैं।

ग्राम-क्षेत्र के समस्त वयस्क नागरिक गाँव सभा के सदस्य होते हैं, किन्तु ऐसा कोई भी व्यक्ति गाँव सभा का सदस्य नहीं बन सकता जो—

1. पागल हो।
2. कोढ़ी हो।
3. दिवालिया हो।
4. सरकारी कर्मचारी हो या जिसे चुनाव-सम्बन्धी किसी अपराध में दण्डित किया गया हो।
5. नैतिक अपराध के लिए दोषी पाया गया हो।
6. जिसे सदाचार के लिए जमानत जमा करने की आज्ञा दी गई हो।

ग्राम सभा की सदस्यता आजीवन होती है, किन्तु यदि व्यक्ति उस ग्राम सभा के क्षेत्र के बाहर रहने लगता है तो उस ग्राम सभा की सदस्यता से वंचित हो जाता है।

गाँव सभा के पदाधिकारी—गाँव सभा के दो मुख्य पदाधिकारी होते हैं: प्रधान तथा उपप्रधान। गाँव सभा के सदस्य अपने सदस्यों में एक प्रधान तथा एक उपप्रधान चुनते हैं।

प्रधान का कार्यकाल 5 वर्ष तथा उप-प्रधान का कार्यकाल भी 5 वर्ष होता है। किन्तु नए प्रधान और उप-प्रधान के चुनाव तक ये लोग अपने पद पर बने रहते हैं। ग्राम-सभा अपनी विशेष बैठक में उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास कर प्रधान या उप-प्रधान को पदच्युत कर सकती है।

गाँव सभा की बैठकें—गाँव सभा की वर्ष में दो बैठकें होती हैं: खरीफ की बैठक और रबी की बैठक। रबी की बैठक में पिछले वर्ष के हिसाब पर विचार किया जाता है। खरीफ की बैठक में आने वाले वर्ष के बजट पर विचार कर उसे स्वीकृत किया जाता है। इसके अतिरिक्त गाँव सभा की विशेष बैठक भी बुलाई जा सकती है। सभा की बैठकों का 'कोरम' (गणपूर्ति) उसके कुल सदस्यों का पाँचवाँ भाग होता है।

ग्राम सभा के अधिकार और कार्य

ग्राम सभा अपने क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण कार्य करती है। उसके अधिकारों और कार्यों को संक्षेप में हम इस प्रकार रख सकते हैं—

1. ग्राम-विकास के लिए योजना का निर्माण—ग्राम सभा का एक महत्वपूर्ण कार्य ग्राम-विकास के लिए योजनाएँ तैयार करना है। इस प्रकार गाँव में कौन-कौन-से कार्य किये जाने चाहिए तथा कौन-से कार्य किए जायेंगे आदि बातों का निश्चय करने का प्रमुख कार्य ग्राम सभा ही करती है।

> **ग्राम सभा के अधिकार और कार्य**
> 1. ग्राम-विकास के लिए योजना का निर्माण
> 2. आय-व्यय के नियंत्रण-सम्बन्धी कार्य
> 3. निर्वाचन-सम्बन्धी कार्य
> 4. अन्य कार्य

2. आय-व्यय के नियन्त्रण-सम्बन्धी कार्य—ग्राम सभा अपने क्षेत्र के अन्तर्गत कर लगाती है तथा कर द्वारा प्राप्त धन को व्यय करने की स्वीकृति देती है। ग्राम-पंचायत के आय-व्यय पर ग्राम सभा का पूरा नियन्त्रण रहता है।

3. निर्वाचन-सम्बन्धी कार्य—ग्राम सभा अपने प्रधान, उप-प्रधान, पंचायत तथा न्याय-पंचायत के सदस्यों का निर्वाचन करती है। वह इन पदाधिकारियों के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर उन्हें अपदस्थ भी कर सकती है।

4. अन्य कार्य—ग्राम सभा के अन्य कार्यों को संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—

1. ग्राम सभा विकास-कार्य के लिए ग्राम-कोष की स्थापना करती है।
2. वह ग्राम की सरकारी जमीन की व्यवस्था करती है।
3. वह पंचायत के रिक्त स्थानों की पूर्ति करती है।
4. वह पंचायत के कार्यों का निरीक्षण करती है।

गाँव सभा को दस पैसे से लेकर 25 पैसे तक कर लगाने का अधिकार है। वह कर न देने पर पाँच रुपये का अर्थदण्ड लगा सकती है।

इस प्रकार ग्राम सभा ग्रामीण अंचल में कार्य करने वाली एक आधारभूत स्वायत्तशासी संस्था है।

4

ग्राम पंचायत

ग्राम पंचायत ग्रामीण क्षेत्र में कार्य करने वाली अन्य महत्वपूर्ण स्वशासित संस्था है। ग्राम पंचायत ग्राम सभा की एक कार्यकारिणी समिति है। ग्राम पंचायत के विविध पक्षों पर संक्षेप में यहाँ प्रकाश डाला जा रहा है।

ग्राम पंचायत का संगठन—ग्राम पंचायत के सदस्य उस क्षेत्र की गाँव सभा द्वारा चुने जाते हैं। ग्राम पंचायत में कितने सदस्य होंगे, इसका निर्णय वहाँ की जनसंख्या के अनुसार किया जाता है। जनसंख्या के अनुसार सदस्यों की संख्या का अनुपात इस प्रकार निश्चित किया गया है—

(क) पाँच सौ से कम जनसंख्या पर	7	सदस्य
(ख) पाँच सौ से अधिक तथा एक हजार से कम जनसंख्या पर	9	"
(ग) एक हजार से अधिक तथा दो हजार से कम जनसंख्या पर	11	"
(घ) दो हजार से अधिक तथा तीन हजार से कम जनसंख्या पर	13	"
(ङ) तीन हजार से अधिक जनसंख्या पर	15	"

इस प्रकार ग्राम पंचायत के कम-से-कम सात तथा अधिक-से-अधिक पन्द्रह सदस्य हो सकते हैं।[1]

गाँव सभा के प्रधान तथा उप-प्रधान ग्राम-पंचायत के क्रमशः पदेन प्रधान व उप-प्रधान माने जाते हैं। उन्हें ग्राम पंचायत की कार्यवाहियों में बोलने तथा अन्य प्रकार से भाग लेने का अधिकार है। फिर भी वे ग्राम पंचायत के सदस्य नहीं माने जाते। प्रधान को सामान्यतया मत देने का अधिकार नहीं है। किन्तु किसी विवाद पर सदस्यों का मत जब बराबर-बराबर आयेगा, तब प्रधान को अपना निर्णायक मत देने का अधिकार होगा।

ग्राम-पंचायत का कार्य---ग्राम-पंचायत का कार्यकाल पाँच वर्ष है, किन्तु राज्य-सरकार इस कार्यकाल को बढ़ा सकती है। राज्य-सरकार को ग्राम-पंचायत के कार्यकाल में वृद्धि की घोषणा को गजट में प्रकाशित करना आवश्यक होगा। परन्तु इस प्रसंग में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि इस कार्यकाल में दस वर्ष से अधिक की वृद्धि नहीं की जा सकती।

ग्राम-पंचायत के कार्य

ग्राम-पंचायत के कार्यों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं: अनिवार्य कार्य और ऐच्छिक कार्य।

अनिवार्य कार्य----ग्राम-पंचायत अपने क्षेत्र में मुख्यतया निम्नलिखित अनिवार्य कार्य करती है—

1. सार्वजनिक सड़कों का निर्माण, मरम्मत, व्यवस्था, स्वच्छता तथा रोशनी का प्रबन्ध।
2. ग्रामीणों के लिए चिकित्सा आदि का प्रबन्ध करना और संक्रामक रोगों, यथा हैजा, प्लेग, चेचक आदि की रोकथाम करना।
3. गाँव सभा अथवा उसके प्रबन्ध के लिए हस्तान्तरित किए गए किसी भवन या सम्पत्ति की रक्षा तथा देखरेख।
4. पीने के लिए शुद्ध पानी की व्यवस्था करना।
5. कुओं, तालाबों, पोखरों आदि का निर्माण करना, उनकी मरम्मत करना तथा उनकी देखरेख करना।
6. मरे हुए पशुओं को हटाने तथा दुर्गन्ध वाले स्थानों को स्वच्छ करने का प्रबन्ध करना।
7. जन्म, मृत्यु और विवाह की रजिस्ट्री करना।
8. बालक-बालिकाओं के लिए प्रारम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध करना।
9. सार्वजनिक चरागाहों का प्रबन्ध करना और उनकी देखरेख करना।
10. कृषि, वाणिज्य तथा उद्योग के विकास में योग देना।
11. पशु-गणना, जन-गणना तथा अन्य आँकड़ों से सम्बन्धित अभिलेख रखना।

---

1. ग्राम पंचायत में अनुसूचित जातियों के लिए स्थान सुरक्षित करने का प्रावधान है।

12. पशुपालन तथा पशुओं की नस्ल सुधारने में योग देना।
13. पशुओं की खाल निकालने तथा उसे सुरक्षित रखने के लिए स्थान की व्यवस्था करना।
14. प्रसूति तथा शिशु-कल्याण की व्यवस्था करना।
15. नए भवनों के निर्माण अथवा किसी वर्तमान भवन का विस्तार तथा उनमें परिवर्तन।
16. अग्नि-कांड से जन-सम्पत्ति की रक्षा में सहायता देना।
17. मेला, बाजार, हाट का प्रवन्ध करना और उस पर नियंत्रण रखना।
18. ग्राम सभा की सम्पत्ति पर किए गए अनुचित अधिकार का उन्मूलन करना।
19. पंचायती भवनों तथा अन्य सम्पत्ति की सुरक्षा और देखरेख का प्रवन्ध करना।
20. श्मशान, मरघट या कब्रिस्तान आदि की व्यवस्था करना।

ऐच्छिक कार्य—ग्राम पंचायत के निम्नांकित ऐच्छिक कार्य हो सकते हैं—

1. पुस्तकालय, वाचनालय, अखाड़ा, मनोरंजन-क्लब, प्रदर्शनी आदि की व्यवस्था करना।
2. सहकारिता-सम्बन्धी कार्यों की उन्नति में सहयोग देना और उत्तम बीज और औजारों के गोदाम स्थापित करना।
3. सरकारी ऋण प्राप्त करने, उसे किसानों में बाँटने और उसके चुकाये जाने के सम्बन्ध में किसानों की सहायता करना और उन्हें सलाह देना।
4. गाँव की सुरक्षा तथा न्याय पंचायतों को उनके कार्य-संचालन में सहायता देने के लिए ग्राम-सेवक दल का संगठन करना।
5. जनमार्गों के दोनों ओर वृक्ष लगाने की व्यवस्था करना।
6. गन्दे गड्ढों को भरवाना और भूमि को समतल करना।
7. बालकों के खेलकूद के लिए पार्क का निर्माण करना।

ग्राम-पंचायत की आय के साधन—ग्राम-पंचायत के कोष को ग्राम-कोष कहते हैं। इसमें निम्नांकित धनराशियाँ जमा होती हैं—

1. ऋण अथवा दान के रूप में मिलने वाली धनराशि।
2. सरकारी, जिला-परिषद अथवा दूसरे अधिकारियों द्वारा दी गयी धनराशि।
3. किसी अपराध के सम्बन्ध में राजीनामा होने से प्राप्त धनराशि।
4. ग्राम सभा की जमीन के लगान आदि के भाग के रूप में प्राप्त धनराशि।
5. किसी अदालत की आज्ञा से जमा होने वाली धनराशि।
6. भूमि की मालगुजारी पर लगे कर से प्राप्त धनराशि।
7. बाजार, ऊँट, इक्के आदि पर कर से प्राप्त धनराशि।
8. पशु-मेले से प्राप्त धनराशि।
9. अनिवार्य श्रमदान न करने वाले व्यक्तियों से वसूल किये गये दण्ड से प्राप्त धनराशि।

5

न्याय पंचायत

ग्रामीण क्षेत्र में स्थापित स्वशासन की संस्थाओं में न्याय पंचायत एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था है। न्याय पंचायत जहाँ एक ओर स्थानीय स्वशासन की एक आधारभूत उपयोगी संस्था है, वहाँ दूसरी ओर वह प्रदेश की न्यायिक संगठन-श्रृंखला की लघुतम इकाई है।

उत्तर प्रदेश में न्याय पंचायत की स्थापना सन् 1947 ई० के 'पंचायत राज अधिनियम' के द्वारा हुई। इस अधिनियम के अनुसार इन्हें 'पंचायती अदालत' का नाम दिया जाता था। सन् 1954 ई० में इस अधिनियम में संशोधन किए गए और पंचायती अदालत के स्थान पर इनका नाम न्याय पंचायत रखा गया। यहाँ हम न्याय पंचायत के संगठन तथा शक्तियों पर विचार करेंगे।

न्याय पंचायत का संगठन—न्याय पंचायतों के संगठन की एक विशिष्ट व्यवस्था है। इसके अनुसार ग्राम सभा अपनी पंचायत के लिए जिन पंचों का निर्वाचन करेगी, उन्हीं सदस्यों में से नियमानुसार कुछ सदस्यों की नियुक्ति न्याय पंचायत के लिए होती है।

प्रत्येक न्याय पंचायत के लिए सदस्यों की जो संख्या निर्धारित की गई है, वह इस प्रकार होगी कि 5 से पूरी तरह विभाजित हो जाय तथा यह संख्या 10 से कम व 25 से अधिक नहीं होगी।

इस नियम को ध्यान में रखते हुए न्याय की पंचायतों लिए जो संख्या निर्धारित की गई हैं, वह इस प्रकार है—

(क) जब न्याय पंचायत में दो ग्राम सभाएँ हों तो प्रत्येक ग्राम पंचायत से 5-5 सदस्य नियुक्त किये जायेंगे।

(ख) जब न्याय पंचायत में तीन ग्राम सभाएँ हों तो प्रत्येक ग्राम पंचायत से 5-5 सदस्य नियुक्त किये जायेंगे; शेष पंच उस गाँव सभा से नियुक्त किये जायेंगे जिसकी संख्या अधिकतम हो।

(ग) जब किसी न्याय पंचायत में 12 से अधिक गाँव सभाएँ सम्मिलित हों तो पहले प्रत्येक सम्बन्धित गाँव पंचायत से एक-एक पंच नियुक्त किये जायेंगे। शेष पंचों में से एक-एक पंच उन ग्राम पंचायतों से नियुक्त किये जायेंगे जिनकी जनसंख्या अधिक होगी।

(घ) अन्य परिस्थितियों में प्रत्येक ग्राम पंचायत से दो-दो सदस्य नियुक्त होंगे, किन्तु शेष पंच जनसंख्या के अनुसार प्रत्येक ग्राम सभा से नियुक्त किये जायेंगे।

सरपंच व सहायक सरपंच—प्रत्येक न्याय पंचायत में एक सरपंच व एक सहायक सरपंच होता हैं। इनका निर्वाचन न्याय पंचायत के सदस्यों द्वारा गुप्त मतदान-पद्धति के अनुसार होता हैं। सरपंच तथा सहायक सरपंच के लिए यह आवश्यक है कि वे पंच हों।

पंच और सरपंच की आयु 30 वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए।

न्याय पंचायत का कार्यकाल—न्याय पंचायत का कार्यकाल 5 वर्ष का होता है। राज्य सरकार इस कार्यकाल में आवश्यकता पड़ने पर वृद्धि भी कर सकती है। न्याय पंचायत का कार्यकाल ग्राम पंचायत में कार्यकाल के साथ समाप्त होता है।

न्याय-पंचायत की बेंच : कार्य-प्रणाली—न्याय-पंचायत प्रत्येक झगड़े के निर्णय के लिए पाँच पंचों की एक बेंच नियुक्त करती है। इसमें विवाद से सम्बन्धित दोनों दलों (वादी तथा प्रतिवादी) की ग्राम सभाओं का एक-एक पंच अवश्य होना चाहिए। निर्णय पाँच पाँचों की राय से किया जाता है। यदि मतभेद की स्थिति पैदा हो जाती है तो निर्णय बहुमत से लिया जाता है। न्याय-पंचायत में पैरवी के लिए वकीलों की व्यवस्था नहीं है।

न्याय-पंचायत के अधिकार—न्याय-पंचायत के क्षेत्राधिकार को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है : दीवानी तथा फौजदारी।

दीवानी-संबंधी क्षेत्राधिकार—न्याय-पंचायत दीवानी (व्यावहारिक) मामलों में अधिक-से-अधिक 500 रुपये तक के मुकदमों का फैसला कर सकती है। मुकदमों को दायर करने की अवधि तीन वर्ष तक रखी गई है, किन्तु पशुओं आदि की हानि की अवधि केवल 6 माह है।[1]

न्याय-पंचायत चल सम्पत्ति के नुकसान के लिए पांच सौ रुपये तक का दावा कर सकती है, परन्तु वह अल्पवयस्क, पागल या किसी सरकारी कर्मचारी के विरुद्ध दावा नहीं कर सकती।

फौजदारी-संबंधी क्षेत्राधिकार—न्याय-पंचायत फौजदारी क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत मारपीट, 5 रुपये से कम मूल्य की चोरी, स्त्री की लज्जा-अपहरण का प्रयत्न, किसी मकान में अनधिकृत प्रवेश करना, न्याय-पंचायत के आदेशों की अवहेलना आदि अपराधों से सम्बन्धित मामलों की सुनवाई करती है। न्याय-पंचायत को फौजदारी मामलों में अधिक-से-अधिक 100 रु० जुर्माना करने का अधिकार है। न्याय-पंचायत को कैद की सजा देने का अधिकार नहीं है। न्याय-पंचायत अपनी अवमानना (मानहानि) के लिए 5 रु० तक जुर्माना कर सकती है।[2] यदि कोई व्यक्ति जुर्माना नहीं देता अथवा न्याय-पंचायत उसे वसूल नहीं कर पाती तो उसके कागजात परगनाधीश के पास भेज देती है। यदि न्याय-पंचायत को किसी व्यक्ति से शान्ति भंग का खतरा प्रतीत होता है तो वह उस व्यक्ति से 100 रुपये तक के मुचलके ले सकती है।

न्याय-पंचायत के निर्णयों के विरुद्ध अपील नहीं की जा सकती, न ही न्याय-पंचायत को अपने निर्णयों के विरुद्ध पुनर्विचार का अधिकार है। न्याय-पंचायत के निर्णयों के विरुद्ध पुनः-विचार (रिवीजन) का अधिकार दीवानी में मुंसिफ मैजिस्ट्रेट को है तथा फौजदारी मामलों में यह अधिकार परगनाधीश (एस० डी० ओ०) की अदालत को है।

पंचायत राज्य के कतिपय दोष

वास्तविक भारत गाँवों में बसता है। अतएव भारत के ग्रामीण अंचल में ग्राम पंचायतों की स्थापना कर प्राचीन भारत के एक गौरव-दीप को पुनः प्रज्ज्वलित करने का जो प्रयास किया है, वह स्तुत्य एवं प्रशंसनीय है। प्राचीन भारत में ग्राम-पंचायतों ने ग्रामों को आत्मनिर्भर बनाने में अत्यन्त महती भूमिका अदा की थी। महाभारत, रामायण, बौद्ध साहित्य तथा भारत में समय-समय पर आने वाले विदेशी यात्रियों ने प्राचीन भारत के इन 'लघु गणतंत्रों' (Little Republics) की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी। भारतीय जन-जीवन में पंचायतों की उपयोगिता और आवश्यकता को दृष्टि-पथ में रखते हुए जनतंत्र की इन आधारशिलाओं की स्थापना की गई। किन्तु हमें यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि भारत की जनतांत्रिक व्यवस्था के धरातल पर स्थापित इन स्वायत्तशासी संस्थाओं से जैसी आशा की गई थी, उसके अनुरूप वे कार्य नहीं कर सकी हैं।

पंचायतें अपने दायित्व का समुचित रूप से निर्वहन नहीं कर सकी हैं, इसके पीछे कई कारण रहे हैं। इन कारणों को संक्षेप हम अग्रलिखित रूप में रख सकते हैं—

---

1. यदि न्याय पंचायत के सम्मन भेजने पर कोई व्यक्ति उपस्थित न हो तो वह 25 रु० तक का जमानती वारंट जारी कर सकती है।

2. अशर्फीलाल बनाम राज्य नामक विवाद के निर्णय में उच्च न्यायालय ने स्पष्ट शब्दों में यह स्थापित किया है कि न्याय-पंचायत को न्यायिक प्रक्रिया की दृष्टि से न्यायालय का स्तर प्राप्त है और उसकी अवमानना करने वाला व्यक्ति न्यायालय की अवमानना करने वाला व्यक्ति माना जायगा।

1. प्रबुद्ध, सुशिक्षित, ईमानदार, कर्मठ और कर्तव्य-परायण नेतृत्व का अभाव।
2. जातिवाद और दलबंदी तथा पारस्परिक वैमनस्य की प्रधानता।
3. नागरिकों में अपेक्षित राजनैतिक चेतना का अभाव।
4. ग्रामीण अंचल में फैली हुई व्यापक अशिक्षा।
5. समाज में फैली विविध प्रकार की कुरीतियां।

उपसंहार

अपने इन विविध दोषों के कारण ग्राम पंचायतें अपने दायित्व का पूरी तरह निर्वहन नहीं कर सकी हैं। अतएव आवश्यकता है कि ग्राम पंचायतों को उनके दोषों से मुक्त करने का सक्रिय और प्रभावशाली प्रयास किया जाय। हमें यह न भूलना चाहिए कि अधिकांश भारत गांवों में बसता है। अतएव ग्रामों के विकास के लिए, देश में जनतंत्र की आधारशिलाओं को मजबूत बनाने के लिए ग्राम-स्तर की इन संस्थाओं को सशक्त, सक्रिय और निर्दोष होना परम आवश्यक है। अंत में हम पंचायत राज-व्यवस्था के एक प्रबल पक्ष-पोषक श्री बलवंत राय मेहता के शब्दों में कह सकते हैं कि "ग्रामीण भारत की जनता अशिक्षित भले ही हो, किन्तु वह एक महान् विरासत, एक महान् संस्कृति की उत्तराधिकारी है, वह यथासमय उठ खड़ी होगी।" अतएव यदि हमें पंचायत राज में विश्वास है, भारत की ग्रामीण जनता में विश्वास है तथा उनकी रचनात्मक क्षमता में विश्वास है तो इसमें कोई संदेह नहीं कि एक दिन सफलता उनका कण्ठहार बनेगी। आज पंचायत राज में भले ही अनेक शिथिलताएँ हों, परन्तु आने वाले कल का वह एक सशक्त पक्ष होगी, इसमें कोई संदेह नहीं।

लघु तथा अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—स्थानीय स्वशासन का क्या महत्व है?

उत्तर—(1) स्थानीय स्वशासन लोकतन्त्र की सर्वोत्तम पाठशाला है। (2) इससे नागरिकों में राजनैतिक चेतना का विकास होता है। (3) स्थानीय स्वशासन द्वारा स्थानीय समस्याओं के समाधान में अधिक सुविधा होती है। (4) लोकतंत्र के विकास में सहायता मिलती है।

प्रश्न 2—नगर महापालिका के मुख्य कार्य बताइये।

उत्तर—(1) सड़कों का निर्माण करना तथा उनको स्वच्छ रखने की व्यवस्था करना। (2) पानी और प्रकाश की व्यवस्था करना। (3) स्वास्थ्य-सम्बन्धी कार्यों को करना। (4) प्रारंभिक शिक्षा की व्यवस्था करना। (5) अपने क्षेत्र की जनता के कल्याण के अन्य कार्य करना।

प्रश्न 3—नगरपालिका के मुख्य कार्य बताइए?

उत्तर—(1) नगर की स्वच्छता और सफाई का प्रबन्ध। (2) संक्रामक या छूत के रोगों की रोकथाम। (3) नगरवासियों के पीने के लिए स्वच्छ पानी की व्यवस्था। (4) नगर में प्रकाश की व्यवस्था। (5) नगर में सड़कों का निर्माण और पुरानी सड़कों की मरम्मत।

अति लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—प्रदेश के कितने नगरों में महापालिका है?

उत्तर—आठ (कानपुर, वाराणसी, आगरा, इलाहाबाद, लखनऊ, मेरठ, बरेली और गोरखपुर)।

प्रश्न 2—नगरपालिका की आय के दो मुख्य साधन इए?

उत्तर—(1) भूमि-भवन कर (2) जलकर।

प्रश्न 3—ज़िला परिषद की दो मुख्य समितियों के नाम बताइये ?

उत्तर—(1) कार्यसमिति, (2) वित्त समिति, (3) शिक्षा-समिति, (4) सार्वजनिक निर्माण समिति, (5) जन स्वास्थ्य समिति।

प्रश्न 4—क्षेत्र समिति का मुख्य सरकारी पदाधिकारी कौन होता है ?

उत्तर—खण्ड विकास अधिकारी।

प्रश्न 5—क्षेत्र समिति का प्रधान कौन होता है ?

उत्तर—क्षेत्र समित का प्रधान एक अध्यक्ष होता है जिसका निर्वाचन क्षेत्र-समिति के सदस्यों द्वारा किया जाता है।

प्रश्न 6—गाँव सभा के दो मुख्य पदाधिकारियों के नाम बताइए।

उत्तर—(1) प्रधान तथा (2) उप प्रधान।

प्रश्न 7—न्याय पंचायत अधिक से अधिक कितनी धनराशि के दीवानी मुकदमों की सुनवाई कर सकती है ?

उत्तर—500 रुपये तक की।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. स्थायीय स्वशासन का क्या अर्थ है ? उसका क्या महत्व है ?
2. अपने राज्य की नगरपालिकाओं के संगठन तथा उनके कार्यों का वर्णन कीजिए। (उ० प्र०, 1974, 76, 82)
3. अपने राज्य की नगरपालिकाओं के संगठन तथा कार्यों का वर्णन कीजिए। राज्य सरकार का उसमें किस सीमा तक हस्तक्षेप होता है ? (उ० प्र०, 1980 87)
4. उत्तर प्रदेश में जिला-परिषदों का निर्माण कैसे होता है ? उसके कार्य क्या हैं ? (उ० प्र०, 1975, 78, 81, 83)
5. उत्तर प्रदेश में जिला-परिषद के गठन और उसके कर्तव्यों का वर्णन कीजिए। जनपद के स्थानीय स्वशासन में उसका क्या महत्व है ?
6. उत्तर प्रदेश में नगर महापलिकाओं के संगठन तथा कार्यों पर प्रकाश डालिए।
7. क्षेत्र-समिति किसे कहते हैं। क्षेत्र-समिति के संगठन और कार्यों पर प्रकाश डालिए।
8. ग्राम सभा के संगठन और कार्यों पर प्रकाश डालिए।
9. उत्तर प्रदेश की न्याय पंचायतों के संगठन और कार्यों पर प्रकाश डालिए। ग्रामीण जीवन में इनका क्या महत्व है ? (उ० प्र०, 1975, 77)
10. न्याय पंचायत किसे कहते हैं ? न्याय पंचायत का संगठन कैसे होता है ? उसके क्या अधिकार हैं ?
11. उत्तर प्रदेश में पंचायत राज्य के विषय में आप क्या जानते हैं ? पंचायत राज्य के क्या दोष हैं ? उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है ? (उ० प्र० 1991)

लघु प्रश्न

1. स्थानीय स्वशासन के महत्व पर प्रकाश डालिए।
2. स्थानीय स्वशासन के पाँच मुख्य कार्य बताइए।
3. नगर महापालिका के सदस्यों की योग्यताएँ बताइए।
4. नगरपालिका के पाँच मुख्य कार्य बताइए।
5. नगरपालिका पर सरकार कैसे नियंत्रण रखती है ?

"उन्नीसवीं शती के भारतीय पुनर्जागरण ने एक नए अध्याय का प्रारम्भ कर भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अग्रदूत का कार्य किया।"

अध्याय 24

सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन

● राजा राममोहन राय और ब्रह्मसमाज ● प्रार्थनासमाज ● स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज ● रामकृष्ण मिशन ● थियोसोफिकल सोसाइटी ● मुस्लिम समाज में सुधारवादी आन्दोलन ● सुधार-आन्दोलनों का प्रभाव

आमुख

अपने अतीत में भारत अपनी समृद्धि एवं सुविकसित गौरवशालिनी संस्कृति के लिए संसार में विश्रुत रहा है। अनेकता में एकता के सूत्र से आबद्ध प्राचीन भारत ने अपनी युगयात्रा में सभ्यता और संस्कृति के अनेक सुकुमार तत्वों के सृजन और विकास में स्तुत्य योग दिया था। युगधर्म के साथ समरसता, ग्रहणशीलता और प्रगति-पथ पर अनवरत बढ़ने का अदम्य उत्साह और लालसा प्राचीन भारतीय धर्म, समाज और संस्कृति की मौलिक विशेषताएँ रही हैं। किन्तु मध्ययुग और उसके बाद ब्रिटिश पराधीनता के प्रारम्भिक चरणों में प्राचीन भारत का गौरव-दीप लुप्त-सा होने लगा। प्राचीन भारतीयों की स्वस्थ जीवन-दृष्टि तथा स्वस्थ धार्मिक कर्तव्य-बोध का स्थान अन्ध-विश्वास, पाखण्ड, संकीर्णता, मानसिक दासता तथा जड़ता ने ले लिया। जैसा कि योगिराज अरविन्द ने लिखा है कि "आध्यात्मिक जीवन-शक्ति का ह्रास हो चुका था तथा जीवन के आनन्द एवं सृजन के आनंद का अन्त होता जा रहा था। पुरानी बौद्धिक प्रक्रिया का शीघ्रता से अन्त हो रहा था।" इसी प्रकार रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा है कि "अपने अस्तित्व के मूलभूत सत्य से विमुख हमारा देश परिस्थितियों की पतित दासता के गर्त में पड़ गया था।"

ऐसी स्थिति में भारतीय समाज में एक नई चेतना की, एक नए दृष्टि-बोध की, नव-जागरण की नितान्त आवश्यकता थी। पाश्चात्य शिक्षा तथा पश्चिम से सम्पर्क, उन्नीसवीं शती के वैज्ञानिक आविष्कार तथा ईसाई धर्म के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए प्रभाव ने इस जागरण के अंकुर तैयार किये। सौभाग्य से भारत के इतिहास-गगन पर इस समय कतिपय ऐसी विभूतियों का उदय हुआ जो इस नई चेतना के प्रसार के लिए सक्षम थीं। इन विभूतियों ने भारतीयों में नव-जागरण का, नये युग के निर्माण का सन्देश दिया। उनका यह सन्देश भारतीय पुनर्जागरण (रेनेसाँ) का आधार बना और 19वीं शती के सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन का सूत्रधार। इस आन्दोलन ने भारत के लुप्त गौरव को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया जिससे भारतीयों में एक नया आत्म-विश्वास जगा, नई चेतना उभरी। यह आत्म-विश्वास और नई चेतना राष्ट्रीय आन्दोलन तथा नवभारत के निर्माण में पूरी तरह सहायक हुए।

ब्रह्मसमाज के संस्थापक—राजा राममोहन राय
(1772-1833 ई०)

उन्नीसवीं शती के भारत में सामाजिक-धार्मिक क्षितिज पर जिन धर्म और समाज-सुधार आन्दोलनों का उद्भव और विकास हुआ, उनमें ब्रह्मसमाज का स्थान मुख्य है। ब्रह्म-समाज की स्थापना का श्रेय राजा राममोहन राय को है। राजमोहन राय न केवल धर्मसुधार आन्दोलन के प्रवर्तक थे, प्रत्युत वे भारतीय इतिहास में एक नवयुग के सन्देशवाहक थे।

राजा राममोहन राय : जीवन-वृत्त और कृतित्व—राजा राममोहन राय[1] का जन्म 22 मई, सन् 1772 ई० को बंगाल के हुगली जिले के राधानगर ग्राम में एक कुलीन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वे बचपन से ही बड़े मेधावी, कुशाग्रबुद्धि और प्रतिभा-सम्पन्न विद्यार्थी थे। प्रारम्भ में आपकी शिक्षा एक बंगाली विद्यालय में हुई। जब आप नौ वर्ष के हुए, तब आपको अरबी-फारसी के अध्ययन के लिए पटना भेजा गया। माता के अनुरोध पर उन्होंने वाराणसी जाकर चार वर्षों तक संस्कृत का अध्ययन किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने यूरोपीय भाषाओं का भी अच्छा अध्ययन किया। इस प्रकार उन्होंने बंगला, अरबी, फारसी, संस्कृत, अँग्रेजी यूनानी आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। इन विविध भाषाओं और उन भाषाओं के साहित्य के अध्ययन के साथ ही उन्होंने विविध धर्मों, यथा हिन्दू, इस्लाम और ईसाई धर्मों का भी अध्ययन किया। इस प्रकार वे विविध धर्मों और उनके साहित्य के एक चलते-फिरते जीवन्त ज्ञानकोश थे। विविध धर्मों का अध्ययन कर राजा राममहोन राय ने यह निष्कर्ष निकाला कि सब धर्मों में एक तात्विक एकता है। सभी धर्म जिस ईश्वर की उपासना पर बल देते हैं, वह एक है।

हिन्दू धर्म के धर्मग्रंथों, यथा वेदों तथा उपनिषदों आदि का अध्ययन कर उन्होंने यह स्थापित किया कि हिन्दू धर्म का सार एकेश्वरवाद है। हिन्दू समाज में प्रचलित अनेक कुप्रथाएँ और विकृत परम्पराएँ, यथा छुआछूत, बहु-विवाह, सती-प्रथा भ्रूण-हत्या, मूर्तिपूजा आदि का कोई धार्मिक आधार नहीं है, वे हिन्दुओं के अज्ञान के प्रतिफल हैं।

इस प्रकार राजा राममोहन राय मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, कर्मकाण्ड के कट्टर विरोधी थे। उनका कहना था कि सभी धर्मों का मूल उद्देश्य ईश्वर की एकता के रहस्य का उद्घाटन करना है, इसलिए लोगों को अपनी संकीर्णता दूर कर सनातन सत्य में विश्वास करना चाहिए।

राजा राममोहन राय एक धार्मिक विचारक ही नहीं, प्रत्युत एक सशक्त समाज-सुधारक थे। उन्होंने हिन्दू समाज में प्रचलित अनेक बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कर उनको दूर करने का सन्देश दिया। समाज-सुधार की दिशा में उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रयास सती-प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन था। उन्होंने शास्त्रों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया कि सती-प्रथा न तो धार्मिक दृष्टि से तर्कसंगत है और न मानवतावादी दृष्टि से उचित। राजा राममोहन राय के प्रयास से तत्कालीन अँग्रेज गवर्नर जनरल विलियम बैंटिक (1828-35 ई०) ने सती-प्रथा पर रोक लगा दी। सती-प्रथा के अतिरिक्त उन्होंने जाति-प्रथा को दूर कर समाज की अन्य कुरीतियों को भी दूर करने का सन्देश दिया। जाति-प्रथा के विषय में उनका कहना था कि जाति-प्रथा अमानवीय, अलोकतांत्रिक तथा राष्ट्र-विरोधी है। फलतः उन्होंने जाति-प्रथा के दोषों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया और जाति-प्रथा को दूर कर सामाजिक समता की स्थापना का सन्देश दिया। इसी प्रकार उन्होंने बाल-विवाह, बहु-विवाह आदि के विरुद्ध भी स्वर उठाए। राजा राममोहन राय हिन्दू-समाज में नारियों की समस्याओं से अवगत थे। अतएव नारियों की हीन दशा को दूर कर उन्हें उपयुक्त मर्यादा और आदर प्रदान करने का सन्देश दिया। वे स्त्रियों के अधिकारों के पक्षधर थे। उनका कहना था कि मर्यादाओं के अन्तर्गत

---

1. 'राय' की उपाधि इनके पितामह श्रीकृष्णचन्द्र बनर्जी को बंगाल के नवाब से मिली थी। तब से इनके परिवार के लोग 'राय' की उपाधि का प्रयोग करते रहे। इसी प्रकार सन् 1830 ई० में दिल्ली के नाममात्र के बादशाह अकबर-द्वितीय ने राममोहन राय को 'राजा' की उपाधि से विभूषित कर अपना प्रतिनिधि बनाकर इंग्लैण्ड के सम्राट् के पास लन्दन भेजा था।

नारियों को अपने अधिकारों का प्रयोग करना चाहिए।[1] राजा राममोहन राय के विचारों ने नारियों के नव-जागरण का मार्ग प्रशस्त किया। राजा राममोहन राय को भारतीय पत्रकारिता का अग्रदूत कहा जा सकता है। अपने विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने 'संवाद-कौमुदी' और 'मिशन उल अखबार' निकाला। राजा राममोहन राय अँग्रेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षा के हिमायती थे। उनका विश्वास था कि भारत की प्रगति के लिए आधुनिक शिक्षा नितान्त आवश्यक है। उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा पर आधारित कई विद्यालय स्थापित किए। राजा राममोहन राय स्वतन्त्रता के प्रबल पक्षपोषक थे। उनका कहना था कि स्वतन्त्रता मनुष्य का अमूल्य धन है। श्री विपिनचन्द्र पाल के शब्दों में "राजा सबसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारत को राजनैतिक स्वतन्त्रता का सन्देश दिया।"

इस प्रकार राजा राममोहन राय आधुनिक विचारों के सन्देवाहक और भारतीय पुनर्जागरण के प्रथम प्रवर्तक थे। स्वामी विवेकानन्द जी के शब्दों में "राजा राममोहन राय नवीन तथा पुनर्जागृत भारत के प्रथम व्यक्ति थे।" गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार "राजा राममोहन राय ने भारत में आधुनिक युग का सूत्रपात किया।" नेताजी श्री सुभाषचन्द्र बोस ने राजा राममोहन राय के योगदान पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "राजा राममोहन राय धार्मिक पुनरुत्थान के अग्रदूत थे।"

27 सितम्बर, 1833 ई० को राजा राममोहन राय की इंगलैण्ड में ब्रिस्टल नामक नगर में मृत्यु हो गयी। वहाँ उनकी समाधि पर आज भी ये शब्द अंकित हैं कि "इस समाधि के नीचे राजा राममोहन राय समाधिस्थ हैं जो ईश्वर की एकता में अटूट आस्था रखते थे तथा जिन्होंने अपना सारा जीवन जनसेवा में समर्पित कर दिया।"

ब्रह्मसमाज

राजा राममोहन राय का कार्यक्षेत्र शिक्षा और समाज तक ही सीमित न रहा। उन्होंने अपनी मान्यताओं के माध्यम से भारतीय समाज को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। इस दृष्टि से उन्होंने सन् 1928 ई० में ब्रह्मसमाज नामक एक धार्मिक संस्था और संगठन की स्थापना की। इस समाज का उद्देश्य हिन्दू धर्म को नई आवश्यकताओं और नए परिवेश के अनुरूप परिष्कृत करना था। श्री के० एम० पणिक्कर के शब्दों में "ब्रह्मसमाज की स्थापना से भारत में एक नई सभ्यता का उदय हुआ जिसमें पूर्व तथा पश्चिम की सभ्यता का मिश्रण था।"

इसी प्रकार श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में ब्रह्मसमाज के विषय में लिखा है कि "इस अभिनव ब्रह्मसमाज में हिन्दुत्व का एक रूप था। इसने मूर्तिपूजा का बहिष्कार किया, अवतारों को अस्वीकार किया और लोगों का ध्यान उस निराकार, निर्विकार ब्रह्म की ओर आकृष्ट किया जिसका निरूपण वेदान्त में हुआ है।"

ब्रह्मसमाज के मूल सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

1. ईश्वर एक है।
2. ईश्वर सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक एवं सर्वगुण-सम्पन्न है।
3. ईश्वर सर्वगुण-सम्पन्न है, किन्तु वह कभी भी कोई शरीर धारण नहीं करता।

---

1. नारियों के अधिकारों के समर्थन में उन्होंने दो मुख्य रचनाएँ लिखी थीं। ये रचनाएँ हैं : 1. On Modern Encroachments of the Ancient Rights of Females. 2. On the Rights of Hindus over Ancestral Property.

4. ईश्वर की प्रार्थना का अधिकार सभी जाति और वर्ग के लोगों को है। ईश्वर को पूजा के लिए मन्दिर, मस्जिद और बाहरी आडम्बर की कोई आवश्यकता नहीं है।
5. सच्चे हृदय से की गई प्रार्थना ईश्वर अवश्य सुनता है।
6. किसी भी धर्मग्रंथ को दैवी मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि कोई भी धर्मग्रंथ ऐसा नहीं है जिसमें त्रुटियाँ न हों।
7. मानसिक ज्योति और विशाल प्रकृति ही ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान-प्राप्ति के साधन हैं।
8. आत्मा अजर और अमर है।
9. प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है।
10. मोक्ष-प्राप्ति के लिए पाप का त्याग और पाप का प्रायश्चित आवश्यक है।
11. सभी धर्मों तथा धर्मग्रंथों के प्रति आदर की भावना रखनी चाहिए।

ब्रह्मसमाज का महत्व और योगदान—ब्रह्म समाज—जिसे 'एक ईश्वर-समाज' (One God Society) भी कहा जाता है—के महत्व के विषय में दो मत नहीं हो सकते। धार्मिक क्षेत्र में उसने अवतारवाद, मूर्तिपूजा, वाह्य आडम्बर आदि का खण्डन कर ईश्वर की एकता तथा उपासना की सरलता पर जोर देकर सब धर्मों के प्रति समान आदर (सर्वधर्म सम्भाव) की भावना पर जोर दिया।

ब्रह्म समाज

स्थापना वर्ष—1828 ई०

संस्थापक—राजा राममोहन राय

मूल सिद्धान्त

1. ईश्वर सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक है।
2. ईश्वर निराकार है।
3. सच्चे हृदय से की गई प्रार्थना ईश्वर अवश्य सुनता है।
4. मनुष्य को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है।
5. सभी धर्मों के प्रति आदर रखना चाहिए।

महत्व

1. अनेक सामाजिक कुरीतियों, यथा सती-प्रथा, छूआछूत, जाति-प्रथा आदि को दूर करने का सन्देश दिया।
2. अवतारवाद, वाह्य आडम्बर तथा मूर्तिपूजा का खण्डन किया।
3. ईश्वर की एकता तथा उपासना की सरलता पर जोर दिया।
4. आधुनिक शिक्षा पर जोर दिया।
5. स्वतन्त्रता और स्वाधीनता पर जोर दिया।

सामाजिक क्षेत्र में उसने हिन्दू समाज को अपनी कुरीतियों और कुप्रथाओं से मुक्त होने का सन्देश दिया। इस दृष्टि से उसने जाति-प्रथा, छुआछूत, अंध-विश्वास, रूढ़ि-वाद, भ्रूण-हत्या, सती-प्रथा तथा बाल-विवाह के विरुद्ध आन्दोलन चलाकर हिन्दू समाज को स्वस्थ रूप अपनाने का सन्देश दिया। शिक्षा के क्षेत्र में आधुनिक शिक्षा को अपना कर प्रगति-पथ पर बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया। राजनैतिक क्षेत्र में उसने स्वतन्त्रता के महत्व को बताकर स्वाधीनता के लिए अनुकूल वातावरण के सृजन में योग दिया। श्री डी० एस० शर्मा ने ब्रह्मसमाज के योग-दान पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "ब्रह्मसमाज ने हिन्दुत्व की तीन प्रकार से सेवा की। इसने सामाजिक सुधार-कार्य को लोकप्रिय बनाया, व्यक्तियों को ईसाई बनने से रोका और कट्टर-पंथी हिन्दुओं को स्वतः सुगठित होने का सन्देश दिया।" के० एस० पणिक्कर ने ब्रह्मसमाज के योगदान का मूल्यां-कन करते हुए लिखा है कि ',ब्रह्मसमाज ने समाज की बुराइयों को दूर कर उसे आधुनिक दृष्टिबोध अपनाने की प्रेरणा दी।" डॉ० ए० आर० देसाई ने ब्रह्मसमाज के योगदान पर विचार करते हुए लिखा है कि "ब्रह्मसमाज-आन्दोलन ने एक नए युग के प्रवर्तन का सन्देश दिया।" इसी प्रकार फर्कुहर ने लिखा है कि

"19वीं शताब्दी ने समस्त धार्मिक आन्दोलनों में ब्रह्मसमाज निश्चित रूप से सर्वाधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ।"

इस प्रकार ब्रह्मसमाज ने एक नए समाज, एक नई चेतना, एक नए युग के सृजन का एक ऐसा सन्देश दिया जिसने आधुनिक भारत के निर्माण का सर्वप्रथम मार्ग प्रस्तुत किया। इसीलिए ब्रह्मसमाज को आधुनिकता का अग्रदूत तथा उसके संस्थापक राजा राममोहन-राय को आधुनिकता का प्रथम सन्देशवाहक कहा जाता है।

ब्रह्मसमाज का विभाजन

राजा राममोहन राय की मृत्यु के उपरान्त ब्रह्मसमाज-आन्दोलन का नेतृत्व देवेन्द्रनाथ टैगोर के हाथ में आया। 1862 ई० में ब्रह्मसमाज में एक नई प्रतिभा का पदार्पण हुआ। यह नई प्रतिभा थी श्री केशवचन्द्र सेन। केशवचन्द सेन ईसाई धर्म से अधिक प्रभावित थे। उधर देवेन्द्रनाथ प्राचीन वैदिक धर्म से प्रभावित थे। फलतः कुछ बातों को लेकर टैगोर और सेन में मतभेद हो गया। इस मतभेद के फलस्वरूप ब्रह्मसमाज में दो वर्ग हो गए—"आदि ब्रह्मसमाज" और "दि ब्रह्मसमाज ऑफ इण्डिया।" इन दोनों समाजों में अन्तर था। एक वैदिक धर्म से प्रभावित था तो दूसरा ईसाई धर्म से. एक धार्मिक परिष्कार का पक्षपोषक था तो दूसरे का आग्रह समाज-सुधार की ओर था।

प्रार्थना-समाज

ब्रह्मसमाज-आन्दोलन की भाँति महाराष्ट्र में सन् 1867 ई० में एक नए समाज की स्थापना हुई। इस समाज का नाम था प्रार्थना-समाज। प्रार्थना-समाज के प्रवर्तक और समर्थकों में डॉ० आत्माराम पाण्डुरंग, आर० जी० भण्डारकर तथा महादेव गोविन्द रानाडे मुख्य थे।

प्रार्थना-समाज का मुख्य उद्देश्य जाति-पाँति के बन्धन को समाप्त करना एवं समता के सिद्धान्त के आधार पर सामाजिक कुप्रथाओं एवं कुरीतियों को सदा के लिए नष्ट करना था। प्रार्थना-समाज ने जाति-व्यवस्था का विरोध किया तथा अन्तर्राज्यीय विवाह, विधवा-विवाह तथा स्त्री-शिक्षा आदि पर जोर दिया। समाज में अस्पृश्य कहे जाने वाले लोगों तथा दलित लोगों के कल्याण के लिए प्रार्थना-समाज ने कई कल्याणकारी संस्थाओं की स्थापना की। उसके द्वारा स्थापित अनाथालय, विधवाश्रम तथा कन्या पाठशालाएँ आज भी उसके यश का गुणगान कर रहे हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज (1824-83 ई०)

स्वामी दयानन्द सरस्वती : व्यक्तित्व और कृतित्व

उन्नीसवीं शती के सशक्त सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन में स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824-83 ई०) तथा उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज का विशेष महत्व है। स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म सन् 1824 ई० में गुजरात के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके बाल्य-काल का नाम मूलशकर था। बाल्यकाल से ही उन्हें बाह्य आडम्बर तथा सामाजिक कुरीतियों से घृणा थी तथा प्राचीन भारत के धर्म और संस्कृति में अगाध श्रद्धा थी। थोड़े समय में ही उन्होंने प्राचीन भारत के धार्मिक वाङ्मय का शास्त्रीय अध्ययन समाप्त कर लिया। उनका दृढ़ विश्वास था कि वैदिक धर्म, सभ्यता तथा संस्कृति संसार में सर्वश्रेष्ठ है और विशुद्ध रूप से उनका पुनरुत्थान होने से ही भारत का कल्याण हो सकता है। अतएव उन्होंने "वेदों की ओर वापस चलो" (Back to the Vedas) का सन्देश दिया।

सन् 1874 ई० में उन्होंने 'सत्यार्थ-प्रकाश' नामक महान् ग्रंथ लिखा जिसमें उन्होंने अपनी मान्यताओं का प्रतिपादन किया। सन् 1875 ई० में उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की। आर्यसमाज के माध्यम से उन्होंने हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज में एक क्रांतिकारी आन्दोलन का सूत्रपात किया। कालान्तर में देश के कोने-कोने में आर्यसमाज की शाखाएँ स्थापित हो गई। स्वामी जी में भारत और भारतीय समाज के पुनरुद्धार के लिए अदम्य उत्साह, अपार साहस और अतुल संकल्प-शक्ति थी। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् और विचारक रोम्याँ रोलाँ के शब्दों में "दयानन्द इलियड या गीता के प्रधान नायक के समान थे। उनमें हरक्युलिस के समान अपूर्व शक्ति थी। शंकराचार्य के बाद इतनी महान् बुद्धि का दूसरा संत नहीं जन्मा।"

स्वामी जी ने अन्ध-विश्वास, मूर्तिपूजा, हिंसात्मक यज्ञ, मिथ्या कर्मकाण्ड, पाखण्ड आदि का विरोध किया। साथ ही उन्होंने सामाजिक बुराइयों को दूर करने का सन्देश दिया। इस प्रकार उन्होंने जाति-पाँति, ऊँच-नीच, छुआछूत आदि के भेदभाव को दूर करने का प्रयास किया। स्वामी जी ने बाल-विवाह का विरोध किया और विधवा-विवाह का समर्थन किया। विधवा-विवाह के विषय मे उनका कहना था कि "जब पुरुषों को पुनर्विवाह की आज्ञा है तो स्त्रियों को दूसरा विवाह करने से क्यों रोका जाय।" स्वामीजी नारियों के उत्थान के प्रबल समर्थक थे। इस दृष्टि से उन्होंने कन्या-शिक्षा के लिए पाठशालाओं की स्थापना की। स्वामीजी ने पाश्चात्य शिक्षा के कुप्रभाव को रोकने के लिए तथा वैदिक शिक्षा के प्रसार के लिए गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का प्रवर्तन किया। स्वामीजी ने शुद्धि-आन्दोलन चलाकर बलपूर्वक ईसाई या मुसलमान बनाए गए हिन्दुओं को हिन्दू धर्म में पुनः वापस लाने का प्रयास किया।

स्वामीजी केवल एक धर्म-सुधारक या समाज-सुधारक ही नहीं थे, वरन् वे एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ थे। वे भारत में अंग्रेजी राज्य के विरोधी थे। उन्होंने 'सत्यार्थ-प्रकाश' में लिखा है कि "विदेशी राज्य से, चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, स्वदेशी राज्य चाहे उसमें कितने ही दोष क्यों न हों, अच्छा होता है।" इस प्रकार दयानन्द भारतीयता के अमर गायक थे। श्रीमती एनी बेसेण्ट के अनुसार दयानन्द ने ही यह नारा बुलन्द किया कि 'भारत भारतीयों के लिए है।' स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रभावित महात्मा गांधी ने उनके विषय में अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए लिखा है कि "उस महान् गुरु दयानन्द को जिसकी दृष्टि ने भारत के आध्यात्मिक इतिहास में सत्य तथा एकता को देखा, मेरा अभिनन्दन। जिसके मानस ने भारतीय जीवन के समस्त अंगों को प्रदीप्त कर दिया, जिस गुरु का उद्देश्य भारत में अविद्या, आलस्य तथा प्राचीन ऐतिहासिक तत्व को अज्ञान से मुक्त कर सत्य तथा पवित्रता को जागृत करना था, उसे मेरा शतशः प्रणाम।"

आर्यसमाज की शिक्षाएँ

आर्यसमाज की दस मुख्य शिक्षाएँ या सिद्धान्त हैं। इन्हें हम इस प्रकार रख सकते हैं—

1. ईश्वर एक है। वह सच्चिदानन्द-रूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त और निर्विकार है। अतएव केवल उसी की उपासना की जानी चाहिए।
2. वेद समस्त सद्‌विद्याओं का ग्रंथ है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना समस्त आर्यों का परम धर्म है।
3. सत्य को ग्रहण करना और असत्य का परित्याग करना चाहिए।
4. समस्त कार्य धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य का विचार करके करना चाहिए।
5. प्रत्येक कार्य को उसके औचित्य और अनौचित्य पर विचार करके करना चाहिए।

6. सभी से प्रेमपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए।
7. अविद्या का अन्त और विद्या का विकास करना चाहिए।
8. प्रत्येक व्यक्ति को सर्वसाधारण की उन्नति में ही अपनी उन्नति देखनी चाहिए।
9. व्यक्तिगत मामलों में प्रत्येक व्यक्ति को आचरण की स्वतंत्रता होनी चाहिए, किन्तु सार्वजनिक हित के मामलों में लोक-कल्याण को सर्वोपरि महत्व देना चाहिए।
10. समाज का उद्देश्य मानव जाति की शारीरिक, आत्मिक तथा सामाजिक उन्नति का प्रयास होना चाहिए।

आर्य समाज का योगदान—भारतीय पुनर्जागरण के उस युग में आर्यसमाज का योगदान स्तुत्य रहा है। धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में नवजागरण के अंकुर उत्पन्न करने में आर्यसमाज ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। धार्मिक क्षेत्र में आर्यसमाज ने एकेश्वरवाद के सिद्धान्त की स्थापना की तथा हिन्दू धर्म को अनेक विकृतियों से मुक्त करने का सन्देश दिया। उसने हिन्दू जनता के मन में हिन्दू धर्म के प्रति पुनः निष्ठा जागृत की तथा हिन्दू धर्मावलम्बियों को अन्य धर्मों की शरण में जाने से बचाया। यही नहीं, आर्यसमाज ने हिन्दू धर्म के विशाल द्वार अन्य धर्मालम्बियों के लिए खोल दिए, वे द्वार जो शताब्दियों से बन्द पड़े थे।

> **आर्यसमाज**
> स्थापना-वर्ष—सन् 1875 ई०
> संस्थापक—स्वामी दयानन्द सरस्वती
> **मूल सिद्धान्त**
> 1. ईश्वर एक है। वह निराकार है।
> 2. वेद सद्विद्याओं का मूल ग्रंथ है।
> 3. मूर्तिपूजा और तीर्थयात्रा अन्धविश्वास पर आधारित हैं।
> 4. शुभ कार्यों से मोक्ष की प्राप्ति होती है।
>
> **योगदान : महत्व**
> 1. आर्यसमाज ने हिन्दू जनता के मन में हिन्दू धर्म के प्रति पुनः गौरव की भावना जागृत की।
> 2. अनेक सामाजिक बुराइयों, यथा छुआछूत, जाति-प्रथा, बाल-विवाह आदि को दूर करने का सन्देश दिया।
> 3. शिक्षा के प्रसार के लिए अनेक कार्य किए।
> 4. राष्ट्रीय भावना तथा राष्ट्रीय एकता का प्रसार किया।

सामाजिक क्षेत्र में आर्यसमाज ने मद्य-निषेध, छुआछूत, बाल-विवाह आदि का विरोध किया तथा स्त्री-पुरुषों की समानता एवं विधवा-विवाह का समर्थन किया। शिक्षा के क्षेत्र में गुरुकुलों और अनेक विद्यालयों की स्थापना कर उसने भारतीय विद्या का प्रसार किया। राजनीतिक क्षेत्र में आर्यसमाज ने 'भारत भारतीयों के लिए है' का अमृत-संदेश देकर राष्ट्रीय जागरण का मार्ग प्रशस्त किया। श्री ए० आर० देसाई ने आर्यसमाज के राष्ट्रीय क्षेत्र में योगदान पर विचार करते हुए लिखा है कि "अपनी आधारभूत राष्ट्रीय एवं जनतांत्रिक भावनाओं के प्रकाश में हिन्दुओं में राष्ट्रीय चेतना के प्रसार में आर्यसमाज ने जो योग दिया, वह स्तुत्य है।" आज भी आर्यसमाज एक सशक्त धार्मिक-सामाजिक संगठन के रूप में प्रभावशाली है।

रामकृष्ण मिशन : रामकृष्ण परमहंस (1836-86 ई०)

रामकृष्ण मिशन की स्थापना सन् 1896 ई० में स्वामी विवेकानन्द ने अपने पूज्य गुरु रामकृष्ण परमहंस की पुण्य स्मृति में की थी। रामकृष्ण परमहंस भारत की गौरवमयी संत-परम्परा के अत्यन्त ज्योतिमंत नक्षत्र रहे हैं। स्वामी रामकृष्ण जी का जन्म 18 फरवरी, सन् 1836 ई० में हुगली जिले के एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इनका बाल्यकाल का नाम

गंगाधर चटर्जी था। रामकृष्ण परमहंस कलकत्ता के निकट दक्षिणेश्वर के काली-मंदिर में माँ महाकाली की सेवा किया करते थे। आपने माँ महाकाली की सेवा और उपासना इतनी तन्मयता से की कि आपको उनकी कृपा प्राप्त हो गई। इस प्रकार आपने अपना सारा जीवन परमेश्वर के चरणों में समर्पित कर दिया। उन्होंने अपने आधार और विचार से लोगों को परम सत्य की ओर आकृष्ट किया। वे सीधी-सादी भाषा में अपने उपदेश दिया करते थे। फलतः शीघ्र ही उनके अनेक शिष्य हो गये।

रामकृष्ण परमहंस के धार्मिक विचार अत्यन्त उदार थे। उनका विश्वास था कि ईश्वर एक है। सभी देवी-देवता उसी ईश्वर के विभिन्न रूप हैं। अतएव किसी धर्म की निन्दा करना या उस पर आक्षेप करना उचित नहीं है। उनका कहना था कि "मतवाद या धर्म को लेकर वाद-विवाद मत करो। सब धर्म एक ही हैं। सारी नदियाँ समुद्र की ओर जाती हैं। तुम भी उसी ओर बहो तथा दूसरों को प्रवाहित होने दो।"

स्वामी रामकृष्ण परमहंस मानव-सेवा को अत्यन्त महत्व देते थे। उनका विचार था कि "किसी एक व्यक्ति की सहायता के लिए मुझे बारम्बर जन्म लेना पड़े, भले ही वह कुत्ते की योनि में क्यों न हो तो मुझे बार-बार जन्म लेने दो। मैं केवल एक व्यक्ति की सहायता के लिए ऐसे बीसों हजार शरीर का त्याग कर सकता हूँ। एक व्यक्ति की सहायता कर देना भी कितना गौरवपूर्ण है?" इस प्रकार परमेश्वर-चिंतन और मानव-सेवा करता हुआ यह महान् योगी 15 अगस्त, 1886 ई० में चिरसमाधि में लीन हो गया।

स्वामी विवेकानन्द (1863-1902 ई०)

स्वामी विवेकानन्द स्वामी रामकृष्ण परमहंस के परम प्रिय शिष्य थे। उनका जन्म 12 जनवरी, 1873 ई० में कलकत्ता में हुआ था। संन्यासी होने के पहले उनका नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। उनका शरीर सुगठित, स्वस्थ और सुन्दर था, उनका व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक और प्रभावशाली था। स्वामी रामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आने के बाद उनके जीवन में एक नये अध्याय की शुरुआत हुई। उन्होंने वेदान्त का गहन अध्ययन कर देश-विदेश में वेदान्त के प्रचार-प्रसार का बीड़ा उठाया। सन् 1893 ई० में उन्होंने अमेरिका के शिकागो नामक नगर में होने वाले सर्वधर्म-सम्मेलन में सम्मिलित हो भारत की गौरवमयी आध्यात्मिक उपलब्धि का शंखनाद किया। शिकागो-सम्मेलन में भाषण देते हुए उन्होंने यह जयघोष किया था कि "वेदान्त संसार का भव्य, व्यापक तथा सर्वश्रेष्ठ धर्म है।" उनका कहना था कि संसार के अन्य धर्म किसी न किसी व्यक्ति पर आधारित हैं जब कि वेदान्त सिद्धान्तों पर आधारित है। स्वामी के ज्ञान से प्रभावित हो एक अमेरिकी विद्वान् प्रोफ़ेसर राइट ने सर्वधर्म-सम्मेलन में स्वामी जी के सम्मिलित किए जाने की सिफारिश करते हुए अपने एक मित्र को लिखा था कि "स्वामी विवेकानन्द का एक व्यक्तित्व है कि यदि उनके ज्ञान की तुलना विश्वविद्यालय के समस्त प्रोफेसरों के ज्ञान को एकत्र करके की जाय, तब भी वह अधिक ज्ञानी सिद्ध होंगे।" सर्वधर्म-सम्मेलन में दिए गए स्वामी जी के ओजस्वी भाषण की अमेरिका के विविध समाचार-पत्रों में मुक्त कण्ठ से प्रशंसा छपी थी। इस प्रसंग में एक समाचार-पत्र 'द न्यूयार्क हेराल्ड' ने लिखा था कि "सर्वधर्म-सम्मेलन में विवेकानन्द की दिव्य मूर्ति सब पर छाई हुई थी। उनके प्रवचन सुनने के बाद हमें ऐसा प्रतीत होता है कि उन सरीखे विद्वान् के देश में ईसाई पादरी भेजना कितनी मूर्खता है।" शिकागो सम्मेलन के बाद पेरिस के धर्म-सम्मेलन में भी सम्मिलित होकर स्वामी विवेकानन्द ने अपने आध्यात्मिक ज्ञान से यूरोप के निवासियों को चमत्कृत कर दिया था। लोग घण्टों उनके भाषण को सुनने के लिए प्रतीक्षा करते रहते थे। विदेशों में अनेक लोग उनके शिष्य हो गए।

जहाँ विदेशियों को उन्होंने वेदान्त के सैद्धान्तिक पक्ष से परिचित कराया, वहाँ उन्होंने भारतीयों को व्यावहारिक वेदान्त की शिक्षा देकर उन्हें शक्तिशाली, कर्मठ और देशभक्त बनने का सन्देश दिया। उन्होंने भारतीयों को 'उत्तिष्ठ जागृत प्राप्य वरान्निबोधत्' (उठो, जागो और अपनी तन्द्रा तोड़ो) आन्दोलन का संदेश दिया। उनका कहना था कि "यदि विश्व में कोई पाप है तो वह है दुर्बलता। दुर्बलता को दूर करो, दुर्बलता पाप है, दुर्बलता मृत्यु है। हमारे देश में जिन वस्तुओं की आवश्यकता है, वे हैं लोहे के पुट्ठे, फौलाद की नाड़ियाँ और निश्चल-प्रबल मानसिक स्थिति।" इस प्रकार उनका विचार था कि "भारत का नवजवान इस्पात की तरह शक्तिशाली बने और अपने देश के लक्ष्य की प्राप्ति अपनी आत्मशक्ति और बाहुबल से करे। उन्होंने भारतीयों को पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता के अंधानुकरण से आगाह किया। इस प्रसंग में उनका कहना था कि "याद रखो, यदि तुम आध्यात्मिकता का परित्याग करके पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता के पीछे दौड़ोगे तो परिणाम यह होगा कि तीन पीढ़ियों में तुम्हारी जाति का विनाश हो जायगा, क्योंकि इससे राष्ट्र की रीढ़ टूट जायगी; वह आधारशिला जिस पर राष्ट्र का भव्य भवन टिका हुआ है, हिल उठेगा जिसका परिणाम सर्वनाश होगा।"

उन्होंने भारतीय नवयुवकों को भारत की कोटि-कोटि उपेक्षित मानवता की सेवा का संदेश दिया। उनका कहना था कि मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है—"न हि मनुषात श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्", अतएव मनुष्य को मानव की सेवा करनी चाहिए। उनके शब्दों में "प्रत्येक प्राणी एक मन्दिर है, किन्तु मनुष्य सर्वश्रेष्ठ मंदिर है। यदि आप प्रत्यक्ष मनुष्य की, जो ईश्वर का रूप है, पूजा नहीं कर सकते तो आप उस ईश्वर की कैसे पूजा कर सकते हैं जो अदृश्य है।" विवेकानन्द जी ने स्वयं अपना सारा जीवन लोक-कल्याण में लगा दिया। वे प्रायः कहा करते थे कि "मृत्यु के पश्चात् भी मैं संसार की भलाई करता रहूँगा। मेरी आत्मा को तब तक शांति नहीं मिलेगी जब तक कि मनुष्य और ईश्वर एक नहीं हो जाते।"

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने धर्म और संस्कृति के द्वारा भारतीयों को राष्ट्रीयता का अमृत-सन्देश दिया। इस प्रसंग में एक अवसर पर व्यक्त उनके शब्द प्रेरणादायक हैं: "ऐ वीर! साहस का आश्रय लो। गर्व से बोलो कि मैं भारत वासी हूँ, प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है, बोलो कि अज्ञानी भारतवासी, दरिद्र भारतवासी, ब्राह्मण भरतवासी, चण्डाल भारतवासी, सब मेरे भाई हैं। सब बोलो कि भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत के देव-देवियाँ मेरे ईश्वर हैं, भारत का समाज मेरी शिशु-सज्जा, मेरे यौवन का उपवन और मेरे वार्द्धक्य की वाराणसी है। भाई, बोलो कि भारत की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है।"

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द भारतीयता के अमर गायक थे—ऐसे गायक जिनके सुमधुर स्वर आज भी हमारी प्रेरणा और प्रकाश के सबल साधन हो सकते हैं। विवेकानन्द के विचारों और योगदान का मूल्यांकन करते हुए हंस मोहन ने लिखा है कि "स्वामी विवेकानन्द ने देश को आत्म-विश्वास, आत्म-शक्ति एवं स्वाभिमान की शिक्षा प्रदान की।" गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार, 'स्वामी विवेकानन्द भारत की आध्यात्ममूलक संस्कृति के महान् ज्ञाता थे। यदि कोई भारत को समझना चाहता है तो उसे विवेकानन्द को पहचानना चाहिए।" इसी प्रकार रामधारी सिंह 'दिनकर' ने लिखा है कि "विवेकानन्द वह सेतु हैं जो प्राचीन और अर्वाचीन भारत को जोड़ना है। विवेकानन्द वह सागर है जिसमें धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता तथा उपनिषद् और विज्ञान सबके सब समाहित हैं।"

रामकृष्ण मिशन

रामकृष्ण मिशन की स्थापना स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु श्री स्वामी रामकृष्ण

परमहंस की पावन स्मृति में सन् 1886 ई० में की थी। सर्वप्रथम कलकत्ते के निकट बेलूर में रामकृष्ण मिशन के पहले आश्रम की स्थापना हुई। इसके उपरान्त कालान्तर में सारे संसार में इसकी अनेक शाखाएँ फैल गईं जो आज भी मानव-सेवाकार्य में लगी हुई हैं।

रामकृष्ण मिशन के मुख्य सिद्धान्त—रामकृष्ण मिशन के मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

1. सभी धर्म अच्छे हैं। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को अपने-अपने धर्म में निष्ठा एवं श्रद्धा रखनी चाहिए।
2. ईश्वर निराकार, अजन्मा, अजेय एवं अमर है।
3. आत्मा परमात्मा का अंश है।
4. भारतीय संस्कृति अध्यात्ममूलक है, अतएव वह श्रेष्ठ है जब कि पाश्चात्य सभ्यता भौतिकवादी है।
5. मन की पवित्रता परम आवश्यक है।
6. साम्प्रदायिकता या भेदभाव की भावना श्रेयष्कर नहीं है।
7. मानव-सेवा ही ईश्वर-सेवा है।
8. स्वयं आत्मज्ञान प्राप्त कर दूसरों को आत्मज्ञान की प्राप्ति में सहायता देना परम धर्म है।
9. वेदान्त और उपनिषदों का अध्ययन श्रेयष्कर है।
10. मूर्तिपूजा ईश्वर की उपासना का प्रमुख साधन है।

थियोसोफिकल सोसाइटी

ब्रह्मसमाज, प्रार्थना-समाज तथा आर्यसमाज की स्थापना उत्तर भारत में हुई थीं। इन्हीं संस्थाओं के अनुरूप दक्षिण भारत में भी एक संस्था की स्थापना हुई। इस संस्था का नाम था "थियोसोफिकल सोसाइटी" (Theosophical Society)। इस संस्था की पहले स्थापना सन् 1857 ई० में श्रीमती ब्लैवट्स्की और कर्नल हेनरी स्टील आल्काट ने न्यूयार्क में की थी। सन् 1879 ई० में दोनों व्यक्ति भारत आए और सन् 1886 ई० में मद्रास के निकट अदयार नामक स्थान में थियोसोफिकल सोसाइटी की एक शाखा स्थापित की। आगे चलकर श्रीमती एनी बेसेण्ट के नेतृत्व में इस संस्था के विचारों का अच्छा प्रचार हुआ। श्रीमती एनी बेसेण्ट हिन्दू धर्म से बड़ी प्रभावित थीं। हिन्दू धर्म की मान्यताओं, विश्वासों तथा कर्मकाण्ड का प्रबल समर्थन करते हुए उन्होंने प्राचीन भारत के आदर्शों को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। उन्होंने अपनी ओजस्वी वाणी से हिन्दुओं को यह विश्वास दिलाया कि उनका धर्म, उनका दर्शन पाश्चात्य देशों के धर्म और दर्शन से श्रेष्ठ है। सर्वोदय ज्ञान की कुंजी उन्हीं के पास है, अतएव उन्हें अन्यथा देखने की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने भारत के राष्ट्रीय जागरण में स्तुत्य योग दिया। श्रीमती एनी बेसेण्ट को भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन की दीपशिखा कहा जाता था। उन्होंने अछूतों में शिक्षा-प्रसार के लिए विद्यालय खोले तथा बनारस में एक सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल की स्थापना की।

थियोसोफिकल सोसाइटी के सिद्धान्त—थियोसोफिकल सोसाइटी के मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार हैं—

1. ईश्वर एक है। वह अनन्त, असीम एवं सर्वव्यापक है।
2. ईश्वर हमारा आदि और अन्त है।
3. सभी धर्मों के सारभूत सिद्धान्त सत्य हैं। किन्तु हिन्दू तथा बौद्ध धर्म में पुरातन ज्ञान का अक्षय भण्डार छिपा पड़ा है।

4. आत्मा परमात्मा का अंश है तथा सभी आत्माएँ समान हैं।
5. जातिभेद व्यर्थ तथा अनुचित है, सभी व्यक्ति समान हैं। अतएव सबमें बन्धुत्व की भावना होनी चाहिए।
6. अंध-विश्वास तथा कुत्सित परम्पराओं का परित्याग करना चाहिए तथा इन पर आधारित परम्पराओं को समाप्त करना चाहिए।
7. मनुष्य को अपने विवेक के अनुसार कार्य करना चाहिए और अपने चरित्र-निर्माण का प्रयास करना चाहिए।

थियोसोफिकल सोसाइटी का योगदान—थियोसोफिकल सोसाइटी ने भारत के पुनर्जागरण में महत्त्वपूर्ण योग दिया। उसने हिन्दू-मस्तिष्क से धार्मिक हीनता की भावना को दूर करने का प्रयास किया। इस प्रकार भारतीयों के मन में इस संस्था ने अपनी सभ्यता, अपनी संस्कृति, अपने धर्म-दर्शन के गौरव-दीप को पुनः प्रदीप्त कर उन्हें पाश्चात्य सभ्यता के इन्द्रजाल से बचने में योग दिया। सर वेलेण्टाइन शिरोल ने थियोसोफी समाज के योगदान पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "थियोसोफी आन्दोलन ने हिन्दू जाति को एक नई दिशा प्रदान की तथा किसी ने भी हिन्दू धर्म की उतनी सेवा नहीं की जितनी एनी बेसेण्ट ने।"

राधास्वामी सत्संग

राधास्वामी सत्संग की स्थापना सन् 1861 ई० में श्री शिवदयाल स्वामी ने की थी। इन्हें राधास्वामी से ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुआ था, इसलिए यह सम्प्रदाय राधास्वामी सम्प्रदाय कहलाता है। आगरा में दयालबाग इस संस्था का प्रमुख केन्द्र है। इसकी एक अन्य शाखा पंजाब में व्यास में है। राधास्वामी सत्संग सम्प्रदाय ने छुआछूत, जाति-पाँति, मद्यपान तथा अन्य सामाजिक बुराइयों की निन्दा की और उससे लोगों को दूर रहने का संदेश दिया।

राधास्वामी सम्प्रदाय की मुख्य शिक्षाएँ इस प्रकार हैं—

1. ईश्वर, विश्व एवं जीवात्मा सत्य हैं।
2. गुरु पूज्य हैं, अतएव वही ईश्वर की प्राप्ति का साधन है।
3. जाति-पाँति का भेद अनुचित है।
4. गृहस्थ-जीवन में रहकर मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है।
5. 'राधास्वामी' शब्द का जाप मुक्ति का साधन है।

कुछ अन्य सुधारक और सुधार-आन्दोलन

उपर्युक्त सुधारक और सुधार-आन्दोलनों के अतिरिक्त कुछ अन्य सुधारक और सुधार-आन्दोलन भी हुए जिन्होंने भारतीय पुनर्जागरण में योग दिया। इन सुधारकों में बंगाल के प्रकाण्ड विद्वान् ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा अक्षयकुमार दत्त, महाराष्ट्र के गोपालहरी देशमुख तथा ज्योतिबा फुल्ले तथा गुजरात के कर्सोनदास मूलजी के नाम मुख्य हैं।

सन् 1849 ई० में महाराष्ट्र में परमहंस मण्डली नामक एक संस्था की स्थापना हुई जिसने जातिप्रथा को समाप्त करने के लिए आन्दोलन चलाया। बम्बई में दादाभाई नौरोजी ने पारसी धर्म के सुधार के लिए अभियान चलाया।

मुस्लिम धर्मसुधार-आन्दोलन

हिन्दुओं की भाँति मुसलमानों में भी सुधारवादी आन्दोलन का उदय हुआ। मुस्लिम

सुधारवादी आन्दोलन के मुख्यतया तीन रूप थे : (1) वहाबी आन्दोलन, (2) अलीगढ़ आन्दोलन और (3) अहमदिया आन्दोलन।

1. **वहाबी आन्दोलन**—वहाबी आन्दोलन का प्रवर्तन पहले अरब में हुआ था। उसी से प्रभावित होकर भारत में इस आन्दोलन का उदय हुआ। वहाबी आन्दोलन के भारत में प्रवर्तक सैयद अहमद बरेलवी (1786-1831 ई०) थे। सैयद अहमद बरेलवी ने स्वयं कुरान का सरल भाषा में अनुवाद किया और यह स्थापित किया कि कुरान की व्याख्या का अधिकार हर मुसलमान को है।

वहाबी आन्दोलन ने मुसलमानों में प्रचलित अनेक बुराइयों को दूर करने तथा मुसलमानों को एक होने का सन्देश दिया।

2. **अलीगढ़ आन्दोलन**—मुस्लिम सुधार का दूसरा प्रभावकारी आन्दोलन अलीगढ़ आन्दोलन था। अलीगढ़ आन्दोलन के प्रधान सूत्रधार सर सैयद अहमद खाँ थे। सर सैयद अहमद खाँ ने मुसलमानों को अंग्रेजी शिक्षा तथा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया। इस दृष्टि से उन्होंने सन् 1875 ई० में अलीगढ़ ओरिएण्टल कालेज की स्थापना की। आगे चलकर यह कालेज मुस्लिम विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ। सर सैयद खाँ का मुख्य उद्देश्य मुसलमानों में प्रचलित अशिक्षा, पर्दा-प्रथा तथा बहु-विवाह आदि को दूर करना था।

3. **अहमदिया आन्दोलन**—मुस्लिम समाज का तीसरा प्रभावशाली आन्दोलन अहमदिया आन्दोलन था। अहमदिया आन्दोलन के प्रवर्तक मिर्जा गुलाम अहमद (1839-1908 ई०) थे। उन्होंने कादियानी सम्प्रदाय की स्थापना की। उनका सब धर्मों की मौलिक एकता में विश्वास था। उन्होंने मुसलमानों को अन्ध विश्वासों और असहिष्णुता से ऊपर उठने का सन्देश दिया।

सामाजिक और धार्मिक सुधार-आन्दोलनों का प्रभाव : महत्व

सामाजिक और धार्मिक सुधार-आन्दोलन का भारतीय इतिहास में विशेष महत्व है। यूरोप के इतिहास में जो महत्व सांस्कृतिक पुनर्जागरण (रेनेसाँ) और धर्मसुधार-आन्दोलन का है, फ्रांस के इतिहास में जो महत्व बौद्धिक क्रान्ति का है, भारतीय इतिहास में वही महत्व सामाजिक तथा धार्मिक सुधार-आन्दोलन का है। डॉ० ईश्वरीप्रसाद के अनुसार, "उन्नीसवीं शताब्दी के बौद्धिक पुनर्जागरण ने आधुनिक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को महत्वपूर्ण योग दिया।" इसी प्रकार डॉ० जकरिया के अनुसार, "भारत का पुनर्जागरण मुख्यतः आध्यात्मिक था तथा एक राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वरूप ग्रहण करने के पहले इसने अनेक धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलन का सूत्रपात किया।"

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से सामाजिक तथा धार्मिक सुधार-आन्दोलन के प्रभाव को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. इन आन्दोलनों ने भारतीय समाज को अपनी विकृतियों और बुराइयों से मुक्त होने में योग दिया। एक स्वस्थ, सुगठित और जागृत समाज अपनी पराधीनता के कारणों को जानने और उनको दूर करने के लिए तैयार हो गया।

2. सुधार-आन्दोलनों ने भारतीयों में अपने धर्म, अपनी संस्कृति, अपने देश के प्रति श्रद्धा और गौरव की भावना जागृत की।

3. सुधार-आन्दोलनों ने भारतीयों में अपने प्राचीन गौरव के प्रति आस्था जागृत कर नई आशा का संचार किया।

4. सुधार-आन्दोलनों ने भारतीयों में आत्म-गौरव, आत्म-विश्वास तथा स्वाभिमान की भावना जागृत कर उन्हें विदेशी दासता से मुक्ति की प्रेरणा दी।

5. सुधार-आन्दोलनों ने धर्म और समाज-सुधार की भावनाओं के माध्यम से राष्ट्रीय आन्दोलन का अमृत-सन्देश दिया। उदाहरण के लिए भारत में पुनर्जागरण के अग्रदूत राजा राममोहन राय ने स्वतन्त्रता की महत्ता पर प्रकाश डालकर तथा यह कहकर कि 'एक दिन भारत निश्चित रूप से स्वतन्त्र होगा, राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए संकेत दिया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वतन्त्रता, स्वदेश-प्रेम तथा स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात किया। उनका कहना था कि भारत भारतीयों के लिए है। स्वामी विवेकानन्द ने सभी भारतीयों को एक सूत्र में पिरोकर उन्हें सशक्त होकर राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए अपनी भूमिका अदा करने को प्रेरणा दी। श्रीमती एनी बेसेण्ट ने स्पष्ट स्वरों में यह सन्देश दिया कि "स्वराज्य भारतीयों का अधिकार है, उन्हें उसे प्राप्त करना चाहिए, अंग्रेजों से वह उपहार के रूप में प्राप्त होने वाला उपादान नहीं है।"

इस प्रकार सामाजिक तथा धार्मिक सुधार-आन्दोलन ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए अनुकूल परिवेश तथा सशक्त भूमिका तैयार की।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. उन्नीसवीं शताब्दी के सामाजिक तथा धार्मिक सुधार-आन्दोलन का विवेचन कीजिए और बतलाइए कि इस आन्दोलन का क्या प्रभाव पड़ा? (उ० प्र०, 1982)

2. 'उन्नीसवीं शती के सुधार-आन्दोलनों ने राष्ट्रीय आन्दोलन की भूमिका का कार्य किया'—व्याख्या कीजिए। (उ० प्र०, 1980)

3. भारत में धार्मिक सुधार-आन्दोलनों का संक्षिप्त परिचय देते हुए भारत के राष्ट्रीय जीवन पर उनके प्रभाव की व्याख्या कीजिए। (उ० प्र०, 1988)

4. 19वीं शती में भारत में कौन-कौन से प्रमुख धर्म-सुधारक हुए? उनमें से किसी एक की सफलता का वर्णन कीजिए।

5. उन्नीसवीं शताब्दी में राजा राममोहन राय ने भारतीय राष्ट्रीय जागरण में क्या योग दिया?

6. स्वामी दयानन्द सरस्वती के विषय में आप क्या जानते हैं? उनके धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों का वर्णन कीजिए। (उ० प्र०, 1990)

7. स्वामी दयानन्द ने हिन्दू-समाज के पुनरुत्थान के लिए क्या किए? आर्यसमाज की मुख्य शिक्षाएँ तथा कार्यों के विषय में आप क्या जानते हैं?

8. निम्नलिखित पर संक्षिप्त में टिप्पणी लिखिए—

(i) ब्रह्मसमाज, (ii) आर्यसमाज, (iii) प्रार्थना-समाज, (iv) रामकृष्ण मिशन, (v) थियोसोफिकल सोसाइटी, (vi) मुस्लिम धर्मसुधार-आन्दोलन, (vii) राधास्वामी सत्संग, (vii) स्वामी विवेकानन्द।

लघु प्रश्न

1. ब्रह्मसमाज की मुख्य शिक्षाएँ क्या थीं?
2. ब्रह्मसमाज के योगदान पर प्रकाश डालिए।
3. प्रार्थना-समाज पर पाँच पंक्तियाँ लिखिए।

4. आर्यसमाज की मुख्य पाँच शिक्षाएँ बताइए।
5. स्वामी रामकृष्ण परमहंस के जीवन के विषय में संक्षेप में प्रकाश डालिए।
6. रामकृष्ण मिशन की पाँच शिक्षाएँ बताइए।
7. स्वामी विवेकानन्द के विषय में आप क्या जानते हैं ?
8. थियोसोफिकल सोसाइटी के पाँच मुख्य सिद्धान्त बताइए।
9. अलीगढ़ आन्दोलन पर पाँच पंक्तियाँ लिखिए।
10. सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन के मुख्य प्रभाव बताइए।

अति लघु प्रश्न

1. ब्रह्मसमाज की स्थापना किसने की ? (उ० प्र० 1988)
2. महाराष्ट्र समाज-सुधार का मुख्य कार्य किसने किया ?
3. आर्यसमाज की स्थापना किसने की ? (उ० प्र० 1991)
4. रामकृष्ण मिशन की स्थापना किसने की थी ?
5. थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना किसने की थी ?
6. राधास्वामी सम्प्रदाय की दो शिक्षाएँ बताइए।
7. सामाजिक-धार्मिक सुधार-आन्दोलन का महत्व एक वाक्य में लिखिए।

"भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन विश्व के राष्ट्रीय आन्दोलनों में एक गौरवपूर्ण स्थान रखता है।"

अध्याय 25·

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन

● राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख कारण ● राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख चरण ● राष्ट्रीय कांग्रेस और उदारवादी आन्दोलन ● उग्रवादी आन्दोलन ● गांधी-युग

आमुख

भारत का संवैधानिक इतिहास भारतीय जनता द्वारा ब्रिटिश दासता से मुक्ति का इतिहास है। मुक्ति की इस प्रक्रिया और प्रयास को राष्ट्रीय आन्दोलन कहा जाता है। 19वीं शती में एक ओर जहाँ भारत-भूमि पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद की विजय-पताका फहरा रही थी, वहाँ दूसरी ओर भारतीयों में इस साम्राज्यवाद के शिकंजे से मुक्ति की चेतना का विकास हो रहा था। विदेशी शासन से मुक्ति की इस चेतना के उदय का मूल कारण भारत की पराधीनता तथा उस पराधीनता से उत्पन्न विभिन्न समस्याएँ थीं। ये समस्याएँ दो परस्पर-विरोधी हितों और शक्तियों के संघर्ष से जन्मी थीं। इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य तत्व भी थे जिन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के अनुकूल वातावरण को जन्म दिया। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एक नहीं, अनेक कारणों का प्रतिफल था। जैसा कि डॉ० ए० आर० देसाई ने लिखा है कि "भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एक आधुनिक तथ्य है। यह उन अनेक सापेक्ष और निरपेक्ष शक्तियों और तत्वों की क्रियाओं एवं अन्तर्क्रियाओं का प्रतिफल था जो भारतीय समाज में ब्रिटिश शासन और विश्वव्यापी शक्तियों के कारण विकसित हुई थीं।"[1] भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के सम्यक् ज्ञान के लिए इन कारणों पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख कारणों को हम अग्रलिखित रूप में रख सकते हैं—

राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख कारण

1. राजनैतिक एकता
2. आवागमन तथा यातायात के उन्नत साधनों का विकास
3. अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार
4. सामाजिक तथा धार्मिक सुधार-आन्दोलन का प्रभाव
5. राष्ट्रीयता का संदेशवाहक भारतीय साहित्य
6. भारतीय समाचार-पत्रों का योगदान
7. भारतीयों की आर्थिक दुर्दशा
8. अंग्रेजों का जातीय अहंकार और भेदभाव का व्यवहार
9. सरकारी सेवाओं में भेदभाव
10. शिक्षित भारतीयों में असंतोष
11. लिटन की नीति
12. इल्बर्ट बिल
13. बुद्धिजीवियों में जागरण

1. राजनैतिक एकता—भारत विविधता में एकता का जीवंत उदाहरण रहा है। यहाँ एक ही भू-खण्ड पर विभिन्न भाषाओं, जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों और आचार-विचारों के लोग रहते रहे हैं। किन्तु भारतीय इतिहास में बहुत कम कालखण्ड ऐसे रहे हैं जबकि सारा भारत राजनैतिक दृष्टि से एक शासक के अधीन रहा हो। राजनैतिक एकता का यह अभाव भारत के पराभव और विदेशियों की विजय का प्रमुख कारण रहा है। भारत में अंग्रेजों के आगमन के समय मुगल शासन था। सन् 1707 ई० में औरंगजेब की मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के बाद राजनैतिक विघटन की एक तीव्र प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ। अंग्रेजों ने इस स्थिति का लाभ उठाया और भारत से व्यापार करने के लिए आये हुए अंग्रेज भारत के शासक और स्वामी बन बैठे।

पर भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना का एक स्पष्ट लाभ सामने आया, वह था भारत

1. Dr. A. R. Desai : Social Background of Indian Nationalism, p. 5.

की राजनैतिक एकता। अपनी सुविधा के लिए स्थापित शक्तिशाली केन्द्र, एक-सा प्रशासन, एक-सी विधियों तथा एक शासक की अधीनता ने सारे भारत को एक राजनैतिक सूत्र में पिरो दिया। फलतः कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तथा सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक भारत में एक राजनैतिक एकता का प्रादुर्भाव हुआ। यह राजनैतिक एकता-हमारे लिए वरदान-तुल्य सिद्ध हुई। इसने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रथम आधार प्रस्तुत किया। जैसा कि प्रो० पार्कर थून ने लिखा है कि "ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने एक-दूसरे वर्ग के तत्वावधान में भारत में एक राजनैतिक एकता उत्पन्न की, यद्यपि भारतीय समाज में अनेक विभिन्नताएँ विद्यमान थीं।" इस प्रकार पं० जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि "ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित भारत की राजनैतिक एकता सामान्य अधीनता की एकता थी, किन्तु उसने सामान्य राष्ट्रीयता को जन्म दिया।"

2. आवागमन तथा यातायात के उन्नत साधनों का विकास—अँग्रेजों ने अपनी राजनैतिक और आर्थिक सुविधा के लिए भारत में आवागमन तथा यातायत के उन्नत साधनों का विकास किया था। किन्तु ये साधन, यथा सुनियोजित जनपथ, रेल, बस, कार, डाक, तार, दूरभाष (टेलीफोन) आदि भारतीयों के परस्पर मिलन और सम्पर्क-स्थापन के सशक्त माध्यम सिद्ध हुए। इन साधनों की सहायता से राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रवर्तक और समर्थक एक-दूसरे के निकट आये जिससे जन-जागरण तथा राष्ट्रीय भावना के प्रसार में योग मिला। जैसा-कि डॉ० ए० आर० देसाई ने लिखा है कि "आवागमन तथा यातायात के उन्नत साधनों ने राष्ट्रीय आन्दोलन की सफलता में स्तुत्य योग दिया। इसके अभाव में राष्ट्रीय स्तर पर सांस्कृतिक तथा राजनैतिक एकता का कार्य पूरा नहीं हो सकता था।"

3. अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार—अँग्रेजों ने भारत में अपने स्वार्थ के लिए अँग्रेजी शिक्षा का प्रवर्तन किया था। उनका प्रमुख प्रयोजन अपने शासन में योग देने के लिए क्लर्कों या लिपिकों जैसे कर्मचारियों की सुलभता तथा अँग्रेज सभ्यता-समर्थक भारतीयों का ऐसा वर्ग खड़ा करना था जो जन्म से भारतीय हों, किन्तु स्वभाव, संस्कार और शिक्षा के द्वारा वे अँग्रेजी रंग में रँगे हों, अँग्रेजों के मानस-पुत्र हों। अँग्रेज शासक कुछ सीमा तक अपने इन दोनों प्रयोजनों में सफल हुए, किन्तु अँग्रेजी शिक्षा हमारे लिए प्रच्छन्न वरदान सिद्ध हुई। उससे हमें अनेक लाभ हुए। प्रथमतः, अँग्रेजी शिक्षा ने विभिन्न भाषाभाषी भारतीयों को पारस्परिक विचार-विनिमय का एक माध्यम प्रदान किया। दूसरे, अँग्रेजी भाषा ने देश की एकता में योग दिया। जैसा कि के० एम० पणिक्कर ने लिखा है कि "अँग्रेजी भाषा ने देश की एकता में योग दिया। इसके अभाव में भारत विभिन्न भाषाओं के कारण अनेक टुकड़ों में बँट गया होता……।" तीसरे अँग्रेजी शिक्षा का एक लाभ यह हुआ कि अँग्रेजी भाषा के माध्यम से भारतीयों को अँग्रेजी साहित्य तथा अँग्रेज एवं यूरोप के अन्य लोगों के विचारों का ज्ञान हुआ।

इस प्रकार शिक्षित भारतीयों ने इटली की राष्ट्रीयता के सन्देशवाहक कावूर और मैजिनी से संघर्ष की प्रेरणा ली, फ्रांसीसी क्रांति के बौद्धिक अग्रदूत वाल्तेयर, रूसो और दिदरो से क्रांति का सन्देश लिया, जे० एस० मिल, मैकाले, जॉन लॉक, थॉमस पेन, एडमण्ड बर्क तथा स्पेंसर से स्वतंत्रता की शिक्षा ली, वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स तथा मिल्टन के साहित्य-सरोवर का रसपान किया। यूरोप के सांस्कृतिक पुनर्जागरण तथा धर्मसुधार-आन्दोलन का अध्ययन किया। इटली के राष्ट्रीय आन्दोलन, फ्रांस की राज्य-क्रांति तथा अमेरिका के स्वाधीनता-संग्राम का अवलोकन किया। इस प्रकार जैसा कि दादाभाई नौरोजी ने लिखा है, "अँग्रेजी शिक्षा ने हमें एक नूतन प्रकाश दिया।" इसी प्रकार गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा है कि "हमें इंग्लैण्ड का परिचय उसके गौरवपूर्ण इतिहास से मिला। इससे हमारे नवयुवकों में एक नई स्फूर्ति और प्रेरणा का उदय हुआ। हमें क्रांति की दिशा में आगे बढ़ाने वाली महान् साहित्यिक परम्परा का ज्ञान

हुआ।" पाश्चात्य शिक्षा और साहित्य से प्राप्त इस ज्ञान के आलोक में भारतीय पराधीनता के अंधकार को दूर करने के लिए कटिबद्ध हो गए।

4. **सामाजिक तथा धार्मिक सुधार-आन्दोलन का प्रभाव**—भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने में 19वीं शती के धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन का भी महत्त्वपूर्ण योग था।

इस आन्दोलन के प्रवाह में स्थापित "ब्रह्मसमाज, प्रार्थना-समाज, रामकृष्ण मिशन तथा थियोसोफिकल सोसाइटी जैसी संस्थाओं की स्थापना हुई। इन संस्थाओं ने धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों के साथ स्वाधीनता तथा राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार किया। इसी प्रकार इन संस्थाओं से सम्बन्धित अनेक महापुरुषों ने भारतीयों को राष्ट्रीय जागृति का सन्देश दिया। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, श्रीमती एनी बेसेण्ट आदि विभूतियों ने जहाँ एक ओर भारत की आध्यात्मिक दीपशिखा को पुनः प्रदीप्त किया, भारत के गौरवशाली अतीत का परिचय कराकर उनमें आत्म-विश्वास और स्वाभिमान के अंकुर उत्पन्न किए, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने राष्ट्रीयता का अमृत-सन्देश दिया। जैसा कि फर्कुहर ने लिखा है कि "राष्ट्रीय भावना की प्रेरणा के अन्तर्गत सारा मानचित्र बदल गया। केवल धार्मिक ही नहीं, वरन् पूर्व की प्रत्येक बात को आध्यात्मिक एवं श्रेष्ठ बताकर गौरवान्वित किया गया, दूसरी ओर पश्चिम की प्रत्येक वस्तु को पतन की ओर ले जाने वाली तथा भौतिकवादी कहकर निन्दा की गई।"[1]

5. **राष्ट्रीयता का सन्देशवाहक भारतीय साहित्य**—अंग्रेजी शिक्षा और साहित्य से भारत में राष्ट्रीय चेतना का प्रवर्तन हुआ था। भारतीय साहित्यकारों ने भी इस दिशा में अपना योग दिया। भारत के पुनर्जागरण-युग में भारत के साहित्य-गगन पर अनेक राष्ट्रवादी प्रतिभाओं का उदय हुआ जिन्होंने राष्ट्रीयता का पावन सन्देश देकर भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का पथ-प्रदर्शन किया।

राष्ट्रीय साहित्य की प्रथम ज्योति-किरण सबसे पहले बंगाल में प्रस्फुटित हुई। इस दृष्टि से पहला नाम हेनरी विवियन डेरोजियो (Henry Vivian Derojio) का आता है। उन्हें आधुनिक भारत का प्रथम राष्ट्रवादी कवि कहा जा सकता है।[2] बंगाल के अन्य राष्ट्रवादी साहित्यकारों में दीनबन्धु मित्र, हेमचन्द्र बनर्जी, द्विजेन्द्रलाल राय, रवीन्द्रनाथ टैगोर, बंकिमचन्द्र चटर्जी, मधुसूदन दत्त, मनमोहन बोस, गिरीशचन्द्र तथा रंगलाल बनर्जी के नाम उल्लेख-

---

1. Farquhar : Modern Religious Movement in India, p. 430.

2. डेरोजियो एक एंग्लो-इण्डियन थे। उनका जन्म सन् 1809 ई० में बंगाल में हुआ था। डेरोजियो हिन्दू कालेज में कुछ वर्षों तक अध्यापक थे। उनकी प्रखर देशभक्ति का प्रभाव उनके विद्यार्थियों पर पड़ा। फलतः उनके नेतृत्व में निष्ठावान् देशभक्तों का एक वर्ग खड़ा हो गया। उनके अनुयायी इतिहास में 'यंग बंगाल' (Young Bengal) या 'डेरोजिन्स' (Derojians) के नाम से विश्रुत हैं। डेरोजियो की निम्नांकित पंक्तियाँ उनकी देशभक्ति की प्रबल भावना का संकेत देती हैं —

"Land of the Gods and lofty name;
Land of the fair and beauty's spell;
Land of the bards of mighty fame,
My native land ? for e'er faerwell ?"

नीय हैं। इन सबने अपनी देशभक्ति से ओतप्रोत रचनाओं के माध्यम से राष्ट्रीय भावना का प्रवर्तन किया। किन्तु इन सब रचनाकारों और रचनाओं में बंकिमचन्द्र तथा उनके 'आनन्द-मठ' का विशेष महत्व है। 'आनन्द-मठ' का क्रांति-दर्शन और उसका 'वन्दे मातरम्' जैसा गौरव-गीत बंगाल के क्रांतिकारियों का कंठहार बन गया।

बंगाल की भाँति अन्य प्रान्तों तथा अन्य भाषाओं में भी राष्ट्रभक्ति से युक्त रचनाओं का सृजन हुआ। उदाहरण के लिए असम के लक्ष्मीचन्द्र, मराठी के विष्णु शास्त्री चिपलूणकर, तमिल के सुब्रह्मण्यम् भारती, हिन्दी के भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और मुंशी प्रेमचन्द तथा उर्दू के अल्ताफ हुसेन कुछ ऐसे नाम हैं जिन्हें राष्ट्रवादी साहित्य के प्रारम्भिक सन्देशवाहक कहा जा सकता है।

6. **भारतीय समाचार-पत्रों का योगदान**—भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने में भारतीय समाचार-पत्रों का भी अपना योग रहा है। भारतीय समाचार-पत्र अँग्रेजी और भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होते थे। इनमें से कुछ अँग्रेजी समाचार-पत्र अवश्य अँग्रेजी के पक्षधर थे, किन्तु अधिकांश समाचार-पत्र राष्ट्रीयता के सन्देशवाहक थे। सन् 1870 ई० तक ब्रिटिश भारत में कुल 644 समाचार-पत्रों का प्रकाशन होने लगा था जिसमें से लगभग 400 विदेशी भाषाओं के थे।

राष्ट्रवादी समाचार-पत्रों में 'इण्डियन मिरर', 'बाम्बे समाचार', 'हिन्दू', 'पेट्रियाट', 'केशरी', 'अमृत बाजार पत्रिका', 'बंगाली', 'सोम प्रकाश', 'इन्दु प्रकाश', 'मराठा', 'स्वदेश' 'मित्रम्', तथा 'हेराल्ड' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

"भारतीय समाचार-पत्रों ने विभिन्न प्रान्तों की समस्याओं से भारतीय जनता को परिचित कराकर उनमें एक प्रकार के बन्धुत्व की भावना का विकास किया तथा लोगों के राजनैतिक शिक्षण में योग दिया।"

7. **भारतीयों की आर्थिक दुर्दशा**—अँग्रेजी भारत में व्यापार करने के लिए आए थे। राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने के बाद भी अँग्रेजों के व्यावसायिक दृष्टिकोण में अन्तर न आया। वस्तुतः उन्होंने राजनैतिक शक्ति का प्रयोग अपने आर्थिक हितों की रक्षा और विकास के लिए किया। उन्होंने भारत और भारतीयों का खुलकर शोषण किया। यहाँ कृषि, उद्योग-धन्धे सभी नष्ट हो गये। भारतीय जनता उत्तरोत्तर निर्धन होती गई। बेरोजगारी, भुखमरी, अन्य अनेक प्रकार की विपन्नताओं ने भारतीयों के जीवन को संकटमय बना दिया। करोड़ों भारतीय आधे पेट खाकर तथा अर्द्ध-नग्न रहकर अपना दिन काटने लगे। जैसा कि डॉ० ई० वाचा ने लिखा है कि "भारतीयों की आर्थिक अवस्था ब्रिटिश शासन-काल में अत्यन्त गिर गई। चार करोड़ भारतीयों को केवल एक बार खाना खाकर सन्तुष्ट रहना पड़ता था।" भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के एक प्रबुद्ध जननायक दादाभाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक "पावर्टी ऐण्ड ब्रिटिश रूल इन इण्डिया" में भारतीयों की भयंकर गरीबी की आर्थिक दुर्दशा पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि "भारतीयों की औसत आय बीस रुपये वार्षिक है और कुछ लोगों को तो इतना भी नहीं मिल पाता।" सोवियत रूस में साम्यवादी क्रांति के प्रवर्तक लेनिन ने भारतीयों की आर्थिक दुर्दशा पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि "भारत में अंग्रेजी राज्य के अत्याचार और लूट की कोई सीमा नहीं।"

इस प्रकार ब्रिटिश शासन ने भारत की अर्थ-व्यवस्था नष्ट कर दी। अभाव, असमानता, असन्तोष और अनाचार से क्षुब्ध भारतीय अपनी मुक्ति की राह देखने लगे। स्वाधीनता ही वह राह थी। इस प्रकार आर्थिक असन्तोष ने राष्ट्रीय आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त किया।

8. अंग्रेजों का जातीय अहंकार और भेदभाव का व्यवहार—अंग्रेजों का जातीय अहंकार और उनका भेदभाव का व्यवहार भी राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रवर्तन में सहायक हुआ। अंग्रेज भारतीयों को एक निम्न स्तर का प्राणी समझते थे। वे भारतीयों को "अर्द्ध-नीग्रो तथा अर्द्ध-गोरिल्ला" कहकर उनका मखौल उड़ाया करते थे। उनकी दृष्टि में भारत के लोग लकड़-हारे, चरवाहे, हल चलाने वाले तथा पानी भरने वालों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। भारत के ब्रिटिश सिपाही और चाय-बागान के मालिक भारतीयों को 'डार्की', 'निगर्स' तथा 'बाक्सवाला' (Darkies, Niggers and Box-wallas) कहते थे। चाय बागानों या नील के खेतों में काम करने वाले मजदूरों के साथ तो अँग्रेजों का व्यवहार अत्यन्त क्रूर और अमानवीय था। यही नहीं, शिक्षित, सम्भ्रान्त और उच्च पदों पर आसीन भारतीय भी अँग्रेजों द्वारा अपमानित किए जाते थे।[1] अँग्रेजों तथा यूरोप के अन्य लोगों के क्लबों, होटलों आदि में भारतीयों का प्रवेश वर्जित था। ऐसे स्थनों पर "केवल यूरोपियन लोगों के लिए" (Only for Europeans) लिखा रहता था। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए स्वत: एक अँग्रेज लेखक एच० डब्लू० नेविन्सन ने लिखा है कि "रेलवे, होटलों, क्लबों, बँगलों तथा सरकारी निवास-स्थानों में भारतीयों के साथ इतना अभद्र व्यवहार किया जाता था कि उस पर कोई इंग्लैण्डवासी आसानी से विश्वास नहीं करेगा।" इस प्रकार जैसा कि गैरेट ने लिखा है कि "भारतीय राष्ट्रीयता के उदय में जातीय दुर्भावना एक प्रमुख कारण थी।"

9. सरकारी सेवाओं में भेदभाव—अँग्रेजों द्वारा अपनाई गई भेदभाव की नीति सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं थी। शासन तथा सेना में समस्त उच्च पद अँग्रेजों को मिलते, थे भारतीयों के लिए उन्हें प्राप्त करना कठिन था। 'इण्डियन सिविल सर्विस' (I. C. S.) द्वारा शासन के उच्च पदों पर नियुक्तियाँ होती थीं। किन्तु पहले यह परीक्षा इंग्लैण्ड में होती थी, इसका माध्यम अँग्रेजी थी और इसमें प्रवेश की न्यूनतम आयु 21 वर्ष थी। अत: इस परीक्षा में भारतीयों को सफलता प्राप्त करना कठिन था। कभी-कभी प्रतिभाशाली और सम्पन्न परिवार का कोई नवयुवक इस परीक्षा में बैठकर सफलता भी प्राप्त कर लेता था, किन्तु उसकी सफलता निष्फल हो जाती थी क्योंकि उसे कोई न कोई कारण बताकर अयोग्य घोषित कर दिया जाता था।[2] सन् 1876 ई० में भारत मंत्री की एक घोषणा द्वारा परीक्षा में प्रवेश की आयु 21 वर्ष से घटाकर 19 वर्ष कर दी गई। ऐसी स्थिति में भारतीयों के लिए इस परीक्षा में सम्मिलित होना असम्भव हो गया। इसी प्रकार सरकारी नौकरियों में भी भेदभाव किया जाता था। फलत: अँग्रेजों की इस भेदभाव की नीति से प्रबुद्ध भारतीयों को बड़ा क्षोभ हुआ। कालान्तर में वे इस अन्याय का विरोध करने के लिए कटिबद्ध हो गये।

10. शिक्षित भारतीयों में असन्तोष—पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार से भारत में शिक्षित

---

1. ग्राहम ने अपनी पुस्तक "लाइफ ऑफ सर सैयद अहमद खाँ" में लिखा है कि प्रख्यात न्यायाधीश महमूद प्रधान न्यायाधीश टर्नर के साथ मद्रास क्लब गए तो क्लब के सदस्य ने कहा कि इसमें किसी भी 'नेटिव' (भारतीय) को आने कि अनुमति नहीं है और यह कहकर उनके मुँह पर फटाक से क्लब का दरवाजा बन्द कर दिया। इसी प्रकार ट्रेन में यात्रा करते समय न्यायाधीश रानाडे तथा चन्द्रावरकर जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति भी अपने से ब्रिटिश सिपाहियों द्वारा अपमानित हुए थे। इसी प्रकार प्रथम श्रेणी में यात्रा करते हुए एक देशी नरेश को एक अँग्रेज अधिकारी के जूतों के फीते उतारने पड़े थे तथा पैर दाबने पड़े थे।

2. उदाहरण के लिए श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने 1839 ई० में आई० सी० एस० की परीक्षा पास कर ली, किन्तु उन्हें कोई बहाना लगाकर अयोग्य घोषित कर दिया गया। इसी प्रकार का व्यवहार श्री अरविन्द घोष के साथ भी किया गया।

भारतीयों का एक विशाल वर्ग तैयार हो गया था। उन्हें पाश्चात्य जगत् के स्वाधीन देशों की समृद्धि और प्रगति का पूरा परिचय मिल चुका था। भारत की पराधीनता तथा पराधीनता से उत्पन्न कठिनाइयों ने उन्हें स्वाधीनता की प्रेरणा दी। इस प्रेरणा ने राष्ट्रीय आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त किया।

11. **लार्ड लिटन की प्रतिक्रियावादी नीति**—भारत के एक गवर्नर जनरल तथा वाइसराय लार्ड लिटन की प्रतिक्रियावादी नीति ने भी भारतीयों को राष्ट्रीय आन्दोलन की दिशा में आगे बढ़ाया। लार्ड लिटन के समय में दक्षिण भारत में भयंकर अकाल पड़ा। लार्ड लिटन ने अकाल-पीड़ितों की सहायता का कोई प्रबन्ध नहीं किया। इसके विपरीत उसने सन् 1877 ई० में दिल्ली में एक शानदार दरबार का आयोजन किया। भारतीय समाचार-पत्रों में लार्ड लिटन के इस कार्य की कटु आलोचना करते हुए कहा गया कि "जब रोम में आग लग रही थी, तब नीरो बाँसुरी बजा रहा था।"

इसी प्रकार "वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट" पास कर लार्ड लिटन ने भारतीय भाषाओं के समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता पर ताला लगाने का प्रयास किया। उसके इस कार्य का प्रबल विरोध हुआ। इसके विरोध में कलकत्ता में एक विशाल सभा का आयोजन हुआ। इस ऐक्ट को 'गैगिंग ऐक्ट' या 'गलाघोंटू कानून' कहकर निन्दा की गई। इसी प्रकार सन् 1878 ई० में शस्त्र अधिनियम (Arms Act) स्वीकार किया गया। इस कानून के अनुसार, यूरोपियन लोगों को स्वतन्त्रतापूर्वक शस्त्र रखने की अनुमति दी गई, किन्तु भारतीयों के लिए लाइसेंस लेना आवश्यक कर दिया गया। इसी बीच लार्ड लिटन ने अफगानिस्तान पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध का एक उद्देश्य अफगानिस्तान पर रूसी प्रभाव को रोकना था। इस युद्ध का भार भारत पर पड़ा। एक साम्राज्यवादी देश की साम्राज्य-लिप्सा की पूर्ति के लिए भारतीय साधनों का प्रयोग कितना अनुचित था ? इसी प्रकार इसी समय लंकाशायर के मिल-मालिकों को प्रसन्न करने के लिए कपास पर से आयात-कर उठा लिया गया। इससे भारत में कपास के किसानों तथा व्यापारियों में बड़ा असंतोष फैला। इस प्रकार लार्ड लिटन के समय में प्रतिक्रियावादी कार्यों ने यह सिद्ध कर दिया कि ब्रिटिश शासन से मुक्ति पाना आवश्यक है।

12. **इलबर्ट बिल-विवाद**—पराधीन भारत में यूरोपियन लोगों के मुकदमों की सुनवाई यूरोपियन न्यायाधीशों के सामने होती थी। भारतीय न्यायाधीशों को यूरोपियन लोगों के मुकदमे सुनने का अधिकार नहीं दिया गया था। परन्तु भारतीयों के अनुरोध पर सन् 1883 ई० में लार्ड रिपन की कार्यकारिणी परिषद के विधि-सदस्य सर सी० पी० इलबर्ट ने विधान-परिषद के सामने भारतीय न्यायाधीशों को यूरोपियन न्यायाधीशों के विवाद सुनने का अधिकार देने के लिए एक विधेयक पेश किया। परन्तु अंग्रेजों ने इस विधेयक का तीव्र विरोध किया जिसके फलस्वरूप विधेयक को वापस ले लिया गया जिससे भारतीयों को विश्वास हो गया कि अन्याय और असमानता पर आधारित ब्रिटिश शासन के रहते हुए भारतीय अपने कल्याण की बात नहीं सोच सकते।

बुद्धिजीवियों में जागरण—इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त होते-होते देश में राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए अनुकूल वातावरण बन गया था। सौभाग्य से इस समय देश में प्रबुद्ध देशभक्त, त्यागी और कर्मठ जननायकों का उदय हुआ। इन सबके समन्वित प्रयास से भारत अपनी स्वाधीनता के संघर्ष-पथ पर बढ़ चला।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन
(Indian National Movement)

विश्व के स्वाधीनता-संग्रामों में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का अपना महत्व है। यह

पहला आन्दोलन था जिसने एशिया में पहली बार ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह का स्वर उठाया था। यह पहला आन्दोलन था जिसमें देश के प्रत्येक भाग तथा प्रत्येक वर्ग ने अपना योगदान दिया। यह पहला आन्दोलन था जिसने मुख्यतया अहिंसात्मक साधनों के माध्यम से ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्ति पाई थी। यह पहला आन्दोलन था जिसकी सफलता ने विश्व के सबसे बड़े जनतंत्र का प्रवर्तन किया। हमारा संवैधानिक विकास, हमारी जनतांत्रिक संस्थाएँ तथा हमारी संवैधानिक व्यवस्था इसी आन्दोलन के प्रतिफल हैं। अतएव भारत की संवैधानिक व्यवस्था के अध्ययन के प्रसंग में अपने राष्ट्रीय आन्दोलन की युगयात्रा का अवलोकन आवश्यक है।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का काल-विभाजन

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन ने अपनी युगयात्रा में अनेक मोड़ लिये थे। इन परिवर्तनों के प्रकाश में हम भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास को प्रधानतया निम्नलिखित तीन काल-खंडों में रख सकते हैं—

राष्ट्रीय आन्दोलन का काल-विभाजन

- प्रथम काल : उदारवादी युग (सन् 1885 से 1907 ई० तक)
- द्वितीय काल : उग्रवादी युग (सन् 1907 से 1919 ई० तक)
- तृतीय काल : गांधी-युग (सन् 1920 से 1947 ई० तक)

प्रथम काल : उदारवादी युग
(1885 से 1907 ई०)

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रवर्तन प्रधानतया सन् 1885 ई० से माना जाता है। यह वह वर्ष था जबकि 28 दिसम्बर (1885 ई०) को 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस) की स्थापना हुई। इसी राष्ट्रीय कांग्रेस के तत्वाधान में राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। कांग्रेस की स्थापना का श्रेय भारतीय लोकसेवा के एक अवकाश-प्राप्त पदाधिकारी[1] श्री एलेन आक्टोवियन ह्यूम (A. O. Hume) को दिया जाता है। उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को एक पत्र लिखकर भारत के मानसिक, सामाजिक एवं राजनीतिक अभ्युदय के लिए प्रेरित किया। उन्हीं के प्रयास से देश भर के प्रबुद्ध विचारकों तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं का एक सम्मेलन बम्बई में बुलाया गया। इस सम्मेलन ने 28 दिसम्बर, 1885 ई० को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (इंडियन नेशनल कांग्रेस) को जन्म दिया। इसके प्रथम

1. वैसे इसके पूर्व भी भारतीयों को राष्ट्रीय हित के लिए संगठित करने के प्रयास किए गए थे। उदाहरण के लिए सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने सन् 1876 ई० में इंडियन एसोसिएशन नामक एक संस्था की स्थापना की थी। उन्होंने 1883 ई० में कलकत्ता में इस एसोसिएशन का राष्ट्रीय सम्मेलन आमंत्रित किया था। सन् 1884 ई० में पुनः मद्रास में इसका एक प्रादेशिक सम्मेलन हुआ। इसमें दिनशा वाचा, तेलंग, बदरुद्दीन तैयबजी तथा फिरोजशाह मेहता जैसे लोकनायक पहली बार एक मंच पर एकत्र हुए थे।

अधिवेशन में देश के विभिन्न भागों से आये हुए 72 प्रतिनिधियों ने भाग लिया था। श्री उमेश चन्द्र बनर्जी (U. C. Banerji) ने इस अधिवेशन का सभापतित्व किया।

कांग्रेस के अधिवेशन में कांग्रेस के जो उद्देश्य बताइए गये थे, वे इस प्रकार थे—

1. साम्राज्य के विभिन्न भागों में देशहित के लिए काम करने वालों में घनिष्ठता और मित्रता बढ़ाना।
2. राष्ट्रीय एकता की भावना का पोषण और परिवर्द्धन।
3. महत्वपूर्ण सामाजिक प्रश्नों के विषय में शिक्षित भारतीयों के विचारों की जानकारी तथा उनकी अभिव्यक्ति।
4. उस प्रणाली और उन दिशाओं का निर्धारण जिनके द्वारा भारत के राजनैतिक देशहित के लिए कार्य किया जा सके।

कांग्रेस के उद्देश्यों की घोषणा के अतिरिक्त प्रथम अधिवेशन में कुछ प्रस्ताव पारित किये गये थे। ये प्रस्ताव इस प्रकार थे—

1. भारतीय प्रशासन की जाँच के लिए 'रायल कमीशन' नियुक्त किया जाय।
2. भारत सचिव का पद और इंडिया कौंसिल भंग कर दी जाय।
3. व्यवस्थापिका में मनोनीत सदस्यों के स्थान पर निर्वाचित सदस्य हों और उन्हें प्रश्न पूछने का अधिकार दिया जाय।
4. भारत और इंगलैण्ड दोनों स्थानों में इण्डियन सिविल सर्विस की परीक्षा एकसाथ हो तथा परीक्षार्थियों के प्रदेश की आयु में वृद्धि की जाय।

राष्ट्रीय आन्दोलन के उदारवादी युग की कार्य-विधा और उपलब्धियाँ—राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रथम युग इतिहास में 'उदारवादी युग' के नाम से विश्रुत है। उदारवादी इसलिए कि इस युग के आन्दोलन से जुड़े लोगों का दृष्टिकोण और कार्य-विधा उदारवादी थी। दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता, महादेव गोविन्द रानाडे, गोपालकृष्ण गोखले और पं० मदनमोहन मालवीय प्रमुख उदारवादी नेता थे।

उदारवादियों के नेतृत्व में कांग्रेस वैधानिक ढंग से अँग्रेजी शासन के अन्तर्गत भारतवासियों के लिए अधिकाधिक अधिकारों की माँग करती रही। इसके लिए वह समय-समय पर आवेदन-पत्र भेजती थी, ज्ञापन देती थी, प्रस्ताव पास करती थी और भारत सरकार तथा इंगलैंड की सरकार एवं ब्रिटिश जनता के समक्ष प्रतिनिधि-मण्डल भेजती थी।

इस प्रकार उदारवादियों की कार्य-पद्धति 'प्रार्थना-पत्र, याचना तथा प्रतिनिधि-मण्डल' (Prayer, Petition and Deputation) तक सीमित थी।

उदारवादी नेताओं को अँग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास था और इस विश्वास के कारण वे अँग्रेजों के प्रति वफादार बने रहना उचित समझते थे। उदाहरण के लिए कांग्रेस के बारहवें अधिवेशन के अध्यक्ष रहीमतुल्ला सयानी ने अधिवेशन में कहा था कि 'अंग्रेजों से बढ़कर चरित्रवान् तथा सच्ची जाति इस सूर्य के प्रकाश के नीचे कहीं नहीं बसती।' इसी प्रकार दादाभाई नौरोजी ने कहा था कि 'हमें पुरुषों की तरह बोलना चाहिए और यह घोषणा करनी चाहिए कि हम अँग्रेजों के प्रति हृदय से वफादार हैं; हम उन लाभों से पूरी तरह परिचित हैं जो हमें अँग्रेजी राज से मिले हैं।' ऐसे ही स्वर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने व्यक्त किए थे। उन्होंने कहा था कि 'हमें अटूट निष्ठा से अँग्रेजों की सेवा करनी चाहिए, तभी कांग्रेस मिशन को पूरा कर पायेगी।' इसी प्रकार कांग्रेस के तृतीय अधिवेशन में टी० माधवराव ने कहा था कि 'कांग्रेस ब्रिटिश शासन का यश-शिखर है और ब्रिटिश जाति का कीर्ति-मुकुट है।'

इस प्रकार ये अंग्रेजों के प्रति अपनी भक्ति और वफदारी दिखाकर अंग्रेजों से सुधारों की माँग करते रहे। इन्होंने वैधानिक साधनों के माध्यम से अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास किया। क्रान्तिकारी साधनों का आश्रय लेना श्रेयस्कर नहीं समझा। कांग्रेस की माँगों के परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने 1897 ई० का अधिनियम बनाया था। इसके अनुसार व्यवस्थापिका सभाओं की सदस्य-संख्या में वृद्धि की गई थी, अप्रत्यक्ष निर्वाचन का प्रावधान किया गया था तथा सदस्यों को प्रश्न पूछने और वाद-विवाद का अधिकार प्रदान किया गया था। किन्तु ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस की सामाजिक तथा आर्थिक माँगों की उपेक्षा की थी। वस्तुतः उदारवादी युग में कांग्रेस कोई विशेष उपलब्धि प्राप्त करने में असफल रही। किन्तु इस युग में कांग्रेस को एक लाभ अवश्य हुआ, वह यह कि कांग्रेस एक स्थायी राष्ट्रीय संस्था बनने में सक्षम हो गई। डॉ० पट्टाभि सीतारमैया ने उदारवादी राष्ट्रवादियों के कार्यों का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि "प्रारम्भिक राष्ट्रवादियों ने ही आधुनिक स्वतंत्रता की इमारत की नींव डाली। उनके ही प्रयत्नों से इस नींव पर एक-एक मंजिल करके इमारत उठती गई।" इसी प्रकार गुरुमुख निहाल सिंह ने लिखा है कि "यद्यपि उस समय की कांग्रेस राजभक्ति प्रदर्शित करती थी, उसकी भाषा निवेदनात्मक ही नहीं, प्रत्युत याचनापूर्ण थी, फिर भी उसने उस युग में भारत-वासियों में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने, उन्हें एक सूत्र में बाँधने और उनमें राष्ट्रीय एवं राजनैतिक जागृति फैलाने में महत्वपूर्ण मौलिक कार्य किया।"

द्वितीय काल : उग्रवादी युग

(सन् 1907 से 1919 ई०)

उग्रवाद का उद्भव—पं० जवाहरलाल नेहरू ने एक स्थल पर कहा था कि "राष्ट्रीय आन्दोलन हर जगह उदार रूप से प्रारम्भ होते हैं तथा अन्ततः अधिक उग्र हो जाते हैं।" भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रसंग में ये शब्द अक्षरशः सत्य हैं। भारतीय आन्दोलन एक उदारवादी राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में प्रारम्भ हुआ था, किन्तु बाद में वह उग्र हो गया। आन्दोलन के उग्रवादी होने के कई कारण थे—

1. उग्रवादी आन्दोलन का प्रमुख कारण उदारवादी जननायकों द्वारा अपनाए गये वैधानिक और शान्तिपूर्ण साधनों की असफलता थी। फलतः भारतीय नवयुवकों के हृदय में उदारवादी साधनों से विश्वास उठ गया।

2. ब्रिटिश शासकों ने इस बीच भारत में जिस नीति का अनुगमन किया, वह अत्यन्त उपेक्षापूर्ण, दमनकारी और प्रतिक्रियावादी थी।

3. इस समय इटली-इथोपिया युद्ध (1796 ई०) तथा जापान-रूस युद्ध (1905 ई०) जैसी घटनाएँ घटीं। इन युद्धों में रूस और इटली जैसे यूरोपीय राज्यों की गैर-यूरोपीय राज्यों द्वारा पराजय हुई थी। इन युद्धों ने यूरोपीय राज्यों की अपराजेयता या अजेयता के 'मिथ' को समाप्त कर दिया।

4. इस समय के गवर्नर लार्ड कर्जन ने कुछ ऐसे कार्य किये जिनसे भारतीयों में अत्यन्त गहरा असंतोष फैल गया। कलकत्ता कार्पोरेशन ऐक्ट, भारतीय विश्वविद्यालय ऐक्ट तथा बंग-भंग योजना ऐसे ही कार्य थे।

5. भारत के राजनीतिक क्षितिज पर इस समय कुछ अधिक उग्र, कर्मठ और तेजस्वी जननायकों का उदय हुआ जिन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नई दिशा दी।

उग्रवादी आन्दोलन का विकास—उग्रवादी आन्दोलन की प्रथम अभिव्यक्ति महाराष्ट्र

में हुई जहाँ बाल गंगाधर तिलक ने आन्दोलन का शंखनाद किया। तिलक ने 'केसरी' तथा 'मराठा' नामक दो साप्ताहिक पत्रों के प्रकाशन द्वारा स्वाधीनता के पक्ष में जनमत तैयार करने का प्रयास किया। उन्होंने युवकों को धार्मिक भावनाओं के माध्यम से संगठित करने का प्रयास किया। इस दृष्टि से 'गणपति उत्सव' तथा 'शिवाजी समारोह' का प्रवर्तन कर नवयुवकों को देशसेवा के लिए प्रोत्साहित किया। 1897 ई० में तिलक को राजद्रोह के अपराध में बन्दी बना लिया गया और अठारह मास का कठोर कारावास दिया गया। 1908 ई० में उन्हें पुनः गिरफ्तार किया और माण्डले जेल भेजकर छह वर्ष के लिए देश से निर्वासित कर दिया गया।

उग्रवादी आन्दोलन का दूसरा प्रमुख केन्द्र बंगाल था। बंगाल में हिन्दू-मुस्लिम एकता को नष्ट करने के लिए बंग-भंग योजना प्रस्तुत की गई। भीषण विरोध के होते हुए भी लार्ड कर्जन ने 19 जुलाई, 1905 ई० को बंग-भंग योजना प्रकाशित कर दी। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के शब्दों में 'यह घोषणा एक बम के गोले की भाँति गिरी। हमें ऐसा लगा कि हम अपमानित, उपेक्षित और प्रवंचित किए गये हैं।' 16 अक्टूबर विभाजन-दिवस था। बंगाली जनता के लिए वह शोक-दिवस बन गया। लोगों ने दिन भर अनशन किया, गंगा-स्नान किया और 'वन्दे मातरम्' के गगन-भेदी उद्घोष के साथ एक-दूसरे के हाथों में राखी बाँधकर समस्त बंगाल की एकता बनाये रखने का दृढ़ संकल्प किया। बंगाल के उग्रवादी आन्दोलन[1] का नेतृत्व श्री विपिन-चन्द्र पाल, अरविन्द घोष और उनके भाई वारिन्द्र घोष तथा भूपेन्द्रनाथ दत्त (स्वामी विवेका-नन्द के भाई) जैसे नेताओं द्वारा हुआ।

उग्रवाद और कांग्रेस—जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि प्रारम्भ में कांग्रेस पर उदारवादी विचारधारा के नेताओं का वर्चस्व एवं प्रभाव था। किन्तु कांग्रेस से सम्बन्धित तीन ऐसे नेता थे जो अंग्रेजों के प्रति उग्रवादी नीति को अपनाने के पक्ष में थे। ये तीन नेता थे : लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय तथा श्री विपिनचन्द्र पाल। इतिहास में यह त्रिमूर्ति बाल, पाल, लाल के नाम से विश्रुत है। तिलक का कहना था कि 'स्वराज्य मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूँगा।' लाला लाजपत राय का कहना था कि उदार-वादियों की 'भिखमंगेपन की नीति' (Policy of Mendiceancy) से कोई लाभ नहीं निकल सकता।' विपिनचन्द्र पाल का कहना था कि 'स्वतंत्रता हमें उपहार के रूप में नहीं मिलेगी, उसे हमें अपने प्रयत्नों से प्राप्त करना होगा।'

सूरत-विच्छेद, उग्र दल का कांग्रेस से त्याग—कांग्रेस के उदारवादी और उग्रवादी नेताओं में परस्पर तनाव का होना स्वाभाविक था। कांग्रेस के बनारस तथा कलकत्ता अधिवेशन में यह तनाव उभर कर सामने आ चुका था। सन् 1907 ई० में सूरत में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। उदारवादी नेता गोखले तथ उग्रवादी नेता लोकमान्य तिलक के अनुयायियों में खुलकर

---

1. उग्रवादी आन्दोलन ने कालान्तर में आतंकवादी आन्दोलन का रूप ले लिया तथा देश के कुछ अन्य भागों में फैल गया। आतंकवादी मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए सर पर कफन बाँधकर अपने प्राणों की आहुति देने के लिए कृत-संकल्प थे। अतएव वे हिंसात्मक साधनों के माध्यम से देश को स्वाधीन करना चाहते थे। महाराष्ट्र, बंगाल, उत्तर प्रदेश और पंजाब आदि आतंकवादी आन्दोलन के प्रधान कार्यक्षेत्र थे। स्थानाभाव के कारण भारत तथा भारत के बाहर कार्यरत इन क्रांति-पुत्रों की कीर्तिगाथा पर यहाँ प्रकाश डालना सम्भव नहीं है। हम यहाँ इतना ही कहेंगे कि :

शहीदों की मजारों पर लगेंगे हर बरस मेले,
वतन पर मरने वालों का यहीं नामो निशां होगा।

वाद-विवाद हुआ जिसके परिणामस्वरूप उग्रवादी नेता कांग्रेस से अलग हो गये। भारत के राजनैतिक इतिहास में यह यह घटना सूरत-विच्छेद के नाम से विश्रुत है।

सूरत-विच्छेद के बाद कांग्रेस अपने नरमदलीय कार्यक्रम का अनुसरण करती रही और उग्र पक्ष समाचार-पत्रों द्वारा अपनी नीति का प्रचार करता रहा। फल यह हुआ कि सन् 1908 ई० के 'न्यूजपेपर्स ऐक्ट' के अंतर्गत सरकार ने 'केसरी' के सम्पादक लोकमान्य तिलक के विरुद्ध अभियोग और उन पर एक हजार रुपये जुर्माना कर 6 वर्ष के लिए उन्हें देश-निर्वासित किया गया। इस समाचार का पता लगते ही बम्बई के बाजार बंद हो गए, स्कूल और कालेज खाली हो गये, कारखानों में हड़तालें हुईं और देश में एक असंतोष और क्षोभ का वातावरण बन गया। ऐसे वातावरण में मार्ले मिण्टो-सुधार (1909 ई०) भारतीय जनता के सामने आया। सुधारों के पीछे सरकार का उद्देश्य भारतीयों के असंतोष को समाप्त करना था।

नरम दल और उग्र दल का पुर्नमिलन—जून 1914 ई० में लोकमान्य तिलक का निर्वासन समाप्त हुआ और उन्होंने फिर भारतीय राजनीति में पदार्पण किया। प्रथम महायुद्ध आरम्भ होने पर तिलक ने अंग्रेजों का साथ देने का विचार व्यक्त किया। बहुत से देशभक्त दोनों दलों में ऐक्य स्थापित करने के लिए उत्सुक थे। तिलक की घोषणा से उन्हें बड़ी सहायता मिली। श्रीमती एनी बेसेण्ट ने इस दिशा में विशेष प्रयत्न किया और सन् 1915 ई० में दोनों दलों में समझौता हो गया। सन् 1916 ई० के अधिवेशन में लोकमान्य तिलक और उनके समर्थकों ने पूरी तरह से भाग लिया।

प्रथम महायुद्ध के उद्देश्यों की प्रक्रिया—सन् 1914 ई० में यूरोपीय महायुद्ध आरम्भ होने पर अँग्रेजों और उसके साथी राष्ट्रों ने युद्ध के उद्देश्य घोषित किये। कहा गया कि यह युद्ध स्वतंत्रता, जनतंत्र और नागरिक अधिकार की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा रहा है। अँग्रेजों ने युद्ध के के पश्चात् भारतीयों को शासनाधिकार देने का आश्वासन भी दिया था। इन आशाओं से प्रोत्साहित होकर कांग्रेस ने अँग्रेजों के विरुद्ध अपना आन्दोलन स्थगित कर दिया। महात्मा गांधी ने देश को तन-मन-धन से अँग्रेजों की सहायता करने की सलाह दी।

होमरूल आन्दोलन—युद्ध आरम्भ होने पर लार्ड हार्डिंज ने भारतीय राजनीतिज्ञों से सहयोग की अपील की और राजनीतिक नेताओं ने प्रत्युत्तर में आन्दोलन स्थगित कर दिया। परन्तु जब युद्ध के शीघ्र समाप्त होने के लक्षण दिखाई नहीं दिये, तो राजनीतिक क्षेत्रों में अधैर्य बढ़ा और सुधारों के लिए आन्दोलन होने लगा। इस आन्दोलन के लिए कांग्रेस तो आगे नहीं बढ़ी, परन्तु सन् 1916 ई० में लोकमान्य तिलक ने बम्बई प्रान्त में और श्रीमती एनी बेसेण्ट ने मद्रास प्रान्त में होमरूल (स्वराज्य) लीग की स्थापना की। लोकमान्य तिलक ने अपने पत्र 'केसरी' तथा 'मराठा' की सहायता से बम्बई में होमरूल लीग की स्थापना के लिए आधार तैयार कर लिया था। इसी प्रकार मद्रास में श्रीमती बेसेण्ट ने अपने 'कामनवील' और 'न्यू इण्डिया' नामक पत्रों की सहायता से उपर्युक्त वातावरण बना दिया था। मद्रास और बम्बई से इस स्वराज्य आन्दोलन का इतना प्रबल प्रचार हुआ कि सरकार घबरा गई। मद्रास के गवर्नर लार्ड पेण्टलैंड की आज्ञा से श्रीमती बेसेण्ट और उनके दो सहयोगी—बी० पी० वादिया और जी० एस० एरण्डेल को नजरबन्द कर लिया गया। तिलक की जमानत की माँग रद्द कर दी गई। श्रीमती बेसेण्ट की नजरबन्दी के बाद स्वराज्य-आन्दोलन और भी ज्यादा जोर पकड़ गया। इन्हीं दिनों मि० माण्टेग्यू भारत मन्त्री नियुक्त हुए और उनकी 20 अगस्त, 1913 ई० की ऐतिहासिक घोषणा का स्वराज्य-आन्दोलन पर भी प्रभाव पड़ा। श्रीमती बेसेण्ट और उनके सहयोगियों को मुक्त कर दिया गया था। होमरूल लीग संगठन ने भारतीय आकांक्षाओं के सम्बन्ध में भारत और इंगलैंड में जनमत जागृत करने की ओर ध्यान दिया।

रौलेट ऐक्ट का विरोध—भारत में क्रान्तिकारी आन्दोलन के दमन के लिए ब्रिटिश सरकार ने सर सिडली रौलेट की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी की रिपोर्ट के आधार पर दो कानून बनाए जिनका उद्देश्य सरकार द्वारा लोगों को मनमाने ढंग से जेल में डाल देना था। पं० मोतीलाल नेहरू के शब्दों में "इन कानूनों के आगे न वकील, न अपील और न दलील कोई काम न कर सकती थी।" अतएव इन काले कानूनों के विरोध का संकल्प किया गया। 24 फरवरी, 1919 ई० को गांधी ने यह घोषणा की कि वे 'रौलेट ऐक्ट' के विरोध में सत्याग्रह करेंगे।

6 अप्रैल, 1919 ई० को सत्याग्रह-आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय किया गया। हजारों देशभक्तों ने सत्याग्रह की प्रतीक्षा कर अँग्रेजी सत्ता के विरुद्ध अहिंसात्मक आन्दोलन प्रारम्भ किया। चारों ओर उत्साह और आत्मोत्सर्ग की भावना व्याप्त हो गई। परन्तु कहीं-कहीं इस उत्साह ने लोभ से मिश्रित होकर हिंसा का रूप धारण कर लिया। वास्तव में इतने तीव्र असन्तोष के होते हुए इस देशव्यापी आन्दोलन को पूर्णरूपेण अहिंसात्मक रखना असंभव था। परिणामस्वरूप दिल्ली, पंजाब, अहमदाबाद आदि स्थानों पर भयंकर हिंसात्मक विद्रोह हो गये। अँग्रेजों ने इन दुर्घटनाओं से लाभ उठाया और जनता का बर्बरतापूर्वक दमन करना आरम्भ कर दिया। नौकरशाही की निर्मम पाशविकता जागकर नग्न नृत्य करने लगी।

जलियाँवाला काण्ड—अमृतसर में इस दमन ने अत्यन्त भयानक रूप धारण किया। अँग्रेजों की दमन-नीति का शान्तिपूर्ण ढंग से विरोध करने के लिए अमृतसर के निवासी 13 अप्रैल, 1919 ई० को संध्या-काल जलियाँवाला बाग में एकत्र हुए। जनरल ओडायर को जब इस सभा की सूचना मिली तो उसने सशस्त्र सैनिकों से सारे बाग को घेर लिया और बिना चेतावनी दिए निर्ममतापूर्वक गोली चलाना प्रारम्भ कर दिया। बाग में एक ही फाटक था और उसे सैनिक घेरे हुए थे। परिणाम यह हुआ कि लोग वहाँ से भाग भी न सके। तब तक बराबर गोली चलती रही जब तक कि कारतूस समाप्त न हुए। इस बर्बर हत्या का समाचार बिजली की भाँति सारे देश में फैल गया। स्थिति का सामना करने के लिए सारे पंजाब में सैनिक शासन घोषित कर दिया गया।

परन्तु भारतीय जनता अँग्रेजी दमन से भयभीत न हुई। अँग्रेजी शासन के विरुद्ध युद्ध करने का उनका निश्चय दृढ़तर हो गया। चारों ओर घोर असन्तोष फैल गया। अमृतसर के हत्याकांड के विरोध में कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी 'सर' की उपाधि त्याग दी। सरकार इस चतुर्दिक् अशान्ति से भयभीत हो गई। जवाहरलाल नेहरू के अनुसार 'जलियाँवाला बाग काण्ड ने राष्ट्रीयता की एक नई दीपशिखा प्रज्ज्वलित कर दी।'

उग्र क्रान्तिकारी (आतंकवादी) आन्दोलन

उग्र क्रांतिकारी आन्दोलन, जिसे कुछ इतिहासकारों ने आतंकवादी आन्दोलन की संज्ञा दी है, भारतीय नवयुवकों का वह आन्दोलन था जिसका उद्देश्य उग्र क्रांतिकारी साधनों को अपना कर अँग्रेजों के दमनकारी शासन से मुक्ति पाना था। इस आन्दोलन का उदय बंगाल में हुआ था। वहाँ अरविन्द घोष के अनुज वीरेन्द्रकुमार घोष तथा स्वामी विवेकानन्द के अनुज भूपेन्द्रदत्त इस आन्दोलन के प्रमुख सूत्राधार थे। शीघ्र ही उग्र क्रांतिकारी आन्दोलन भारत के अन्य भागों में फैल गया।

आतंकवादियों के कार्यक्रम के मुख्य पक्ष इस प्रकार थे : (i) विभिन्न साधनों द्वारा जनता में आतंकवाद का प्रचार करना तथा अँग्रेजी शासन के प्रति घृणा उत्पन्न करना, (ii)

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रथम चरण : उदारवादी आन्दोलन

[1885-1907 ई०]

प्रमुख उदारवादी नेता	उदारवादी आन्दोलन की विशेषताएँ	उदारवादियों की मुख्य माँगें	उदारवादी आन्दोलन की कार्य-पद्धति	मूल्यांकन
1. दादाभाई नौरोजी 2. गोपालकृष्ण गोखले 3 सर फिरोजशाह मेहता 4. सुरेन्द्रनाथ बनर्जी 5. बदरुद्दीन तैयबजी 6. रासबिहारी घोष 7. मदनमोहन मालवीय	1. उदारवादी आन्दोलन भारत के बुद्धजीवियों का आन्दोलन था। 2. उदारवादी आन्दोलन के नेता ब्रिटिश शासन के प्रशंसक और समर्थक थे। 3. उदारवादी नेताओं को अंग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास था। 4. उदारवादी नेता भारत और ब्रिटेन के पारस्परिक सम्बन्ध को बनाए रखना चाहते थे। 5. उदारवादी नेता ब्रिटिश शासन की छत्रछाया में रहकर भारत की समस्याओं का समाधान करना चाहते थे।	1. व्यस्थापिका सभाओं का विस्तार हो। 2. केन्द्रीय और प्रांतीय सभाओं में भारतीय प्रतिनिधियों की संख्या में वृद्धि हो। 3. राजकीय सेवाओं का भारतीयकरण हो। 4 भारतीयों को उच्च पदों पर नियुक्त किया जाय। 5. शस्त्र-कानून में सुधार हो। 6. औद्योगिक शिक्षा का प्रसार हो। 7. भारतीयों की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं का समाधान हो। 8. न्यायालयों में जूरी-प्रथा का प्रचलन हो। 9. भारत मत्री की कौंसिल और प्रिवी कौंसिल में भारतीयों को स्थान दिया जाय।	1 हिंसा और संघर्ष के विरोधी थे। 2. संवैधानिक साधनों द्वारा अपनी माँगों की पूर्ति में विश्वास करते थे। 3. प्रार्थना-पत्र, स्मृति-पत्र और प्रतिनिधि-मण्डल भेजकर अपनी माँगें मनवाना चाहते थे।	1. उदारवादी आन्दोलन की आलोचना की गई है। 2. आलोचकों के अनुसार उदारवादी नीति भिक्षावृत्ति पर आधारित थी। 3. उदारवादी अपने उद्देश्य में विशेष सफल नहीं हुए, किंतु उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन की एक स्वस्थ पृष्ठभूमि तैयार करने में सफलता प्राप्त की।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का दूसरा चरण : उग्रवादी आन्दोलन

[1907-1919 ई०]

प्रमुख उग्रवादी नेता	उग्रवादी आन्दोलन के मुख्य कारण	उग्रवादी आन्दोलन की कुछ विशेषताएं	उग्रवादी आन्दोलन की कार्य-पद्धति	उग्रवादी आन्दोलन का मूल्यांकन
1. लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक 2. विपिनचन्द्र पाल 3. लाला लाजपत राय	1. ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति। 2. कांग्रेस की मांगों की उपेक्षा। 3. प्राकृतिक प्रकोप, यथा अकाल, महामारी आदि से उत्पन्न कठिनाइयों के कारण जनता में असन्तोष। 4. भारतीयों की आर्थिक दुर्दशा। 5. भारतीयों के साथ विदेशों में अभद्र व्यवहार। 6. धार्मिक तथा सामाजिक जागृति। 7. विदेशों की प्रेरक घटनाएँ, यथा एशिया के जापान द्वारा रूस का पराजित होना। 8. संवैधानिक साधनों में अविश्वास। 9. लार्ड कर्जन की भारत-विरोधी नीति।	1. उग्रवादी प्राचीन हिन्दू धर्म, सभ्यता और संस्कृति के समर्थक थे। 2. उग्रवादी प्रखर राष्ट्रवाद में विश्वास करते थे। 3. उग्रवादी सामान्य सुधारों से संतुष्ट होने वाले नहीं थे। उनका लक्ष्य स्वराज्य की प्राप्ति था। जैसा कि लोकमान्य तिलक का कहना था कि 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है। मैं उसे लेकर रहूँगा।'	1. रचनात्मक कार्यों द्वारा राष्ट्रीय भावना का प्रसार। 2. स्वदेशी आन्दोलन। 3. विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार। 4. सरकार से असहयोग। 5. निष्क्रिय प्रतिरोध।	1. उग्रवादी आन्दोलन कई कारणों से असफल रहा, किन्तु उसने राष्ट्रीय आन्दोलन में नवयुवकों को आकर्षित कर राष्ट्रीय आन्दोलन को नई स्फूर्ति दी।

जनता में मातृभूमि के प्रति बलिदान की भावना तथा मातृभूमि की स्वतंत्रता के प्रति प्रेम उत्पन्न करना, (iii) नवयुवकों को संगठित कर क्रांतिकारी दलों की स्थापना करना और उन्हें सशस्त्र क्रांति के लिए प्रशिक्षित करना।

उग्र क्रांतिकारी आन्दोलन की ओर देश के हजारों नवयुवक आकर्षित हुए। बंगाल, बिहार, पंजाब, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र इस आन्दोलन के प्रमुख केन्द्र थे।

इस विचारधार के अनेक क्रांतिदूत विदेशों में गए और वहाँ भारतीय स्वाधीनता के पक्ष में कार्य करने का प्रयास किया। इन क्रांतिदूतों में वीर सावरकर, लाला हरदयाल, श्याम जी कृष्ण वर्मा कुछ ऐसे ही व्यक्ति थे। देश के अन्दर क्रांतिकारियों ने अपने आतंकवादी कार्यों से ब्रिटिश सरकार को आतंकित कर दिया। ब्रिटिश सरकार ने भारत के ही कुछ लोगों की सहायता से क्रांतिकारियों का दमन किया। सैकड़ों क्रांतिकारियों ने अपनी मातृभूमि के लिए हँसते-हँसते अपने प्राणों को न्योछावर कर दिया। भारत माता के इन सब अमृत-पुत्रों के नामों का उल्लेख करना यहाँ सम्भव नहीं, किन्तु कुछ नाम ऐसे हैं जिनकी स्मृतियाँ अब भी ताजा बनी हुई हैं। खुदीराम बोस, सरदार भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, अशफाकुल्ला खाँ तथा राम-प्रसाद बिस्मिल ऐसे ही कुछ नाम हैं। यद्यपि उग्र क्रांतिकारी आन्दोलन असफल रहा, पर भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को जीवन्त बनाने में उसने जो भूमिका अदा की, वह वन्दनीय है।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का तृतीय चरण : गांधी-युग
(1920-47 ई०)

गांधी-युग की मुख्य घटनाएँ

भारत के राजनीतिक रंगमंच पर महात्मा गांधी का पदार्पण एक युगान्तरकारी घटना है। अपने समय में राष्ट्र के घटनाक्रम को आमूल प्रभावित करने में महात्मा गांधी जितने सफल हुए, सम्भवतः विश्व का अन्य कोई नेता नहीं हुआ। उन्होंने जिस कौशल एवं चातुर्य से राष्ट्र के अहिंसात्मक स्वाधीनता-संग्राम का नेतृत्व किया एवं अन्ततोगत्वा विजय पाई, उन्होंने जिस प्रकार आत्म-विस्मृत राष्ट्र में चेतना का प्रस्फुरण किया और उसे मानवता के उच्चतम आदर्शों की ओर प्रेरित किया, इन सबका उचित मूल्यांकन भावी इतिहासकार ही कर सकेगा। गांधीजी के उच्च व्यक्तित्व का प्रभाव भारतीय जीवन के हर क्षेत्र में देखा जा सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में उनकी बुनियादी शिक्षा-योजना, उद्योगों के क्षेत्र में कुटीर व्यवसायों का प्रतीक उनका चरखा, समाज-सुधार के क्षेत्र में उनका हरिजनोद्धार, राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के क्षेत्र में उनका सर्वोदय— सर्वत्र उन्हीं की छाप है। कृषक उनको प्यारे थे। उन्होंने कहा था कि "भारत का राष्ट्रपति किसान का बेटा होगा।" उन्होंने कहा था कि 'स्वर्ग गाँवों में है।' साम्प्रदायिकता के वह घोर शत्रु थे। सत्य एवं संस्कृति के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी। वे गौतम के उत्तराधिकारी थे। सत्य एवं अहिंसा को उन्होंने व्यक्ति मात्र नहीं, बल्कि राष्ट्र के जीवन का मेरुदण्ड बनाया था। वे राष्ट्र के बापू थे। वे सरल एवं सादे थे, पर उनकी प्रज्ञा विलक्षण थी। भारत को जितना उन्होंने समझा था, उतना किसी ने नहीं। पर उनका समझना कठिन था। बारदोरी नामक सत्याग्रह करते समय उन्होंने जब घोषणा कि 'यह मुट्ठी भर नमक अँग्रेजी राज का अंत कर देगा' तो कितनों ने उनका उपहास किया था। परन्तु आज सब अनुभव करते हैं कि गांधी नमक-निर्माण नहीं, भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन का सूत्रपात कर रहे थे। गांधीजी ने भारतीयों को उन अस्त्रों से लड़ना सिखाया जिनके उत्तर में अँग्रेजी शस्त्रागार में कोई भी अस्त्र न था। उन्होंने सिखाया कि अहिंसा कायर नहीं, बलवान का अस्त्र है। सत्य निर्दोष का रक्षा-कवच है। जिसको विश्व कभी असम्भव कहकर हँसा करता था, वही गांधी ने सम्भव कर दिखाया। अब

गांधीजी नहीं हैं, पर गांधी-युग भारत के इतिहास में अमर हो गया। यहाँ हम गांधी-युग की प्रमुख घटनाओं और उपलब्धियों पर प्रकाश डालेंगे।

असहयोग-आन्दोलन

असहयोग-आन्दोलन की पृष्ठभूमि

अपनी स्थापना से लेकर लगभग 35 वर्षों तक कांग्रेस ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करती आई थी। इस काल-खण्ड में कांग्रेस ब्रिटिश सरकार से अनुनय-विनय, प्रार्थना कर अपनी माँगों को पूरा कराने के लिए प्रयास करती रही है। पर इस 'राजनैतिक भिक्षा' का अँग्रेजों पर कोई प्रभाव न पड़ा। इधर विश्व के राजनैतिक क्षितिज पर एक और घटना घटी, वह थी तुर्की का विभाजन। प्रथम विश्वयुद्ध में तुर्की अँग्रेजों के विरुद्ध जर्मनी के साथ लड़ा था। भारतीय मुसलमानों को यह भय था कि युद्ध के बाद अँग्रेज सरकार तुर्की से बदला लेगी। भारतीय मुसलमानों की इस आशंका को दूर करने के लिए तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने यह घोषणा (जनवरी, 1918 ई०) में की थी कि तुर्की सुल्तान के साम्राज्य का विभाजन नहीं किया जायगा। युद्ध में जर्मनी की हार के साथ तुर्की की भी हार हुई। युद्ध के बाद तुर्की साम्राज्य को फ्रांस और इंग्लैण्ड ने आपस में बाँट लिया और शेष भाग ग्रीस को दे दिया।

यही नहीं, विजयी देशों ने तुर्की के आंतरिक प्रशासन के लिए एक उच्च आयोग नियुक्त कर दिया। फलत: तुर्की का सुलतान जो इस्लाम जगत् का खलीफा (धर्मगुरु) था, अधिकार से वंचित कर दिया गया। इससे भारतीय मुसलमानों को बहुत क्षोभ हुआ।

ब्रिटिश सरकार से असंतुष्ट होकर भारतीय मुसलमानों ने एक आन्दोलन प्रारम्भ किया जो इतिहास में 'खिलाफत-आन्दोलन' के नाम से प्रसिद्ध है। कांग्रेस ने खिलाफत-आन्दोलन का समर्थन किया। महात्मा गांधी ने आन्दोलन को सफल बनाने के लिए देश का दौरा किया था। इस प्रकार भारतीय मुसलमान उनकी ओर आकृष्ट हुए। गाधीजी ने मुसलमानों को असहयोग-आन्दोलन में सम्मिलित होने की सलाह दी। इस समय मुसलमानों के राजनैतिक अधिकारों के लिए लड़ने के लिए मुसलमानों का एक अलग संगठन बन गया था। इस संगठन का नाम था मुस्लिम लीग। प्रारम्भ में मुस्लिम लीग ने भी गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन का समर्थन किया।

इसी समय सन् 1918 ई० में माण्टेग्यू-सुधार योजना प्रकाशित हुई। इस सुधार-योजना के विषय में भारतीयों में मिश्रित प्रतिक्रिया थी। कांग्रेस के उदारवादी नेताओं ने सुधारों को स्वीकार किया, किन्तु उग्रवादियों ने उनकी तीव्र आलोचना की। सामन्यतया जनता और जन-नायक इस योजना से असंतुष्ट थे। ऐसे राजनैतिक परिवेश में राष्ट्रीय आन्दोलन को नई दिशा देना आवश्यक था। गांधीजी का असहयोग-आन्दोलन इस नई दिशा का एक संकेत था।

इस समय सितम्बर, 1920 ई० में कलकत्ता में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में असहयोग-आन्दोलन चलाने का प्रस्ताव पास हुआ। इसके बाद दिसम्बर, 1920 ई० में नागपुर अधिवेशन में पुन: इस प्रस्ताव का समर्थन किया गया। इस अधिवेशन में कांग्रेस का लक्ष्य 'पूर्ण स्वराज' घोषित किया गया। जैसा कि डॉ० पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है कि "नागपुर कांग्रेस से वास्तव में भारतीय इतिहास में नवयुग का प्रारम्भ हुआ। देश को नया कार्यक्रम तथा आन्दोलन का नया ढंग मिला।"

असहयोग-आन्दोलन का कार्य

कलकत्ता और नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने असहयोग-आन्दोलन के लिए कार्यक्रम निर्धारित किया था। इस कार्य के दो पक्ष थे : (1) निषेधात्मक और (2) रचनात्मक।

निषेधात्मक कार्य के अन्तर्गत मुख्यतया निम्नलिखित बातें थीं —

(i) उपाधियों और अवैतनिक पदों का त्याग।
(ii) स्थानीय संस्थाओं के मनोनीत सदस्यों द्वारा अपने पदों का त्याग।
(iii) सरकारी दरबारों तथा सरकारी पदाधिकारियों के सम्मान में आयोजित समारोहों का बहिष्कार।
(iv) सरकारी या सरकार द्वारा सहायता-प्राप्त विद्यालयों का बहिष्कार।
(v) वकीलों और बैरिस्टरों द्वारा सरकारी अदालतों का बहिष्कार।
(vi) सैनिकों तथा श्रमिकों द्वारा मेसोपोटामिया के लिए सेना में भरती से मनाही।
(vii) सुधारों द्वारा स्थापित व्यवस्थापिका सभाओं का बहिष्कार।

असहयोग-आन्दोलन के रचनात्मक कार्यक्रम के अन्तर्गत मुख्यतया निम्नलिखित बातें थीं—

(i) सरकारी शिक्षण-संस्थाओं के स्थान पर राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना।
(ii) सरकारी अदालतों के स्थान पर पंचायतों की स्थापना।
(iii) स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग और प्रचार। इस दृष्टि से घर-घर में हाथ के कते और जुलाहों के हाथों-बुने स्वदेशी कपड़े का प्रचार।
(iv) हिन्दू-मुस्लिम एकता और अस्पृश्यता का अन्त।

आन्दोलन की प्रगति

गांधीजी के नेतृत्व में सन् 1921 ई० से यह आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। असहयोग के प्रारम्भ में सर्वप्रथम अपनी उपाधि 'कैसरे-हिन्द' का त्याग कर दिया। बाद में अनेक भारतीयों ने अपनी उपाधियाँ लौटा दीं। हजारों वकीलों ने अपनी वकालत छोड़ दी। सी० आर० दास, मोतीलाल नेहरू, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, राजगोपालाचार्य तथा जवाहरलाल नेहरू ऐसे ही वकील थे। सुभाषचन्द्र बोस ने आई० सी० एस० से त्यागपत्र दे दिया। सारे देश में राष्ट्रीय शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना हुई। मौलाना मोहम्मद अली की प्रेरणा से अलीगढ़ विश्वविद्यालय के कुछ विद्यार्थियों ने विश्वविद्यालय छोड़कर 'जामिया मिल्लिया इस्लामिया' की स्थापना की। 40 लाख कांग्रेस स्वयंसेवक बने। अनेक स्थानों पर विदेशी वस्त्रों की होली जलाई गई। नई सुधार-योजनाओं के अनुसार बनी व्यवस्थापिका सभाओं का बहिष्कार किया गया। फरवरी, 1921 ई० में 'ड्यूक ऑफ कनाट' का आगमन हुआ। उनका स्वागत बहिष्कार और हड़तालों से हुआ। 17 नवम्बर, 1921 ई० में 'प्रिन्स ऑफ वेल्स' भारत आए। युवराज का आगमन सर्वत्र हड़तालों से हुआ। 'युवराज जहाँ-जहाँ गए, जीवनहीन नगरों ने उनका स्वागत किया। अनेक विदेशियों को उस दिन विवश होकर व्रत रखना पड़ा, क्योंकि होटलों के नौकर भी उस दिन हड़ताल पर थे।'

सरकार द्वारा आन्दोलन का दमन

ब्रिटिश सरकार ने अपनी पूरी शक्ति से आन्दोलन का दमन प्रारम्भ किया। सारे देश में गिरफ्तारियाँ होने लगीं। सन् 1921 ई० के अन्त तक गिरफ्तार बन्दियों की संख्या 30,000 हो गई। अनेक कांग्रेसी नेता जेल में बन्द कर दिए गए। इसी समय दिसम्बर, 1921 ई० में अहमदाबाद में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में असहयोग-आन्दोलन की प्रगति को तीव्र करने का निश्चय किया गया। उधर सरकार का दमन-चक्र चलता रहा। इस बीच कुछ भारतीय नेताओं ने कांग्रेस और सरकार के मध्य समझौता कराने का प्रयास किया, परन्तु यह प्रयास असफल रहा। गांधीजी ने 1 फरवरी, सन् 1922 ई० के दिन वायसराय को एक पत्र

लिखा जिसमें उन्होंने सरकार की दमन-नीति की निन्दा की और सरकार को यह चेतावनी दी कि यदि सात दिनों के अन्दर सरकार अपनी नीति में परिवर्तन नहीं करेगी तो बारदोली में सत्याग्रह प्रारम्भ किया जायगा।

चौरीचौरा काण्ड और आन्दोलन का स्थगन

सरकार की दमन-नीति से जनता अत्यन्त क्षुब्ध थी। इस समय गोरखपुर जिले में चौरीचौरा नामक स्थान में एक घटना घटित हो गई जिसने आन्दोलन पर प्रश्नचिह्न लगा दिया। चौरीचौरा में 4 फरवरी, 1922 ई० को एक क्षुब्ध जन-समूह ने 1 पुलिस-दारोगा और 21 सिपाहियों को जिन्दा जला दिया। इसी समय मालाबार और बम्बई में कुछ दंगे हुए। गांधीजी ने देखा कि आन्दोलन हिंसात्मक रूप ले रहा है, अतएव दुखित मन से उन्होंने आन्दोलन को स्थगित कर दिया।

गांधीजी के इस निर्णय से अनेक लोगों को क्षोभ हुआ। अनेक जननायकों ने इस निर्णय की तीव्र आलोचना की। सुभाषचन्द्र बोस ने कहा कि 'राष्ट्रीय संघर्ष को ऐसे समय पर स्थगित करना अत्यन्त दुःखदायी था जबकि जनता का जोश सबसे उच्च शिखर पर था।' सारे देश की जनता में आन्दोलन के स्थगन से निराशा छा गई।

असहयोग-आन्दोलन का मूल्यांकन

असहयोग-आन्दोलन का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में महत्वपूर्ण स्थान है। इस आन्दोलन से निर्भयता और स्वतन्त्रता की नई ज्वाला उत्पन्न हुई और हीनता तथा उलझन की पुरानी भावना समाप्त हो गई। डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार के अनुसार 'असहयोग-आन्दोलन ने जनता को दमन-चक्र को सहन करने की शक्ति प्रदान की।' कूपलैण्ड के अनुसार 'असहयोग-आन्दोलन ने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक क्रांतिकारी और जन-आन्दोलन बना दिया।' संक्षेप में हम कह सकते हैं कि असहयोग-आन्दोलन के मुख्य प्रभाव निम्नलिखित थे—

(i) असहयोग-आन्दोलन ने राष्ट्रीय आन्दोलन को जन-आन्दोलन बना सारे देश में राष्ट्रीय भावना का प्रसार किया।

(ii) असहयोग-आन्दोलन ने स्वदेशी आन्दोलन को जन्म दिया। इससे स्वदेशी वस्तुओं के प्रति प्रेम जागृत हुआ।

(iii) इस आन्दोलन ने ब्रिटिश साम्राज्य की नींव हिला दी।

स्वराज्य पार्टी

असहयोग-आन्दोलन के प्रसंग में गांधीजी गिरफ्तार हो गए थे। असहयोग-आन्दोलन के स्थगित होने और गांधीजी के जेल में रहने के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन शिथिल हो गया था। सरकार का दमन-चक्र अभी भी तेजी से चल रहा था। उधर कांग्रेस में कुछ लोग पहले से ही असहयोग-आन्दोलन के पक्ष में नहीं थे। वे असहयोग-आन्दोलन के स्थान पर व्यवस्थापिका सभाओं और कौंसिलों में जाकर अपने राजनैतिक अधिकारों को प्राप्त करना चाहते थे। देशबन्धु चितरंजन दास, पं० मोतीलाल नेहरू, हकीम अजमल खाँ और विट्ठल भाई पटेल ऐसे ही जननायक थे। इन नेताओं ने 1 जनवरी, 1923 ई० को कांग्रेस के ही अन्दर स्वराज्य पार्टी की स्थापना की। इलाहाबाद में स्वराज्य पार्टी का प्रथम अधिवेशन हुआ जिसमें पार्टी का कार्यक्रम और संविधान निर्धारित हुआ।

स्वराज्य पार्टी के उद्देश्य—स्वराज्य पार्टी के मुख्य उद्देश्य अग्रलिखित थे—

1. भारत को स्वराज्य दिलाना।
2. उस परिपाटी का अन्त करना जो अंग्रेजी सत्ता के अधीन भारत में विद्यमान थी।
3. कौंसिल में प्रवेश कर असहयोग के कार्यक्रम को अपनाना और असहयोग-आन्दोलन को सफल बनाना।
4. सरकार की नीति का घोर विरोध कर, उसके कार्यों में अड़ंगा लगाना जिससे उसका कार्य सुचारु रूप से न चल सके और सरकार अपनी नीति में परिवर्तन करने के लिए बाध्य हो जाय।

स्वराज्य पार्टी : एक मूल्यांकन—कांग्रेस का समर्थन प्राप्त कर स्वराज्य पार्टी ने सन् 1923 ई० में निर्वाचन में भाग लिया। बंगाल और मध्य प्रदेश में उसे आशातीत सफलता मिली। संयुक्त प्रान्त और देश की व्यवस्थापिका सभाओं में भी वे काफी संख्या में निर्वाचित हुए। व्यवस्थापिका सभाओं के अन्दर रहकर उन्होंने ब्रिटिश शासन के कार्यों में अड़ंगा डालने का प्रयास किया, किन्तु अड़ंगा डालने के अतिरिक्त वे और कुछ न कर सके। सन् 1926 ई० के अंत तक स्वराज्य दल की शक्ति समाप्त हो गई। डॉ० जकरिया ने स्वराज्य दल की आलोचना करते हुए कहा है कि 'स्वराज्य दल उन लोगों में से था जो दोनों हाथों में लड्डू रखना चाहते थे। अपनी लोकप्रियता के लिए उन्होंने उग्रवादिता की बातें करना आवश्यक समझा, किन्तु वास्तव में वे सुलभ संसदवाद के पक्षधर थे।'

साइमन कमीशन

ब्रिटिश सरकार ने भारत की समस्याओं का अध्ययन करने के लिए तथा भारतीय शासन में कुछ सुधार करने के लिए एक क़मीशन नियुक्त किया। इस कमीशन में कुल सात सदस्य थे। ये सातों सदस्य अंग्रेज थे। इसलिए इस कमीशन (आयोग) को आल ह्वाइट कमीशन' (All White Commission) (सर्व श्वेत आयोग) कहा गया है। कमीशन के अध्यक्ष थे, 'सर जान साइमन'। फलतः उन्हीं के नाम से यह कमीशन 'साइमन कमीशन' के नाम से प्रसिद्ध है। कमीशन में भारतीयों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। फलतः भारत के सभी राजनैतिक दलों, यथा कांग्रेस, मुस्लिम लीग आदि ने कमीशन का विरोध किया। सारे देश में उसका बहिष्कार किया गया। जब यह कमीशन 3 फरवरी, 1928 ई० को बम्बई में उतरा तो भारतीयों ने 'साइमन, वापस जाओ' (Simon, go back) के नारों से उसका स्वागत किया। स्थान-स्थान पर उसे काले झण्डे दिखाए गए। ब्रिटिश सरकार ने इस शांत प्रदर्शन को दबाने के लिए कठोर दमन-नीति का आश्रय लिया। पंजाब में साइमन कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन का नेतृत्व पंजाब-केसरी लाला लाजपत राय ने किया। वे हृदय-रोग से पीड़ित थे। पुलिस ने उनके ऊपर लाठी और डंडों का प्राणघातक प्रहार किया। घायल होते समय पंजाब के शेर ने कहा था कि "ये लाठियों के प्रहार, जो मुझ पर किए गए हैं, एक दिन ब्रिटिश साम्राज्य के कफन की कीलें होंगे।"

सरकार के अन्यायपूर्ण तथा अमानुषिक व्यवहार ने क्रांतिकारी आन्दोलन को प्रोत्साहन दिया। जनता में प्रतिरोध की भावना उत्पन्न हुई। क्रांतिकारियों ने एक पुलिस अधिकारी सैंडर्स की हत्या कर दी। सरदार भगतसिंह तथा बटुकेश्वर दत्त ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में बम का विस्फोट किया। यह था वह वातावरण जिसमें साइमन कमीशन को अपनी रिपोर्ट देनी थी।

फिर भी साइमन कमीशन अपने काम में लगा रहा। सारे भारत का दौरा कर दो वर्षों के परिश्रम के बाद कमीशन ने अपना कार्य समाप्त किया। मई, 1930 ई० में कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई।

कमीशन ने भारत के लिए एक संघ-शासन की स्थापना की सिफारिश की। केन्द्र में दोहरे शासन (जो अभी चल रहा था) को समाप्त कर शक्तिशाली केन्द्रीय शासन की स्थापना पर जोर दिया। प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना की सिफारिश की और प्रान्तों में अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए आरक्षण की व्यवस्था पर जोर दिया। कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में भारतीयों के औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) की माँग की कोई चर्चा नहीं की। फलतः भारतीयों ने कमीशन की रिपोर्ट की कटु आलोचना की। रिपोर्ट के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए सर शिवस्वामी अय्यर ने कहा था कि "साइमन कमीशन की रिपोर्ट को रद्दी की टोकरी में डाल देना चाहिए।"

सर्वदलीय सम्मेलन और नेहरू रिपोर्ट

साइमन कमीशन के विरोध के सम्बंध में तत्कालीन भारत मंत्री लार्ड बर्कनहेड ने यह कहा था कि "कमीशन का बहिष्कार करना तब तक अर्थहीन है जब तक भारतीय एक ऐसे संविधान का निर्माण नहीं कर लेते जो सबको मान्य हो।" इस प्रकार ब्रिटिश पदाधिकारियों का यह विचार था कि भारतीय अपने संविधान का निर्माण नहीं कर पायेंगे।

किन्तु भारतीयों में राजनैतिक प्रतिभा की कमी नहीं थी। उन्होंने ब्रिटिश सरकार की चुनौती को स्वीकार किया। संविधान-निर्माण की दृष्टि से भारतीय नेताओं ने विभिन्न दलों का एक सर्वदलीय सम्मेलन आयोजित किया। 28 फरवरी, 1928 ई० को इस सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन दिल्ली में हुआ। इसमें 29 संगठनों ने भाग लिया और पं० मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में संविधान का मसविदा तैयार करने के लिए एक समिति नियुक्त हुई। सर तेजबहादुर सप्रू, सर अली इमाम, श्री एम० एस० अणे, सरदार मंगल सिंह, श्री शुऐब कुरेशी, श्री जी० आर० प्रधान और श्री सुभाषचन्द्र बोस इसके सदस्य थे। इस समिति ने अपनी एक रिपोर्ट प्रकाशित की जो 'नेहरू रिपोर्ट' के नाम से प्रसिद्ध है।

नेहरू रिपोर्ट में देश के स्वशासन के लिए अनेक सुझाव दिए गए थे। इनमें से मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं—

1. भारत में पूर्ण 'औपनिवेशिक स्वशासन' (डोमिनियन स्टेट) स्थापित किया गया।
2. केन्द्र में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना हो। भारत का गवर्नर-जनरल एक संवैधानिक प्रधान के रूप में रहे और उत्तरदायी मंत्रियों की सलाह से कार्य करे।
3. केन्द्र में दो सदन वाली व्यवस्थापिका की स्थापना हो। इन दो सदनों की व्यवस्थापिका में निम्न सदन का निर्माण प्रत्यक्ष निर्वाचन-पद्धति और वयस्क मताधिकार के आधार पर हो और उच्च सदन के सदस्यों का निर्वाचन परोक्ष रूप से प्रांतीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों द्वारा हो।
4. केन्द्र की भाँति प्रान्तों में भी पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना हो।
5. केन्द्र और प्रान्तों के बीच शक्तियों का विभाजन कर दिया जाय। अवशिष्ट अधिकार केन्द्र को दे दिए जायें।
6. नागरिकों को उनके मूल अधिकार प्रदान किए जायें।
7. साम्प्रदायिक मताधिकार का अन्त कर दिया जाय और संयुक्त निर्वाचन-पद्धति का प्रचलन किया जाय।
8. अल्पसंख्यक वर्ग के लिए आरक्षण का आयोजन किया जाय।
9. देश में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की जाय और प्रिवी कौंसिल में अपीलें बन्द कर दी जायें।

10. देशी नरेशों के अधिकारों की रक्षा का आश्वासन दिया गया और कहा गया कि वे अपनी रियासतों में उत्तरदायी शासन की स्थापना करने के बाद भारतीय संघ में सम्मिलित हो सकते हैं।
11. रिपोर्ट में भारत को एक धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित किया गया।

नेहरू रिपोर्ट तत्कालीन परिवेश के प्रकाश में प्रस्तुत एक महत्वपूर्ण राजनैतिक दस्तावेज थी। जकरिया ने नेहरू रिपोर्ट को एक महत्वपूर्ण प्रतिवेदन बताया है। सर शफात अहमद खाँ के शब्दों में "नेहरू रिपोर्ट एक महत्वपूर्ण रचनात्मक प्रयास थी।" किन्तु नेहरू रिपोर्ट से कुछ लोग सन्तुष्ट नहीं थे। असन्तुष्टों में मुख्य मि० जिन्नाह थे। मि० जिन्नाह की अध्यक्षता में मुस्लिम लीग ने रिपोर्ट को अस्वीकार कर दिया। मुस्लिम-लीग का मुसलमानों में व्यापक प्रभाव था। फलतः मुस्लिम लीग के असहयोग से रिपोर्ट का महत्व जाता रहा।

कांग्रेस का नया लक्ष्य

सन् 1907 ई० से कांग्रेस का लक्ष्य स्वराज्य चला आ रहा था। महात्मा गांधी के कांग्रेस में आने पर भी उस लक्ष्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। हाँ, उसकी प्राप्ति के लिए साधन के सम्बन्ध में अन्तर अवश्य आया था। सन् 1928 ई० में कांग्रेस-अधिवेशन में यह घोषणा की गई कि यदि सरकार 31 दिसम्बर, 1929 ई० तक सर्वदल-सम्मेलन में नेहरू संविधान को पूर्ण रूप से स्वीकार कर ले तो कांग्रेस उससे सन्तुष्ट हो जायगी, अन्यथा वह अहिंसात्मक असहयोग-आन्दोलन का संगठन करेगी और देश को इस बात की सलाह देगी कि सरकार को लगान देना बन्द कर दिया जाय।

उधर इंगलैण्ड में इस समय लेबर पार्टी के नेता रैम्जे मैक्डोनाल्ड की सरकार बन गई थी। वे भारत के लिए 'स्वराज्य' के विचार से सहानुभूति रखते थे। प्रधानमंत्री बनने के कुछ महीने पहले उन्होंने घोषणा की थी कि भारत ब्रिटिश कामनवेल्थ का औपनिवेशिक राज्य बनेगा। किन्तु उनके शासन-काल में भी भारतीयों को न्याय मिलने की कोई आशा नजर न आई। ऐसी स्थिति में कांग्रेस ने अपना लक्ष्य स्वाधीनता रखा और उसकी प्राप्ति के लिए प्रभावशाली साधनों को अपनाने का निश्चय किया।

सन् 1929 ई० का लाहौर अधिवेशन : पूर्ण स्वाधीनता-प्रस्ताव

एक क्षुब्ध और नैराश्यजनक, किन्तु उत्तेजित वातावरण में दिसम्बर, 1929 ई० में कांग्रेस का लाहौर में रावी-तट पर अधिवेशन हुआ। पं० जवाहरलाल नेहरू इस अधिवेशन के अध्यक्ष बने। रावी तट के इस अधिवेशन में 31 दिसम्बर, 1929 ई० को अर्द्ध-रात्रि के समय भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास हुआ। कांग्रेस की कार्य-समिति ने 2 जनवरी, 1930 ई० की बैठक में यह निश्चय किया कि 26 जनवरी को प्रतिवर्ष स्वतंत्रता-दिवस मनाया जाय। इस प्रसंग में एक प्रतिज्ञा बनाई गई जिसका एक अंश इस प्रकार था—

"हम भारतीय प्रजाजन भी अन्य राष्ट्रों की भाँति अपना यह जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं कि हम स्वतंत्र होकर रहें। अपने परिश्रम का फल हम स्वयं भोगें और हमें जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक सुविधाएँ प्राप्त हों जिससे हमें विकास का पूरा अवसर मिले।"

प्रस्ताव के अनुसार उस वर्ष 26 जनवरी को अपूर्व उत्साह और उल्लास के साथ सारे देश में स्वाधीनता-दिवस मनाया गया। आज भी हम 26 जनवरी को 'गणतंत्र-दिवस' के रूप में मनाते हैं।

सविनय अवज्ञा-आन्दोलन

पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा से भारत का सारा राजनीतिक वातावरण उत्साह से भर गया। 11 फरवरी, 1930 ई० को कांग्रेस की कार्यकारिणी ने महात्मा गांधी को 'सविनय अवज्ञा-आन्दोलन' (Civil Disobedienec Movement) चलाने का अधिकार प्रदान किया। गांधी जी ने आन्दोलन का निश्चय किया। परन्तु सत्याग्रह आरम्भ करने के पूर्व गांधीजी ने अपना 11 माँगों वाला एक प्रस्ताव लेकर वायसराय लार्ड इरविन से मिले। परन्तु वायसराय ने इन माँगों को अस्वीकार कर दिया। माँगों की अस्वीकृति पर गांधीजी ने लिखा था कि "मैने रोटी माँगी थी और मुझे उत्तर में मिला पत्थर।"

अन्त में गांधीजी ने अपने साबरमती आश्रम में आन्दोलन की रूपरेखा तैयार कर उसे घोषित किया। उन्होंने सविनय अवज्ञा-आन्दोलन चलाने का निश्चय किया और इसका प्रारम्भ गुजरात के डाण्डी नामक स्थान पर नमक-सत्याग्रह के द्वारा निश्चित हुआ। डाण्डी साबरमती से 200 मील दूर समुद्र-तट पर स्थित एक गाँव है। ब्रिटिश सरकार ने सन् 1923 ई० में नमक पर दुगना कर लगा दिया था। इस कर-भार से गरीब लोगों की कठिनाइयाँ बढ़ गई थीं। अतएव गांधी ने सबसे पहले नमक-कानून भंग करने का निश्चय किया।

गांधी जी ने अपने आश्रम के तपे-तपाए 78 कार्यकर्ताओं को लेकर डाण्डी की ऐतिहासिक पदयात्रा प्रारम्भ की। 15 अप्रैल, 1930 ई० को गांधीजी अपने सहयोगियों के साथ डाण्डी पहुँचे और 6 अप्रैल को आत्मशुद्धि के पश्चात् नमक बनाकर नमक-कानून भंग किया। इस प्रसंग में एक सरकारी अधिकारी ने कहा था कि "यह वृद्ध डाण्डी की दलदली भूमि पर मुट्ठी भर नमक बना कर क्या प्राप्त करेगा।" उधर गांधीजी का कहना था कि "यह मुट्ठी भर नमक ब्रिटिश साम्राज्य का विनाश कर देगा।"

इस प्रकार डाण्डी से देश के ऐतिहासिक सविनय अवज्ञा-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। डाण्डी-सत्याग्रह ने सारे देश में कानून-भंग आन्दोलन के लिए शंखनाद कर दिया। देश के कोने-कोने में लोगों ने नमक बनाकर क़ानून भंग किया। साथ ही शराब का बहिष्कार किया गया और शराब की दूकानों पर धरने दिए गये। विदेशी कपड़ों का बहिष्कार किया गया। सारे देश में विशाल जनसभाएँ की गईं। देश के कोने-कोने में राष्ट्रीय चेतना की अनुपम स्वर-लहरी सुनाई पड़ने लगी।

आन्दोलन को दबाने की दृष्टि से ब्रिटिश सरकार ने 5 मई, 1930 को गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया। उनकी गिरफ्तारी ने आग में घी का काम किया। उनकी गिरफ्तारी की खबर सारे देश में बिजली की तरह फैल गई। देश भर में हड़तालों का ताँता लग गया। बम्बई, कलकत्ता, पूना तथा अन्य बड़े नगरों में व्यापक हड़तालें हुईं, विराट् सभाएँ हुईं। सरकार ने दमन का सहारा लिया। लेकिन सरकार की संगीनें, बन्दूकें और गोलियाँ जनता को विचलित न कर सकीं। सभी नेता जेल में बन्द कर दिए गए। लगभग 60,000 लोग गिरफ्तार हुए। देश की जेलें स्वाधीनता के दीवाने स्त्री-पुरुषों से भर गईं।

यद्यपि कुछ स्थानों में कुछ उग्र क्रांतिकारियों ने हिंसात्मक साधनों का सहारा लिया, किन्तु आन्दोलन का मुख्य स्वर अहिंसात्मक बना रहा।

सविनय अवज्ञा-आन्दोलन को दबाने के लिए लार्ड इर्विन ने दमन-नीति का सहारा लिया। किन्तु वह जानता था कि देश के लोकप्रिय नेताओं को अनिश्चित काल के लिए जेल में नहीं रखा जा सकता। अतः वह कांग्रेस के साथ समझौता करने के लिए लालायित था। किन्तु

लोगों की मध्यस्थता के बावजूद कोई समझौता न हो सका और सविनय अवज्ञा-आन्दोलन चलता रहा।

प्रथम गोलमेज परिषद
(1930 ई०)

भारत के नेताओं के साथ समझौता करने के लिए लालायित ब्रिटिश सरकार ने लन्दन में एक मिली-जुली बैठक का आयोजन किया। यह बैठक प्रथम गोलमेज परिषद (First Round Table Conference) के नाम से प्रसिद्ध है। यह गोलमेज परिषद लन्दन में 12 नवम्बर, 1930 से लेकर 19 जनवरी, 1931 तक चलती रही। इस परिषद में कांग्रेस सम्मिलित नहीं हुई। उसमें नरम दल, मुस्लिम लीग और देशी रियासतों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। देश की सबसे बड़ी राजनीतिक संस्था कांग्रेस के बहिष्कार के कारण प्रथम गोलमेज परिषद के परिणाम महत्वहीन रहे।

गांधी-इरविन-समझौता
(1931 ई०)

25 जनवरी, 1931 ई० को महात्मा गांधी तथा कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्य बिना किसी प्रतिबंध के कारावास से मुक्त कर दिए गए। इधर इलाहाबाद में स्वराज्य-भवन में नई कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक हुई। बैठक में समझौते का निर्णय लिया गया। 17 फरवरी, 1931 ई० को गांधीजी और लार्ड इरविन के बीच एक लम्बी समझौता-वार्ता आरम्भ हुई और अन्त में 5 मार्च, 1931 को गांधी इरविन-समझौता सम्पन्न हुआ। इस समझौते में ब्रिटिश सरकार ने हिंसात्मक अपराधियों (उग्र क्रान्तिकारियों) को छोड़कर सभी राजनैतिक बन्दियों को छोड़ देने का आश्वासन दिया। उत्तर कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन वापस लेने तथा समस्त बहिष्कार समाप्त करने का आश्वासन दिया।

समझौते के सम्बन्ध में मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। अनेक नेताओं ने इसकी कटु आलोचना की। सुभाषचन्द्र बोस जैसे नेता इस समझौते से निराश हुए। करांची कांग्रेस में जब गांधी जी गए तो गांधीजी के विरुद्ध नारे लगाए गए। कहा गया कि गांधीजी के समझौते ने भगतसिंह को फांसी पर चढ़ा दिया है।[1] अन्त में बड़ी कठिनाई से गांधी-इरविन-समझौते का कांग्रेस के करांची अधिवेशन में अनुमोदन हो सका। उधर अप्रैल, 1931 ई० में लार्ड इर्विन त्यागपत्र देकर चले गए और उनके स्थान पर लार्ड विलिंगडन वायसराय होकर भारत आए।

द्वितीय गोलमेज परिषद

17 सितम्बर, सन् 1931 ई० को द्वितीय गोलमेज परिषद लन्दन में प्रारम्भ हुई और 1 दिसम्बर, 1931 ई० को समाप्त हुई। इस समय देश का राजनैतिक वातावरण काफी बदल चुका था। ब्रिटिश सरकार 'फूट डालो और शासन करो' (Divide and Rule) की नीति में सफल हो चुकी थी। उसने मुसलमानों के जननेताओं और प्रभावशाली व्यक्तियों को राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा से अलग एक अलगाववादी नीति का समर्थक बना दिया था। देश में

1. भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को लाहौर षड्यंत्र केस के सम्बन्ध में 23 मार्च, 1931 ई० को फांसी पर चढ़ा दिया गया था।

सम्प्रदायवाद का विषैला पौधा उत्तरोत्तर बड़ा होता जा रहा था। आए दिन दंगे हो रहे थे। सबसे भयंकर दंगा कानपुर में हुआ जहाँ उत्तर प्रदेश (संयुक्त प्राप्त) की कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष गणेश शंकर विद्यार्थी की निर्मम हत्या कर डाली गई थी। फलतः हिन्दू-मुस्लिम एकता प्रश्नचिह्नों से घिर गयी थी।

ऐसे वातावरण में महात्मा गांधी कांग्रेस के प्रतिनिधि होकर द्वितीय गोलमेज परिषद में भाग लेने के लिए लन्दन गए। इस परिषद में देश के विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों के पारस्परिक मतभेद तथा ब्रिटिश सरकार की भारतीय हितों के प्रति उदासीनता की प्रवृत्ति के कारण द्वितीय गोलमेज परिषद किसी महत्व-पूर्ण निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकी।

सविनय अवज्ञा-आन्दोलन की पुनरावृत्ति
(1932-34 ई०)

दूसरी गोलमेज परिषद से क्षुब्ध होकर महात्मा गांधी 23 दिसम्बर, सन् 1931 ई० को भारत लौट आए। उस समय सरकार का दमन-चक्र तेजी से चल रहा था। बंगाल में प्रायः सैनिक शासन लागू था। ऐसी परिस्थिति में कांग्रेस की कार्यकारिणी ने सविनय अवज्ञा-आन्दोलन को फिर से चलाने का निश्चय किया। सरकार ने अपना दमन-चक्र तेज किया। महात्मा गांधी और देश के अनेक नेता गिरफ्तार कर लिए गए। कांग्रेस गैर-सरकारी संस्था घोषित कर दी गई। लाठी चार्ज, मारपीट, गोली-बौछार, सम्पत्ति-जब्ती, सामूहिक दण्ड इत्यादि ब्रिटिश शासन के दमन-चक्र के कुछ अंग थे। सरकार ने साम्प्रदायिक दंगे कराकर लोगों का ध्यान राष्ट्रीय आन्दोलन से हटाने का प्रयास किया। सरकार ने यह भी प्रयास किया कि अछूत हिन्दुओं के विरुद्ध अपना आन्दोलन करें। सरकार ने कांग्रेस के अधिवेशन को रोकने का प्रयास किया। किन्तु इन सब प्रतिरोधों के बावजूद कांग्रेस अपना आन्दोलन चलाती रही।

मैक्डोनाल्ड का साम्प्रदायिक निर्णय

17 अगस्त, 1932 ई० को ब्रिटिश प्रधान मंत्री मैक्डोनाल्ड ने भारतीयों में फूट डालने की दृष्टि से अपना निर्णय दिया जो 'मैक्डोनाल्ड निर्णय' (Macdonald Award) के नाम से प्रसिद्ध है। इस निर्णय की मुख्य बातें ये थीं—

(i) मुसलमान, सिक्ख और भारतीय ईसाइयों के लिए पृथक् निर्वाचन का प्रावधान किया गया।

(ii) अछूतों को भी अल्पसंख्यक माना गया और उनके लिए पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था की गई।

(iii) पंजाब में सिक्खों के लिए प्रभावयुक्त प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गई।

राष्ट्रीय क्षेत्र में इस निर्णय की कटु आलोचना हुई। वस्तुतः मैक्डोनाल्ड का निर्णय एक राजनैतिक चाल थी जिसका उद्देश्य भारतीय समाज को टुकड़े-टुकड़े में विभक्त कर उसे कमजोर बनाये रखना था।

महात्मा गांधी का आमरण-अनशन

हरिजनों के सम्बन्ध में मैक्डोनाल्ड के निर्णय से महात्मा गांधी बहुत क्षुब्ध हुए। इस

प्रश्न पर उन्होंने आमरण-अनशन करने का निश्चय किया। इससे हिन्दू नेता भी चिन्तित हो उठे। उन्होंने पूना में एक सम्मेलन किया। उस समय के प्रसिद्ध हरिजन नेता डॉ० अम्बेदकर ने संयुक्त निर्वाचन-क्षेत्र का आधार स्वीकार कर लिया। हरिजनों के लिए स्थान सुरक्षित करने का निश्चय किया गया। हरिजनों को और भी अधिकार दिए गए। यह समझौता 'पूना समझौता' (Poona Pact) के नाम से प्रसिद्ध है। सरकार ने भी यह समझौता कर लिया। 26 सितम्बर को गांधीजी ने अपना उपवास तोड़ दिया।

तृतीय गोलमेज परिषद
(1932 ई०)

तीसरी गोलमेज परिषद लन्दन में नवम्बर, 1932 ई० में हुई। इस समय कांग्रेस के प्रायः सभी नेता जेल में थे। अतः कांग्रेस परिषद से पृथक् रही। ब्रिटिश सरकार ने 46 साम्प्रदायिक और राजभक्त प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया। इस अधिवेशन में प्रथम तथा द्वितीय अधिवेशनों के निर्णयों की पुष्टि की गई और नए संविधान के सम्बन्ध में कुछ बातें निश्चित की गईं।

श्वेत-पत्र का प्रकाशन
(1933 ई०)

मार्च, 1933 ई० में ब्रिटिश सरकार की ओर से नए सुधारों का एक श्वेत-पत्र (White Paper) प्रकाशित हुआ। इस श्वेत पत्र में भावी संविधान की रूपरेखा पर प्रकाश डाला गया था।

आन्दोलन का अन्त

1933 ई० की 8 मई को गांधीजी ने 21 दिनों का उपवास प्रारम्भ किया। उपवास का उद्देश्य हिन्दुओं द्वारा हरिजनों के प्रति किए गए पापों का प्रायश्चित था। उपवास प्रारम्भ करते ही गांधीजी को बिना किसी शर्त जेल से छोड़ दिया गया। जून, 1933 ई० में महात्मा गांधी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारम्भ किया और सविनय अवज्ञा-आन्दोलन बंद कर दिया। व्यक्तिगत सत्याग्रह 8 महीने तक चलता रहा। 1934 ई० की अप्रैल में कांग्रेस के नेतृत्व के सारे आन्दोलन समाप्त कर दिए गए। इससे कांग्रेस के युवा वर्ग को बड़ा क्षोभ हुआ। आन्दोलन समाप्त करने के साथ ही कांग्रेस ने व्यवस्थापिका सभा के निर्वाचन में भी भाग लेने का निश्चय किया।

सन् 1935 ई० का अधिनियम

भारत की राजनीतिक व्यवस्था में सुधार करने की दृष्टि से सन् 1935 ई० का भारत सरकार अधिनियम पास हुआ। इस अधिनियम के दो भाग थे—एक भारतीय संघ की स्थापना से सम्बन्धित था और दूसरा प्रांतीय स्वाधीनता से। इस अधिनियम में सरकार ने लोकतंत्रीय राष्ट्रीयता के प्रवाह को रोकने का फिर प्रयत्न किया था। देशी नरेश लोकतंत्र के विरुद्ध थे और मुसलमान साम्प्रदायिकता की ओर बढ़ रहे थे। सरकार ने प्रस्तावित शासन-व्यवस्था में देशी नरेशों और मुसलमानों को अत्यधिक महत्त्व दिया। वस्तुतः सरकार ने प्रस्तावित संघ के द्वारा अंग्रेजों, मुसलमानों और देशी नरेशों के हितों का संरक्षण किया था, अस्तु कांग्रेस ने संघ योजना का तीव्र विरोध किया।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का तृतीय चरण : गांधी युग (1920-1947)
गांधी-युग के प्रमुख नेता
महात्मा गांधी
मोतीलाल नेहरू
राजगोपालाचार्य
डॉ० राजेन्द्र प्रसाद
पं० जवाहरलाल नेहरू
सुभाषचन्द्र बोस
सरदार वल्लभ भाई पटेल
मौलाना अब्दुल कलाम आजाद
जे० बी० कृपलानी
पट्टाभि सीतारमैय्या आदि
गांधी-युग की मुख्य घटनाएँ
असहयोग आन्दोलन
जलियाँवाला बाग हत्या-कांड
खिलाफत आन्दोलन
साइमन कमीशन का विरोध
चौरीचौरा कांड (1922)
सर्वदलीय सम्मेलन
नेहरू रिपोर्ट
कांग्रेस का लाहौर अधिवेशन
पूर्ण स्वराज्य की घोषणा (1929)
सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930)
मुस्लिम लीग का बढ़ता हुआ प्रभाव
साम्प्रदायिकता की धधकती ज्वाला
पाकिस्तान की बढ़ती माँग
1942 की ऐतिहासिक क्रांति
भारत छोड़ो आन्दोलन
सुभाषचन्द्र बोस, आजाद हिन्द फौज
नौसेना विद्रोह (1946)
आन्दोलन की प्रतिक्रिया और प्रभाव
प्रथम गोलमेज परिषद् (1930)
गांधी-इर्विन समझौता (1931)
द्वितीय गोलमेज परिषद् (1931)
मैक्डोनल्ड का साम्प्रदायिक निर्णय (1932)
तृतीय गोलमेज परिषद् (1932)
1935 ई० का अधिनियम
प्रान्तीय स्वशासन की स्थापना
क्रिप्स मिशन (1941)
शिमला सम्मेलन (1945)
कैबिनेट मिशन योजना (1946)
अन्तरिम सरकार का गठन
संविधान सभा की स्थापना (1946)
संविधान सभा में मुस्लिम लीग का असहयोग
16 अगस्त, 1946 को मुस्लिम लीग द्वारा प्रत्यक्ष कार्यवाही
हिन्दू-मुस्लिम दंगे
15 अगस्त, 1947, स्वाधीनता की प्राप्ति
देश का विभाजन

दूसरी ओर प्रान्तीय स्वाधीनता की योजना भी अत्यन्त असन्तोषजनक थी। प्रान्तीय गवर्नरों को मन्त्रिमण्डल के कार्य में हस्तक्षेप करने के लिए और उनके मत की उपेक्षा करने के लिए विशेषाधिकार दिये गये थे। उनकी पृष्ठभूमि में जनता के प्रतिनिधियों के लिए लोकतन्त्र का उत्तरदायी शासन चलाना असम्भव था। फलतः कांग्रेस ने प्रान्तों से सम्बन्धित योजना की भी तीव्र आलोचना की।

निर्वाचन और मन्त्रिमण्डल की स्थापना

कांग्रेस नेताओं ने परस्पर वाद-विवाद के बाद चुनाओं में भाग लेने का निश्चय किया। सन् 1936-37 ई० में निर्वाचन हुए। साधारण निर्वाचन-क्षेत्रों में कांग्रेस की और साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रों में मुस्लिम लीग की भारी विजय रही। मद्रास, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रान्त और उत्तर प्रदेश में कांग्रेस के प्रतिनिधि पूर्णरूप से बहुमत से निर्वाचित हुए। बम्बई सीमा प्रान्त, बंगाल और आसाम में वे अन्य किसी भी पार्टी से अधिक संख्या में थे। मुस्लिम लीग किसी भी प्रान्त में इतने बहुमत में न थी कि स्वतन्त्र रूप से मन्त्रिमण्डल बना सकती।

निर्वाचन ने कांग्रेस की लोकप्रियता और उसके प्रतिनिधिपूर्ण स्वरूप को सुस्पष्ट कर दिया। निर्वाचन के बाद कांग्रेस ने गवर्नर के विशेषाधिकारों के रहते हुए मन्त्रिमण्डल बनाने से इन्कार कर दिया। वैधानिक रूप से जटिल स्थिति थी। अन्य दल मन्त्रिमण्डल नहीं बना सकते थे। सरकार इस बात का आश्वासन देने को तैयार नहीं थी कि गवर्नरों के विशेषाधिकारों का उपयोग केवल साधारण परिस्थितियों में ही किया जायेगा। कांग्रेस अपने निश्चय पर दृढ़ रही। बाद में वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने आश्वासन दिया और कांग्रेस ने पद ग्रहण किया। 8 बहुमत वाले कांग्रेस प्रान्तों में कांग्रेस ने अपने मन्त्रिमण्डल बनाये। अन्य प्रान्तों में मुस्लिम लीग और दूसरे दलों के संयुक्त मन्त्रिमण्डल बने। इस प्रकार सन् 1937 ई० में प्रान्तीय शासन की नयी व्यवस्था आरम्भ की गई। इसके बाद संघीय शासन की व्यवस्था पर ध्यान दिया जाता, किन्तु यूरोपीय महायुद्ध आरम्भ होने से उस दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई।

मुस्लिम लीग की कुटिल नीति

लीग की नीति के कारण कांग्रेसी बहुमत वाले प्रान्तों में कांग्रेस और लीग के संयुक्त मन्त्रिमण्डल न बन सके। इस पराजय से मुस्लिम लीग चिढ़ गई और उसने कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों को बदनाम करना प्रारम्भ किया। उसने उन पर मुस्लिम जनता के उत्पीड़न एवं मुस्लिम हितों की हत्या करने के आरोप लगाये। मुसलमानों में प्रचार किया गया कि हिन्दू कांग्रेस के शासन के अन्तर्गत उनकी सभ्यता, उनकी संस्कृति एवं उनका धर्म खतरे में है। इन झूठे आरोपों में क्षुब्ध होकर कांग्रेस के राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने निष्पक्ष जाँच का प्रस्ताव रखा, परन्तु जिन्ना ने उसे अस्वीकार कर दिया। मुस्लिम लीग तो कांग्रेस पर असत्य आरोप लगाकर उसे बदनाम करना चाहती थी। इस कार्य में उसे आशातीत सफलता मिली। कांग्रेस समझौते के लिए जितना ही अधिक प्रयत्न करती थी, मि० जिन्ना उतना ही अधिक अपनी माँगें बढ़ाये जाते थे। इस हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के चक्कर में पड़कर कांग्रेस ने बहुधा बहुमत जाति की उपेक्षा भी की। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू-महासभा तथा अन्य हिन्दू संगठनों ने कांग्रेस पर हिन्दू-विरोधी नीति का अवलम्ब लेने एवं मुसलमानों के तुष्टिकरण के आरोप लगाये। इस प्रकार हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य कम होने के स्थान पर उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

दूसरा महायुद्ध और राष्ट्रीय आन्दोलन

1 सितम्बर, 1939 ई० को जर्मनी ने पोलैंड पर आक्रमण कर दिया। इंगलैंड ने 3

सितम्बर को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार यूरोपीय महायुद्ध छिड़ गया। भारत अंग्रेजों के अधीन था और अंग्रेजी सरकार ने उनकी ओर से भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध घोषित करने के सम्बन्ध में सरकार ने भारतीय प्रतिनिधियों से कोई परामर्श नहीं किया। प्रांतों में जनता के चुने हुए मंत्रीगण काम कर रहे थे। किन्तु इन लोगों से और केन्द्र तथा प्रान्तों की धारासभाओं से विना कुछ पूछे ही भारत को युद्ध में सम्मिलित कर दिया गया। यह घोषणा भारतवर्ष के लिए अपमानजनक थी। अतः कांग्रेस ने इसका विरोध किया और कहा कि भारतवर्ष को युद्ध में सम्मिलित करने के पूर्व अंग्रेजी सरकार अपने युद्ध के उद्देश्यों को घोषित करे। गवर्नर जनरल से कोई सन्तोषजनक उत्तर न पाकर अपने विरोध-प्रदर्शन हेतु 22 अक्टूबर, 1939 ई० की कांग्रेस कार्यकारिणी के प्रस्ताव के अनुसार कांग्रेस मन्त्रि-मण्डलों ने त्यागपत्र दे दिया। अतः प्रान्तों का शासन (ऐक्ट की धारा नं० 93 के अनुसार) गवर्नरों के अधिकार में आ गया। गैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडल तथावत् काम करते रहे।

पाकिस्तान की माँग

कांग्रेस मंत्रिमंडल के पद-त्याग से श्री जिन्ना को अत्यन्त हर्ष हुआ। उन्होंने 22 दिसम्बर, 1939 ई० को मुक्ति दिवस मनाने के लिए मुसलमानों को सलाह दी।

अंग्रेजी सरकार के प्रोत्साहन के कारण जिन्ना की माँगें उत्तरोत्तर बढ़ती जाती थीं। अन्त में मार्च, सन् 1940 ई० को उन्होंने लाहौर-प्रस्ताव के द्वारा पाकिस्तान की माँग उपस्थित की। उस दिन से हिन्दू-मुस्लिम एकता अनेक प्रश्नचिह्नों से घिर गई।

क्रिप्स मिशन

सन् 1941 ई० के अन्त तक यूरोपीय स्थिति भयंकर हो गई। जर्मनी ने लगभग सम्पूर्ण यूरोप को पदाक्रान्त कर डाला। इन्हीं दिनों जर्मनी और इटली की ओर से जापान भी युद्ध में सम्मिलित हो गया। उसकी सेनाओं ने द्रुतगति से पूर्वी एशिया पर अधिकार करना आरम्भ किया। इस प्रकार पूर्वी सीमा के लिए खतरा उपस्थित हो गया। अतः अंग्रेजों को कांग्रेस के सहयोग की आवश्यकता प्रतीत हुई। उन्होंने मार्च, 1942 ई० में समझौता करने के लिए मजदूर दल के एक प्रधान नेता सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारतवर्ष भेजा।

क्रिप्स-योजना ने युद्धोत्तर काल में भारतीय संघ की स्थापना का आश्वासन दिया। किन्तु प्रस्तावित संघ से कोई भी ब्रिटिश भारतीय प्रान्त अथवा दो देशी राज्य पृथक् भी रह सकता था। कांग्रेस की दृष्टि में यह व्यवस्था अत्यन्त असन्तोषजनक थी। दूसरी ओर लीग को पाकिस्तान की दिशा में प्रोत्साहन तो मिला, किन्तु उसने प्रस्तावों की शब्दावली को अस्पष्ट और असन्तोषजनक बताया।

क्रिप्स-योजना का दूसरा भाग तत्कालीन व्यवस्था के सम्बन्ध में था। ब्रिटिश सरकार यहाँ भी सत्ता हस्तांतरित करने के लिए प्रस्तुत नहीं थी। उसने भारतीय प्रतिनिधियों से केवल परामर्श करने की तत्परता दिखाई, किन्तु इससे अधिक कुछ नहीं किया। कांग्रेस युद्ध में सहयोग देने के लिए परिस्थितियों के अनुकूल वास्तविक सत्ता चाहती थी। अन्य दलों की अन्य आपत्तियाँ थीं। भारतवर्ष के किसी भी दल ने उनकी योजना को स्वीकार न किया। अतः 13 अप्रैल, 1942 ई० को वे इंगलैंड वापस चले गये। देश में पुनः असन्तोष छा गया।

सन् 1942 ई० की ऐतिहासिक क्रान्ति

8 अगस्त, 1942 ई० को महात्मा गांधी की सलाह से बम्बई में कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो'

(Quit India) प्रस्ताव पास किया। परन्तु अंग्रेजी सरकार इतनी सुगमता से भारत छोड़ने के लिए प्रस्तुत नहीं थी। उसने दमन-नीति से काम लिया। प्रस्ताव पास होने के दूसरे ही दिन समस्त कांग्रेसी नेता गिरफ्तार कर लिए गये। सम्पूर्ण कांग्रेसी संस्थायें गैर-कानूनी घोषित कर दी गई। अंग्रेजों के इस अन्यायपूर्ण कार्य से सारे देश का धैर्य जाता रहा और जनता ने अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया।

सारा वातावरण 'भारत छोड़ो' के उद्घोष से गूंज उठा। क्षोभ और क्रोध में आकर भारतवासियों ने अंग्रेजी शासन को पूर्णतया ध्वस्त कर देने का प्रयास किया। उन्होंने स्थान-स्थान पर रेलवे-स्टेशनों, डाकखानों तथा सरकारी दफ्तरों को लूटना और जलाना प्रारम्भ किया। स्थान-स्थान पर तार काटे गये और पटरियाँ उखाड़ दी गईं। बलिया, सतारा और बिहार तथा बंगाल के कुछ स्थानों में अंग्रेजी सत्ता कुछ समय के लिए लुप्त हो गई। दो-चार दिन तो ऐसा प्रतीत हुआ कि विदेशी सत्ता अपनी अन्तिम श्वास ले रही है। परन्तु अंग्रेजी सरकार ने आन्दोलन का अत्यधिक बर्बरता से दमन किया। स्थान-स्थान पर गिरफ्तारियाँ की गईं, निःशस्त्र जनता पर लाठियाँ और गोलियाँ बरसाई गईं। उनके घर और खेत फूंक दिये गये। ऐसे निर्मम दमन के उदाहरण विश्व के इतिहास में बहुत कम मिलेंगे। नौकरशाही की संगठित बर्बरता के समक्ष नेतृत्वहीन, अस्त्रहीन एवं संगठनहीन जनता दबा तो अवश्य दी गई, परन्तु उसके हृदय में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह का जो ज्वाला धधक रही थी, वह शान्त न हो सकी।

डॉ० ईश्वरीप्रसाद के अनुसार, "अगस्त की क्रांति सरकार की स्वेच्छाचारिता एवं अत्याचारों के विरुद्ध प्रजा का विद्रोह था। इसकी तुलना फ्रांस के बास्तील के पतन या रूस की अक्टूबर की क्रांति से की जा सकती है।"

भारतीय राजनीति : सफलता के पथ पर

दमन-नीति के परिणामस्वरूप देश में असंतोष छा गया। देश का बच्चा-बच्चा अंग्रेजी शासन का कट्टर विरोधी हो गया। प्रकटतः राष्ट्रीय आन्दोलन शिथिल पड़ गया, किन्तु अन्दर ही अंदर तीखापन बराबर बढ़ता गया। सन् 1943 और 44 ई० में सारा देश एक बड़े कारागार के समान प्रतीत होता था। सरकार ने समाचार-पत्रों का गला घोंट दिया था। कांग्रेसी नेता और कार्यकर्ता जेल में बन्द थे और कांग्रेस संस्था अवैध थी। इन दिनों राष्ट्रीय जीवन लुप्त-सा हो गया था, परन्तु अंग्रेजी सरकार जानती थी कि इस प्रकार लोकप्रिय नेताओं को जेल के सीखचों के भीतर बंद करके तलवार के जोर से अधिक दिनों तक शासन न चल सकेगा। साथ ही साथ सरकार युद्धकाल के कांग्रेसियों के सामने झुकना नहीं चाहती थी। सन् 1943 में गांधीजी ने, जो आगा खाँ महल, पूना में सरकारी बंदी थे, 21 दिन का अनशन किया। उपवास के दिनों में गांधीजी की दशा बहुत बिगड़ गई और चारों ओर गांधीजी को छोड़ देने की माँग हुई, पर वायसराय लिनलिथगो ने झुकना स्वीकार नहीं किया। इसी कारण वायसराय की कार्यकारिणी परिषद के तीन सदस्य—एम० एस० अणे, नलिनीरंजन और एच० पी० मोदी ने त्यागपत्र दे दिया। देश की भावनाओं को सर तेजबहादुर सप्रू, जयकर आदि नेताओं ने जो किसी दल से सम्बंधित नहीं थे, व्यक्त किया।

सन् 1944 ई० में लार्ड लिनलिथगो के स्थान पर लार्ड वैवेल भारतवर्ष के वायसराय नियुक्त हुए। इसी समय महात्मा गांधी की अस्वस्थता के कारण उनको जेल से छोड़ दिया गया। स्वस्थ होने पर गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न पर मि० जिन्ना से कई बार बातचीत की। यह वार्तालाप श्री राजा जी के कुछ प्रस्तावों पर अवलम्बित था, किन्तु समस्या का हल न हो

सका। सरकार के साथ पुनः सन्धि प्रारम्भ हुई। लार्ड वैवेल ने दिल्ली में एक सभा की, परंतु मुस्लिम लीग के यह हठ करने पर कि वायसराय की कार्यकारिणी के सब मुस्लिम सदस्य लीग द्वारा ही मनोनीत हों, वह असफल रही।

शिमला-सम्मेलन

भारतीय राजनीतिक गुत्थी को सुलझाने के लिए अंग्रेजी सरकार ने जून, 1945 ई० में कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्यों और अन्य बड़े-बड़े कांग्रेसी नेताओं को छोड़ दिया। इस समय तक जर्मनी और इटली की हार हो चुकी थी और जापानी सेनायें भी पीछे हट रही थीं। इन दिनों इंगलैंड में नया निर्वाचन हुआ जिसमें विंस्टन चर्चिल का अनुदार दल हार गया और उसके स्थान पर एटली के मजदूर दल का मंत्रिमंडल स्थापित हुआ। इस मजदूर मंत्रिमंडल ने भारतीय राजनीतिक समस्या पर विचार-विनिमय करने के हेतु वायसराय लार्ड वैवेल को इंगलैंड बुलाया। परामर्श करने के बाद वे भारत वापस आये और भारतीय राजनैतिक प्रश्नों पर विचार करने के लिए उन्होंने शिमला में एक सम्मेलन किया। इसमें सभी प्रमुख दलों के नेता सम्मिलित थे।

इस सम्मेलन में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के प्रश्न पर विचार किया गया। इस सम्बंध में भारतीय धारासभा के कांग्रेस दल के नेता भूलाभाई देसाई और लीग दल के नेता लियाकत अली खाँ में पहले बातचीत हो चुकी थी और राष्ट्रीय गतिरोध के दूर करने के लिए भूलाभाई ने कांग्रेस-लीग समता को स्वीकार कर लिया था। किन्तु ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस-लीग समता के आधार को बदलकर उसे सवर्ण हिन्दू-मुस्लिम समता कर दिया। अस्तु, कांग्रेस किसी मुस्लिम प्रतिनिधि को नहीं चुन सकती थी। सरकारी आधार की इस विकृति ने कांग्रेस को सवर्ण हिन्दुओं की साम्प्रदायिक संस्था का रूप देने का प्रयत्न किया। फलतः शिमला कांफ्रेंस भंग हो गई।

सुभाषचन्द्र बोस और आजाद हिन्द फौज

सन् 1939 में कांग्रेस अध्यक्ष का पद छोड़ने के बाद सुभाषचन्द्र बोस ने कांग्रेस के अन्तर्गत फारवर्ड ब्लाक नामक एक दल की स्थापना की थी। बोस विशुद्ध गांधीवादी अहिंसात्मक संघर्ष के कार्यक्रम से सन्तुष्ट नहीं थे और वे सशस्त्र संघर्ष के प्रबल समर्थक थे। अस्तु, सुभाष बाबू के कार्यक्रम पर सरकार की कठोर दृष्टि थी। युद्ध आरम्भ होने के बाद सरकार ने इनको कलकत्ते में उन्हीं के घर में कैद कर दिया। किन्तु वे वेश बदलकर वहाँ से निकल गये और अफगानिस्तान होते हुए जर्मनी पहुँचे। बाद में जापान पहुँचे और उन्होंने जर्मनी-जापान की सहायता से भारत को स्वतंत्र करने का प्रयत्न किया। जब जापानी सेना ने मलाया और बर्मा पर अधिकार कर लिया तो उन्होंने वहाँ बसे हुए भारतीयों की सहायता से आजाद हिन्द फौज बनाई। सुभाषचन्द्र बोस के देशभक्तिपूर्ण प्रचार के प्रभाव में आकर अंग्रेजों की ओर से लड़ने वाली भारतीय सेनाओं की बहुत-सी टुकड़ियाँ भी आजाद हिन्द फौज में सम्मिलित हो गईं। इस सेना में हिन्दू, मुसलमान और सिख सभी सम्मिलित थे। उनकी अनन्य देशभक्ति पर कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। किन्तु जापानियों के साम्राज्यवादी उद्देश्यों के समक्ष उसके स्वतंत्रता प्राप्त करने के लक्ष्य की पूर्ति होनी सम्भव नहीं थी। जापानी सेनाओं के छिन्न-भिन्न होने पर आजाद हिन्द फौज भी छिन्न-भिन्न हो गई। उसके सैनिकों को बंदी बनाया गया। बाद में जब उन पर अभियोग चलाया गया तो भारत भर में बड़ा रोष छा गया। भारतीय जनता की पृष्ठभूमि में अंग्रेजी सरकार ने आजाद हिन्द फौज के लगभग सभी सैनिकों को छोड़ दिया। कुछ लोगों को पाशविक व्यवहार के अपराध में दण्ड दिया गया।

पार्लियामेंट का शिष्ट-मण्डल

सन् 1945 ई० में कांग्रेसी नेताओं के छूटने के बाद भारतीय राष्ट्रीयता फिर सक्रिय हो गई। विदेशी चंगुल से छूटने की वलबती इच्छा फिर देश भर में व्याप्त होने लगी। राजनीतिक परिस्थितियों का सूक्ष्म अध्ययन करने के लिए 2 जनवरी, सन् 1946 ई० की पार्लियामेंट के 10 सदस्यों का एक दल कैविनेट मिशन भारत आया।

यह दल देश की विभिन्न पार्टियों के नेताओं से मिला और उनके विचारों से अवगत हुआ। अंत में उसने अपनी रिपोर्ट ब्रिटिश सरकार को दी। इस रिपोर्ट के आधार पर ब्रिटिश सरकार ने पुनः एक दूसरा दल भारतवर्ष में भेजा जो इतिहास में कैबिनेट मिशन के नाम से प्रख्यात हुआ। कैविनेट मिशन मार्च, 1946 ई० में भारत आया और उसने भी कांग्रेस और मुस्लिम लीग के पारस्परिक मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न किया, परंतु असफल रहा। दोनों दलों में समझौता न होने पर ब्रिटिश सरकार ने भारतवर्ष के सामने स्वय एक योजना उपस्थित की। इस योजना के द्वारा कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों को संतुष्ट करने का प्रयत्न किया गया। एक में सीमा प्रान्त, पंजाब, सिन्ध और ब्रिटिश बिलोचिस्तान, दूसरे में बंगाल और आसाम तथा तीसरे में शेष प्रान्त रखे गये।

योजना ने इन तीनों भागों को एक संघीय शासन के अन्तर्गत रखने की व्यवस्था की। तीनों भाग अपने आन्तरिक शासन में पूर्ण रूप से स्वतंत्र होते, परन्तु रक्षा, यातायात एवं विदेश-नीति के विषय संघ-शासन के अधीन रखते हुए सम्पूर्ण देश के लिए संविधान बनाने हेतु एक संविधान सभा के निर्माण की व्यवस्था बनाई गई। यह सम्पूर्ण दीर्घकालीन व्यवस्था थी। जब तक यह कार्यक्रम में परिणत न हो सके, तब तक के लिए शासन-संचालन हेतु एक अन्तः-कालीन सरकार (Interim Government) बनाने की व्यबस्था की गई। परन्तु कांग्रेस-लीग में पुनः मतभेद उत्पन्न हो गया। लीग इस बात के लिए तैयार नहीं हुई कि कांग्रेस अन्त:कालीन सरकार के लिए किसी भी मुस्लिम प्रतिनिधि को चुने। अन्त में लार्ड बैवेल ने तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू से अन्तःकालीन सरकार बनाने के लिए कहा। 5 सितम्बर को इस अन्त:कालीन सरकार ने पद ग्रहण किया।

मुस्लिम लोग : मुस्लिम साम्प्रदायिकता की मुखर अभिव्यक्ति

सन् 1857 ई० में हिन्दुओं और मुसलमानों ने कंधे-से-कंधा मिलाकर अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष किया था। किन्तु 1857 ई० के बाद अंग्रेजों ने 'फूट डालो और शासन करो' की अपनी नीति का इस प्रकार सफल प्रयोग किया कि देश के दो विशाल जन-सम्प्रदायों के बीच ऐसी खाई खड़ी हो गई जो आज तक पाटी नहीं जा सकी है। भारत की राजनीत में मुस्लिम लीग की भूमिका इस बात की साक्षी है।

मुस्लिम लीग की स्थापना सन् 1906 ई० में हुई। दिसम्बर, 1907 ई० में मुस्लिम लीग का संविधान करांची में वनाया गया। 1908 ई० में लखनऊ में यह संविधान स्वीकृत हुआ। प्रारम्भ में मुस्लिम लीग में राष्ट्रवादी मुसलमानों का कुछ प्रभाव था, किन्तु धीरे-धीरे यह प्रभाव समाप्त हो गया और मुस्लिम लीग अंग्रेजी शासन के संकेत पर काम करने वाली एक ऐसी संस्था बन गई जिसने अन्त में देश को दो भागों में विभक्त कर दिया।

राष्ट्रवादी मुस्लिम नेताओं के प्रयास के कारण सन् 1916 ई० में लखनऊ में कांग्रेस और लीग का एक समझौता हुआ। इस समझौते में कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के पृथक् निर्वाचन

की माँग को स्वीकार कर लिया। ऐसा प्रतीत होता था कि दोनों सम्प्रदायों के मध्य पारस्परिक सद्भावना बनी रहेगी। किन्तु थोड़े ही समय में यह आशा निराशा में बदल गई। मि० मुहम्मद अली जिन्ना, जो प्रारम्भ में राष्ट्रवादी थे और हिन्दू-मुस्लिम एकता के समर्थक थे, अंग्रेजों के प्रभाव में आ गए और कालान्तर में मुस्लिम लीग संकुचित सम्प्रदायवाद के घेरे में सिमट गई।

अंग्रेजों के संरक्षण में मुस्लिम लीग ने ऐसी नीति और ऐसे कार्यक्रम अपनाए जो देश के व्यापक हितों के प्रतिकूल थे। प्रारम्भ में मुस्लिम लीग के दो मुख्य उद्देश्य थे : (1) भारतीय मुसलमानों के राजनैतिक तथा अन्य अधिकारों की रक्षा करना; तथा (2) ब्रिटिश सरकार के प्रति मुसलमानों में निष्ठा उत्पन्न करना। बाद में मुस्लिम लीग ने 'द्विराष्ट्र सिद्धांत' (Two Nation Theory) का प्रतिपादन किया कि मुसलमान स्वत: एक राष्ट्र हैं। मि० जिन्ना ने यह घोषणा की कि "राष्ट्र की किसी भी परिभाषा के अनुसार मुसलमान एक राष्ट्र हैं। अत: उनकी अपनी निवास-भूमि, अपना प्रदेश तथा अपना राज्य होना चाहिए।" सन् 1935 ई० में मुस्लिम लीग ने एक पृथक् राज्य की माँग की। सन् 1938 ई० में उसने देश के विभाजन की माँग की। लीग के द्विराष्ट्र सिद्धांत का अनेक राष्ट्रवादी मुस्लिम नेताओं और मुस्लिम संगठनों ने विरोध किया, किन्तु उनका विरोध महत्वहीन हो गया। 'इस्लाम खतरे में है', 'मुसलमानों पर हिन्दू अत्याचार कर रहे हैं', 'हर मुसलमान का धार्मिक कर्तव्य है कि वह लीग में आए' जैसे नारों से धार्मिक दृष्टि से संवेदनशील मुसलमानों को आकृष्ट करने में लीग सफल हुई। संवैधानिक साधनों से अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल मुस्लिम लीग ने अन्त में हिंसा का सहारा लिया। लीग ने 16 अगस्त, 1946 ई० को प्रत्यक्ष कार्यवाही-दिवस मनाने का निश्चय किया। फलत: देश में साम्प्रदायिक दंगों की बाढ़ आ गई। सबसे भयंकर दंगा कलकत्ता में हुआ। हजारों आदमी मौत के घाट उतार दिए गए। इस नरहत्या की सारी जिम्मेदारी मुस्लिम लीग पर थी जो मुसलमानों को हिंसा के लिए उत्तेजित करती रही और मुसलमानों को 'मारेंगे मर जायेंगे, पाकिस्तान बनायेंगे' का सन्देश देती रही। अंत में लीग अपने उद्देश्य में सफल रही।

मुस्लिम साम्प्रदायिकता की प्रतिक्रिया हिन्दुओं पर भी हुई। हिन्दू हितों की रक्षा करने लिए 1916 ई० में हिन्दू महासभा की स्थापना हुई। हिन्दू महासभा ने कांग्रेस की मुसलमानों के तुष्टीकरण की नीति के लिए आलोचना की और कांग्रेस के कार्यों को हिन्दू-विरोधी बताया। किन्तु हिन्दू महासभा विशाल हिन्दू समाज को अपनी ओर आकर्षित न कर सकी। विशाल हिन्दू समाज अपने राष्ट्रीय नेताओं के नेतृत्व में ब्रिटिश साम्राज्यवाद से जूझता रहा।

केन्द्रीय सरकार में मुस्लिम लीग का प्रवेश

कैबिनेट मिशन की योजना के अनुसार केन्द्र में एक अन्तरिम सरकार बनी थी। प्रारम्भ में मुस्लिम लीग इस अन्तरिम सरकार में सम्मिलित नहीं हुई थी। कुछ समय बाद मुस्लिम लीग ने 'अन्तरिम सरकार' में अपने प्रतिनिधि भेज दिए। पं० जवाहरलाल नेहरू अन्तरिम सरकार की संयुक्त विचार-विनियम और संयुक्त उत्तरदायित्व के अनुसार चलाना चाहते थे, किन्तु लीग की नीति से उलझनें बढ़ने लगीं। संविधान-परिषद ने दिसम्बर, 1946 ई० में अपना कार्य आरम्भ किया, किन्तु मुस्लिम लीग ने उसमें अपने प्रतिनिधि नहीं भेजे। पाकिस्तान की माँग को ध्यान में रखते हुए लीग दो विधान-परिषदों की माँग की रट लगा रही थी।

ब्रिटिश शत्ता का अन्त और पाकिस्तान का जन्म

शासन के गतिरोध और भीषण साम्प्रदायिक दंगों के कारण ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने समझ लिया कि भारतीय राजनीतिक समस्या का हल बिना पाकिस्तान की स्थापना के नहीं हो

सकता। दूसरी ओर राजनीतिक जागृति और साम्राज्यवाद-विरोधी दल की शक्तियों से यह स्पष्ट हो गया कि भारत में ब्रिटिश सत्ता का हस्तांतरण अविलम्ब कर दिया जाय। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति भी भरत में अंग्रेजी राज्य के बनाये रखने के प्रतिकूल थी। उधर निर्वाचनों में इंगलैण्ड में लेबर पार्टी सत्ता में आ गई। वह भारत को स्वाधीन करने के लिए प्रतिबद्ध थी। अन्ततः प्रधानमंत्री एटली ने ब्रिटिश पार्लियामेंट में यह घोषणा की कि सन् 1948 ई० तक भारत से ब्रिटिश सत्ता को हटा लिया जायेगा। इसके अतिरिक्त लार्ड वैवेल को वापस बुलाया गया और उनके स्थान पर लार्ड लुई माउण्टबेटेन को नियुक्त किया गया। पाकिस्तान के प्रश्न पर ब्रिटिश सरकार ने घोषणा को अस्पष्ट ही रखा।

लार्ड माउण्टबेटेन ने भारत आकर विभिन्न दलों से बातचीत की। शासन का प्रतिरोध बढ़ता जा रहा था। हिन्दू-मुस्लिम विद्वेष चारों ओर दिखाई दे रहा था। साम्प्रदायिकता का विष सरकारी विभागों और कर्मचारियों में अत्यन्त विकट रूप में प्रदर्शित हो रहा था। अस्तु माउण्टबेटेन ने कांग्रेस और लीग की स्वीकृति से 3 जून, 1947 ई० को भारत-विभाजन की योजना प्रकाशित की। इस योजना के अनुसार सीमांप्रांत, सिन्ध, पश्चिमी पंजाब और पूर्वी बंगाल पाकिस्तान के अंतर्गत तथा शेष ब्रिटिश भारत भारतीय संघ के अंतर्गत रखा गया। तत्कालीन परिस्थितियों में जून, 1948 ई० तक रुकना असंभव था। अतः भारत के विभाजन और ब्रिटिश सत्ता के प्रत्याहरण के लिए 15 अगस्त, सन् 1947 ई० का दिन निश्चित किया गया।

भारत से ब्रिटिश सत्ता के विदा होने पर देशी राज्यों को क्या स्थिति होगी, इस प्रश्न की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या थी और इस सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की नीति किस प्रकार विकसित हुई, इसका यथास्थान वर्णन किया गया है। यहाँ केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि 3 जून की योजना ने देशी राज्यों को दो में से किसी एक डोमीनियन में सम्मिलित होने के लिए जोर दिया।

भावी भारत का संविधान बनाने के लिए दिल्ली में संविधान सभा ने दिसम्बर, 1946 ई० से कार्य करना आरम्भ कर ही दिया था। इस भाग में धीरे-धीरे देशी राज्यों ने भी अपने प्रतिनिधि भेजे। कुछ राज्य संघ के अनुसार भारतवर्ष में सम्मिलित हो गये और ये अपने आंतरिक शासन में द्रुत गति से लोकतंत्र की ओर बढ़ने लगे। कुछ ऐसे राज्य भी थे जो भारत में तत्काल सम्मिलित न हुए और वार्ताविधि तक भारत सरकार के साथ उनका सम्बन्ध एक अस्थायी समझौता के अनुसार चलता रहा।

भारत में ब्रिटिश सत्ता का वैध रूप में अंत करने के लिए ब्रिटिश पार्लियामेंट ने जुलाई, 1947 ई० में भारतीय स्वतंत्रता ऐक्ट पास किया। इस ऐक्ट ने 15 अगस्त, 1947 ई० को भारत से सत्ता के हस्तांतरण को वैध आधार दिया। इस ऐक्ट ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भारत और पाकिस्तान दो राज्य काम करेंगे जो 15 अगस्त के बाद औपनिवेशिक राज्य के रूप में काम करेंगे। यदि वे चाहें तो 'ब्रिटिश कामनवेल्थ' से अलग भी हो सकते हैं।

3 जून और 15 अगस्त, 1947 के बीच में विभाजन की तैयारी की गई। अंत में हर्ष और शोक के वातावरण में 15 अगस्त, 1947 को एक ओर तो विदेशी सत्ता का अंत हुआ और दूसरी ओर दो राज्यों—भारत और पाकिस्तान का जन्म हुआ।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रीय जागृति के प्रमुख कारणों पर प्रकाश डालिए। (उ० प्र०, 1976)
2. 'राष्ट्रीय आन्दोलन एक नहीं, अनेक कारणों का प्रतिफल था'—व्याख्या कीजिए।

3. उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रवाद के उदय के क्या प्रमुख कारण थे ?

4. उदारवादी राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख पक्षों पर प्रकाश डालिए।

5. उग्रवादी आन्दोलन से क्या आशय है ? उग्रवादी के उदय के क्या प्रमुख कारण थे ?

6. गांधी-युग से आपका क्या आशय है ? गांधी-युग में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रमुख पक्षों पर प्रकाश डालिए।

7. निम्नांकित पर संक्षेप में प्रकाश डालिए—

1. असहयोग-आन्दोलन
2. 1942 ई० की क्रांति (उ० प्र०, 1976)
3. आजाद हिन्द फौज (उ० प्र०, 1991)
4. जलियाँवाला बाग
5. स्वराज्य-आन्दोलन
6. इण्डियन नेशनल कांग्रेस। (उ० प्र०, 1982)

लघु प्रश्न

1. राष्ट्रीय जागृति के चार मुख्य कारण बताइए।
2. उदारवादी आन्दोलन की तीन मुख्य विशेषताएं बताइए।
3. उग्रवादी राष्ट्रीय आन्दोलन की तीन विशेषताएँ बताइए।
4. उग्रवादी और उदारवादी आन्दोलन के दो मुख्य अन्तर बताइए।
5. असहयोग-आन्दोलन पर पाँच पंक्तियाँ लिखिए।
6. जलियाँवाला बाग पर पाँच पंक्तियाँ लिखिए।
7. खिलाफत-आन्दोलन के विषय में आप क्या जानते हैं ? पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

अति लघु प्रश्न

1. असहयोग-आन्दोलन किसके नेतृत्व में प्रारम्भ हुआ ?
2. सविनय अवज्ञा-आन्दोलन कब प्रारम्भ हुआ ?
3. आजाद-हिन्द फौज की स्थापना किसने की ?

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते,
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।

"परिवर्तनशील संसार में कौन नहीं जन्मता और कौन नहीं मरता है, किन्तु उसी का जन्म सार्थक है जिसके जन्म से उसके वंश का अभ्युदय होता है ।"

अध्याय 26

हमारे स्वाधीनता-संग्राम के कुछ महापुरुष

● दादा भाई नौरोजी ● गोपाल कृष्ण गोखले ● लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ● लाला लाजपत राय ● महात्मा गांधी ● सुभाषचन्द्र बोस ● जवाहरलाल नेहरू ● सरदार वल्लभ भाई पटेल ● डॉ० राजेन्द्र प्रसाद

आमुख

आदिकाल से भारत-भूमि प्रतिभा-सम्पन्न महापुरुषों की जन्म-स्थली रही है। यहाँ समय-समय पर ऋषि और योगी, सन्त और सुधारक, दार्शनिक और चिन्तक, वैज्ञानिक और विचारक, कलाकार और साहित्यकारों की जैसी ज्योतिमंत परम्परा का उद्भव और विकास हुआ है, वैसा अन्यत्र कहीं परिलक्षित नहीं होता। स्वाधीनता-संग्राम-काल में भी हमारे देश में ऐसी अनेक विभूतियों का उदय हुआ जिन्होंने स्वाधीनता-आन्दोलन को सफल-सम्पन्न बनाने में स्तुत्य योग दिया। उनके सक्षम, सुदक्ष, सशक्त और निष्ठावान् नेतृत्व के अभाव में हमारा स्वाधीनता-आन्दोलन सफलता के पथ पर आगे बढ़ नहीं सकता था। अतएव भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन तथा भारतीय संविधान के अध्ययन के प्रसंग में अपने राष्ट्रीय आन्दोलन के इन सूत्रधारों के जीवन-वृत्त, व्यक्तित्व, विचार और योगदान पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।

दादा भाई नौरोजी

जीवन-वृत्त—भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन के प्रारम्भिक कर्णधारों में दादाभाई नौरोजी का अपना स्थान है। उनका जन्म 4 सितम्बर, 1825 ई० में बम्बई के एक सम्भ्रान्त पारसी परिवार में हुआ था। बाल्यकाल में ही उनके पिता का देहावसान हो गया। इनकी माता ने बड़ी कठिनाइयों से इनका पालन-पोषण किया। दादाभाई अत्यन्त मेधावी और परिश्रमी छात्र थे। अध्ययन समाप्त करने के बाद बम्बई के प्रसिद्ध एलफिस्टन विद्यालय में आप गणित और विज्ञान के अध्यापक नियुक्त हो गए। वहीं दस वर्ष तक अध्यापन किया। अध्यापन-कार्य से जो समय बचता, वह आप समाज-सेवा में लगाते। सन् 1880 ई० में वे प्रधानाध्यापक हो गए। सन् 1886 ई० में त्यागपत्र देकर वे एक पारसी कम्पनी की व्यवस्था के लिए इंग्लैंड चले गए। वहाँ रहकर 1892 ई० में कामन्स सभा के निर्वाचन में सफलता प्राप्त कर ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्य हुए तथा 1892 ई० से लेकर 1895 ई० तक ब्रिटिश संसद के सदस्य रहे। ब्रिटिश संसद में आप भारत के लिए निरन्तर संघर्ष करने रहे। 30 जून, 1917 ई० को इस वृद्ध पितामह का देहावसान हो गया।

विचार और कार्य : योगदान—दादा भाई नौरोजी उदारवादी नेता थे। फलतः वे उदारवादी चिन्तन और कार्यक्रम में विश्वास करते थे। वे ब्रिटिश शासन को भारत के लिए एक दैवी वरदान मानते थे। उनका विश्वास था कि ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत रहकर भारत एक सभ्य देश बन जायगा। दादाभाई नौरोजी भारतीयों की निर्धनता से अत्यन्त क्षुब्ध थे। उन्होंने अपनी पुस्तक 'पावर्टी ऐण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' (Poverty and Un-Birtish

Rule in India) में भारतीयों की गरीबी का पूरा चित्रण किया था। आपके प्रयास से भारत की निर्धनता और आर्थिक स्थिति पर विचार करने के लिए एक शाही आयोग (रायल कमीशन) नियुक्त किया गया था।

दादाभाई नौरोजी एक निष्ठावान् देश भक्त लोकसेवक थे। उनका कहना था कि मैं जो कुछ भी बना हूँ, जनता की बदौलत। मेरा कर्तव्य है कि मैं अपनी योग्यता, कार्यक्षमता, शरीर, मन और आत्मा और जो कुछ भी मेरे पास है, उस सबसे जनता की सेवा करूँ।"

लोकसेवा के लिए दादाभाई नौरोजी ने अनेक संस्थाएँ स्थापित की थीं। जब वे इग्लैण्ड में थे, तब 'ईस्ट इण्डियन एसोसियेशन' की स्थापना की थी। इसके पूर्व भारत में अपने अध्यापन-काल में उन्होंने 'गुजराती ज्ञान प्रचारक सभा', 'बम्बई एसोसियेशन' आदि संस्थाओं में कार्य किया था। उन्होंने 'एस्तगुफ्तार' (सत्यवादी) नामक एक पत्र निकालकर भारतीयों की समस्याओं के सम्बन्ध में जनमत खड़ा करने का प्रयास किया था। आप कांग्रेस के तीन बार अध्यक्ष चुने गये थे: 1886 ई० 1893 ई० तथा 1906 ई० में। सन् 1906 ई० के कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने 'स्वराज' शब्द का प्रयोग कर उसे प्राप्त करने का सन्देश दिया।

दादाभाई नौरोजी ने अनुकूल तथा प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में बड़े साहस, विश्वास और आशा के साथ देश की, मातृभूमि की सेवा की। महात्मा गांधी ने दादाभाई नौरोजी के जीवन और योगदान पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि "भारत की निर्धनता का दर्शन सर्वप्रथम हमें दादाभाई ने कराया।... इन्होंने बताया था कि "दरिद्रता की औषधि स्वराज्य है।" गोपाल कृष्ण गोखले के शब्दों में "यदि मनुष्यों में कभी कोई दिव्यता है तो वह दादा भाई नौरोजी में है।" डॉ० पट्टाभि सीतारमैया के अनुसार, "कांग्रेस के वयोवृद्ध लोगों की पंक्ति में सबसे पहला नाम दादाभाई नौरोजी का आता है जो कांग्रेस के जन्म से लेकर अपने जीवन-पर्यन्त कांग्रेस की सेवा करते रहे।" इसी प्रकार सी० वाई० चिन्तामणि के अनुसार, "वे आत्माओं में महान्, निर्णयों में अत्यधिक उदार तथा अजातशत्रु थे। व्यक्तिगत चरित्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र में महान् दादाभाई नौरोजी अपने देशवासियों के लिए एक अनुकरणीय आदर्श थे।"[1] इनमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय राजनीति के पितामह कहे जाने वाले दादा भाई ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उषः-काल में जो योग दिया, वह सदा स्मरणीय रहेगा।

गोपालकृष्ण गोखले (1886-1915 ई०)

जीवन-वृत्त—भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भिक सूत्रधारों में गोपालकृष्ण गोखले का नाम मुख्य है। गोपालकृष्ण गोखले का जन्म 9 मई, 1886 ई० में कोल्हापुर राज्य के 'कंगाल' नामक ग्राम में हुआ। पिता के न रहने के कारण उनका प्रारम्भिक जीवन अत्यन्त कष्ट में बीता था, किन्तु वे एक प्रतिभा-सम्पन्न, परिश्रमी और कुशाग्र बुद्धि के थे। अतएव उन्होंने बड़े परिश्रम से ज्ञान अर्जित किया। अठारह वर्ष की अल्पायु में ही आप स्नातक हो गए। अध्ययन समाप्त करने के उपरान्त आप पूना के 'न्यू इंगलिश स्कूल' (जो आगे चलकर फर्गुसन कालेज के नाम से विश्रुत हुआ) में अध्यापक हो गए। कालान्तर में इसी कालेज के आप प्रिंसिपल हो गए। अपने ज्ञान तथा मृदुल स्वभाव के कारण आप विद्यार्थियों तथा शिक्षकों में अत्यन्त लोकप्रिय हो गए। जब आप 22 वर्ष के थे, तभी बम्बई विधान-परिषद (लेजिस्लेटिव काउंसिल) के सदस्य चुन लिए गए। 1902 ई० में आप देश की विधायी परिषद के सदस्य बने। जब आप 39 वर्ष के थे, तभी कांग्रेस के अध्यक्ष चुन लिए गये। 1905 ई० में आप भारत के पक्ष में जनमत एकत्रित करने के लिए इंगलैंड गए। वहाँ डेढ़ महीने रहकर आपने 40-45 भाषण दिए, पत्र-पत्रिकाओं में अनेक लेख लिखे, संवाददाताओं और संसद-सदस्यों से भेंट की, आप

दक्षिण अफ्रीका गए और वहाँ महात्मा गांधी के सत्याग्रह-आन्दोलन में योग दिया। 1905 ई० में गोखले ने 'भारत सेवा समाज' (Servants of India Society) की स्थापना की। 19 फरवरी, सन् 1915 ई० को आपका स्वर्गवास हो गया। उनकी मृत्यु पर लोकमान्य तिलक ने अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा था कि "भारत का यह हीरा, महाराष्ट्र का महान् पुरुष और मजदूरों का राजा अब निरनिद्रा में निमग्न है। उनकी ओर देखो और उसके पदचिह्नों का अनुगमन करो।"

विचार और कार्य : योगदान—गोखले स्वभाव से अत्यन्त मृदुल, विनम्र, मिलनसार और परोपकारी व्यक्ति थे। देशप्रेम और जनसेवा की भावना उनमें कूट-कूट कर भरी थी। उनकी यह धारणा थी कि अंग्रेज भारतीयों की माँगों को पूरा करेंगे, फलतः वे वैधानिक और उदारपरक साधनों के माध्यम से अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते थे। अपने इन्हीं विचारों के कारण वे कांग्रेस में नरम दल या उदारवादी वर्ग के प्रमुख नेता बन गए और जब तक जीवित रहे, कांग्रेस पर उदारवाद का वर्चस्व बना रहा। किन्तु उनमें व्यावहारिक दृष्टकोण का अभाव नहीं था। एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ की भाँति वे अपने विचारों और माँगों को संशोधित करने के लिए तैयार रहते थे। गोखले को 'राजनीतिक संन्यासी' की संज्ञा दी गई थी। स्वयं महात्मा गांधी गोखले से अत्यन्त प्रभावित थे। वे गोखले को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। गांधीजी के शब्दों में ""सर फिरोजशाह मेहता मुझे हिमालय की तरह लगे, लोकमान्य तिलक महासागर की तरह और गोखले गंगा की तरह। हिमालय अलंघ्य था, गहरे सागर में उतरा नहीं जा सकता, किन्तु सबको आमंत्रित करने वाली गंगा को प्राप्त किया जा सकता था।"

गोखले ने सारा जीवन मातृभूमि की सेवा में लगा दिया। मातृभूमि की सेवा ही वस्तुतः उनके जीवन का लक्ष्य था। उन्हें कीर्ति कमाने या यश अर्जित करने की लालसा नहीं थी। वे तो निष्काम भाव से देशसेवा के कार्य में जुड़े थे। अपने जीवन की सांध्य-वेला में 'भारत सेवक समाज' के सदस्यों के समक्ष बोलते हुए उन्होंने कहा था कि "तुम लोग मेरा जीवन-चरित्र मत लिखना, मेरे मूर्ति-निर्माण में अपना समय न लगाना। तुम लोग यदि भारत के सच्चे सेवक हो तो अपने सिद्धान्त के अनुसार आचरण कर भारत की सेवा में अपना समग्र जीवन अर्पित कर देना।"

जनसेवा की दृष्टि से उन्होंने 'भारत सेवक समाज' की स्थापना की जिसने देश को अनेक देशभक्त लोकसेवक दिए और जो आज भी उनका यशोगान कर रहा है। बम्बई के गवर्नर के कहने पर उन्होंने भारत में सुधारों की योजना प्रकाशित की जो 'गोखले के राजनैतिक टेस्टामेन्ट' (Gokhle's Political Testaments) के नाम से विश्रुत है।

उनके गुण और ज्ञान की सराहना अनेक लोगों द्वारा की गई है। इंग्लैण्ड में दिए गए भाषणों की प्रशंसा करते हुए इंगलैण्ड के एक समाचार-पत्र ने लिखा था कि "इंगलैण्ड में गोखले के समान कोई कूटनीतिज्ञ नहीं है और गोखले स्वयं एस्किथ (इंगलैण्ड के तत्कालीन प्रधान मंत्री) से भी महान् हैं।" के० एम० पणिक्कर ने गोखले को भारत का प्रथम कूटनीतिक कहा है। सी० वाई० चिन्तामणि ने लिखा है कि "वे इतने ईमानदार, बुद्धिजीवी थे कि बिना पूरी तरह सोचे-समझे कोई विचार व्यक्त नहीं करते थे।" लाला लाजपत राय के अनुसार "वे कांग्रेस कार्यकर्ताओं में सर्वोच्च और सर्वश्रेष्ठ थे।" इसी प्रकार हालैण्ड ने गोखले का मूल्यांकन करते हुए लिखा है कि वे "उच्च कोटि के रचनात्मक नेता थे। वे पूर्व और पश्चिम को मिलाने वाले आदर्शवादी एवं भविष्य-द्रष्टा थे और अन्तर्जातीय सद्भावना और सहयोग के पैगम्बर थे।"

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक (1856-1920 ई०)

जीवन-वृत्त—भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उषः-काल में भारत के राजनैतिक क्षितिज पर जिन नक्षत्रों का अभ्युदय हुआ, उनमें सर्वाधिक प्रखर और प्रकाशमान बाल गंगाधर तिलक थे। उन्हें आधुनिक भारत का कृष्ण और कौटिल्य कहा जा सकता है।

बाल गंगाधर तिलक का जन्म 23 जुलाई, 1856 ई० को महाराष्ट्र के रत्नगिरि क्षेत्र के एक कुलीन ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। उनके पिता पं० गंगाधर रामचन्द्र तिलक व्याकरण और गणित के प्रकाण्ड विद्वान् थे। तिलक एक प्रतिभा-सम्पन्न, परिश्रमी और मेधावी छात्र थे। आपने सन् 1876 ई० में दकन कालेज, पूना से प्रथम श्रेणी में बी० ए० की परीक्षा पास कर एल-एल० बी० में प्रवेश लिया। सन् 1879 ई० में कानून की डिग्री प्राप्त कर सन् 1880 ई० में पूना में 'न्यू इंग्लिश स्कूल' की स्थापना की। इसके बाद इसके कुछ अध्यापकों ने मिलकर 'दकन एजूकेशन सोसाइटी' की स्थापना की। कालान्तर में वैचारिक मतभेद होने के कारण तिलक इस सोसाइटी से अलग हो गए।

सन् 1881 ई० में महाराष्ट्र के लोकप्रिय समाज-सुधारक श्री आगरकर के साथ मिल कर तिलक ने मराठी में 'केसरी' तथा अंग्रेजी में 'मरहठा' नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इन दोनों पत्रों के माध्यम से तिलक ने महाराष्ट्र में राष्ट्रीय भावना के प्रसार में स्तुत्य योग दिया।

विचार, कार्य और योगदान—तिलक भारतीय राजनीति में उग्रवादी राष्ट्रीयता के सन्देशवाहक माने जाते हैं। वे कांग्रेस के उदारवादी दृष्टिकोण के विरोधी थे। उनका विचार था कि कांग्रेस अंग्रेजों के अनुनय-विनय, प्रार्थना या याचना से कुछ प्राप्त नहीं कर सकती। इस प्रसंग में उन्होंने 'केसरी' में लिखा था कि "भारत में अंग्रेज नौकरशाही से हम अनुनय-विनय करके कुछ प्राप्त नहीं कर सकते। ऐसा प्रयास करना तो पत्थर की दीवार से टकराने के समान है।"

वे चाहते थे कि भारतीय स्वतंत्रता के प्रसार के लिए महाराष्ट्र के नवयुवकों को संगठित किया जाय। उन्होंने महाराष्ट्र के नवयुवकों में आत्म-निर्भरता, आत्म-बलिदान और आत्म-विश्वास की भावना का संचार किया। युवकों को शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ बनाने के लिए महाराष्ट्र में जगह-जगह व्यायामशालाएँ, लाठी क्लब आदि की स्थापना को प्रोत्साहन दिया। हिन्दू धर्म की दिव्यता और श्रेष्ठता में उन्हें अटूट आस्था थी। पाश्चात्य सभ्यता की विकृतियों से वे पूरी तरह परचित थे। अतएवं युवकों को पाश्चात्य सभ्यत्ता के प्रभाव से दूर रखने तथा धर्म के माध्यम से राष्ट्रभक्ति की भावना भरने के लिए उन्होंने महाराष्ट्र में 'गणपति उत्सव' तथा 'शिवाजी-समारोह' का प्रवर्तन किया। गणपति-उत्सव के द्वारा उन्होंने नवयुवकों में धार्मिक भावना के साथ-साथ राजनीतिक ज्ञान तथा अनुशासन की भावना जागृत करने का प्रयास किया। शिवाजी-समारोह द्वारा उन्होंने नवयुवकों के समक्ष शिवाजी के आदर्श को प्रस्तुत कर उन्हे संगठन और संघर्ष की प्रेरणा दी।

इस प्रकार वे संगठन, शक्ति और संघर्ष के द्वारा स्वाधीनता प्राप्त करना चाहते थे। उन्हें उदारवादी कांग्रेस की नीति और कार्यक्रम में विश्वास नहीं था, अतएव कांग्रेस में सम्मिलित होने के बाद उन्होंने उसे संघर्ष का सन्देश दिया। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि तिलक ने कांग्रेस को ब्रिटिश सरकार के प्रशंसकों के मंच के स्थान पर ब्रिटिश सरकार के विरोधियों का मंच बना दिया। स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, हम उसे लेकर रहेंगे (Swaraja is our birthright and I will have it) का नारा देकर उन्होंने भारतीय आन्दोलन को एक

नई ज्योति, एक नई दिशा और एक नई शक्ति दी। उनके उग्रवादी विचारों के कारण अंग्रेजों ने तिलक को 'भारतीय अशान्ति के जनक' (Father of Indian Unrest) की संज्ञा दी थी। तिलक के उग्र विचारों के कारण सन् 1908 ई० में बम्बई के गवर्नर ने भारत सचिव को लिखा था कि "तिलक प्रमुख षड्यंत्रकारियों में से हैं या सर्वप्रमुख षड्यंत्रकारी हैं। उन्होंने भारत में ब्रिटिश शासन की समस्त कमज़ोरियों का सावधानी से अध्ययन किया। उनके गणपति-उत्सव, शिवाजी-समारोह, पैसा फण्ड और राष्ट्रीय स्कूल इन सबका एक ही उद्देश्य है कि अंग्रेजी शासन को उखाड़ फेंका जाय।"

अपने उग्र विचारों के लिए तिलक को ब्रिटिश सरकार से कई बार दण्ड मिला था। सन् 1897 ई० में उन्हें राजद्रोह के अपराध के लिए गिरफ्तार किया गया था और 18 महीने का कठोर कारावास मिला था। देशसेवा के लिए जेल जाने वाले वे पहले भारतीय थे। सन् 1908 ई० में उन्हें पुनः 6 वर्ष का कारावास और 1000 रुपये जुर्माना का दण्ड दिया गया था।

पर सरकार की दमनकारी नीति तिलक को अपने पथ से विचलित न कर सकी। वे द्विगुणित उत्साह, साहस, शौर्य और आत्म-विश्वास से देश की स्वाधीनता के लिए संघर्ष करते रहे। पर स्वाधीनता-संघर्ष तथा स्वराज्य-प्राप्ति के लिए उन्होंने हिंसात्मक साधनों का समर्थन नहीं किया। उन्होंने स्वराज्य-प्राप्ति के लिए चार साधन बतलाए। ये चार साधन थे—स्वदेशी भावना का प्रचार, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा का प्रसार तथा शान्तिपूर्ण निष्क्रिय विरोध। तिलक पहले कांग्रेसी नेता थे जिन्होंने देवनागरी भाषा में लिखी गई हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने की बात कही। इसी प्रकार तिलक ने अस्पृश्यता का अन्त करने का सन्देश दिया था। 1918 ई० के दलित जाति-सम्मेलन में अपने विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा था, "कि यदि ईश्वर भी अस्पृश्यता को सहन करता है तो मैं उसे ईश्वर के रूप में सहन नहीं करूँगा।"

तिलक एक राजनायक और समाज-सुधारक ही नहीं थे, वे उद्भट विद्वान् थे। संस्कृत, मराठी तथा अंग्रेजी के वे प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने माण्डले जेल में 'गीता-रहस्य' नामक एक प्रख्यात ग्रन्थ की रचना की। 'दि आर्कटिक होम ऑफ द वेदाज' (The Arctic Home of the Vedas) तथा 'दि ओरियन' (The Orion) उनकी अन्य प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

अपने व्यक्तित्व और विचार, देशभक्ति और त्याग के लिए तिलक भारतीय जनता के कण्ठहार बन गए थे। भारतीय जनता ने उन्हें लोकमान्य कहकर समादृत किया था। उनके त्याग, बलिदान और राष्ट्रभक्ति की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा हुई है। स्वामी श्रद्धानन्द के शब्दों में "महाराज तिलक राजनैतिक सेवा के अग्रदूतों में श्रेष्ठ स्थान रखते हैं। वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने राजनैतिक एकता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।"

वेलेण्टाइल शिरोल ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन अनरेस्ट' में तिलक के योगदान पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'वे कट्टर हिन्दू धर्म पर आधारित नवराष्ट्रवाद के महान् उपासक थे तथा सरकार के प्रति जनता में विद्रोह की भावना फैलाने वाले सबसे खतरनाक अग्रदूत थे।" प्रसद्धि लेखक रामगोपाल ने उनके योगदान पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि "उनका जीवन दिव्य जीवन था। उनके देशवासियों ने उन्हें न केवल लोकमान्य की उपाधि दी, प्रत्युत तिलक भगवान कहकर समादृत किया।"

लाला लाजपत राय (1865-1928 ई०)

जीवन-वृत्त—पंजाब-केशरी लाला लाजपत राय राष्ट्रीय आन्दोलन के उन सेनानियों में से थे जिनके त्याग और बलिदान की अमर गाथा हमें सदैव प्रेरणा देती रहेगी। लाला लाजपत

राय का जन्म सन् 1865 ई० में पंजाब के लुधियाना जनपद के जगराँव नामक ग्राम में हुआ था। वे एक अध्यापक के पुत्र थे। राजकीय कालेज लाहौर से उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त कर सन् 1885 ई० में वकालत प्रारम्भ की। अपनी प्रतिभा और वाक्शक्ति के बल पर उन्होंने शीघ्र वकालत में अपनी ख्याति प्राप्त कर ली। उन दिनों स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज का आन्दोलन उत्तरोत्तर प्रभावशाली हो रहा था। लाला लाजपत राय इस आन्दोलन से प्रभावित हुए और स्वामी दयानन्द के अनन्य शिष्य बन गए। स्वामी जी के प्रभाव से उनमें उग्र राष्ट्रीयता की ज्योति-शिखा प्रदीप्त हो गई। सन् 1888 ई० में आप कांग्रेस के सदस्य हो गये। सन् 1905 ई० में गोखले के साथ एक शिष्ट-मण्डल में आप इंगलैंड गये। इंगलैंड में उन्होंने अपनी अद्‌भुत वाक्-शक्ति द्वारा भारत की समस्याओं से जनता को प्रभावित किया। सी० वाई० चिन्तामणि ने लाला जी की वक्तृत्व-शक्ति की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि "एक सार्वजनिक वक्ता के रूप में मैं लायड जार्ज तथा लाजपत राय दोनों का स्मरण करता हूँ।" इंगलैंड में जाकर उन्हें विश्वास हो गया कि अंग्रेजों से आसानी से स्वाधीनता प्राप्त करना सम्भव नहीं है। इंगलैंड से वापस आकर उन्होंने यह बताया कि भारतीयों को अपने पैरों पर खड़े होकर स्वाधीनता प्राप्त करनी चाहिए।

सन् 1907 ई० में उन्हें देश से निर्वासित कर दिया गया। कुछ दिनों बाद उन्हें मुक्त कर दिया गया। 1911 ई० में वे पुनः इंगलैंड और अमेरिका गए। सन् 1920 ई० में भारत लौटने पर वे कलकत्ता कांग्रेस-अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गए। सन् 1923 तथा 1926 ई० में केन्द्रीय विधानसभा के सदस्य चुने गये।

विचार और योगदान—लाला लाजपत राय राष्ट्रीय आन्दोलन की उग्रवादी धारा के एक प्रखर पक्ष थे। उन्हें पंजाब का तिलक कहा जा सकता है। जो काम महाराष्ट्र में तिलक ने किया, पंजाब में वही काम लाला लाजपत राय ने किया। उन्होंने स्वामी दयानन्द के प्रभाव से प्रभावित हो आर्यसमाज आन्दोलन की महत्वपूर्ण भूमिका अदा की और आर्यसमाज के माध्यम से भारत की प्राचीन संस्कृति, स्वराज्य तथा स्वदेशी आन्दोलन के प्रसार का प्रयास किया। राजनीति, शिक्षा, समाज-सुधार, लोकसेवा आदि सभी क्षेत्रों में उन्होंने अपना योग दिया।

राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन में पूरा योग दिया और उसके लिए उन्होंने तमाम यातनाएँ सहीं। उनका विचार था कि स्वतंत्रता के लिए भारतीयों को संघर्ष करना पड़ेगा। 1905 ई० में बनारस अधिवेशन में उन्होंने कहा था कि "यदि भारत को स्वतंत्रता प्राप्त करनी है, तो उसे अंग्रेजों के प्रति भिक्षावृत्ति का परित्याग करना होगा।" उन्होंने गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन में भी महत्वपूर्ण योग दिया। इस आन्दोलन के प्रसंग में एक अवसर पर उन्होंने कहा था कि "हम अपने चेहरे सरकारी भवनों की ओर से मोड़कर जनता की झोपड़ियों की ओर करना चाहते हैं। कुछ समय तक स्वराज दल के कर्मठ नेता के रूप में भी उन्होंने महत्वपूर्ण योग दिया।

लाला लाजपत राय हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्षपोषक थे, किन्तु इस प्रसंग में उनका कहना था कि मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए हिन्दुओं के हितों का बलिदान करना उचित नहीं है। लाला लाजपत राय ने शिक्षा और समाज-सुधार की दिशा में भी महत्वपूर्ण योग दिया। उन्होंने लाहौर में डी० ए० वी० कालेज की स्थापना में तन-मन-धन से योग दिया। अस्पृश्यता-विचार तथा दलितों के उद्धार की दिशा में भी कार्य किया। इस दृष्टि से उन्होंने 'सर्वेन्ट्स ऑफ पीपुल्स सोसाइटी' स्थापित की।

लाला लाजपत राय एक कुशल और कर्मठ जननायक, शिक्षाविज्ञ और समाज-सुधारक थे। वे कुशल वक्ता होने के साथ ही अच्छे लेखक भी थे। उन्होंने मैजिनी, गेरी बाल्डी, शिवाजी,

श्रीकृष्ण तथा स्वामी दयानन्द की जीवनियाँ लिखीं जो अपने समय में काफी लोकप्रिय हुईं। उनकी अन्य रचनाओं में 'भगवद्गीता का सन्देश', 'ब्रिटेन का भारत के प्रति ऋण', 'दुःखी भारत', 'हिन्दू-मुस्लिम एकता' तथा 'यंग-इण्डिया' प्रमुख हैं।

इस प्रकार लाला जी आजीवन देशसेवा में लगे रहे। उनके जीवन के अन्तिम क्षण अत्यन्त कष्ट में बीते। साइमन कमीशन का विरोध करते समय उन पर लाठी का भीषण प्रहार हुआ था। इस प्रहार से आपका शरीर इतना क्षत हो गया कि फिर आप कभी उठ न सके। 17 नवम्बर, 1928 ई० को यह महान् स्वतंत्रता-सेनानी चिरनिद्रा में लीन हो गया। मृत्यु के पूर्व उन्होंने कहा था कि "मेरे शरीर पर पड़ी हुई एक-एक चोट ब्रिटिश साम्राज्य के कफन की एक-एक कील होगी।" उनकी मृत्यु पर अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए गांधीजी ने कहा था कि "लाला जी जैसे लोग मृत्युञ्जयी हैं, वे कभी मर नहीं सकते। जब तक आकाश में सूर्य प्रकाशित रहेगा, तब तक वे प्रकाशित होते रहेंगे।"

महात्मा गांधी (1869-1948 ई०)

जीवन-वृत्त—गांधीजी भारत ही नहीं, वरन् विश्व की उन विभूतियों में से थे जो किसी जाति, समाज, देश और काल की सीमा से परे मानवता को महान् सन्देश देकर युग-प्रवर्तक बन जाते हैं। गांधीजी का पूरा नाम मोहनदास करमचन्द गांधी था। उनका जन्म काठियावाड़ (गुजरात) के पोरबन्दर नामक स्थान में एक सम्भ्रान्त परिवार में 2 अक्टूबर, 1869 ई० को हुआ था। अबोध बाल्यकाल में आप पर 'श्रवणकुमार' तथा 'सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र' की कहानी का बड़ा प्रभाव पड़ा था। माता-पिता में भक्ति और सत्य के प्रति निष्ठा इसी प्रभाव की एक अभिव्यक्ति थी।

भारत में मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास करने के बाद उन्नीस वर्ष की अवस्था में आप उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैण्ड चले गए। इंग्लैण्ड जाने से पहले आपने अपनी माता से दो प्रतिज्ञाएँ की थीं। प्रथमतः यह कि वे वहाँ जाकर ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे, दूसरे यह कि वे मांस और मदिरा का सेवन नहीं करेंगे। उन्होंने अपने वचनों का पूरी तरह पालन किया। माइकल ब्रेचर के शब्दों में, "भारत लौटने पर गांधीजी पहले की तरह भारतीय थे। उन पर अँग्रेजी सभ्यता का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा था।" इंग्लैण्ड से बैरिस्टरी पास करके लौटने पर आपने राजकोट तथा बम्बई में वकालत प्रारम्भ की। 1893 ई० में वे एक मुकदमे की पैरवी के सिलसिले में दक्षिण अफ्रीका गए। वहाँ की गोरी सरकार की रंगभेद की नीति को देखकर उन्हें क्षोभ हुआ। उन्होंने अँग्रेज सरकार का विरोध करने का निश्चय किया। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में उपेक्षित, शोषित और विपन्न भारतीयों को संगठित किया और सत्याग्रह-आन्दोलन प्रारम्भ किया। यह अपनी दृष्टि से अभिनव और अनुपम आन्दोलन था। आन्दोलन के प्रसंग में आपने अँग्रेज सरकार के अनेक अत्याचार सहे, अनेक यातनाएँ झेलीं। अन्त में अपने आन्दोलन में सफल होकर वे 1914 ई० में भारत आए। पहले उन्हें अँग्रेजों की न्यायप्रियता पर विश्वास था, किन्तु युद्ध समाप्त होने के बाद अँग्रेजों ने दमन का सहारा लिया। रौलेट ऐक्ट इस दमन का प्रतीक था। गांधीजी ने इस दमन के विरोध में सत्याग्रह-आन्दोलन का निश्चय किया। 6 अप्रैल, 1919 ई० में उन्होंने एक देशव्यापी हड़ताल का आयोजन किया। सन् 1920 ई० में कांग्रेस ने विशेष अधिवेशन में गांधीजी को अपना सूत्रधार स्वीकार कर कांग्रेस के नेतृत्व की बागडोर उनके हाथ में सौंप दी। उनके आगमन से कांग्रेस को एक नई शक्ति मिली, भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में एक नए युग का प्रवर्तन हुआ। इतिहास में यह युग (1920-1947 ई०) गांधी-युग के नाम से विश्रुत है।

इस युग में राष्ट्रीय आन्दोलन की समस्त प्रमुख और प्रभावशाली घटनाओं से गांधी जी जुड़े रहे। 1942 ई० में उन्होंने 'अँग्रेजो, भारत छोड़ो' तथा भारतीयों को 'करो या मरो' (Do or Die) का सन्देश देकर क्रांति का आह्वान किया। इस प्रकार महात्मा गांधी ने अपने जीवन में स्वतंत्रता के सपने को पूरा कर लिया। पर दुर्भाग्यवश वे स्वाधीनता के पौधे को विकसित होता हुआ देख न सके, अपने रामराज्य की कल्पना साकार न कर सके। 30 जनवरी, 1948 ई० को एक उग्र युवक ने उन पर गोली से प्रहार किया और 'हे राम!' कहते-कहते इस महामानव ने सदा के लिए अपनी आँखें मूद लीं। पं० जवाहरलाल नेहरू ने उनके प्रति अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा कि "प्रकाश की ज्योति बुझ चुकी है। उनका आलोक हमें युगों तक प्रकाश देता रहेगा"। प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइंस्टीन ने अपनी श्रद्धाञ्जलि व्यक्त करते हुए कहा था कि—"आने वाली पीढ़ियाँ कठिनाई से यह विश्वास करेंगी कि संसार में हाड़-मांस का कोई ऐसा प्राणी भी अवतरित हुआ था।"

राष्ट्रीय आन्दोलन में गांधीजी का योगदान

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को सफल बनाने में गांधीजी ने स्तुत्य योग दिया। संक्षेप में गांधीजी के योगदान को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. राष्ट्रीय आन्दोलन को जन-आन्दोलन बनाया—राष्ट्रीय आन्दोलन में गांधीजी के योगदान का मूल्यांकन करते समय जो सर्वप्रमुख तथ्य हमारे सामने उभरता है, वह गांधीजी द्वारा भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को एक व्यापक आधार देकर उसे जन-आन्दोलन बनाया जाना। गांधीजी के पूर्व राष्ट्रीय आन्दोलन प्रधानतया प्रबुद्ध और शिक्षित भारतीयों तक सीमित था। गांधीजी ने उसे भारत के जन-साधारण तक पहुँचाया। जैसा कि कूपलैण्ड ने लिखा है कि "उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन को जनप्रिय बनाया। अभी तक यह नगरों के बुद्धि-जीवियों तक ही सीमित था, अब वह लाखों की जनता तक पहुँच गया।"

गांधीजी का योगदान

1. राष्ट्रीय आन्दोलन को जन-आन्दोलन बनाया
2. अहिंसात्मक साधनों का प्रयोग
3. अभिनव साधनों का प्रयोग
4. राजनीति को नैतिकता का आधार दिया
5. सभी धर्मों की तात्विक एकता पर जोर दिया
6. स्वदेशी और स्वावलम्बन का सन्देश दिया
7. सक्षम नेतृत्व के विकास में योग दिया
8. हिन्दू-मुस्लिम एकता का संदेश दिया
9. अस्पृश्यता को अन्त करने का सन्देश दिया
10. स्त्रियों की समानता का समर्थन किया
11. सामाजिक दोषों को दूर करने का संदेश दिया
12. समता संदेश दिया
13. श्रम की गरिमा का संदेश दिया

2. स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए अहिंसात्मक साधनों का प्रयोग किया—विश्व के इतिहास-गगन पर सामान्यतया जितनी भी क्रांतियाँ हुई हैं, स्वाधीनता के जितने संग्राम हुए हैं, वे रक्तरंजित रहे हैं। किन्तु गांधीजी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को जो रूप मिला, वह हिंसात्मक न होकर पूर्णतया अहिंसात्मक था। इस प्रकार गांधीजी ने एक रक्तहीन गौरवपूर्ण क्रांति को जन्म दिया।

3. स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए अभिनव साधनों का प्रयोग किया—गांधी जी ने राष्ट्रीय आंदोलन में अभिनव साधनों का प्रयोग किया। सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा, असहयोग-आन्दोलन, स्वदेशी आन्दोलन या विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार आदि के रूप में उन्होंने स्वाधीनता-संग्राम के सेनानियों को नए शस्त्र-अस्त्र दिए।

उनका विचार था कि पवित्र साध्य को प्राप्त करने के लिए साधन भी पवित्र होना चाहिए। हम अपवित्र साधन से पवित्र साध्य को प्राप्त नहीं कर सकते।,

4. राजनीति को नैतिक आधार प्रदान किया—राजनीति सामान्यतया छल, छद्म, झूठ और कपट का पर्याय मानी जाती है। गांधीजी ने राजनीति को नैतिकता का पर्याय बनाया। उनका कहना था कि मेरे लिए धर्मविहीन राजनीति का कोई अर्थ नहीं है। नीति-शून्य राजनीति सर्वथा त्याज्य है। धर्मविहीन राजनीति के विषय में वे कहा करते थे कि "राजनीति आजकल हमें साँप के पाश की तरह लपेटे हुए है जिससे व्यक्ति के लिए मुक्ति पाना असम्भव है, चाहे वे इसके लिए कितना प्रयास क्यों न करें। मैं उस साँप से जूझना चाहता हूँ। अपने में, राजनीति में धर्म को प्रविष्ट करना चाहता हूँ।" सत्य और अहिंसा नैतिकता की दो आधारशिलाएँ हैं। गांधीजी ने इन दोनों आधारशिलाओं को अपनाकर राजनीति को नैतिक आधार प्रदान किया।

5. सभी धर्मों की तात्विक एकता पर जोर दिया—भारतवर्ष विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, मत-मतान्तरों का देश रहा है। भारतीय संस्कृति और समाज की इस विशेषता को दृष्टि-पथ में रखते हुए उन्होंने सभी धर्मों की तात्विक एकता पर जोर दिया। उनका कहना था कि सभी धर्म समान हैं और सभी धर्मों में श्रेष्ठ और नैतिक सिद्धांत पाए जाते हैं जिनके पालन करने से व्यक्ति अपना और समाज का कल्याण कर सकता है। मानव जाति की सेवा, सत्य, अहिंसा, प्रेम और सद्भावना सभी समों की मूल मान्यताएँ हैं। उनका कहना था कि मनुष्य को इन मूल मान्यताओं को मानते हुए दीन-दुखियों की सेवा करनी चाहिए क्योंकि दीन-दुखियों की सेवा ही ईश्वर की सच्ची सेवा है।

6. स्वदेशी और स्वावलम्बन का सन्देश दिया—गांधी जी ने भारतीयों को स्वदेशी और स्वावलम्बन का संदेश देकर ब्रिटिश साम्राज्य की दासता से मुक्ति का मार्ग दिखाया। चर्खा, खादी के वस्त्रों का प्रयोग तथा विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, कुटीर उद्योगों का प्रवर्तन और विकास आदि के द्वारा गांधीजी ने स्वदेशी और स्वावलम्बन का संदेश दिया। इस प्रकार गांधी जी चाहते थे कि भारत का प्रत्येक व्यक्ति स्वावलम्बन और स्वदेशी के महत्व को समझकर उनका अनुगमन करे।

7. राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए सक्षम नेतृत्व के उदय में योग दिया—गांधीजी ने राष्ट्रीय आन्दोलन का स्वतः नेतृत्व तो किया ही, साथ ही उन्होंने आन्दोलन में योग देने के लिए सुयोग्य नेतृत्व के विकास में योग दिया। देश के कोने-कोने में घूमकर गांधीजी ने राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने के लिए सभी वर्गों, सभी धर्मों, सभी प्रदेशों और क्षेत्रों के लोगों को त्याग और उत्सर्ग का संदेश देकर राष्ट्रीय आन्दोलन के महायज्ञ में अपनी आहुति डालने की प्रेरणा दी। गांधीजी के व्यक्तित्व, विचार, कार्य और आदर्श से अनेक लोग उनकी ओर आकृष्ट हुए और राष्ट्रीय आन्दोलन में अपनी भूमिका अदा की।

8. हिन्दू-मुस्लिम एकता का सन्देश दिया—अंग्रेजों ने 'फूट डालो और शासन करो' की नीति अपना कर भारत में अपने साम्राज्य की स्थापना, विस्तार और सुरक्षा का प्रयास किया था। गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का संदेश देकर साम्प्रदायिक सद्भावना का बीज बोकर, 'ईश्वर-अल्लाह तेरे नाम, सबको सम्मति दे भगवान' का स्वर देकर साम्प्रदायिकता को समाप्त करने का प्रयास किया। साम्प्रदायिक दंगों को रोकने तथा साम्प्रदायिक एकता को बनाये रखने के लिए उन्होंने अनशन, उपवास, पदयात्रा आदि का सम्बल लिया। 1947 ई० के हिन्दू-मुस्लिम दंगों के समय किया गया 21 दिन का उपवास, सन् 1947 ई० में स्वाधीनता के समय की गई

नोआखाली की पदयात्रा गांधीजी की साम्प्रदायिक एकता बनाये रखने के प्रयास के जीवत दृष्टान्त हैं। यहाँ तक कि इस प्रकार के प्रयास के कारण ही गांधीजी को 30 जनवरी, 1948 ई० को एक मराठा युवक की गोली का शिकार होना पड़ा था।

9. **अस्पृश्यता को अन्त करने का सन्देश दिया**—अस्पृश्यता भारतीय समाज का एक अत्यन्त विकृत अभिशाप रहा है। गांधीजी यह भली-भाँति जानते थे कि राष्ट्रीय उत्थान के लिए अस्पृश्य कहे जाने वाले लोगों का उत्थान आवश्यक है। अतएव गांधी जी ने अस्पृश्यता या छुआ-छूत के उन्मूलन के लिए सशक्त प्रयास किया। उन्होंने अस्पृश्य कहे जाने वाले लोगों को 'हरिजन' की संज्ञा दी। उनके कल्याण के लिए 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की, हरिजनों के सामाजिक शैक्षिक विकास को प्रेरणा दी, उनकी चतुर्मुखी उन्नति में योग दिया। 1932 ई० में ब्रिटिश सरकार ने हरिजनों को हिन्दू-समाज से पृथक् करने के लिए 'साम्प्रदायिक निर्णय' के रूप में जो प्रयास किया था, उसके विरुद्ध जनमत एकत्र किया और आमरण अनशन किया। यही नहीं, वे स्वतः हरिजन बस्तियों में जाते, वहाँ ठहरते और उनके साथ खाते-पीते थे। गांधीजी सवर्ण हिन्दुओं से कहा करते थे कि "यदि हिन्दू लोग अस्पृश्यता के कलक को बनाये रखेंगे तो वे अपने उत्कृष्ट और उदात्त धर्म को निन्दनीय बना देंगे। ऐसी स्थिति में वे न तो स्वतंत्रता के योग्य ठहरेंगे और न उसे कभी प्राप्त कर सकेंगे।"

10. **स्त्रियों की समानता का समर्थन किया**—स्वाधीनता-संग्राम को सफल बनाने के लिए भारतीय नारियों की दशा में सुधार होना आवश्यक था। अतएव स्त्रियों की दशा में सुधार करने के लिए उन्होंने बाल-विवाह, दहेज-प्रथा आदि का विरोध किया। स्त्रियों को शिक्षित बनाने तथा उनको पुरुषों के समान स्तर प्रदान करने का सन्देश दिया। स्त्रियों के विषय में 'यंग इण्डिया' में व्यक्त उनके ये विचार उल्लेखनीय हैं : "नारी को अबला कहना एक अपमानजनक बात है, यह पुरुष का स्त्री के प्रति अन्याय है। यदि बल का अर्थ शक्ति है, तो स्त्री पुरुष की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है? क्या उसमें आत्म-बलिदान की भावना अधिक नहीं है? क्या उनमें अधिक सहन-शक्ति और अधिक साहस नहीं है? उनके बिना पुरुष कुछ भी नहीं हो सकता सकता। यदि अहिंसा हमारे जीवन का धर्म है तो भविष्य स्त्री के हाथ में है।"

गांधीजी के प्रयास और प्रोत्साहन से भारतीय नारियों में जागृति फैली। वे भी राष्ट्रीय आन्दोलन में अपनी भूमिका अदा करने के लिए आगे आ गईं।

11. **सामाजिक दोषों को दूर कर उन्नति का सन्देश दिया**—गांधीजी ने भारतीय समाज को अपनी विविध विकृतियों से मुक्त होने का सन्देश दिया। भारतीय समाज की अशिक्षा को दूर करने के लिए बेसिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा आदि की कल्पना प्रस्तुत की। इसी प्रकार मद्यपान को रोकने के लिए उन्होंने मद्य-निषेध-आन्दोलन का प्रवर्तन किया।

12. **समता पर आधारित समाज के निर्माण का सन्देश दिया**—गांधीजी का राष्ट्रीय जीवन में अन्य योगदान समता पर आधारित समाज की स्थापना था। इसके लिए वे पूंजीवादी व्यवस्था की विकृतियों को समाप्त करना चाहते थे। उनका कहना था कि "पूंजीपति चाहे अमेरिका का हो या भारत का, उनकी मनोवृत्ति एक-सी होती है।" पूंजीवादी व्यवस्था के दोषों को दूर करने के लिए उन्होंने 'ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त का अर्थ यह था कि "पूंजीपति अपने को पूंजी का स्वामी न मानकर पूंजी का संरक्षक मानेंगे।" वे अपने धन का प्रयोग समाज के कल्याण के लिए करेंगे।

13. **श्रम की गरिमा का सन्देश दिया**—गांधीजी भारतीय समाज को सामंती मूल्यों से मुक्त कर स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर बनाना चाहते थे। अतएव इस दृष्टि से उन्होंने मानव-

जीवन में श्रम की महत्ता का प्रतिपादन किया। इस प्रसंग में उनका कहना था कि मनुष्य की अनिवार्य आवश्यकता है जो कड़ी मेहनत से मिलती है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को श्रम करना चाहिए। श्रम करने से व्यक्ति में आत्म-निर्भरता, ईमानदारी और अन्य नैतिक गुणों का विकास होता है।

इस प्रकार गांधीजी ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से राष्ट्रीय आन्दोलन, जन-जीवन और आन्दोलन के विविध पक्षों को प्रेरित और प्रभावित किया। देश के स्वाधीनता-आन्दोलन का सफल पथ-प्रदर्शन कर उन्होंने जो कार्य किया, वह स्तुत्य और वन्दनीय है। राष्ट्रीय आन्दोलन में अपने इसी योगदान के लिए वे राष्ट्रीय कहलाए। भारत ही नहीं, विश्व के स्वाधीनता-आन्दोलन के इतिहास में उनका नाम स्वर्णाक्षरों से रहेगा। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार "भारतीय जीवन का कोई ऐसा पक्ष नहीं जो महात्माजी से अछूता रह गया हो, जिस पर उनके जीवन का असर न पड़ा हो और जिसके लिए उन्होंने कोई योगदान न किया हो।" भारत-कोकिला श्रीमती सरोजनी नायडू ने गांधीजी के योगदान पर विचार व्यक्त करते हुए एक स्थल पर लिखा है कि "गांधीजी के योगदान मूल्यांकन के लिए हीरे की कलम और शहद की स्याही की आवश्यकता होगी।" जे० एच० होम्स के अनुसार, "भारत को स्वाधीन कराने का जो श्रेय महात्मा गांधी को प्राप्त है, वह अन्य किसी को नहीं है।" इसी प्रकार रोम्याँ रोलाँ ने लिखा है कि "गांधीजी भारत के इतिहास के ऐसे नायक हैं जिनकी कहानी युगों तक प्रचलित रहेगी। उन्होंने समस्त मानवता के संतों और महात्माओं में अपना स्थान प्राप्त किया और उनके व्यक्तित्व की प्रभा समस्त विश्व में व्याप्त हो चुकी है।"

नेताजी सुभासचन्द्र बोस (1897-1945 ई०)[1]

आजाद हिन्द फौज के अमर सेनानी, जय-हिन्द के अमर गायक, क्रांतिपुत्र नेताजी सुभाषचन्द्र बोस का जन्म सन् 1897 ई० की 23 जनवरी को उत्कल प्रान्त के कटक नगर में हुआ था। आपके पिता श्री जानकीनाथ बोस अत्यन्त परिश्रमी, पुरुषार्थी तथा साहसी व्यक्ति थे। आपकी माता शांत, भावुक तथा धर्मपरायण महिला थीं। माता-पिता के गुणों का बालक सुभाष के शिशु-मन पर गहरा प्रभाव पड़ा।

उच्च शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त 24 वर्ष की अवस्था में वे 'इण्डियन सिविल सर्विस' (I. C. S.) की परीक्षा में आ गये, पर असहयोग-आन्दोलन में भाग लेने के लिए उन्होंने ब्रिटिश सरकार की उच्च नौकरी को ठुकरा कर भारत के मुक्ति-संग्राम में सम्मिलित हो गए। 1928 ई० के कलकत्ता अधिवेशन में उन्होंने स्वराज्य का प्रस्ताव प्रस्तुत कर अपनी राजनैतिक चेतना का परिचय दिया। बाद में लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव किया जिसका समर्थन पं० नेहरू ने किया। सन् 1938 ई० में कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन में आपको कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया। इसके दूसरे वर्ष सन् 1939 ई० में त्रिपुरा कांग्रेस के अधिवेशन में आप पुनः कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। इस अधिवेशन में महात्मा गांधीजी डॉ० पट्टाभि सीतारमैया को अध्यक्ष बनाना चाहते थे। इसका मुख्य कारण यह था कि गांधीजी शांतिपूर्ण साधनों से स्वाधीनता प्राप्त करना चाहते थे और सुभाषजी क्रांतिकारी साधनों के द्वारा। पट्टाभि सीतारमैया की हार पर गांधीजी ने कहा था कि "पट्टाभि सीतारमैया की हार मेरी हार है।" फलतः कांग्रेस के अध्यक्ष चुने जाने के बाद गांधी और सुभाष का वैचारिक मतभेद बढ़ता गया।

---

1. नेताजी की मृत्यु हुई या नहीं हुई, इस प्रश्न का निश्चित उत्तर देना सम्भव नहीं है। अधिकांश लोगों के अनुसार उनकी मृत्यु 1945 ई० में एक विमान-दुर्घटना में हो गई थी। किन्तु कुछ लोगों के अनुसार वे अभी जीवित हैं।

अन्ततः सुभाषजी ने कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया और राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए 'फारवर्ड ब्लाक' की स्थापना की।

सन् 1939 में दूसरा महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। इस महायुद्ध के साथ ही नेताजी के जीवन में एक नये अध्याय का प्रवर्तन हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलन में उनकी भूमिका के कारण, ब्रिटिश सरकार ने उन्हें कलकत्ता में उनके ही मकान में नजरबन्द कर दिया। इसी मकान से सन् 1941 में वे वेश बदलकर अपने को जियाउद्दीन बनाकर चुपचाप निकल गये। उनके भागने के समाचार से सरकार स्तब्ध रह गई। उसने उनका पता लगाने की बड़ी कोशिश की, किन्तु उसकी कोशिश व्यर्थ रही। जियाउद्दीन के वेश में वे अफगानिस्तान होते हुए इटली, जर्मनी और अन्त में जापान पहुँचे। जापान, इटली और जर्मनी मिलकर ब्रिटेन तथा उसके मित्र-राष्ट्रों के साथ युद्ध कर रहे थे। सुभाषजी ने ब्रिटेन के इन शत्रु राष्ट्रों से मैत्री कर उनका सहयोग और समर्थन प्राप्त कर अंग्रेजों को देश से बाहर निकालने का संकल्प किया। इस दृष्टि से सिंगापुर में उन्होंने आजाद हिन्द सेना का संगठन किया। इस सेना के वे प्रधान सेनापति बने। सेना को संगठित करते हुए उन्होंने ये प्रेरक शब्द कहे कि "मैं आपको भूख, घोर युद्ध और कठिनाइयों के अतिरिक्त और कुछ नहीं दे सकता।" उन्होंने सैनिकों को दिल्ली चलकर लाल किले पर विजय-पताका फहराने का सन्देश दिया। उन्होंने सैनिकों का उद्‌बोधन करते हुए कहा था कि "बन्धुओ! मेरे सैनिको! तुम्हारा युद्धघोष हो—दिल्ली चलो। मैं नहीं जानता कि हममें से कौन इस स्वतंत्रता-संगाम में जीवित बचेगा, किन्तु मैं यह अवश्य जानता हूँ कि अन्तिम विजय हमारी होगी और हमारा कार्य तब तक पूरा नहीं होगा जब तक कि ब्रिटिश साम्राज्य की एक अन्य समाधि पर पुरानी दिल्ली के लाल किले पर हमारी विजय-वाहिनी विजय-परेड नहीं कर लेगी।"

इस नवगठित आजाद हिन्द सेना को प्रारम्भ में अच्छी सफलता मिली। वह इम्फाल तक पहुँच गई, किन्तु अन्त में भीषण वर्षा और युद्ध-सामग्री की कमी के कारण उन्हें पीछे हटना पड़ा। अन्त में जापान की पराजय के कारण आजाद हिन्द फौज को भी आत्म-समर्पण करना पड़ा। पर सुभाष जीवित या मृत अंग्रेजों के हाथ में न आये। कहा जाता है कि एक विमान-दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गयी। सुभाष जीवित हैं या मृत, यह दूसरा प्रश्न है। किन्तु इतना निश्चित है कि उनका नाम हमारे देश के इतिहास में सदा अमर रहेगा। उनकी देशभक्ति, उनका उत्सर्ग, उनका त्याग हमें हमेशा प्रेरणा देता रहेगा। प्रसिद्ध इतिहासकार रमेशचन्द्र मजूमदार के शब्दों में "गांधीजी के बाद भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के सर्वप्रमुख व्यक्ति निःसन्देह सुभाष थे।" अन्त में डॉ० पट्टाभि सीतारमैया के शब्दों में कह सकते हैं कि "सुभाष स्वयं अपने में एक महान् इतिहास थे। उनमें महान् आकर्षण, विभिन्न महान् उपादानों का समन्वय था। बाल्यकाल से ही उनका जीवन तूफानी था। उनमें रहस्यवाद और वास्तविकता का मिश्रण था, गहरी धार्मिक भावना तथा व्यावहारिक कुशाग्र बुद्धि, गहरी तथा प्रभावी देशभक्ति थी तथा दम्भ का अभाव था।"

पं० जवाहरलाल नेहरू (1889-1964 ई०)

मानवता के प्रतीक, भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के अमर सेनानी, विश्व-शान्ति के सन्देशवाहक तथा भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू का जन्म 14 नवम्बर, 1889 ई० में इलाहाबाद में हुआ था। उनके पिता पं० मोतीलाल नेहरू एक लब्धप्रतिष्ठ वकील थे। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही हुई। घर पर अंग्रेजी शिक्षकों को रखकर उनके अध्ययन-अध्यापन का प्रबन्ध किया गया। 1905 ई० में आप इंगलैंड के हैरो स्कूल में भर्ती हुए। यहाँ दो वर्ष पढ़ने के बाद कैम्ब्रिज के ट्रिनिटी कालेज में आपने प्रवेश लिया। 1912 ई० में बैरिस्ट्री

की डिग्री प्राप्त कर भारत लौट आए। कुछ वर्षों तक उन्होंने वकालत की, किन्तु उनमें उनका मन न लगा। प्रारम्भ में वे श्रीमती एनी वेसेन्ट के प्रभाव में होमरूल आन्दोलन की ओर आकर्षित हुए और स्वराज्य-आन्दोलन में योग दिया। सन् 1920 ई० में गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन में सम्मिलित हुए और जेल गये। उत्तर प्रदेश के किसान-आन्दोलन को संगठित करने में आपने अथक प्रयास किया।

आनन्द-भवन में रहने वाले जवाहर दुःखी किसानों की दुर्दशा देखकर स्वयं को भूल गये। देश को पराधीनता से मुक्त करने का संकल्प लिया, उसे पूरा करके ही सन्तोष किया। 1929 ई० में पहली बार आप कांग्रेस के अध्यक्ष बने और कांग्रेस का लक्ष्य पूर्ण स्वराज्य घोषित किया। असहयोग और सत्याग्रह के दिनों में आप कई बार जेल गए। 1942 ई० की महान् क्रान्ति के अवसर पर देश के अन्य बड़े नेताओं के साथ आप भी जेल गये। सन् 194 ई० तक आप जेल में रहे।

देश के स्वाधीन होने पर आप भारत के प्रथम प्रधान मन्त्री हुए और सत्रह वर्षों तक उस पद पर बने रहे। 27 मई, 1964 ई० को देश की इस महान् विभूति का देहावसान हो गया। उनकी मृत्यु पर देश और विदेश के लोगों ने उन्हें भावभीनी श्रद्धाञ्जलि दी। सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहा कि "नेहरू हमारी पीढ़ी के एक महानतम व्यक्ति थे। वे एक ऐसे अनोखे राजनीतिज्ञ थे जिनकी मानव-मुक्ति के प्रति सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी।"

नेहरू एक स्वतन्त्रता-सेनानी ही नहीं थे, प्रत्युत एक मौलिक विचारक, दूरदर्शी राजनीतिज्ञ, सुयोग्य प्रशासक और मानवता के महान् पुजारी थे। उनका व्यक्तित्व इन्द्रधनुषी था। उनमें विभिन्न मानवीय गुणों का संगम था। उनमें अनेक रंग, अनेक आयाम, दूरदर्शिता, कल्पना, प्रेम, आत्मीयता सब कुछ था। गांधीजी ने उनके व्यक्तित्व के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था, "जहाँ उनमें वीर योद्धा की स्फूर्ति और अधीनता है, वहाँ उनमें राजनीतिज्ञ का विवेक भी है। वे स्फटिक मणि की भाँति पवित्र हैं, उनकी सच्चाई सन्देहरहित है। वह अहिंसक और अभिनन्दनीय योद्धा थे। राष्ट्र उनके हाथों में सुरक्षित है।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि पं० नेहरू गांधीजी की आकांक्षाओं के अनुरूप उत्तरे। स्वाधीनता के उपरान्त परीक्षा की हर घड़ी में वे सफल रहे। स्वाधीन भारत के संविधान की रचना में उन्होंने स्तुत्य योग दिया। प्रधान मंत्री के रूप में उन्होंने राष्ट्र को सक्षम प्रशासन दिया। वे भारत की वैदेशिक नीति के प्रधान निर्माता थे। देश की बहुमुखी प्रगति के लिए उन्होंने पंचवर्षीय योजनाओं के निर्माण की प्रेरणा दी। देश की अर्थनीति के आधारों का निर्धारण कर मिश्रित अर्थव्यवस्था तथा देश में विशाल औद्योगिक प्रतिष्ठानों का प्रवर्तन किया। वे सही अर्थों में आधुनिक भारत के निर्माता थे। विश्व के राजनैतिक रंगमंच पर स्वाधीन भारत ने जो स्थान प्राप्त किया, उसका प्रमुख श्रेय पं० नेहरू को है। वे एक महान् राष्ट्र-निर्माता, महान् स्वप्न-द्रष्टा, महान् विचारक और महान् लेखक थे।[1] उनके देशप्रेम और मानवतावादी दृष्टिबोध का परिज्ञान अग्रलिखित विचारों से मिल जाता है जो उन्होंने अपनी मृत्यु के कुछ दिनों पहले व्यक्त किए थे। उन्होंने कहा था कि "यदि कोई मुझसे पूछे कि इतिहास मेरे लिए क्या लिखे और भविष्य में मुझे किन रूप में याद करे तो मैं इन शब्दों में याद किया जाना पसन्द करूँगा—

---

1. नेहरू की रचनाओं में Discovery of India तथा Glimpses of World History अत्यन्त लोकप्रिय हुईं।

'यह वह व्यक्ति है जो अपने पूरे दिल और दिमाग से हिन्दुस्तान और हिन्दुस्तानियों से प्यार करता था और वे भी उसे चाहते थे और बेहद प्यार करते थे।"

सरदार वल्लभ भाई पटेल (1875-1950 ई०)

लौह-पुरुष सरदार वल्लभ भाई पटेल का जन्म सन् 1875 ई० में गुजरात में हुआ था। अपना अध्ययन समाप्त करने के उपरान्त आपने गुजरात के गोधरा नामक स्थान पर वकालत आरम्भ की। मेधावी, परिश्रमी और निष्ठावान् होने के कारण आपकी प्रैक्टिस खूब चमकी। कुछ पैसा अर्जित करने के उपरान्त आप बैरिस्टरी पास करने के लिए इंग्लैण्ड गए। वहाँ से आकर आपने पुनः प्रैक्टिस प्रारम्भ की।

गांधीजी के व्यक्तित्व और विचारों ने पटेल को भी उनकी ओर आकर्षित किया। खेड़ा-सत्याग्रह में आपने गांधीजी का खुलकर साथ दिया।

रौलेट ऐक्ट के विरोध में आप अपनी वकालत छोड़कर राष्ट्रीय आन्दोलन में पूरी तरह उतर पड़े। सन् 1926 ई० में बाढ़-पीड़ितों की सहायता कर आप ने अपनी संगठन-शक्ति का परिचय दिया। 1928 ई० में बारदोली में आपने किसान-सत्याग्रह का नेतृत्व किया। इस सत्याग्रह में सरकार को झुकना पड़ा। इसी आन्दोलन की सफलता पर आपको 'सरदार' की उपाधि मिली। सन् 1931 ई० में कराची के कांग्रेस अधिवेशन में आप कांग्रेस के अध्यक्ष बने। इस प्रकार वे राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रत्येक पक्ष से पूरी तरह जुड़े रहे। गांधीजी में उन्हें अपार श्रद्धा थी। गांधीजी ने उनके विषय में लिखा है कि "वह (सरदार) मुझे जिस स्नेह के साथ ढके रहते हैं, उससे मुझे अपनी प्यारी माँ के प्यार की याद आती है।"

1946 ई० की अन्तरिम सरकार में आप गृहमन्त्री बने। बाद में भी आप इस पद पर बने रहे। जिस समय आप गृहमन्त्री बने, उस समय मुस्लिम लीग की प्रत्यक्ष कार्यवाही के कारण देश में कानून और व्यवस्था की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। पटेल ने दृढ़ता से स्थिति का सामना किया तथा शान्ति-व्यवस्था स्थापित की। गृहमन्त्री के रूप में आपका दूसरा महत्व-पूर्ण कार्य देशी रियासतों का संगठन था। भारत के स्वाधीन होने के समय देश में लगभग 550 देशी रियासतें थीं। लौह-पुरुष पटेल ने बड़ी कुशलता और दूरदर्शिता से इन रियासतों का एकीकरण किया। लन्दन टाइम्स ने इस प्रसंग में लिखा था कि "भारतीय रियासतों के एकीकरण का उनका कार्य उन्हें बिस्मार्क और एक प्रकार से उनसे भी उच्चतर स्थान प्रदान करता है।" एक जननायक ने सरदार को "बर्फ से ढका हुआ ज्वालामुखी" कहा था। कुछ लोगों ने सरदार पटेल पर साम्प्रदायिकता का दोषारोपण किया है, किन्तु वस्तुतः वे सम्प्रदाय-वादी नहीं थे। वे राष्ट्रवादी थे और राष्ट्र की एकता के अनन्य पोषक और प्रहरी थे। वे ऊपर से भले ही कठोर प्रतीत होते रहे हों, किन्तु उनका हृदय सुकोमल था। जैसा कि एस० के० पाटिल ने लिखा है कि "यदि सरदार राष्ट्र के महान् कार्यों के लिए महान् थे तो मानवीय गुणों में महानतर थे। उनके बाह्य कठोर आवरण के पीछे एक कोमल-भावुक हृदय छिपा था। सम्भवतः कई युगों में केवल एक बार ही इस प्रकार की विभूतियों का जन्म होता है।"

देशरत्न बाबू राजेन्द्रप्रसाद (1884-1963 ई०)

बिहार की इतिहास-विश्रुत भूमि अनेक महापुरुषों की जन्म-स्थली रही है। इसी प्रदेश के सारन जिले के जीरादेई ग्राम में 3 दिसम्बर, 1884 ई० को राजेन्द्र बाबू का जन्म हुआ था जो आगे चलकर देशरत्न के नाम से लोकप्रिय हुए। राजेन्द्र बाबू अत्यन्त मेधावी और परिश्रमी छात्र थे। आप एम० ए० तक की परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त करते रहे। विद्यार्थी जीवन में

ही आप में राजनैतिक चेतना मुखरित हो चुकी थी। राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए बिहार के विद्यार्थियों को जागृत करने तथा संगठित करने में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

अध्ययन समाप्त कर आपने कलकत्ता तथा बाद में पटना हाईकोर्ट में वकालत की। थोड़े ही समय में वकालत में आपकी ख्याति फैल गई। किन्तु पराधीन भारत माँ की व्यथा आपको राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर ले आई। सन् 1917 ई० में वकालत छोड़कर आप असहयोग-आन्दोलन में लग गए। 1917 ई० के चम्पारन-किसान-सत्याग्रह में आपने किसानों को अच्छी तरह संगठित कर गांधीजी के कार्यों में हाथ बँटाया। सन् 1934 ई० में आप कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए। सन् 1946 ई० में भारत के संविधान-निर्माण के लिए गठित संविधान-सभा के स्थायी अध्यक्ष चुने गए। संविधान-सभा के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने अपने कर्तव्य का अत्यन्त कुशलता से पालन किया। इस दृष्टि से उनकी तुलना अमेरिका के संविधान के अध्यक्ष तथा अमेरिका के प्रथम राष्ट्रपति वाशिंगटन से की जाती है। सन् 1950 ई० में संविधान लागू होने पर भारतीय गणतन्त्र के प्रथम राष्ट्रपति चुने गए। पाँच वर्ष की अवधि समाप्त होने पर वे पुनः राष्ट्रपति चुने गए। तीसरी बार पुनः वे चुने जा सकते थे, किन्तु इस बार उन्होंने स्वतः इस पद पर खड़े होने से इन्कार कर दिया। वे राष्ट्रपति पद पर बड़ी गरिमा से कार्य कर अपने अनुवर्तियों के लिए स्वस्थ परम्पराओं को छोड़ गए। पं० नेहरू ने राजेन्द्रप्रसाद जी के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि "वे सीधे-सादे दिखाई पड़ते हैं. पर उसकी ज्वलन्त योग्यता, उनकी निर्मल निष्कपटता, उनकी शक्ति और भारत की स्वतंत्रता के लिए उनकी निष्ठा ऐसे गुण हैं जिनके कारण वे सारे भारत के प्रेमपात्र बन गये।"[1]

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. दादाभाई नौरोजी कौन थे ? उनका राष्ट्रीय आन्दोलन में क्या योगदान है ?

2. "राष्ट्रीय आन्दोलन के उदारवादी जननायकों में गोखले का स्थान प्रमुख है"—इस कथन के प्रकाश में गोपालकृष्ण गोखले के विचारों और योगदान पर प्रकाश डालिए।

3. लोकमान्य तिलक को भारतीय अशान्ति का जनक क्यों कहा जाता ? तिलक के व्यक्तित्व, विचार और योगदान पर प्रकाश डालिए। (उ० प्र०, 1990)

4. भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन में महात्मा गांधी का क्या योग था ? उन्हें राष्ट्रपिता क्यों कहा जाता है ? (उ० प्र०, 1988)

5. सुभाषचन्द्र बोस के व्यक्तित्व, विचार और योगदान पर प्रकाश डालिए। (उ० प्र० 1977, 1982)

6. पं० जवाहरलाल नेहरू का आधुनिक भारत में क्या योगदान है ?

7. निम्नलिखत पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—
   (i) लाला लाजपत राय
   (ii) सरदार वल्लभ भाई पटेल
   (iii) डॉ० राजेन्द्र प्रसाद
   (iv) गोपालकृष्ण गोखले। (उ० प्र०, 1979)

---

1. यहाँ परीक्षा की दृष्टि से महत्वपूर्ण महापुरुषों के जीवन, व्यक्तित्व तथा कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। इनके अतिरिक्त हमारे स्वाधीनता-आन्दोलन से सम्बन्धित अनेक अन्य महापुरुष रहे। किन्तु स्थानाभाव के कारण उन सब पर प्रकाश नहीं डाला जा सका है।

अध्याय 27

भारत के राजनैतिक दल

***भारत की दलीय पद्धति की विशेषताएँ *भारत के प्रमुख राजनैतिक दल *भारतीय दलीय पद्धति की समस्याएँ :—**

आमुख

राजनैतिक प्रयोजन के लिए गठित तथा राजनैतिक आदर्शों पर आधारित मनुष्यों के ऐच्छिक संगठन को राजनैतिक दल कहते हैं। लार्ड ब्राइस ने राजनैतिक दल की परिभाषा करते हुए कहा है कि "राजनैतिक दल संगठित संस्थाएँ हैं जिनकी सदस्यता ऐच्छिक होती है और जो राजनैतिक शक्ति को प्राप्त करने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगाते हैं।"

राजनैतिक दल की अनेक विशेषताएँ होती हैं। प्रत्येक राजनैतिक दल के कुछ निश्चित सिद्धान्त और राजनैतिक आदर्श होते हैं। उसका अपना दलीय संगठन होता है। उसके सदस्यों में दल की नीति और कार्यों के विषय में मतैक्य होता है। उसका उद्देश्य राष्ट्र का व्यापक कल्याण होता है। वह अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वैधानिक साधनों में विश्वास करता है। जनतंत्र में दल का विशिष्ट महत्व होता है। राजनैतिक दलों के अभाव में संसदीय जनतन्त्र की कल्पना नहीं की जा सकती। इसीलिए राजनैतिक दलों को संसदीय व्यवस्था का हृदय-स्थल कहा गया है। संसदीय व्यवस्था में राजनैतिक दल उस व्यवस्था के संचालन में अनेक प्रकार से योग देते हैं। निर्वाचन में हाथ बँटाकर, सरकार का निर्माण कर, प्रतिपक्ष के रूप में कार्य कर तथा जनमत-निर्माण कर राजनैतिक दल संसदीय व्यवस्था के संचालन में अपना योग देते हैं।

भारतीय राजनैतिक दलों की प्रमुख विशेषताएँ

भारत में राजनैतिक दलों का जन्म तो राष्ट्रीय जागरण-काल में ही हो गया था, किन्तु उनका सम्यक् विकास बीसवीं शती में हुआ। अपने विकास के प्रारम्भिक काल में उनकी संख्या कम थी, किन्तु स्वाधीनता के उपरान्त उनकी संख्या में अत्यन्त वृद्धि हो गई। अन्य देशों की दलीय पद्धति की भाँति भारत के राजनैतिक दलों की भी अपनी विशेषताएँ हैं। इन विशेषताओं को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

भारतीय राजनैतिक दल की प्रमुख विशेषताएं

1. बहुदलीय पद्धति
2. राष्ट्रीय नेतृत्व का अभाव
3. वैचारिक आधारों का अभाव
4. व्यक्ति-पूजा की प्रधानता
5. व्यापक संगठन का अभाव
6. दलों की आन्तरिक गुटबन्दी
7. अनुशासन का अभाव
8. सशक्त प्रतिपक्ष का अभाव
9. लम्बे समय तक एक दल की प्रधानता
10. क्षेत्रीय दलों का बाहुल्य

1. बहुदलीय पद्धति—भारत की दलीय पद्धति की सर्वप्रमुख विशेषता बहुदलीय पद्धति है। भारत में एक या दो नहीं, प्रत्युत, अनेक राजनैतिक दल हैं। भारत में दलों की बहुलता को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यहाँ उतने ही राजनैतिक दल हैं जितने कि प्रभावशाली नेता। इस बात का स्पष्टीकरण इस तथ्य से लग जाता है कि निर्वाचन आयोग द्वारा 1989 ई० के अन्तिम चरण में 291 राजनैतिक दलों का पंजीकरण हुआ।

2. राष्ट्रीय नेतृत्व का अभाव—विगत वर्षों में भारतीय राजनैतिक दलों का जो एक और लक्षण सामने उभर कर आया, वह है राष्ट्रीय नेतृत्व का अभाव। स्वाधीनता-प्राप्ति के प्रारम्भिक काल-खण्डों के राष्ट्रीय स्तर के अनेक जननायक थे। किन्तु धीरे-धीरे राष्ट्रीय स्तर के नेताओं का अभाव होता गया। आज भारत में राजनैतिक दल तो बहुत हैं, किन्तु राष्ट्रीय स्तर के नेता नहीं के बराबर हैं।

3. वैचारिक आधारों का अभाव—भारत में राजनैतिक दलों की अन्य विशेषता वैचारिक आधारों का अभाव रहा है। आज कुछ दलों को छोड़कर अधिकांश राजनैतिक दल ऐसे हैं जिनके वैचारिक आधार और राजनैतिक आदर्शों के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। राजनैतिक आदर्शों के स्पष्ट दर्शन या नीतियों के अभाव के कारण प्रत्येक दल सभी प्रकार की मान्यताओं और विरोधी हितों के लोगों का जमघट बन गया है।

4. व्यक्ति-पूजा की प्रधानता—भारतीय दलीय व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता व्यक्ति-पूजा की प्रधानता है। दल की स्पष्ट नीति और सिद्धान्तों के अभाव के कारण इस प्रवृत्ति को और प्रोत्साहन मिला है। परिणामतः अपने स्वार्थ साधन के लिए तथा दलीय सदस्यता का पूरा लाभ उठाने के लिए दल के महत्वाकांक्षी सदस्यों में व्यक्ति-पूजा का आश्रय लेने की प्रवृत्ति पूरी तरह पनपी है।

5. व्यापक संगठन का अभाव—कुछ दलों को छोड़कर अधिकांश राजनैतिक दलों का दलीय संगठन अत्यन्त शिथिल है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि दल के अधिकांश सदस्य संगठन की अपेक्षा सत्ता से जुड़े रहना अधिक लाभकारी समझते हैं। दूसरे यह कि कुछ दलों को छोड़कर अन्य राजनैतिक दलों के पास दल के प्रति वास्तविक निष्ठावान् कार्यकर्ताओं का कोई 'कैडर' नहीं है।

6. दलों की आंतरिक गुटबंदी—राष्ट्रीय हित के प्रति उदासीनता तथा सत्ता की लालसा ने भारत की दलीय व्यवस्था में आन्तरिक गुटबन्दी को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया। आज स्थिति यह हो गई है कि प्रत्येक दल के अन्दर एक प्रकार से अनेक लघु दल बन गए हैं।

7. अनुशासन का अभाव—अनुशासन दलीय संगठन का प्रमुख आधार होता है। संसार के अनेक दल ऐसे हैं जहाँ दलीय अनुशासन की स्थिति अत्यन्त स्वस्थ है, किन्तु भारत में दलीय अनुशासन का नितान्त अभाव है। दलीय अनुशासन का यह अभाव भारत में दल-बदल का एक प्रमुख कारण बन गया है।

8. सशक्त प्रतिपक्ष का अभाव—सशक्त प्रतिपक्ष संसदीय शासन के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है, किन्तु भारत की दलीय व्यवस्था अभी तक सशक्त प्रतिपक्ष या विरोधी दल का विकास करने में असमर्थ रही है। भारत के राजनैतिक दलों के इतिहास में पहली बार छठी लोकसभा के निर्वाचन के उपरान्त जनता पार्टी की विजयी और कांग्रेस की पराजय के बाद सशक्त प्रतिपक्ष सामने आया था।

9. लम्बे समय तक एक दल की प्रधानता—भारतीय राजनैतिक दलों की एक प्रमुख विशेषता एक लम्बे समय तक एक ही दल की प्रधानता रही है। यह भारत के राजनैतिक जीवन की विडम्बना ही है कि जनता पार्टी को थोड़ी-सी अवधि के अतिरिक्त भारत के राजनैतिक क्षितिज पर एक ही राजनैतिक दल का प्रभुत्व और वर्चस्व रहा है। यह दल रहा है भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस जिसने अपनी युगयात्रा में अनेक मोड़ लिए हैं।

10. क्षेत्रीय दलों का बाहुल्य—भारतीय दलीय व्यवस्था का अन्य प्रमुख लक्षण क्षेत्रीय दलों की बहुलता रहा है। इन क्षेत्रीय दलों की बहुलता का मुख्य कारण राष्ट्रीय हितों के प्रति उदासीनता रही है। यही कारण है कि देश में अनेक ऐसे दल हैं जिनका प्रमुख आधार क्षेत्रीय है। अन्ना द्रविड़ मुन्नेत्र कड़घम, द्रविड़ मुन्नेत्र कड़घम, शिरोमणि अकाली दल, तेलगू देशम्, उपजाति युवा समिति, महाराष्ट्र, गोमान्तक पार्टी, सिक्किम प्रजातंत्र पार्टी तथा असम में गणपरिषद इसी प्रकार के क्षेत्रीय राजनैतिक दल हैं।

भारत के प्रमुख राजनैतिक दल

वर्तमान समय में भारत की राजनैतिक व्यवस्था में मुख्यतया अग्रलिखित राजनैतिक दल महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं—

1

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना दिसम्बर, सन् 1885 ई० में हुई थी। एक अवकाश-प्राप्त अंग्रेज पदाधिकारी श्री ए० ओ० ह्यूम इसकी स्थापना के प्रमुख प्रेरणा-स्रोत थे। इसलिए उन्हें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (इण्डियन नेशनल कांग्रेस) का जनक कहा जाता है। एक अंग्रेज पदाधिकारी द्वारा भारतीयों के हित के लिए कांग्रेस की स्थापना के पीछे क्या प्रयोजन थे, यह एक विवादास्पद प्रश्न है।

कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन बम्बई में हुआ था। श्री उमेशचन्द्र बनर्जी इसके प्रथम अधिवेशन के अध्यक्ष थे।

प्रारम्भ में कांग्रेस छोटे-छोटे सुधारों के लिए सरकार से आवेदन करती रही। उसे अंग्रेजों की सद्भावना में विश्वास था और उसके अधिकांश सदस्य संवैधानिक साधनों में आस्था रखते थे। प्रारम्भ में अंग्रेजों से कोई शंका नहीं थी, कांग्रेस और सरकार के मध्य संबंध भी सौहार्दपूर्ण थे। कलकत्ता की भी कांग्रेस और मद्रास अधिवेशनों में वहाँ के गवर्नरों द्वारा कांग्रेस अधिवेशनों के प्रतिनिधियों को दिए गए प्रीतिभोज इसके प्रमाण हैं।

कालान्तर में कतिपय ऐसी घटनाएँ घटीं जिससे कांग्रेस में एक उग्रवादी दल का उदय हुआ। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय तथा श्री विपिनचन्द्र पाल इस दल के तीन प्रमुख नेता थे। लाला लाजपत राय ने कांग्रेस की नीति को 'भिखमंगेपन की नीति' (Policy of Mendicancy) कहा तथा स्वावलम्बी नीति के अपनाने की बात कही। उधर नरम दल के नेता गोपालकृष्ण गोखले थे। इस प्रकार कांग्रेस में अब दो दल थे—उग्र दल और नरम दल। सन् 1907 ई० के कांग्रेस के सूरत-अधिवेशन में उग्र दल और नरम दल की फूट खुलकर सामने आ गई। फलतः सूरत कांग्रेस में उग्र दल के लोग कांग्रेस से अलग हो गए।

सूरत की फूट के बाद नरम दलीय नेताओं ने इलाहाबाद में एक बैठक कर कांग्रेस के लिए एक विधान तैयार किया। 1916 ई० में लखनऊ में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। सूरत अधिवेशन से लेकर कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन तक कांग्रेस कोई महत्वपूर्ण उपलब्धि प्राप्त करने में असफल रही। ब्रिटिश सरकार कांग्रेस की सामान्य माँगों की ओर भी उदा-

सीन रही। यही नहीं, सरकार ने उग्रवादी नेताओं, यथा श्री अजीतसिंह व लाला लाजपत राय को 1907 ई० में बिना मुकदमा चलाए जेल भेज दिया। उधर श्री तिलक को 'केसरी' में कुछ लेख लिखने के लिए 6 वर्ष के लिए मांडले जेल भेज दिया गया। बंगाल में भी अनेक नेताओं का निर्वासन किया गया। इस परिवेश में सन् 1916 ई० में लखनऊ अधिवेशन में उग्रवादी दल और नरम दल दोनों एक हो गए। तिलक अब छूटकर आ गये थे जिन्होंने अधिवेशन में स्वयं स्वराज्य-सम्बन्धी प्रस्ताव पेश किया और 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' का नारा देकर भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में नए प्राण फूंके।

इधर सन् 1914 ई० में गांधीजी भारत लौटे। उनके आगमन से कांग्रेस को एक नया नेतृत्व मिला। सन् 1920 में कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस का ध्येय शान्तिपूर्ण तथा वैध साधनों से स्वराज्य-प्राप्ति घोषित किया गया। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कांग्रेस निरन्तर प्रयास करती रही। अन्त में सन् 1947 ई० में वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल रही। वस्तुतः कांग्रेस का इतिहास भारतीय स्वाधीनता का इतिहास है।

स्वाधीनता के बाद सन् 1948 ई० में कांग्रेस ने अपने जयपुर अधिवेशन में राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक अधिकारों पर आधारित एक सहकारी समानतंत्र (Co-operative Commonwealth) की बात कही।

सन् 1955 ई० के अवाडी अधिवेशन में कांग्रेस ने एक नया मोड़ लिया। एक विशेष प्रस्ताव में कहा गया कि कांग्रेस का ध्येय एक ऐसे समाजवादी समाज की स्थापना करना होगा जिसके अन्तर्गत राज्य के मुख्य उत्पादन साधनों पर राष्ट्र का स्वामित्व हो। उत्पादन की वृद्धि का प्रयास किया जाय तथा राष्ट्रीय सम्पत्ति का वितरण न्यायपूर्वक हो।

सन् 1964 ई० में कांग्रेस के भुवनेश्वर-अधिवेशन में कांग्रेस का ध्येय जनतान्त्रिक समाजवाद (Democratic Socialism) घोषित किया गया। नेहरू के जीवन काल के अन्तिम वर्षों में राष्ट्रीय कांग्रेस के विघटनकारी तत्व उभरने लगे। धीरे-धीरे वे खुलकर सामने आए। सन् 1969 ई० के निर्वाचन में मतभेद और भी स्पष्ट हो गए। 1969 ई० में डॉ० जाकिर हुसेन की मृत्यु के बाद राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के प्रश्न पर कांग्रेस में विभाजन हो गया।

इस विभाजन के फलस्वरूप कांग्रेस के दो संगठन हो गये—नई कांग्रेस और पुरानी कांग्रेस या संगठन कांग्रेस। सत्ता कांग्रेस का नेतृत्व श्रीमती इन्दिरा गांधी के हाथों में रहा और संगठन कांग्रेस का नेतृत्व श्री मोरार जी, श्री निजलिंगप्पा आदि के हाथों में रहा। राष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचन में श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा समर्थित स्वतंत्र उम्मीदवार श्री वी० वी० गिरि ने कांग्रेस के उम्मीदवार श्री नीलम संजीव रेड्डी को हरा दिया। यही नीलम संजीव रेड्डी बाद में भारत के निर्विरोध राष्ट्रपति चुने गए।

सन् 1971 ई० का निर्वाचन और कांग्रेस—सन् 1971 ई० में हुए संसदीय निर्वाचन में सत्ता कांग्रेस को भारी बहुमत मिला। सत्ता कांग्रेस को 350 तथा संगठन कांग्रेस को केवल 15 स्थान मिले। इस अवसर पर सत्ता कांग्रेस द्वारा जो चुनाव-घोषणा-पत्र जारी किया गया, उसमें कहा गया कि कांग्रेस का लक्ष्य लोकतान्त्रिक समाजवाद, हिंसा और अराजकता का अन्त, धर्म-निरपेक्षता की रक्षा, सम्पत्ति की विषमता की रोक तथा प्रिवी पर्स जैसे विशेष अधिकार की समाप्ति, रोजगार के नये अवसरों का सृजन, मूल्य-नियंत्रण तथा इन कार्यों की पूर्ति के लिए संविधान में संशोधन आवश्यक है।

सत्ता कांग्रेस ने अपनी घोषणा के अनुसार अनेक कदम उठाए। जीवन बीमा का राष्ट्रीयकरण, बैंकों का राष्ट्रीयकरण तथा प्रिवी पर्स की समाप्ति कर सत्ता कांग्रेस ने अपने वायदों को पूरा करने की दिशा में कदम उठाया।

परन्तु इसी बीच 1975 ई० की जून में श्रीमती इन्दिरा गांधी के चुनाव को इलाहाबाद हाईकोर्ट ने अवैध घोषित कर दिया। अतः प्रतिपक्ष ने अपने विरोध को सबल बनाया और श्रीमती इन्दिरा गांधी के त्यागपत्र के लिए आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। देश में विशेषकर उत्तरी भारत में विरोध की लहर उठने लगी। अन्त में 1975 ई० में आपातकाल घोषणा की गई। आपातकाल की घटनाओं के कारण सत्ता कांग्रेस अपनी लोकप्रियता खो बैठी। मार्च, 1977 ई० में लोकसभा के निर्वाचन हुए। निर्वाचन में श्री जगजीवन राम तथा कुछ अन्य नेता सत्ता कांग्रेस से अलग हो गए। इस छठी लोकसभा के निर्वाचन में कांग्रेस के हाथ से सत्ता निकल गई। जनता पार्टी शक्ति में आ गई। फलतः कांग्रेस के अधिकांश पुराने नेता इन्दिरा गांधी से हटते गये। इन्दिरा-समर्थकों का वर्ग कांग्रेस को इन्दिरा के नेतृत्व के अंतर्गत रखना चाहता था, किन्तु कांग्रेस के अनेक वरिष्ठ नेता पक्ष में नहीं थे।

अन्त में इन्दिरा कांग्रेस के समर्थकों ने 1978 ई० की जनवरी में दिल्ली में एक सम्मेलन कर पारस्परिक कांग्रेस से अलग इन्दिरा कांग्रेस की स्थापना की। इस कांग्रेस ने पंजे के निशान पर चुनाव लड़ा। 1980 ई० के मध्यावधि संसदीय चुनाव में इन्दिरा कांग्रेस भारी बहुमत से विजयी हुई।

सत्ता में आने के बाद श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में देश की सुरक्षा और प्रगति के लिए कांग्रेस सरकार ने अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाए। इस समय देश की विघटनकारी शक्तियाँ बलवती हो रही थीं। खालिस्तान की माँग, पंजाब में उग्रवादियों या देशद्रोही गतिविधियाँ, असम आन्दोलन, कश्मीर का अशान्त वातावरण में कांग्रेस सरकार उलझी रही। देश की आर्थिक समस्याएँ भी उसे विपन्न करती रहीं। पंजाब में उग्रवादियों के कारण स्थिति इतनी भयावह हो गई कि जून, 1885 ई० के प्रथम सप्ताह में अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर में सेना को प्रवेश करना पड़ा और सरकार को सैनिक कार्यवाही करनी पड़ी। इससे आतंकवादी गतिविधियों का शमन हुआ। किन्तु राष्ट्रविरोधी शक्तियाँ गुप्त रूप से अपना षड्यंत्र चलाती रहीं। देश की लोकप्रिय जननेत्री, श्रीमती इन्दिरा गांधी इस षड्यंत्र की शिकार हुईं। 31 अक्टूबर, 1984 ई० को उनकी उन्हीं के निवास-स्थान पर उन्हीं के कुछ अंग-रक्षकों द्वारा हत्या कर दी गई।

श्रीमती इन्दिरा गांधी की मृत्यु के बाद श्री राजीव गांधी प्रधान मंत्री बने। उनके नेतृत्व में आठवीं लोक सभा के निर्वाचन में कांग्रेस को सफलता मिली।

आठवीं लोक सभा में 542 स्थानों में से 415 स्थान कांग्रेस को मिले थे। अपने कार्यकाल में श्री राजीव गांधी ने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। कई समस्याओं का समाधान किया गया। कई महत्वपूर्ण अधिनियम बने। इन अधिनियमों (कानूनों में) दल-बदल को रोकने से सम्बन्धित अधिनियम तथा 18 वर्ष की आयु पर मताधिकार देने का अधिनियम मुख्य है। कांग्रेस ने देश के आर्थिक विकास को आधुनिक आयाम देने का प्रयास किया। किन्तु अनेक समस्याएँ प्रश्न-चिह्न के रूप में खड़ी रहीं। इधर 'बोफोर्स काण्ड' और 'फ़ेयरफैक्स' के मामले को लेकर श्री राजीव गांधी और उनकी सरकार की कटु आलोचना हुई। कांग्रेस को अपदस्थ करने के लिए राष्ट्रीय मोर्चे का गठन हुआ। फलतः नवीं लोक सभा में कांग्रेस को केवल 193 स्थान मिले। जबकि आठवीं लोक सभा में 542 स्थानों में से 415 स्थान मिले थे। इसी समय होने वाले विधान सभा चुनावों में उत्तर भारत में मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और बिहार जैसे

राज्यों में कांग्रेस पराजित हुई। पश्चिमी भारत में गुजरात भी उसके हाथों से निकल गया। हाँ महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश और कर्णाटक में कांग्रेस पार्टी सत्ता में आने में सफल रही।

नवीं लोक सभा में किसी भी पार्टी को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। कांग्रेस (इ) ही ऐसी पार्टी थी जिसे अन्य सभी राजनैतिक दलों से अधिक स्थान मिले थे। पर कांग्रेस (इ) के अध्यक्ष राजीव गांधी ने पूर्ण बहुमत न होने के कारण सरकार बनाने से इन्कार कर दिया। राष्ट्रीय मोर्चा की सरकार बनी। श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह प्रधान मंत्री बने। किन्तु भारतीय जनता पार्टी ने वी० पी० सिंह की सरकार को अपना समर्थन देना बन्द कर दिया। लोक सभा में विश्वास-मत प्राप्त न कर सकने के कारण वी० पी० सिंह को त्याग-पत्र देना पड़ा। उसके बाद कांग्रेस (इ) के समर्थन से श्री चन्द्र शेखर ने अपनी सरकार बनाई। बाद में श्री चन्द्र शेखर सरकार ने लोक सभा भंग कर नए चुनाव कराने का राष्ट्रपति को परामर्श दिया।

फलतः मई-जून 1991 ई० में लोक सभा तथा कुछ राज्यों की विधान सभाओं के लिए चुनाव हुए। इसी बीच 21 मई को राजीव गान्धी की मद्रास के निकट एक गाँव में हत्या कर दी गई। दसवीं लोक सभा के निर्वाचन में कांग्रेस को 225 स्थान प्राप्त हुए, 525 स्थानों के लिए निर्वाचन हुए थे। लोक सभा में सबसे अधिक स्थान प्राप्त करने के कारण कांग्रेस को सरकार बनाने का अवसर मिला। पी० वी० नरसिंहा राव के नेतृत्व में केन्द्र में पुनः कांग्रेस की सरकार बनी। कांग्रेस केन्द्र में तो सरकार बनाने में सफल रही। किन्तु उत्तर प्रदेश जैसे राज्य की विधान-सभा के निर्वाचन में वह बुरी तरह पराजित हुई।

केन्द्र में पूर्ण बहुमत न होने के कारण कांग्रेस अत्यन्त सशक्त नहीं है। उसके सामने कई चुनौतियाँ हैं। किन्तु आशा की जाती है कि कांग्रेस इन चुनौतियों का सामना कर देश को केन्द्र की दृष्टि से एक स्थायी शासन दे सकेगी।

जनता दल

जनता दल का जन्म सन् 1988 ई० के अन्तिम दशक में नवीं लोक सभा के निर्वाचन के पूर्व हुआ। इसके पूर्व छठी लोक सभा के निर्वाचन के समय जनता पार्टी का गठन हुआ। इसी जनता पार्टी, जन मोर्चा तथा लोक दल के विलय से जनता दल का जन्म हुआ। इसी समय कांग्रेस के अनेक प्रतिपक्षी दलों ने मिलकर 'राष्ट्रीय मोर्चा' (नेशनल फ्रण्ट) का गठन किया। राष्ट्रीय मोर्चे में, जनता दल के अतिरिक्त कांग्रेस (एस०), 'तेलगू देशम', 'द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम' तथा 'असम गण परिषद' जैसे क्षेत्रीय राजनैतिक दल सम्मिलित थे।

नवीं लोक सभा के निर्वाचन के समय जनता दल ने अपना चुनाव घोषणा-पत्र जारी किया। इस चुनाव घोषणा-पत्र की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(1) किसानों का दस हजार तक का ऋण माफ कर दिया जायगा।

(2) मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू किया जायगा।

(3) अल्पसंख्यक आयोग को वैधानिक दर्जा दिया जायगा।

(4) रोजगार के अधिकार को मूल अधिकारों के अन्तर्गत सम्मिलित किया जायगा।

(5) अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के लोगों पर किए जाने वाले अत्याचारों के लिए विशेष न्यायालय बनाए जायेंगे।

(6) दूरदर्शन और आकाशवाणी को स्वायत्तता प्रदान की जायगी।

(7) साम्प्रदायिक दंगों का दृढ़ता से दमन किया जायगा तथा साम्प्रदायिक एकता के लिए प्रयास किया जायगा।

(8) राज्यपाल पद के दुरुपयोग को रोकने के लिए तथा राज्यपाल को उत्तरदायी बनाने के प्रयास किए जायेंगे।

(9) बोफोर्स काण्ड की जाँच की जायगी और उसमें पाए गए दोषी लोगों को दण्डित किया जायगा।

(10) राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद की स्थापना की जायगी।

(11) केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक संबंधों को व्यवस्थित करने के लिए 'सहकारी संघवाद' (कोआपरेटिव फेडरलिज्म) का विकास किया जायगा।

(12) महिलाओं को नौकरियों में बीस प्रतिशत स्थान दिलाने का प्रयास किया जायगा।

(13) पिछड़े हुए वर्गों के उत्थान के लिए आवश्यक कदम उठाए जायेंगे।

(14) शासन में व्याप्त भ्रष्टाचार को दूर कर भ्रष्टाचार रहित शासन की स्थापना का प्रयास किया जायगा।

(15) किसानों को उनकी उपज का लाभकारी मूल्य दिलाने का प्रयास किया जायगा तथा गाँवों का धन गाँवों में ही खर्च किया जायगा।

(16) ग्रामीण तथा नगरीय क्षेत्र में स्थापित स्वायत्त संस्थाओं के विकास और विस्तार का प्रयास किया जायगा।

नवीं लोक सभा-निर्वाचन में जनता दल को 141 स्थान मिले। राष्ट्रीय मोर्चा ने 315 स्थानों के लिए अपने प्रत्याशी खड़े किए थे। इस प्रकार जनता दल को पूर्ण बहुमत नहीं मिला। फिर भी वह भारतीय जनता पार्टी तथा अन्य दलों के समर्थन से अपनी सरकार बनाने में सफल रही। श्री विश्वनाथ प्रतापसिंह जनता दल के संसद के प्रधान नेता चुने गए। वे देश के प्रधानमंत्री बने। इस प्रकार अल्पमत में होते हुए भी जनता दल अपनी सरकार बनाने में सफल रहा।

श्री वी० पी० सिंह की सरकार से पहले लोगों को बड़ी आशाएँ थीं किन्तु कुछ ही महीनों में वे आशाएँ निराशा में बदल गई। वी० पी० सिंह ने भारतीय जनता पार्टी और वामपंथी दलों के समर्थन से सरकार बनाई थी। किन्तु श्री राम जन्म-भूमि आन्दोलन के कारण भारतीय जनता पार्टी ने अपना समर्थन वापस ले लिया। वी० पी० सिंह की सरकार लोक सभा में विश्वास प्राप्त करने में असमर्थ रही। कांग्रेस (इ) ने श्री चन्द्र शेखर को अपना समर्थन देने का आश्वासन दिया। चन्द्र शेखर ने जनता दल के कुछ सदस्यों को लेकर सरकार का गठन किया।

इस प्रकार जनता दल (सोशलिस्ट) 'समाजवादी जनता दल' नाम से एक नए राजनैतिक दल का गठन हुआ। किन्तु थोड़े समय बाद ही राजीव गान्धी और चन्द्रशेखर में मतभेद हो गया। इस आशंका से कि कांग्रेस (आई) अपना समर्थन वापस ले लेगी चन्द्रशेखर ने राष्ट्रपति को लोक सभा भंग करने की सलाह दी। फलतः मई-जून में दसवीं लोक सभा के लिए चुनाव हुए। इस चुनाव में जनता दल और 'जनता दल सोशलिस्ट' को आशानुरूप सफलता नहीं मिली। जनता दल, को 55 तथा समाजवादी जनता दल को केवल 5 स्थान प्राप्त हुए। उत्तर प्रदेश में दोनों जनता दल पराजित हुए।

वहाँ भारतीय जनता पार्टी की सरकार बनी। फलतः मई-जून 1991 ई० में चुनाव हुए। इसी बीच 21 मई को राजीव गान्धी की मद्रास के निकट एक ग्राम में हत्या कर दी गई। दसवीं लोक सभा में कांग्रेस को सर्वाधिक स्थान प्राप्त हुए। श्री पी० वी० नरसिंहाराव के नेतृत्व में कांग्रेस पुनः सत्ता में आ गई है।

4

भारतीय जनता पार्टी

भारतीय जनता पार्टी पूर्ववर्ती भारतीय जनसंघ का नया संस्करण है। सातवीं लोक सभा के निर्वाचन के उपरान्त तथा नौ राज्यों में विधानसभाओं के निर्वाचन के पूर्व भारतीय जनता पार्टी का जन्म हुआ। श्री अटलबिहारी बाजपेयी तथा लालकृष्ण अडवानी इसके वरिष्ठ जन-नायक हैं। संगठन की दृष्टि से इसे अत्यन्त सुगठित और अनुशासित दल कहा जा सकता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा समर्पित होने के कारण भारतीय जनता पार्टी के पास अनुशासित तथा निष्ठावान् कार्यकर्त्ताओं का एक सुप्रशिक्षित 'भण्डार' है। मध्य-प्रदेश, उत्तर प्रदेश, पंजाब, दिल्ली तथा राजस्थान इस दल के प्रमुख प्रभाव-क्षेत्र हैं। किन्तु 1980 से राज्यों में होने वाले विधान-सभाओं के चुनावों में कुछ अन्य दलों की भाँति यह भी किसी राज्य में बहुमत प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकी।

आठवीं लोक सभा के निर्वाचन (1984) तथा बाद में होने वाले राज्यों की विधान-सभाओं के निर्वाचन (1985) में भी भारतीय जनता पार्टी समुचित सफलता प्राप्त न कर सकी। किन्तु नवीं लोकसभा के निर्वाचन में 'भारतीय जनता पार्टी' को अभूतपूर्व सफलता मिली। उसे लोकसभा में 88 स्थान प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त उसे राज्यों की विधान-सभा के चुनावों में अच्छी सफलता मिली। मध्य प्रदेश और हिमाचल प्रदेश विधान-सभा के निर्वाचन में उसे पूर्ण बहुमत मिला। इन राज्यों में उसकी सरकार बनी। राजस्थान और गुजरात में भी उसे अच्छी विजय हासिल हुई।

भारतीय जनता पार्टी 'पंच निष्ठाओं' को अपने राजनैतिक जीवन का आधार मानती है। ये पाँच निष्ठाएँ इस प्रकार हैं—(i) जनतांत्रिक शासन-प्रणाली, (ii) सकारात्मक धर्म-निरपेक्षता की भावना, (iii) राष्ट्र के प्रति समर्पण की भावना, (iv) गांधीवादी समाजवाद तथा (v) नैतिक मूल्यों पर आधारित राजनीति।

नवीं लोक सभा-निर्वाचन के समय 'भारतीय जनता पार्टी' ने अपना जो घोषणा-पत्र जारी किया था, उसके मुख्य विचार इस प्रकार हैं—(1) पार्टी सकारात्मक धर्म-निरपेक्षता में विश्वास करती है। (2) पार्टी स्वच्छ प्रशासन में विश्वास करती है तथा वह स्वच्छ शासन को स्थापित करने का प्रयास करेगी। (3) पार्टी सभी प्रकार के भ्रष्टाचार की जाँच का प्रयास करेगी तथा दोषी लोगोंको दण्ड दिलाने के लिए कदम उठाएगी। (4) पार्टी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रति अपनाई गई तुष्टीकरण की नीति को राष्ट्र के लिए घातक समझती है, अतएव सत्ता में आने पर इस प्रकार की नीति को समाप्त करने का प्रयास करेगी, किन्तु पार्टी सभी वर्गों को न्याय दिलाने के लिए प्रयत्नशील रहेगी। (5) पार्टी मण्डलआयोग की सिफारिशों को लागू करने पर जोर देगी, साथ ही अन्य दुर्बल वर्ग के लोगों को भी वह आरक्षण की

सुविधा दिलाने के लिए प्रयत्न करेगी। (6) पार्टी देश में अवैध रूप से घुस आए विदेशी तत्वों को देश से निकाल कर बाहर करेगी, उनकी सम्पत्ति का अपहरण कर लेगी, किन्तु जो वास्तव में शरणार्थी हैं उनके हितों की रक्षा करेगी। (7) पार्टी किसानों के ऋण को माफ कर देगी, साथ ही अन्य श्रमिकों और शिल्पियों के ऋण को भी माफ कर देगी। (8) पार्टी गोवध पर प्रतिबंध लगाएगी। (9) पार्टी आयकर की छूट की सीमा को तीस हजार रुपये कर देगी तथा सभी प्रकार की बचत और पूंजी विनियोग को 'सम्पत्ति कर तथा सम्पदा कर' से मुक्त करेगी। (10) पार्टी मूल्य वृद्धि को नियंत्रित करने के लिए एक मूल्य आयोग गठित करेगी। (11) पार्टी कृषि-औद्योगिक विकास का पूरी तरह विस्तार करेगी। (12) पार्टी सिंधी बोलने वाले लोगों को सामाजिक तथा राजनैतिक जीवन में समुचित प्रतिनिधित्व दिलाने का प्रयास करेगी। (13) पार्टी छोटे किन्तु सशक्त राज्यों के गठन में विश्वास करती है। (14) पार्टी कश्मीर के लिए विशेष अधिकार देने वाले संविधान के 370वें अनुच्छेद को हटाने का आग्रह करती है।

इधर 'विश्व हिन्दू परिषद' के साथ भारतीय जनता पार्टी ने अयोध्या में राम जन्म भूमि' पर मन्दिर निर्माण के लिए एक अत्यन्त व्यापक आन्दोलन चलाया। इस आन्दोलन में लाखों आदमियों ने योग दिया। लाखों लोग जेल गये। अयोध्या में इसी प्रक्रिया में अनगिनत राम भक्तों को अपने प्राणों की आहूति देनी पड़ी। इसका भारतीय जनता पार्टी को महत्वपूर्ण राजनैतिक लाभ हुआ। केन्द्र में उसे दसवीं लोक सभा में 119 स्थान मिले और उत्तर प्रदेश जैसे राज्य में उसे पहली बार सरकार बनाने का अवसर मिला। भारतीय जनता पार्टी कहाँ तक अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल होती है, यह तो भविष्य ही बताएगा।

भारतीय जनता पार्टी राष्ट्र की अखण्डता और एकता में विश्वास करती है। उसके अनुसार कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक सारे भारतवासी चाहे वे किसी धर्म-जाति या भाषा-भाषी हों एक राष्ट्र के अंग हैं।

5

भारतीय साम्यवादी दल

भारतीय साम्यवादी दल (कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इण्डिया) की स्थापना सन् 1924 ई० में हो गई थी, किन्तु ब्रिटिश सरकार द्वारा इसे अवैध घोषित कर दिया गया। फलतः वह खुल कर काम न कर सका। इस अवधि में साम्यवादी दल ट्रेड यूनियन, मजदूर-संघों तथा छात्र-वर्ग में कार्य करता रहा। द्वितीय महायुद्ध के समय सोवियत रूस ब्रिटेन के साथ था, अतएव सन् 1943 ई० में ब्रिटिश सरकार ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी पर से प्रतिबन्ध हटा दिया। स्वाधीनता के उपरान्त साम्यवादी दल में सैद्धान्तिक मतभेद प्रारम्भ हुआ। दल का एक वर्ग हिंसात्मक साधनों के माध्यम से साम्यवादी समाज की स्थापना करना चाहता था। दूसरा संवैधानिक साधनों के माध्यम से अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता था। कालान्तर में हिंसात्मक साधनों का समर्थक साम्यवादी गुट प्रभावहीन हो गया। सन् 1951 ई० के प्रथम सामान्य निर्वाचन में साम्यवादी दल ने भाग लिया और उसे इस निर्वाचन में लोक-सभा में 27 स्थान प्राप्त हुए। इसके उपरान्त साम्यवादी दल अन्य राजनैतिक दलों की भाँति विविध निर्वाचन में भाग लेता रहा है।

भारतीय साम्यवादी दल श्रमिक, कामगार तथा कृषकों को संगठित कर देश में साम्यवादी समाज की स्थापना के प्रति प्रतिबद्ध हैं। वह सोवियत रूस से प्रभावित और प्रेरित है तथा उसकी नीतियों का समर्थक है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में साम्यवादी दल साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का समर्थक है।

नवीं लोक सभा निर्वाचन में भारतीय साम्यवादी दल को 12 स्थान मिले। इस निर्वाचन के समय भारतीय साम्यवादी दल ने अपना जो घोषणा-पत्र जारी किया था, उसकी मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

(1) भारतीय साम्यवादी दल देश की राजनीति में घुस आए अपराधियों और भ्रष्ट व्यक्तियों को निकाल कर बाहर कर देगा।

(2) श्रमिकों और कामगर लोगों के प्रति उदासीनता तथा उपेक्षा की प्रवृत्ति को समाप्त करेगा।

(3) कृषक मजदूरों तथा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के कल्याण का प्रयास करेगा।

(4) क्रान्तिकारी भूमि-सुधार कानूनों को लागू करेगा।

(5) विदेशी ऋण को कम करेगा।

(7) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को निजी क्षेत्र में जाने की प्रवृत्ति को रोकेगा।

(8) मूल्य वृद्धि को रोकने का प्रयास करेगा।

6

मार्क्सवादी साम्यवादी दल (C. P. M.)

भारत-चीन सम्बन्धों के प्रति दृष्टिकोण तथा अन्य दलीय मामलों को लेकर उत्पन्न मतभेद के कारण भारतीय साम्यवादी दल 1962 ई० के उपरान्त दो दलों में विभक्त हो गया। एक दल भारतीय साम्यवादी दल कहलाता है और दूसरा भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी) कहलाता है। यह दल क्रान्तिकारी साधनों से साम्यवाद लाने में विश्वास करता है। इस दल का केरल तथा पश्चिमी बंगाल में विशेष प्रभाव है। यह दल बैंकों के राष्ट्रीयकरण, एकाधिकार की समाप्ति तथा बड़े उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का पक्षपोषक है। इसके साथ ही वह देश की सामाजिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन में विश्वास करता है।

कुछ क्षेत्रीय दल

द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम (डी० एम० के०)

क्षेत्रीय दलों में सबसे अधिक सुगठित और प्रभावशाली दल दक्षिण भारत का द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम था। क्षेत्रवाद पर आधारित यह दल पहले पृथकतावादी प्रवृत्तियों से प्रभावित था, किन्तु 1961 ई० में इसने अपनी पृथकतावादी माँगों को छोड़ दिया। सी० एन० अन्नादुराई के नेतृत्व में पार्टी अपना प्रभाव बढ़ाती रही। चौथे सामान्य निर्वाचन में पार्टी ने कांग्रेस को पराजित कर अपनी सरकार बनाई। अन्नादुराई की मृत्यु (1969 ई०) के बाद एम० करुणानिधि इस पार्टी के मुख्य नेता रहे हैं।

अन्ना द्रविड़ मुन्नेत्र कड़गम (ए० आई० डी० एम० के०)

डी० एम० के० की फूट के कारण सन् 1973 ई० में अन्ना डी० एम० के० का जन्म हुआ। इसके नेता दक्षिण के प्रसिद्ध फिल्म अभिनेता एम० जी० रामचन्द्र हैं। 1977 के निर्वाचन में इस पार्टी ने डी० एम० के० को पराजित कर तमिलनाडु में अपनी सरकार बनाई। आजकल भी यह पार्टी तमिलनाडु में सत्ता में है।

नेशनल कान्फ्रेंस

नेशनल कान्फ्रेंस जम्मू और कश्मीर की मुख्य पार्टी है। इसके प्रमुख कर्णधार शेख अब्दुल्ला रहे हैं। उन्होंने राष्ट्रीय नेशनल कांग्रेस के सहयोग से कश्मीर के महाराजा के विरुद्ध संघर्ष चलाया। देश के स्वाधीन होने पर इस दल ने कश्मीर को भारतीय संघ में सम्मिलित होने की पहल की। 1953 ई० में केन्द्रीय सरकार और शेख अब्दुल्ला के मध्य कुछ बातों को लेकर मतभेद उत्पन्न हुआ और शेख अब्दुल्ला अपदस्थ कर दिए गए। किन्तु 1977 ई० में प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी और शेख अब्दुल्ला में समझौता हो गया। फलतः नेशनल कानफ्रेंस के हाथों में सत्ता आ गई। शेख अब्दुल्ला की मृत्यु के बाद उनके पुत्र फारुक अब्दुल्ला नेशनल कान्फ्रेंस के प्रधान हो गए। वही जम्मू और कश्मीर के मुख्य मंत्री थे, किन्तु उनका भी केन्द्रीय सरकार से मतभेद हुआ। उधर नेशनल कान्फ्रेंस में दो गुट हो गए: फारूक के विरुद्ध शेख अब्दुल्ला के दामाद जी० एम० शाह का प्रभाव बढ़ गया। अन्त में जुलाई, 1984 ई० में फारूक अब्दुल्ला की सरकार को भंग कर दिया गया। उनके स्थान पर शाह मुख्य मंत्री बने।

1987 में होने वाले निर्वाचन में फारुक अब्दुल्ला के नेतृत्व में नेशनल कान्फ्रेंस पुनः सत्ता में आ गई है।

किन्तु 1989 ई० में जनता दल के सत्तारूढ़ होने के साथ ही कश्मीर में राष्ट्रद्रोहियों तथा आतंकवादियों की गतिविधियों में तेंजी आ गई। फलतः यहाँ फारूक अब्दुल्ला की सरकार को भंग कर दिया गया। राज्यपाल के हाथों में सत्ता दे दी गई। अब भी कश्मीर में स्थिति सामान्य नहीं हो पाई है।

अकाली दल

अकाली दल (जिसका पूरा नाम शिरोमणि अकाली दल है) की स्थापना 20 जनवरी, 1921 ई० को हुई थी। प्रारम्भ में अकाली दल राष्ट्रीयआन्दोलन में जुड़ा रहा और देश की स्वाधीनता की माँग का समर्थक रहा। किन्तु स्वाधीनता के बाद अकाली दल में धीरे-धीरे पृथकतावादी तत्वों का प्रभाव बढ़ता रहा। मास्टरतारासिंह और सन्त फतेहसिंह एक पृथक् पंजाबी सूबे की माँग करते रहे। अन्त में हरियाणा को अलग कर एक पृथक् पंजाबी सूबे का जन्म हुआ। इस पंजाबी सूबे में कई बार अकाली दल को अपनी सरकार बनाने का अवसर मिला। 1980 ई० के निर्वाचन में अकाली दल की बुरी तरह पराजय हुई।

लोकसभा के निर्वाचन में उसे केवल एक स्थान मिला। शक्तिलोलुप और निराश कुछ अकाली नेताओं ने अप्रैल, 1981 में खुलकर खालिस्तान की माँग शुरू की। इस माँग के साथ कुछ अन्य राजनैतिक और धार्मिकमाँगें सम्मिलित थीं। ये माँगें आनन्दपुर साहब में हुई सिक्खों के एक वर्ग के सम्मेलन पर आधारितथीं। खालिस्तान की माँग को लेकर पंजाब में भयंकर हिंसात्मक घटनाएँ प्रारम्भ हुई। सिक्खों और हिन्दुओं के लिए समान रूप से पूज्य अमृतसर का 'स्वर्ण-मन्दिर' आतंकवादियों का मुख्य अड्डा बन गया। संत जर्नलसिंह भिंडरावाले इन आतंकवादियों के मुख्य नायक थे। अन्त में सरकार ने सैनिक कार्यवाही कर स्वर्ण-मन्दिर को आतंकवादियों के चंगुल से मुक्त किया। सैनिक कार्यवाही में भारी मात्रा में विदेशों के बने हुए हथियार मिले। अनेक आतंकवादी मारे गए और सैकड़ों बन्दी हुए। सैनिक कार्यवाही में हमारी सेना के भी पचासों जवान मारे गये।

श्रीमती इन्दिरा गांधी की हत्या के बाद श्री राजीव गांधी प्रधान मंत्री बने। श्री राजीव गांधी पंजाब समस्या के समाधान के लिए कृत-संकल्प थे। इस दृष्टि से उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाए। अन्त में 30 जुलाई, 1985 ई० को अकाली दल के अध्यक्ष संत हरचन्द सिंह लोंगोवाल के साथ ऐतिहासिक समझौता हुआ। किन्तु अभी पंजाब समझौते की स्याही सूख भी नहीं पाई थी कि 20 अगस्त, 1985 ई० को संत लोंगोवाल की आतंककारियों ने हत्या कर दी। बाद में पंजाब में चुनाव हुए। चुनाव के बाद सुरजीत सिंह बरनाला के नेतृत्व में अकाली दल की सरकार बनी। किन्तु आतंकवादियों की गतिविधियाँ कम न हुईं। अन्त में पुनः वहाँ राष्ट्रपति शासन जारी कर दिया गया। अकाली दल अब भी कई गुटों में बँटा हुआ है। नवीं लोक सभा में अकाली दल (मान गुट) को छः स्थान प्राप्त हुए थे।

तेलगू देशम्

आन्ध्र प्रदेश का क्षेत्रीय दल है इसके प्रधान नेता दक्षिण भारत के प्रसिद्ध फिल्म अभिनेता एम० टी० रामाराव हैं 1984 के लोकसभा निर्वाचन तथा 1985 ई० के विधान-सभा निर्वाचन में उनको महत्वपूर्ण सफलता मिली। किन्तु नवीं लोकसभा निर्वाचन में उन्हें केवल दो स्थान मिले।

भारतीय दलीय व्यवस्था की समस्याएँ: स्वस्थ दलीय व्यवस्था के विकास में बाधाएँ

भारतीय दलीय व्यवस्था अनेक प्रश्नचिह्नों से घिरी है, अनेक समस्याओं से ग्रस्त है। इन समस्याओं को संक्षेप में हम इस प्रकार रख सकते हैं—

1. भारतीय दलीय व्यवस्था पर सबसे विकृत प्रभाव धनशक्ति (Money Power) का है। निर्वाचन में लगने वाले व्यय तथा कतिपय अन्य कारणों से भारत के अनेक राजनैतिक दल देश के पूँजीपतियों से गठबन्धन कर लेते हैं। परिणामतः वे स्वस्थ और स्वतंत्र नीति—ऐसी नीति जो राष्ट्रीय हित के अनुकूल हो—का पालन नहीं कर पाते।

2. भारतीय राजनीतिक दलीय व्यवस्था का अन्य संकट नेतृत्व का संकट है। आज देश में विभिन्न राष्ट्रीय दलों को जो नेतृत्व मिला हुआ है, वह कुछ व्यक्तियों के व्यक्तित्व से जुड़ा रहता है। फलतः उन व्यक्तियों के उत्थान और पतन पर राजनैतिक दलों का उत्थान और पतन निर्भर करता है।

3. नेतृत्व के अतिरिक्त राजनैतिक दलों को निष्ठावान् और कर्मठ कार्यकर्ताओं का भी सहयोग नहीं मिल पाता। फलतः न तो दल को व्यापक आधार मिल पाता है और न भविष्य के लिए सुयोग्य नेतृत्व ही सुलभ हो पाता है।

4. क्षेत्रवाद और सम्प्रदायवाद भारत में राजनैतिक दलों के स्वस्थ विकास में बाधक अन्य तत्व है। इन्हीं में एक और प्रभावी हो रहा है—वह है जातिवाद।

5. गुटबन्दी और दलबन्दी भारत की दलीय व्यवस्था की अन्य विनाशकारी समस्याएँ हैं।

6. बुद्धिजीवियों की उदासीनता या व्यावसायिक राजनीतिज्ञों की बहुलता भारतीय दलीय व्यवस्था की अन्य समस्या है।

7. भारतीय दलों की अन्य समस्या देश में अनेक दलों का अस्तित्व है।

उपसंहार

इस प्रकार भारतीय दलीय व्यवस्था अनेक समस्याओं से ग्रस्त है। जब तक हम इन समस्याओं से अपनी दलीय व्यवस्था को मुक्त नहीं करते, तब तक देश में स्वस्थ राजनैतिक जीवन की आशा नहीं कर सकते।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक

1. राजनैतिक दलों से आप क्या समझते हैं? उनका क्या महत्व है? देश के किसी एक राजनैतिक दल के उद्देश्य और कार्यक्रमों पर प्रकाश डालिए। (उ० प्र०, 1978)

2. भारत में कौन-कौन प्रमुख राजनैतिक दल हैं? भारतीय दल-प्रणाली की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं? (उ० प्र०, 1979)

3. भारतीय राजनैतिक दलों की मुख्य विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

4. भारतीय राजनैतिक दलों की क्या समस्याएँ हैं? उन समस्याओं को कैसे दूर किया जा सकता है?

5. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर एक निबन्ध लिखिए।

लघु प्रश्न

1. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मुख्य उद्देश्य बताइए।
2. बीस सूत्री कार्यक्रम पर प्रकाश डालिए।
3. भारत के साम्यवादी दल पर दस पंक्तियाँ लिखिए।
4. अकाली दल पर दस पंक्तियाँ लिखिए।
5. भारतीय जनता पार्टी के मुख्य उद्देश्य बताइए।
6. लोक दल के मुख्य उद्देश्य क्या हैं?
7. जनता पार्टी के उद्देश्य बताइए।

अति लघु प्रश्न

1. इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना किस सन् में हुई?
2. इण्डियन नेशनल कांग्रेस के दो मुख्य उद्देश्य बताइए।
3. भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के दो मुख्य उद्देश्य बताइए।

नगरीय जीवन

● नगरीकरण—नगरीकरण के कारण ● भारत में नगरीकरण की प्रगति ● नगरीकरण के लाभ ● नगरीकरण की हानियाँ ● नगर-जीवन की कुछ प्रमुख समस्याएँ

नगरीकरण

नगरीकरण सामाजिक जीवन की एक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में जनसंख्या का ग्रामों से नगरों की ओर अन्तरण या आगमन होता है। फलतः नगरों की जनसंख्या में शनैः-शनैः वृद्धि होने लगती है। इसके अतिरिक्त नगरीकरण की एक दूसरी प्रक्रिया है, वह यह कि जब कभी किसी स्थान पर किसी विशाल उद्योग की स्थापना हो जाती है, या कई उद्योग-धंधे स्थापित हो जाते हैं तो वहाँ एक नये नगर का उदय हो जाता है। उदाहरण के लिए अपने देश में रूरकेला, भिलाई, जमशेदपुर, फरीदाबाद ऐसे ही कुछ नगर हैं जो औद्योगिक विकास के कारण प्रकाश में आए हैं।

नगरीकरण के कारण—नगरीकरण मुख्यतया औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप सम्भव औद्योगिक विकास का परिणाम है। औद्योगिक क्रांति के पूर्व नगरों की संख्या बहुत कम थी। उदाहरण के लिए 1900 ई० में विश्व की समूची जनसंख्या का केवल पन्द्रह प्रतिशत नगरों में रहता थी, किन्तु अब स्थिति बदल गई है। विश्व विकास प्रतिवेदन (World Development Report, 1982) के अनुसार 1980 ई० में इंगलैंड की 91%, आस्ट्रेलिया की 89%, संयुक्त राज्य अमेरिका की 77%, सोवियत यूनियन की 62% तथा जापान की 78% जनसंख्या नगरों में रहती है। इन सब की तुलना में नगरों में रहने वाली भारतीय जनसंख्या का कुल प्रतिशत केवल 23.7% है।

यदि हम विश्व में नगरीकरण के कारणों का विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि औद्योगीकरण नगरीकरण का मुख्य कारण होता है। ज्यों-ज्यों औद्योगिक विकास होता गया है, त्यों-त्यों नगरीकरण की प्रक्रिया तीव्र होती गई है। पर जहाँ तक भारत का प्रश्न है, कतिपय अर्थशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों के अनुसार भारत में औद्योगीकरण नगरीकरण का मुख्य कारण नहीं है। उदाहरण के लिए प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो० ग्रैडगिल के अनुसार भारत में नगरीकरण का कारण औद्योगीककरण नहीं है। यह सत्य है कि भारत में औद्योगीकरण को नगरीकरण का एक मात्र कारण नहीं माना जा सकता, किन्तु उसका अर्थ यह नहीं कि नगरीकरण में औद्योगीकरण की कोई भूमिका नहीं है। औद्योगीकरण भारत में नगरीकरण का एक महत्वपूर्ण कारण है, इसे नकारा नहीं जा सकता। अनेक भारतीय नगरों और महानगरों के उदय और विकास का कारण औद्योगीकरण ही है। भारत में नगरीकरण के मुख्य कारणों को निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं : (1) रेलवे तथा यातायात के अन्य द्रुतगामी साधनों का विकास। (2) ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसरों का अभाव। (3) भूमिहीन श्रमिकों की संख्या में वृद्धि। (4) ग्रामों में शिक्षा, चिकित्सा, स्वास्थ्य और मनोरंजन के साधनों का अभाव। (5) देश का औद्योगीकरण तथा (6) जनसंख्या में वृद्धि।

भारत में नगरीकरण की प्रगति

सन् 1971 ई० की जनगणना के प्रतिवेदन (रिपोर्ट) में भारतीय परिवेश के नगरों की व्याख्या की गई है। इसके अनुसार भारत में उन सभी स्थानों को नगर-क्षेत्र माना गया है (1) जहाँ नगरपालिका, नगर महापालिका, छावनी व अनुसूचित नगर-क्षेत्र है, (2) जहाँ की जनसंख्या कम से कम पाँच हजार है जहाँ कार्यशील पुरुष जनसंख्या का कम-से-कम 75 प्रतिशत भाग गैर-कृषि व्यवसायों में काम करता है।

इस आधार को दृष्टि-पथ में रखते हुए भारतीय 1981 ई० की जनगणना में भारतीय नगरों को छह श्रेणियों में विभक्त किया गया है। ये श्रेणियाँ इस प्रकार हैं—

(1) प्रथम श्रेणी—एक लाख या एक लाख से अधिक जनसंख्या।
(2) द्वितीय श्रेणी—50 हजार से 99,999 जनसंख्या।
(3) तृतीय श्रेणी—20 हजार से 49,999 जनसंख्या
(4) चतुर्थ श्रेणी—10 हजार से 19,199 जनसंख्या
(5) पंचम श्रेणी—5 हजार से 9,999 जनसंख्या
(6) षष्ठ श्रेणी—5 हजार से कम जनसंख्या।

एक लाख से अधिक जनसंख्या की श्रेणी में आने वाले वे महानगर या मेट्रोपालिटन सिरीज हैं जिनकी जनसंख्या दस लाख से ऊपर है। 1981 ई० की जनगणना के अनुसार इन महानगरों की संख्या 12 है। इन महानगरों में कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, मद्रास, हैदराबाद, अहमदाबाद, बेंगलोर, कानपुर, पूना, नागपुर, लखनऊ तथा जयपुर ऐसे ही महानगर हैं।

1981 ई० की जनगणना के अनुसार भारत में प्रथम श्रेणी के नगरों की कुल संख्या 216, द्वितीय श्रेणी के नगरों की संख्या 270, तृतीय श्रेणी के नगरों की संख्या 739, चतुर्थ श्रेणी के नगरों की संख्या 10,48, पंचम श्रेणी के नगरों की संख्या 742, तथा षष्ठ श्रेणी के नगरों की संख्या 230 थी।

भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया निरन्तर तीव्र होती जा रही है। इसका परिचय इस बात से मिल जाता है कि भारतवर्ष 1901 ई० में केवल 11 प्रतिशत लोग शहरों में रहते थे, 1951 ई० में 17 प्रतिशत लोग नगरों में रहने लगे। 1981 ई० की जनगणना के अनुसार अब भारत की जनसंख्या का कुल 23.7 प्रतिशत नगरों में रहता है।

नगरीकरण के लाभ

नगरीकरण आर्थिक विकास का एक मुख्य लक्षण माना जाता है। कुछ विद्वानों के अनुसार नगरीकरण औद्योगीकरण का मापदण्ड है। नगरीकरण के अनेक लाभ हैं। संक्षेप में इन लाभों को हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. नगरीकरण में औद्योगीकरण, यातायात के साधनों तथा वाणिज्य-व्यवसाय का विस्तार होता है। इससे रोजगार के अवसरों में वृद्धि होती है, राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है तथा जीवन-स्तर में सुधार होता है।

2. नगरीकरण, जाति-प्रथा, छुआछूत, सामाजिक कुरीतियों आदि के दूर करने में योग देता है।

3. नगरीकरण से शिक्षा का प्रसार होता है तथा वैज्ञानिक और प्राविधिक ज्ञान के विकास में सहायता मिलती है।

4. नगरीकरण से सामाजिक या मिली-जुली संस्कृति के विकास में योग मिलता है। नगरों में विभिन्न क्षेत्रों, प्रदेशों, जातियों और धर्मों तथा सम्प्रदायों के लोग रहते हैं। फलतः उनके परस्पर मिलने-जुलने से एक सामाजिक संस्कृति का उदय होता है और राष्ट्रीय एकता का विकास होता है।

5 नगरों में विभिन्न वैज्ञानिक शोध संस्थाएँ तथा प्रयोगशालाएँ होती हैं। इनमें अनेक प्रकार की शोधें होती रहती हैं। इन शोधों का कृषि और वाणिज्य-व्यवसाय के विकास पर प्रभाव पड़ता है। फलतः ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले कृषक और अन्य लोग इससे लाभ उठाते हैं।

नगरीकरण की हानियाँ—नगरीकरण से जहाँ एक ओर कुछ लाभ हैं, वहाँ दूसरी ओर कुछ हानियाँ भी हैं, दोष हैं। इन हानियों को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

(1) संयुक्त परिवार-प्रथा एक प्रकार के सामाजिक सुरक्षा या बीमा का कार्य करती है। किन्तु नगरीकरण से संयुक्त परिवार प्रथा का विघटन होता है।

(2) नगरीकरण पारिवारिक प्रगाढ़ता को भी प्रभावित करता है। फलतः अनेक परिवारों में विभिन्न प्रकार के तनावों को जन्म मिलता है।

(3) नगरों में आर्थिक समस्याओं के कारण माता-पिता को अपने बच्चों के प्रति पूरा ध्यान देने का अवसर नहीं मिलता। फलतः ऐसी स्थिति में बच्चे उपेक्षित रहते हैं। इस उपेक्षा के कारण बच्चों के व्यक्तित्व का सम्यक् विकास नहीं हो पाता।

(4) नगरों में सुख-सुविधा के नित-नूतन उपकरण सुलभ होते रहते हैं। इन उपकरणों की प्राप्ति के लिए व्यक्ति प्रयास करते हैं। पर सामान्यतया हर व्यक्ति के लिए इनका प्राप्त करना सम्भव नहीं होता है। फलतः इससे भ्रष्टाचार, लूट-चोरी, सामाजिक तनाव, संघर्ष तथा अनेक प्रकार के अपराधों को प्रोत्साहन मिलता है।

नगर-जीवन की कुछ मुख्य समस्याएँ

नगरीकरण या नगर-जीवन अनेक प्रश्नचिह्नों से घिरा रहा है। अनेक आधुनिक मनीषियों ने नगर-जीवन की विकृतियों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करते हुए उन्हें समय रहते दूर करने का सन्देश दिया है। अपनी प्रसिद्ध रचना 'द डिक्लाइन आफ द वेस्ट' (The Decline of the West) में आस्वाल्ड स्पेंगलर ने लिखा है कि 'मनुष्य नगरीकरण के दुष्परिणामों से बच नहीं सकता। यह नगर-प्रधान सभ्यता मनुष्य के विनाश का मुख्य कारण बनेगी।' मिस बारबरा वार्ड ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'होम आफ मैन' में नगरीकरण की समस्या पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि नगरीकरण की समस्या अत्यन्त गम्भीर है। इसके दुष्परिणाम हमारे सामने आने वाले हैं। लेकिन अभी धरती काँप रही है और यदि हम ध्यान से सुनें तो हमें आने वाले तूफान की गड़गड़ाहट सुनाई पड़ सकती है। इसी प्रकार लेविस मम्फोर्ड ने अपनी प्रसिद्ध रचनाओं 'द कल्चर आफ द सिटीज' तथा 'टेकनिक्स आफ़ सिविलीइजेशन' में नगरीकरण के दुष्परिणामों का संकेत दिया है। प्रसिद्ध ब्रिटिश इतिहासकार आर्नाल्ड टोइन्बी ने अपनी पुस्तक 'सरवाइंग द फ्यूचर' में नगरीकरण की समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि 'मानव के अस्तित्व की रक्षा के लिए इन समस्याओं का निराकरण अत्यन्त आवश्यक है।'

इसमें कोई सन्देह नहीं कि नगरीकरण ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से भारत में नगरीकरण की मुख्य समस्याओं को संक्षेप में हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. आवास की समस्या—रोटी, कपड़ा और मकान मनुष्य की मूलभूत समस्याएं। नगरों में मनुष्य को रोटी और कपड़ा तो किसी प्रकार मिल जाता है, किन्तु मकान या आवास का मिलना अत्यन्त कठिन रहता है। बढ़ती हुई जनसंख्या तथा जनसंख्या का नगरों में अन्तरण के कारण नगरों में लोगों को अपनी आवश्यकता, सुविधा और स्थिति के अनुरूप आवास पाना अत्यन्त कठिन है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (नेशनल सैम्पल सर्वे) के एक सर्वेक्षण के अनुसार नगरों में लगभग दो-तिहाई परिवार पक्के मकानों में रहते हैं। शेष जनसंख्या को रहने के लिए आवास उपलब्ध नहीं है। वे फुटपाथों और झुग्गी-झोंपड़ियों में रहकर अपना जीवन बिताते हैं।

'नेशनल कमेटी ऑन इनवायरेण्टल प्लानिंग ऐण्ड कोआर्डीनेशन (N. C. E. P. C.) की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत के प्रमुख नगरों की पच्चीस से तीस प्रतिशत जनसंख्या या तो झुग्गियों-झोपड़ियों में रहती है या तो सड़कों पर ही सोकर रात गुजारती है। इसी रिपोर्ट में यह कहा गया है कि केवल दिल्ली में ही आधे मिलियन से अधिक लोग 1300 गन्दी बस्तियों में रहते हैं।

नगरों में जिन लोगों के पास आवास है, उनमें से अधिकांश लोग किराए के मकानों में रहते हैं। उन्हें अनेक प्रकार की समस्याओं से जूझना पड़ता है। श्री सुनील के० मुन्शी ने 1975 ई० में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'कलकत्ता मेट्रोपालिटन एक्सप्लोजन' में विविध आँकड़े

प्रस्तुत करते हुए यह बतलाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार भूमि की सट्टेबाजी करने तथा किराया वसूल करने वाले अर्थ-पिशाचों के कारण कलकत्ते में आवास की समस्या ने विकराल रूप धारण किया है। यही हाल अन्य महानगरों और बड़े नगरों का है। इस प्रकार आवास की समस्या भारतीय नगर-जीवन की एक अत्यन्त ज्वलन्त समस्या है।

2. पर्यावरण-प्रदूषण--पर्यावरण-प्रदूषण से आशय प्राकृतिक वातावरण का अप्राकृतिक साधनों से विनाश है। पर्यावरण-प्रदूषण नगरीकरण और स्वार्थपरक औद्योगीकरण का परिणाम है। नगरों की अनियोजित बस्तियाँ, जनसंख्या का अत्यधिक घनत्व तथा कल-कारखानों द्वारा नदियों या नालों में फेंका गया कूड़ा-कचरा, वृक्षों का मनमाने ढंग से काटा जाना तथा जनसाधारण में पर्यावरण-प्रदूषण को न रोकने की प्रवृत्ति पर्यावरण-प्रदूषण के मुख्य कारण हैं। वैसे तो पर्यावरण-प्रदूषण विश्व के नगर-जीवन की मुख्य समस्या है। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन तथा जापान आदि देश इस समस्या की विकरालता के विपन्न हैं। उदाहरण के लिए जापान की राजधानी टोकियो में स्वच्छ वायु दुर्लभ है। वहाँ सड़क पर यातायात नियंत्रण के लिए जो सिपाही खड़ा होता है, उसे हर चार घण्टे बाद अपना स्थान छोड़ कर ऑक्सीजन-कक्ष में जाना पड़ता है। इसी प्रकार अमेरिका के समाजशास्त्रियों ने यह चेतावनी दी है कि यदि समय रहते ठोस कदम नहीं उठाए जाते तो इस शताब्दी के अन्त तक संयुक्त राज्य अमेरिका का लास ऐंजेल्स नामक नगर पर्यावरण-प्रदूषण के कारण रहने योग्य नहीं रह जायगा।

इसी प्रकार भारत के कुछ विशाल नगरों में पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या गम्भीर होती जा रही है। उदाहरण के लिए दिल्ली और कलकत्ता जैसे महानगरों में जहरीली गैस (सल्फर डाइ ऑक्साइड) का प्रतिशत संयुक्त राज्य अमेरिका की अपेक्षा अधिक है। कानपुर में जाजमऊ में चमड़े के कारखाने से फेंके जाने वाले मलवे के कारण पवित्र गंगाजल प्रदूषित हुआ। वाराणसी में शवों के गंगाजी में फेंके जाने के कारण गंगा प्रदूषित होती रही। यही हाल भारत के अन्य नगरों और नदियों का है। पर्यावरण-प्रदूषण की समस्या से नगर-जीवन को कितनी हानि पहुँच सकती है इसका एक ताजा दृष्टान्त भोपाल गैस-काण्ड है। भोपाल में एक गैस कारखाने से निकलने वाली हानिकारक गैस से सैकड़ों लोग मर गए और हजारों लोग अनेक प्रकार की बीमारियों के शिकार हो गए।

इस प्रकार पर्यावरण-प्रदूषण हमारे नगर-जीवन की एक भयावह समस्या है।

3. स्वास्थ्य और स्वच्छता की समस्या—नगरों में ग्रामों की अपेक्षा स्वास्थ्य और स्वच्छता की अधिक सुविधाएँ सुलभ हैं। नगरों के अनियोजित विकास के कारण प्रायः सभी नगरों और महानगरों में ऐसे निवास स्थान पाए जाते हैं जहाँ न तो सूर्य का पूरा प्रकाश पहुँच पाता है और न स्वच्छ वायु। प्रकाश और स्वच्छ वायु के अभाव के कारण नगरों में रहने वाली जनता अनेक प्रकार की बीमारियों की शिकार हो जाती है। निर्धनता के कारण न तो वे पुष्टि-कारक भोजन ले पाते हैं और न ही अपना ठीक से इलाज कर पाते हैं। फलतः ऐसे लोगों का जीवन अनेक कठिनाइयों से विपन्न हो जाता है। ऐसे लोग न तो अपने व्यक्तित्व का विकास कर पाते हैं और न अधिकारों का सम्यक् उपभोग।

4. यातायात और आवागमन के साधनों की समस्या—नगरों में विशेषकर महानगरों और बड़े नगरों में यातायात और आवागमन के साधनों की समस्या भी एक प्रमुख समस्या है। नगरों में रहने और काम के स्थानों में बहुत दूरी होती है। फलतः काम करने वाले व्यक्ति को प्रायः अपने निवास से बहुत दूर काम करने के लिए जाना पड़ता है। निर्धनता के कारण सबके पास निजी वाहन नहीं होते। अतएव दूर जाने के लिए ट्रेन, ट्राम, या बस आदि की शरण लेनी होती है। इसमें लोगों का पर्याप्त समय निकल जाता है। महानगरों में रहने वाले अनेक लोगों की तो यह स्थिति है कि वे जब काम पर जाते हैं तो उनके बच्चे सोते रहते हैं और जब काम से वापस आते हैं, तब भी बच्चे सोते मिलते हैं। ऐसी स्थिति में बच्चों को अपने पिता का

पूरा प्यार नहीं मिल पाता। जहाँ आर्थिक कारणों से माता-पिता दोनों काम पर जाते हैं, उन परिवारों के बच्चों की क्या स्थिति होगी, इसकी कल्पना ही की जा सकती है। इसके अतिरिक्त यातायात की अन्य समस्या है, वह है दुर्घटनाओं की बहुलता। नगरों में द्रुतगामी यातायात के साधनों की बहुलता, वाहन-चालकों की लापरवाही तथा पथिकों की असावधानी से प्रायः प्रतिदिन अनेक दुर्घटनाएँ होती रहती हैं।

5. शिक्षा की समस्याएँ—यद्यपि नगरों में शिक्षा-संस्थाओं की काफी संख्या होती है। किन्तु जनसंख्या की अधिकता के कारण और अच्छी शिक्षा संस्थाओं की कमी के कारण नगरों में शिक्षा की भी समस्या नगर-निवासियों को अनेक प्रकार से विपन्न किए रहती है। कभी-कभी बच्चों को बड़ी दूर विद्यालयों में जाना पड़ता है। अच्छे विद्यालयों में प्रवेश पाना अत्यन्त कठिन होता है। अनेक विद्यालयों में संरक्षक से प्रवेश के समय हजारों रुपये 'डोनेशन' या दान के रूप में ले लिए जाते हैं। फलतः मध्यम और निर्धन वर्ग के लोग अपने बच्चों को उपयुक्त शिक्षा नहीं दिला पाते।

6. सामाजिक तनावों की व्यापकता—नगर-जीवन एक भौतिकवादी आधार, उपभोक्ता संस्कृति (कंज्यूमर-कल्चर) तथा औपचारिक या कृत्रिम व्यवहार पर आधारित होता है। ऐसे जीवन में धन ही समस्त वस्तुओं का मानदण्ड बन जाता है। प्रायः प्रत्येक परिवार और उसके सदस्य नित-नूतन आने वाली उपभोक्ता सामग्री, यथा अच्छा फ्लैट, फ्रिज, टेलीविजन, वीडियो, स्कूटर, फर्नीचर आदि को पाना अपने जीवन का लक्ष्य बना लेता है। परिवार में इन वस्तुओं का न होना और कभी-कभी होना भी अनेक प्रकार के तनाव और संघर्ष को जन्म देता है। ये तनाव और संघर्ष पति-पत्नी के दाम्पत्य-जीवन को विकृत कर देते हैं, बच्चों से उनका प्यार छीन लेते हैं और परिवार के वृद्ध माता-पिता को उपेक्षित बना देते हैं।

7. नैतिक मूल्यों का ह्रास—नगर-जीवन की बाहरी चमक-दमक और नगर-निवासियों का भौतिकवादी दृष्टिकोण उनकी अन्तरात्मा पर पर्दा डाल देता है। भौतिक सुख-सुविधा के साधनों की प्राप्ति और उनके उपभोग की प्रवृत्ति नैतिकता का गला घोट देती है। अपने परिवार के गुरुजनों से दूर रहने वाले लोगों के स्वच्छन्द आचरण में कोई नियंत्रण नहीं रह जाता। फलतः नगर-निवासियों में से अधिकांश लोगों में नैतिकता का लोप होता जाता है। महानगरों और बड़े नगरों के होटल, क्लब, कैबरे नृत्य, 'पाप म्यूजिक', अगणित मधुशालाएँ, काकटेल पार्टीज और छोटे-बड़े जननायकों, नेताओं उद्योगपतियों, व्यवसायियों तथा उच्च सरकारी पदाधिकारियों में फैला भ्रष्टाचार इस तथ्य के जीवंत उदाहरण हैं।

इन समस्याओं का समाधान

भारतीय शासन और समाज नगरों की समस्याओं के प्रति सजग है। भारत सरकार और राज्य सरकारें समय-समय पर इन समस्याओं के समाधान के लिए प्रयास करती रही हैं। उदाहरण के लिए आवास समस्या के समाधान के लिए अनेक परियोजनाएँ चलाई गई हैं। पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से योजनाबद्ध ढंग से नगरों के विकास का प्रयास किया गया है। भवन निर्माण की प्रक्रिया के दिशा-निर्देशन के लिए सन् 1954 ई० में राष्ट्रीय भवन-निर्माण संगठन की स्थापना की गई थी।

शहरी भूमि को सट्टेबाजी को रोकने के लिए फरवरी, 1976 ई० में शहरी भूमि (सीमा तथा नियमन) अधिनियम लागू किया गया है। गन्दी बस्तियों की सफाई तथा सुधार के लिए भी योजनाएँ चलाई गई हैं। राज्यों ने भी भवन-निर्माण के लिए विकास निगम स्थापित किए हैं। सातवीं पंचवर्षीय योजना में आवास एवं शहरी विकास के लिए 4,260 करोड़ रुपये की धनराशि निर्धारित की गई है। पर्यावरण-प्रदूषण को रोकने के लिए भी कदम उठाए गए हैं। अभी हाल में गंगा-प्रदूषण निवारण योजना चलाई गई है। पर्यावरण के प्रदूषण को दूर

करने के लिए अन्य अनेक परियोजनाएं भी चलाई जा रही हैं। इसी प्रकार शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा तथा यातायात के सुविधाओं के विस्तार का प्रयास किया जा रहा है। किन्तु नगरीकरण की बढ़ती प्रवृत्ति और उत्तरोत्तर बढ़ती जनसंख्या के कारण ये प्रयास नगरों की समस्या का पूरी तरह समाधान नहीं कर सकते। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि नगरों की समस्याओं के समाधान के लिए ठोस और प्रभावकारी कदम उठाएं जायें। इस दिशा में निम्नांकित सुझाव प्रभावी हो सकते हैं—

(1) ग्रामों में शिक्षा, चिकित्सा, रोजगार तथा मनोरंजन की सुविधाओं का विस्तार किया जाय। इससे ग्रामीण क्षेत्र की जमता का नगरों की ओर अन्तरण रुकेगा।

(2) भूमि की परिसीमा-सम्बन्धी कानूनों को और प्रभावी बनाया जाय। ऐसी व्यवस्था की जाय जिससे भवन-भूमि थोड़े से लोगों की सम्पत्ति न बनी रहे।

(3) भवन-सम्पत्ति का समाजीकरण किया जाय। वर्तमान काल में कुछ लोगों के पास ऊंची-ऊंची अट्टालिकाओं वाले विलासिता के विविध उपकरणों से सुसज्जित अनेक कमरों वाले विशाल भवन हैं। दूसरी ओर लोगों को रहने के लिए फुटपाथ, गन्दी बस्तियों या सड़कों में शरण लेनी पड़ती है। सरकार को इस विषमता को दूर करने की पूरी निष्ठा से प्रयास करना चाहिए। इस प्रसंग में प्रसिद्ध विचारक प्रो० लास्की के विचार उल्लेखनीय हैं कि 'जब तक प्रत्येक परिवार को सर ढकने के लिए एक कमरा सुलभ नहीं होना, तब तक किसी को विशाल भवनों में रहने का अधिकार नहीं होना चाहिए।'

3. भवन-निर्माण सामग्री को सस्ता किया जाय तथा सस्ते और सुरक्षित भवनों के निर्माण की तकनीक विकसित की जाय।

4. भवन-निर्माण के लिए सहकारिता को प्रोत्साहित किया जाय। साथ ही इस बात का ध्यान रखा जाय कि सहकारी समितियाँ ईमानदार और सेवापरायण लोगों द्वारा संचालित हों।

5. यातायात; चिकित्सा तथा स्वास्थ्य और स्वस्थ मनोरंजन की सुविधाओं का इस प्रकार विस्तार किया जाय कि उसके लाभ जन साधारण तक पहुंच सकें।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. नगरीकरण का क्या अर्थ है? नगरीकरण के क्या लाभ और क्या हानियाँ हैं?
2. नगरीय जीवन की मुख्य समस्याओं पर एक निबन्ध लिखिए।

लघु प्रश्न

1. पर्यावरण प्रदूषण किसे कहते हैं?
2. नगरीकरण के मुख्य लाभ बताइए?
3. सामाजिक तनाव किसे कहते हैं।

अति लघु प्रश्न

1. नगरीकरण की दो हानियाँ बताइए।
2. नगरीकरण के दो लाभ बताइए।
3. पर्यावरण-प्रदूषण की दो हानियाँ बताइए।
4. नगरों को कितनी श्रेणियों में विभक्त किया गया है?

यदि मैं इस बार अछूतों का उद्धार नहीं कर सका तो दूसरी बार अछूतों में ही जन्म लूंगा।

—महात्मा गांधी

अध्याय 29

जनजाति और उनकी समस्याएँ

● जनजाति का अर्थ ● जनजातियों की समस्याएँ ● जनजातियों की समस्याओं के समाधान के प्रयास

जनजाति का अर्थ

जनजाति (ट्राइब) या वन्य जाति एक विशेष स्थान पर रहने वाले परिवारों या अनेक छोटे-छोटे समूहों का नाम है जो सभ्यता से दूर निर्जन और प्राकृतिक वातावरण में सदियों से अपना जीवन व्यतीत करता चला आ रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् एफ० बोआरन ने अपनी पुस्तक 'जेनरल एंथ्रोपोलाजी' (General Anthropology) में जनजाति को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'जनजाति आर्थिक रूप से स्वतन्त्र व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो सामान्य भाषा बोलते हैं और बाहरी आक्रमण से अपनी रक्षा करने में समर्थ होते हैं।'

प्रसिद्ध समाजशास्त्री गिलिन और गिलिन ने अपनी पुस्तक 'कल्चरल सोशिओलाजी' (Cultural Sociology) में जनजाति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'स्थानीय आदिम समूहों के किसी भी ऐसे समूह को हम जनजाति कहते हैं जो एक सामान्य क्षेत्र में रहता है, एक सामान्य भाषा बोलता है और एक सामान्य संस्कृति के अन्तर्गत व्यवहार करता है।' भारतीय समाजशास्त्री डी० एन० मजूमदार ने अपनी पुस्तक 'रेसेज ऐन्ड कल्चर ऑफ इंडिया' (Races and Culture of India) में जनजाति को परिभाषित करते हुए कहा है कि 'एक जनजाति परिवारों या परिवारों के समूह का ऐसा समवाय है जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसके सदस्य एक सामान्य भू-भाग पर रहते हैं, एक सामान्य भाषा बोलते तथा जो विवाह, व्यवसाय और आर्थिक कार्यों में कुछ सामान्य निषेधों का पालन करते हैं और जिन्होंने एक निश्चित तथा मूल्यांकित परस्पर आदान-प्रदान की व्यवस्था का विकास किया है।'

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जनजाति से हमारा आशय एक ऐसे मानव-समुदाय से है जो सभ्यता से दूर प्रकृति के अंचल में रहकर अपना जीवन व्यतीत करता आ रहा है तथा जिसकी अपनी भाषा, अपनी संस्कृति तथा अपनी जीवन-पद्धति है।

जनजाति की सामान्य विशेषताएँ

जनजाति की विविध परिभाषाओं के प्रकाश में हम कह सकते हैं कि जनजाति की अपनी विशेषताएँ हैं। ये विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं—

1. जनजाति का एक निश्चित क्षेत्र होता है। भारत की अधिकांश जनजातियाँ क्षेत्र विशेष से जुड़ी हुई हैं।

2. प्रत्येक जनजाति की अपनी अलग भाषा होती है।

3. एक जनजाति के सदस्य अपने समूह के बाहर किसी दूसरी जनजाति के सदस्यों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित नहीं करते।

4. प्रत्येक जनजाति की अपनी सामान्य सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था होती है, उनकी अपनी स्वायत्तता होती है। इस स्वायत्तता की रक्षा के लिए वह कृतसंकल्प होती है।

5. प्रत्येक जनजाति आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्र और प्रायः आत्मनिर्भर होती है।

भारतीय जनजातियाँ

भारतीय जनजातियों के कई नाम प्रचलित हैं। इन्हें आदिम जाति, आदिवासी, वनवासी, वन्य जातियाँ, गिरिजन तथा अनुसूचित जाति कहा जाता है। सन् 1981 ई० की जनगणना में इन्हें आदिम जाति इसलिए कहा जाता है कि इनको भारत के आदिम या मूल निवासियों का वंशज माना जाता है। इन्हें वनवासी इसलिए कहा जाता है कि इनका अधिकांश जीवन जंगलों में बीतता है।

सन् 1981 ई० की जनगणना के अनुसार भारत में जनजातियों की कुल संख्या 6,10,47,122 है जो भारत की कुल जनसंख्या का लगभग 7 प्रतिशत है। भारत में अधिकांश राज्यों में जनजातियाँ पाई जाती हैं। कुछ राज्यों में इनकी संख्या कम है और कुछ में सबसे अधिक जनजातियाँ मध्य प्रदेश में पाई जाती हैं। मध्य प्रदेश में पाई जाने वाली जनजातियों में गोण्ड, कोया, कोल, मुइंया, जुंग, वेगा तथा कोरई मुख्य हैं। उत्तर प्रदेश की जनजातियों में थारू, भोक्सा, भोटिया, राजी तथा जौनसारी, गोंड तथा कोल मुख्य हैं। बिहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल की जनजातियों में मुण्डा, संथाल और उराँव मुख्य हैं। उत्तरी-पूर्वी भारत की जनजातियों में नागा, खासी और गारो मुख्य हैं। पश्चिमी भारत की जनजातियों में भीणा, कोली तथा भील मुख्य हैं। दक्षिण भारत की जनजातियों में गोंड, कोया, माला, इटला तथा यरावा आदि आती हैं।

जनजातियों की समस्याएँ

भारत की जनजातियों का जीवन अनेक समस्याओं से घिरा रहा है। राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा से कटी ये जनजातियाँ शताब्दियों से उपेक्षित रही हैं। फलतः वे सामाजिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ी रही हैं। इस कारण उन्हें अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से जनजातियों की मुख्य समस्याओं को हम संक्षेप में निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. आर्थिक समस्याएँ—जनजातियाँ मुख्यतया जंगलों में अपना जीवन-यापन करती रही हैं। जंगलों से लकड़ी काट कर वेचना, जंगली पैदावार की बिक्री करना, जंगलों में ही खेती करना एवं जगली पशु-पक्षियों का शिकार तथा कुछ कुटीर उद्योग इनकी जीविका के मुख्य साधन रहे हैं। किन्तु इधर विगत वर्षों में वनों की सुरक्षा के लिए जो कानून बनाए गए हैं, उनके कारण इन जनजातियों को अपने परम्परागत व्यवसाय को बनाए रखना कठिन हो गया है। परिणामस्वरूप अनेक जनजाति-समूह विस्थापितों का सा जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य हो गए हैं। अपनी जीविका के लिए वे मजदूरी करते हैं जहाँ ठेकेदार उनका अनेक प्रकार से शोषण करते हैं। अनेक स्थानों में तो अब भी वे बेगार करने के लिए बाध्य होते हैं। अर्थाभाव के कारण प्रायः इन्हें सूदखोर महाजनों की शरण में जाना पड़ता है। इस प्रकार जनजातियाँ प्रायः आर्थिक शोषण, निर्धनता और साधनहीनता से पीड़ित रही हैं।

2. सामाजिक समस्याएँ—जनजातियों की अनेक समस्याएँ रही हैं। जनजाति के लोग अनेक प्रकार की कुरीतियों, अन्ध-विश्वास, जादू-टोना, भूत-प्रेत इत्यादि में विश्वास करते हैं।

उनकी स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध-सम्बन्धी कुछ विचार भी युक्तिसंगत नहीं कहे जा सकते। फिर, वे समाज की मुख्य धारा से कटे रहे हैं। फलतः वे सामाजिक प्रगति से वंचित रहे हैं जिसके कारण आधुनिक सभ्य सामाजिक जीवन के सुख और लाभ से वे प्रायः वंचित रहे हैं।

3. सांस्कृतिक समस्याएँ—जनजातियों की अपनी भाषा और अपनी संस्कृति रही है। इसी संस्कृति से वे सदियों से जुड़े रहे हैं। आधुनिक सभ्यता के प्रभाव से वे विशेष प्रभावित नहीं हुए हैं। किन्तु अशिक्षा, निर्धनता और आर्थिक शोषण के कारण उन्हें अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं की रक्षा करना कठिन हो गया है। आधुनिक सभ्यता के प्रभाव ने भी उनके सामने अनेक प्रकार की सांस्कृतिक समस्याओं को जन्म दिया है।

4. शिक्षा-सम्बन्धी समस्याएँ—अशिक्षा मानव की प्रगति में सबसे बड़ी बाधा होती है। दुर्भाग्यवश हमारे ये वनवासी भाई अशिक्षा से ग्रस्त रहे हैं। ईसाई मिशनरियों ने अपने स्वार्थ के कारण इनमें पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार दिया। स्वाधीन भारत में भी उनको शिक्षित करने के प्रयास किए जा रहे हैं। किन्तु अब भी अशिक्षा उनकी एक मुख्य समस्या बनी हुई है।

5. स्वास्थ्य-सम्बन्धी समस्याएँ—अनेक कारणों से जनजातियाँ अच्छा स्वास्थ्य बनाए रखने में असमर्थ रही हैं। अशिक्षा, निर्धनता, अन्ध-विश्वास, स्वास्थ्यप्रद निवास, स्थान का अभाव, शराब का अत्यधिक सेवन, कुपोषण या सन्तुलित भोजन का अभाव, चिकित्सा-सम्बन्धी सुविधाओं की कमी के कारण जनजातियों को प्रायः स्वास्थ्य-सम्बन्धी समस्याओं का सामना करना पड़ता रहा है। प्रायः जनजाति के लोग कामला या पीलिया, मलेरिया, चेचक, चर्मरोग तथा पेट और यौन सम्बन्धी रोगों के शिकार रहे हैं।

6. राजनैतिक समस्याएँ—जनजातियों में एक प्रकार के स्वायत्त शासन का प्रचलन रहा है। पंचायतें और मुखिया उनके पारस्परिक झगड़ों आदि के निपटाने में मुख्य भूमिका निभाती रहे। किन्तु ब्रिटिश शासन की स्थापना के उपरान्त मुखिया की स्थिति में अन्तर आया और उनकी स्वायत्तता भी प्रभावित हुई है। स्वाधीन भारत में भी देश में एक राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना तथा कतिपय कानूनों के निर्माण से भी उनकी स्वायत्तता पर प्रभाव पड़ा है।

स्वार्थी नेताओं और विदेशी शक्तियों ने जनजातियों को अपने हित में प्रयोग करने का प्रयास किया। फलतः अनेक जनजाति-समूहों में असन्तोष की लहर प्रवाहित होती रही है। सीमान्त की जनाजतियाँ इसकी उदाहरण हैं।

इस प्रकार हमारी जनजातियाँ अनेक समस्याओं से विपन्न रही हैं।

जनजातियों की समस्याओं के समाधान के प्रयास

जनजातियों की समस्याओं के समाधान के लिए समय-समय पर प्रयास किए जाते रहे हैं। स्वाधीनता के पूर्व अनेक स्वयंसेवी संस्थाओं तथा जननायकों द्वारा जनजातियों के कल्याण के प्रयास किए गए थे। जनजातियों के कल्याण के लिए स्थापित मेडिकल कालेजों, इंजीनियरिंग कालेजों तथा अन्य टेकनिकल शिक्षा-संस्थाओं में अनुसूचित जनजातियों के छात्र-छात्राओं के लिए स्थान सुरक्षित किए गए हैं।

1. अनुसूचित जातियों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए भी अनेक कार्यक्रम चलाए गए हैं। बंधुआ मजदूरी को समाप्त कर दिया गया है। जनजातियों की आर्थिक समृद्धि के लिए कृषि तथा कुटीर उद्योगों के लिए आर्थिक सहायता दी जाती है। राज्य-सरकारों की ओर

से उनके लिए खेती के लिए कुछ जमीन और मकान बनाने के लिए स्थान दिए गए हैं। कई राज्यों में उनके लिए अलग बस्तियाँ बनाई गई हैं जहाँ रहने के लिए मकान, पानी और बिजली की सुविधाएँ निःशुल्क या कम कीमत पर उपलब्ध कराई गई हैं।

2. जनजातियों में फैली सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए 'भारतीय आदिम जाति सेवक संघ' का नाम मुख्य है। इसके अतिरिक्त अन्य कई संस्थाएँ हैं। आन्ध्र-प्रदेश आदिम जाति सेवक संघ, नेलोर, ठक्करवापा आश्रम, नीमखंडी (उड़ीसा) तथा रामकृष्ण मिशन के नाम उल्लेखनीय हैं। ईसाई मिशनरियों ने भी आदिवासियों में आधुनिक शिक्षा का प्रचार कर उनके आधुनिकीकरण का प्रयास किया है। किन्तु इसके साथ ही उन्होंने आदिवासियों को ईसाई धर्म अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया है। इसलिए उनका सेवा-कार्य स्वार्थपरक माना जाता है।

आदिवासियों की दशा सुधारने के लिए जिन महापुरुषों ने उल्लेखनीय प्रयास किया है, उनमें महात्मा गांधी, महात्मा ज्योतिराय फुले, डॉ० वेरियर एलविन तथा ठक्करवापा के नाम मुख्य हैं।

स्वाधीन भारत में जनजातियों की समस्याओं के समाधान के लिए किए गये प्रयास

पराधीन भारत में जनजातियों की दशा सुधारने के लिए जो प्रयास किए गए, उनका अपना महत्व है, किन्तु जनजातियों के कल्याण के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य स्वाधीन भारत में हुए। स्वाधीन भारत के संविधान में अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए अनेक प्रावधान किए गए हैं। इन प्रावधानों के अनुसार अनेक कानून बनाए गए हैं जिनका उद्देश्य जनजातियों की समस्याओं का समाधान है। सर्वप्रथम अस्पृश्यता का निवारण कर दिया गया है और किसी भी रूप में अस्पृश्यता का अनुगमन अपराध समझा जायगा। उसके लिए जेल और जुर्माना दोनों का प्रावधान है।

इसके अतिरिक्त जनजातियों के कल्याण के लिए किए गए अन्य प्रयास संक्षेप में इस प्रकार हैं—

1. लोकसभा और राज्य के विधान-मण्डलों में अनुसूचित जनजातियों के लिए स्थान सुरक्षित कर दिए गए हैं। लोकसभा में 542 सीटों में से 40 स्थान अनुसूचित जनजातियों के के लिए सुरक्षित हैं। इसी प्रकार विधान सभा की 3997 सीटों में से 303 स्थान अनुसूचित जनजातियों के लिए सुरक्षित कर दिए गए हैं। पहले स्थानों के सुरक्षा की व्यवस्था संविधान लागू होने पर दस वर्ष के लिए की गई थी, किन्तु प्रत्येक अगले दस वर्ष पर इसे बढ़ाया जाता रहा है। इसे अभी 25 जनवरी, 2000 तक के लिए पुनः बढ़ा दिया गया है। स्मरण रहे कि यह व्यवस्था अनुसूचित जातियों को भी सुलभ है।

2. अनुसूचित जातियों की भाँति अनुसूचित जनजातियों के लिए भी सरकारी नौकरियों में स्थान सुरक्षित हैं। सरकारी नौकरियों में $7\frac{1}{2}$% स्थान अनुसूचित जनजातियों के लिए सुरक्षित किए गए हैं।

3. अनुसूचित जनजातियों को रोजगार दिलाने के लिए परीक्षापूर्व प्रशिक्षण और शिक्षण केन्द्र खोले गए हैं।

4. अनुसूचित जनजातियों के बालक-बालिकाओं में शिक्षा के प्रसार के लिए छात्रवृत्तियाँ तथा पुस्तक-पुस्तिकाओं आदि की सहायता दी जा रही है। कुछ स्थानों में उनके लिए विशेष विद्यालय खोले गए हैं। कई कदम उठाए गए हैं।

(7) अनुसूचित जनजातियों या आदिम जाति बहुल क्षेत्रों के प्रशासन तथा नियंत्रण के लिए विशेष व्यवस्था की गई है। बिहार, मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा में संविधान के अनुच्छेद 164 के अनुसार आदिम जातियों की देखभाल के लिए पृथक् मंत्री नियुक्त किए गये हैं। इसके अतिरिक्त केन्द्र में एक विशेष अधिकारी की नियुक्ति की गई जो अनुसूचित जातियों के कल्याण का ध्यान रखेगा। केन्द्रीय सरकार समय-समय पर अनुसूचित जनजातियों के कल्याण की प्रगति का आकलन करने के लिए समितियाँ गठित करती है।

भारतीय जनजाति-अनुसन्धान परिषद तथा केन्द्रीय समाज कल्याण विभाग भी अनुसूचित जनजातियों के कल्याण के लिए कदम उठाता रहता है।

इस प्रकार अनुसूचित जनजातियों की समस्याओं के समाधान के लिए अनेक महत्वपूर्ण प्रयास किये गए हैं। परन्तु जनजातियों की स्थिति को देखते हुए इस दशा में कुछ और ठोस कदम उठाए जाने आवश्यक हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. जनजाति से क्या आशय है? उनकी क्या विशेशताएँ हैं?
2. जनजातियों की मुख्य समस्याएँ क्या हैं?
3. जनजातियों की समस्याओं के विषय में आप क्या जानते हैं? उनके विवरण के लिए क्या प्रयास किए गए हैं?

लघु प्रश्न

1. जनजाति किसे कहते हैं?
2. जनजाति की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं?
3. जनजाति की दो मुख्य समस्याएँ बताइए?
4. जनजाति के कल्याण के लिए स्वतंत्र भारत की सरकार द्वारा किए प्रयासों पर दस पंक्तियाँ लिखिए।

अति लघु प्रश्न

1. सबसे अधिक संख्या में जनजातियाँ भारत के किस प्रदेश में पाई जाती हैं?
2. उत्तर प्रदेश में पाई जाने वाली मुख्य जनजातियों के नाम बताइए।
3 भारत की कुल जनसंख्या का कितना प्रतिशत जनजातियों का है?
4. दो उन महापुरुषों का नाम बताइए जिन्होंने जनजातियों के कल्याण का प्रयास किया।

"किसी देश की विदेश-नीति उसकी भौगोलिक परिस्थितियों से निश्चित होती है। सब नीतियों का लक्ष्य राष्ट्र की सुरक्षा होता है और उसका निर्धारण प्रधानतया भौगोलिक तत्वों से होता है।"

—के० एम० पणिक्कर

अध्याय 30

भारत की विदेश-नीति भारत तथा विश्व

● भारत की विदेश-नीति ● भारत और राष्ट्रमण्डल या राष्ट्रकुल ● भारत और संयुक्त राष्ट्रसंघ

भारत की विदेश-नीति

भारत की वैदेशिक नीति के प्रमुख आधार : सिद्धान्त

विश्व के अन्य राष्ट्रों या राष्ट्र-समूहों से भारत के सम्बन्ध उसकी विदेश-नीति पर आधारित हैं। एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्रों के साथ अपनाई जाने वाली नीति को राजनैतिक शब्दावली में विदेश-नीति कहते हैं। दूसरे शब्दों में विदेश-नीति एक राष्ट्र द्वारा अन्य राष्ट्रों के साथ राजनैतिक व्यवहार की वह प्रक्रिया है जिसका प्रमुख उद्देश्य अपने राष्ट्र के हितों की रक्षा और उसका विकास होता है। इस नाते विदेश-नीति राष्ट्र की राष्ट्रीय आकांक्षाओं और आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति होती है।

विदेश-नीति के निर्धारण में अनेक तत्वों का योग रहता है। देश की भौगोलिक परिस्थितियां, ऐतिहासिक परम्पराएं, सभ्यता और संस्कृति, आर्थिक आवश्यकताएं, राजनैतिक व्यवस्था और राजनैतिक आदर्श तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक परिवेश वैदेशिक नीति के प्रमुख आधार-स्तम्भ माने जाते हैं। भारत की वैदेशिक नीति भी इसका अपवाद नहीं है। वह भी इन विविध आधारों से प्रभावित हुई है।

उदाहरण के लिए, हम भारत की वैदेशिक नीति के भौगोलिक आधार को ले सकते हैं। भारत एशिया महाद्वीप का एक महत्वपूर्ण भाग है जिसके उत्तर में नगराज हिमालय और तीन ओर लहराता हुआ सागर है। पं० जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में, "हम एशिया के सामारिक दृष्टि से महत्वपूर्ण भाग हिन्द महासागर के मध्य में स्थित हैं। अतीत एवं वर्तमान से हमारे सम्बन्ध पश्चिमी एशिया, दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा सुदूर पूर्वी एशिया के साथ रहे हैं। यदि हम चाहें भी तो इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते।"

भारत की विदेश-नीति के आधार

1. असंलग्नता
2. पंचशील
3. विश्व-शान्ति
4. सभी से मैत्री
5. साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध
6. जातीय भेदभाव का विरोध
7. राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा
8. संयुक्त राष्ट्रसंघ में विश्वास

भारत की वैदेशिक नीति के प्रधान शिल्पी भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू माने जाते हैं। उनके निर्देशन और नेतृत्व में भारत की वैदेशिक नीति के जो सिद्धान्त और आदर्श स्थापित किए गए थे, वे आज भी हमारी वैदेशिक नीति के आधार हैं। संक्षेप में ये आधार इस प्रकार हैं—

1. **असंलग्नता (Non-alignment)**--भारत की विदेश-नीति का प्रमुख आधार असंलग्नता की नीति है। इसे 'गुट-निरपेक्षता' या 'तटस्थता की नीति' भी कहते हैं। इस नीति के प्रवर्तन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद जिस समय 1947 ई० में भारत की विदेश-नीति का सृजन हो रहा था, उस समय संसार दो प्रधान गुटों में बँटा हुआ था। एक गुट का नेतृत्व संयुक्त राज्य अमेरिका के हाथों में था और दूसरे का नेतृत्व सोवियत रूस के हाथों में। दोनों गुट अपने को सशक्त बनाने और अपने प्रभाव-क्षेत्र के विस्तार के लिए कटिबद्ध थे। उस समय के अधिकांश राजनयिक और राष्ट्रनायक किसी न किसी गुट की छाया में जाना आवश्यक मानते थे। जैसा कि सन् 1949 ई० में चीन के राष्ट्रनायक माओत्से तुंग ने कहा था कि "संसार दो गुटों में टूट चुका है—साम्राज्यवादी और समाजवादी। सभी को इन गुटों में से एक को चुनना होगा; तीसरा कोई मार्ग नहीं है।"

किन्तु नेहरू ने इसी परिवेश में असंलग्नता के आदर्श को अपनाया। इसके अनुसार देश ने अपने को दोनों गुटों से संलग्न होने से दूर रखा। इस नीति के अनुसार भारत किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय समस्या या गतिविधि को परखने व उसके बारे में निर्णय लेने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र है। श्री कृष्ण मेनन के शब्दों में "असंलग्नता का मूल सार यह है कि प्रत्येक देश और सरकार किसी गुट, ब्लाक या वर्ग का अंग बनकर नहीं, प्रत्युत स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं।" इस प्रसंग में यह स्मरण रखना चाहिए कि असंलग्नता का अर्थ निष्क्रिय-तटस्थता या अपनी स्वाधीनता की रक्षा के प्रति उदासीनता नहीं है, प्रत्युत इसका यह अर्थ है कि जब भारत की स्वाधीनता खतरे में होगी, न्याय प्रश्नचिह्नों से घिरा होगा या देश पर किसी का आक्रमण होगा तो भारत चुप नहीं रहेगा।

इस प्रकार असंलग्नता की नीति अपनाकर भारत को शक्ति-गुटों के दबाव से मुक्त करने का प्रयास किया गया। इसके द्वारा भारत ने यह बता दिया कि वह किसी अन्य ताकत के इशारों पर नाचने के लिए तैयार नहीं है। एक स्वाभिमानी-स्वाधीन देश के आत्म-गौरव से युक्त इस विदेश-नीति का विवेचन करते हुए पं० नेहरू ने कहा था कि "भारत ने सदैव इस या उस गुट के साथ इस आशा में मिलने का विरोध किया कि उसका अनुयायी होने से उसको खाने की मेज से गिरने वाले कुछ टुकड़े प्राप्त होंगे।"

2. **पंचशील**—भारत की विदेश-नीति का अन्य प्रमुख आदर्श पंचशील रहा है। 20 जून, 1954 ई० में भारत और चीन के प्रधानमंत्रियों के सम्मेलन में इस सिद्धान्त का जन्म हुआ था। बाद में 1955 ई० में एशिया और अफ्रीका के 29 देशों ने कुछ परिवर्तन के साथ इसे स्वीकार किया। पंचशील के पाँच सिद्धान्त इस प्रकार हैं—-

(क) एक-दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सर्वोच्च सत्ता के लिए पारस्परिक सम्मान की भावना।
(ख) अनाक्रमण।
(ग) अहस्तक्षेप।
(घ) समानता तथा परस्पर लाभ।
(ङ) शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व।

विचित्र संयोग से इस सुन्दर, परन्तु अभागे शिशु पंचशील ने प्रारम्भ में दुनिया के अनेक देशों का मन आकर्षित किया। एक के बाद एक राष्ट्र इसके प्रशंसक बनते गये। किन्तु दुर्भाग्य से इसके जन्मदाताओं में से एक ने (चीन ने) 1962 ई० में भारत पर आक्रमण कर इसके विकास

का मार्ग अवरुद्ध कर दिया। फिर भी भारत अपनी विदेश-नीति के एक प्रदत्त आदर्श के रूप में इसे अपनाये हुए है।

3. विश्व-शान्ति—भारत की वैदेशिक नीति का अन्य प्रमुख सिद्धांत विश्व शांति रहा है। सारी पृथ्वी ही हमारा परिवार है। वसुधैव कुटुम्बकम् में विश्वास करने वाला भारत अपनी गौरवमयी सांस्कृतिक परम्परा के प्रकाश में विश्व-शांति का सदा से पक्षपोषक रहा है। अतएव विश्व-शांति को भारत की वैदेशिक नीति के एक प्रमुख आदर्श के रूप में अपनाया गया। इसके अनुसार भारत विश्व के किसी भी कोने में आक्रमण का विरोधी रहा है। उसका यह अटल विश्वास रहा है कि युद्ध से समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। अतएव संसार की समस्त समस्याओं का समाधान शांतिपूर्ण साधनों द्वारा होना चाहिए। पं० नेहरू के शब्दों में शांति के बिना हमारे सभी सपने मिट्टी में मिल जाते हैं। अतः हमें संसार से युद्ध को, युद्ध के खतरे को तथा युद्ध के कारणों को मिटाना होगा।

4. सभी से मित्रता—भारत की वैदेशिक नीति का अन्य प्रमुख आदर्श सभी से मित्रता की भावना है। दूसरे शब्दों में भारत 'मित्रता सबसे तथा शत्रुता किसी से नहीं' (Friendship with all and enemity with none) के सिद्धान्त में विश्वास करता है। इस प्रकार भारत की वैदेशिक नीति घृणा के स्थान पर प्रेम तथा शत्रुता के स्थान पर मित्रता के सिद्धान्त पर आधारित है।

5. साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध—भारत की वैदेशिक नीति किसी भी प्रकार के साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद में विश्वास नहीं करती। दूसरे शब्दों में भारत की वैदेशिक नीति इस आदर्श को लेकर चलती है कि सभी राष्ट्र स्वाधीन हों, उनका किसी प्रकार का शोषण न हो, उन्हें राष्ट्रों की दुनिया में स्वाधीनता और सम्मान के साथ रहने का अवसर मिले।

6. जातिगत भेदभाव का विरोध—साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद के विरोध के साथ ही भारत की वैदेशिक नीति जातिगत भेदभाव का भी विरोध करती है। उसके अनुसार हर प्रकार का रंगभेद या जातिगत भेदभाव अनुचित है। इसी सिद्धान्त के आधार पर भारत दक्षिणी अफ्रीका में रंगभेद की नीति का विरोध करता रहा है।

7. राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा—कोई वैदेशिक नीति राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करके अपने को सार्थक नहीं बना सकती। भारत की वैदेशिक नीति का प्रमुख आदर्श भी राष्ट्र-हित है। पर भारत अपने राष्ट्रीय हित के साथ दूसरे राष्ट्रों के राष्ट्रीय हित में भी विश्वास करता है।

8. संयुक्त राष्ट्रसंघ में विश्वास—संयुक्त राष्ट्रसंघ में विश्वास भारत की वैदेशिक नीति का अन्य प्रमुख आदर्श है। भारत को संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी नियम व सिद्धान्त मान्य हैं। इन सिद्धान्तों के प्रति आदर की भावना व्यक्त करना तथा प्रत्येक दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रसंघ के हाथ मजबूत करना भारत की विदेश-नीति का एक प्रमुख लक्ष्य रहा है। इस प्रसंग में 20 दिसम्बर, 1956 ई० में संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में व्यक्त पं० नेहरू के विचार उल्लेखनीय हैं। उनके शब्दों में "यदि वास्तव में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने कोई आश्चर्यजनक कार्य नहीं किया है तो भी उसका अपना अस्तित्व ही विश्व के लिए अत्यन्त अर्थपूर्ण वस्तु है।"

निष्कर्ष—भारत इन्हीं आदर्शों के प्रकाश में सतत चलने के लिए प्रयत्नशील रहा है। यद्यपि जैसा कि प्रायः होता है, सिद्धान्तों को व्यवहार रूप में परिणत करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। फिर भी भारत कठिनाइयों के बावजूद इन आदर्शों और सिद्धान्तों से विचलित नहीं हुआ है।

2

भारत और कामनवेल्थ या राष्ट्रकुल
(India and the Common Wealth)

राष्ट्रकुल या कामनवेल्थ—राष्ट्रमण्डल या राष्ट्रकुल पूर्ववर्ती 'ब्रिटिश कामनवेल्थ ऑफ नेशन्स' का परिवर्तित और परिष्कृत रूप है। सन् 1949 ई० तक राष्ट्रकुल 'ब्रिटिश कामनवेल्थ ऑफ नेशन्स' के नाम से ही विश्रुत था। इस समय इसके अन्तर्गत ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत आने वाले एक प्रकार से सभी उपनिवेश और अधिराज्य सम्मिलित थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेश धीरे-धीरे स्वतंत्र होते गए। भारत स्वतंत्र होने वाले इन देशों में प्रथम था। स्वाधीन भारत, पाकिस्तान तथा लंका ने जब राष्ट्रकुल में बने रहने का संकल्प किया, तब राष्ट्रकुल के विधान और नाम में कुछ परिवर्तन किया गया। राष्ट्रकुल या राष्ट्रमण्डल (कामनवेल्थ) का वर्तमान नाम इसी परिवर्तन का प्रतिफल है।

राष्ट्रमण्डल के वर्तमान सदस्य—राष्ट्रमण्डल में वर्तमान समय में सदस्य राष्ट्रों की सदस्य-संख्या 48 है। इन राष्ट्रों के नाम इस प्रकार हैं ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, उत्तरी आयरलैण्ड, भारत,[1] श्रीलंका, मलेशिया, सिंगापुर, घाना, बांगलादेश, जाम्बिया, मालवी, केनिया, नाइजीरिया, तनजानियाँ, सियरालियोन, बोट स्वाना, स्वाजीलैण्ड, यूगाण्डा, जंजीबार, साइप्रस, माल्टा, ट्रिनीडाड, गायना आदि। इस प्रकार राष्ट्रमण्डल यूरोप, एशिया और अफ्रीका के उन देशों का एक संगठन है जो राजनैतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से सम्बन्धित रहे हैं।

राष्ट्रमण्डल के उद्देश्य—राष्ट्रमण्डल के प्रमुख उद्देश्य को हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं—

1. सदस्य राष्ट्रों की सामान्य समस्याओं पर तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर परस्पर परामर्श करना,
2. सदस्य राष्ट्रों के आर्थिक विकास अथवा सामान्य हितों को पूरा करने का प्रयास करना,
3. सदस्य राष्ट्रों के व्यापार की उन्नति के लिए परस्पर सहयोग करना।

राष्ट्रमण्डल के संगठन और सम्बन्ध का स्वरूप—ब्रिटेन की महारानी राष्ट्रमण्डल की प्रतीकात्मक अध्यक्ष मानी जाती हैं। राष्ट्रमंडल के समस्त सदस्य राष्ट्र बन्धुत्व के एक सूत्र में बँधे माने जाते हैं। राष्ट्रमंडल का प्रधान कार्यालय (सचिवालय) लन्दन में है। राष्ट्रमंडल के सदस्य राष्ट्र एक-दूसरे से राजनयिक सम्बन्ध बनाए रखने के लिए अपने राजनैतिक प्रतिनिधि या राजदूत भेजते हैं। ये राजदूत हाई कमिश्नर कहलाते हैं। राष्ट्रमण्डल के सदस्य राष्ट्रों का वार्षिक अधिवेशन प्राय: लन्दन में होता है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर क्षेत्रीय सम्मेलन भी होते रहते हैं। अभी हाल में सितम्बर, 1980 में एशिया तथा प्रशान्त महासागर क्षेत्र के राष्ट्रमंडल के 15 देशों का एक सम्मेलन नई दिल्ली में हुआ था। अभी हाल में दिल्ली में कामन वेल्थ देशों के शासन के प्रधान लोगों का सम्मेलन (CHOGM, Commonwealth Heads of Government Meeting) हुआ था।

---

1. पहले पाकिस्तान भी राष्ट्रमण्डल का सदस्य था, किन्तु जब ब्रिटेन ने बांगलादेश को मान्यता प्रदान कर दी, तब पाकिस्तान राष्ट्रमण्डल से अलग हो गया।

13 अक्टूबर, 1987 ई० में राष्ट्रमंडल का शिखर सम्मेलन वैंकूवर, में हुआ था। इस सम्मेलन में दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद-नीति व फिजी की ताजा घटनाओं के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के अनेक प्रश्नों पर विचार किया गया। इस सम्मेलन में भारत-श्रीलंका समझौता (29 जुलाई, 1987) की प्रशंसा की गई। सम्मेलन में आतंकवाद से संघर्ष करने तथा आतंकवाद के सभी रूपों से निपटने का निर्णय लिया गया। शिखर सम्मेलन ने एकमत से विश्व बैंक की पूंजी दो गुनी करने, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की संरचना-समायोजना सुविधा में तीन गुनी वृद्धि करने तथा विकासशील देशों के लिए अतिरिक्त कोष उपलब्ध कराने की अपील की गई। इस सम्मेलन में फिजी को औपचारिक रूप से राष्ट्रमंडल से निकाल दिया गया। फिजी के राष्ट्रमंडल देशों की कुल संख्या 48 रह गई है।

राष्ट्रमंडल की सदस्यता : एक विवादास्पद प्रश्न—स्वाधीन भारत की राष्ट्रमंडल की सदस्यता प्रारम्भ से ही एक विवादास्पद प्रश्न रही है। स्वाधीनता के उपरान्त जब भारत ने राष्ट्रमंडल की सदस्यता का निर्णय लिया था, तब अनेक लोगों ने इसके विरुद्ध अपनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। आलोचकों का कहना था कि राष्ट्रमंडल की सदस्यता भारत की स्वाधीनता पर अंकुश लगायेगी, भारत की स्वतंत्र विदेश-नीति में बाधा खड़ी करेगी। इसी प्रकार के अन्य तर्क प्रस्तुत किए गए थे, पर हमारे जननायकों ने इन तर्कों का खंडन करते हुए कहा था कि राष्ट्रमंडल की सदस्यता से भारत की सम्प्रभुता पर किसी प्रकार की आँच नहीं आयेगी। राष्ट्रमंडल की सदस्यता का समर्थन करते हुए पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि "वर्तमान विश्व में जबकि विनाशकारी शक्तियाँ सक्रिय हो रही हैं; हम युद्ध के कगार पर खड़े हैं। मेरी दृष्टि में ऐसे समय में इस प्रकार के सहयोगी संगठन का होना आवश्यक है जिससे कि संसार को कोई लाभ पहुँचे। न केवल भारत हेतु, वरन् समस्त संसार के लिए राष्ट्रमंडल की सदस्यता आवश्यक है। इससे भारत को अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में सहयोग प्राप्त होगा।"[1]

भारत को राष्ट्रमंडल से अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में कहाँ तक सफलता मिली है, यह दूसरा प्रश्न है। किन्तु यह सत्य है कि राष्ट्रमंडल की सदस्यता न भारत की स्वतंत्रता में बाधक रही और न ही भारत की वैदेशिक नीति पर ही उससे कोई आँच आई है। जहाँ तक राष्ट्रमंडल से होने वाले लाभों का प्रश्न है, राष्ट्रमंडल ने एशिया, यूरोप तथा अफ्रीका के अनेक देशों को एक मंच पर खड़ा कर उन्हें एक-दूसरे के सहयोग से अपने शैक्षिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया है।

3

भारत और गुटनिरपेक्ष देश

(Non Alignment Movement NAM)

असंलग्नता या गुटनिरपेक्षता भारत की वैदेशिक नीति की आधारशिला रही है। आर० जे० चेलिया के अनुसार असंलग्नता से आशय, आन्तरिक एवं वैदेशिक नीतियों का वह मिश्रण जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय एकता की रक्षा करना और परस्पर विरोधी गुटों द्वारा बनाए गए किसी प्रकार के सैनिक संगठन में बँधे बिना अपने राष्ट्रीय हितों में वृद्धि करना है।' दूसरे शब्दों में गुटनिरपेक्षता का अर्थ शक्तिमूलक राजनीति से पृथक् रहते हुए सभी राज्यों के साथ शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व और सक्रिय अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग है।

असंलग्नता की नीति की प्रमुख विशेषताओं को संक्षेप में हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं : (1) किसी भी गुट के साथ सैनिक गठबन्धन का स्थापित न करना, (2) बिना

किसी के साथ पूरी तरह बँधे हुए अपनी स्वतंत्र नीति का पालन करना, (3) असंलग्नता नकारात्मक नहीं एक सकारात्मक नीति है जिसका उद्देश्य अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा करते हुए विश्व-शान्ति और समृद्धि में योग देना है। वस्तुतः असंलग्नता की नीति बांडुंग सम्मेलन में अपनाए गए सिद्धान्तों को व्यवहार में बदलने की एक प्रक्रिया थी।

असंलग्नता की नीति को प्रभावी बनाने के लिए सितम्बर, 1961 ई० में बेलग्रेड (युगोस्लाविया) में एक शिखर सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन के पूर्व पं० जवाहर लाल नेहरू, मिस्र के कर्नल नासिर तथा युगोस्लाविया के मार्शल टीटो ने जुलाई 1956 ई० में एक अनौपचारिक बैठक में असंलग्न राष्ट्रों के एक संगठन की रूपरेखा तैयार की थी।

बेलग्रेड शिखर सम्मेलन में 25 तटस्थ राष्ट्रों ने भाग लिया था। उस समय असंलग्न आन्दोलन में भागीदार होने वाले राष्ट्र के लिए पाँच शर्तों का पालन करना आवश्यक माना गया था। ये शर्तें इस प्रकार थीं :

(1) वह देश स्वतंत्र नीति का अनुसरण करता हो; (2) वह उपनिवेशवाद का विरोध करता हो; (3) वह किसी भी सैनिक गुट का सदस्य न हो; (4) उसने किसी भी महाशक्ति के साथ द्विपक्षीय समझौता न किया हो; (5) उसने किसी भी महाशक्ति को अपने क्षेत्र में सैनिक अड्डा बनाने की स्वीकृति न दी हो।

प्रथम बेलग्रेड सम्मेलन (1961) के बाद समय-समय पर असंलग्न राष्ट्रों के सम्मेलन होते रहे हैं। इन असंलग्न या गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का सातवाँ शिखर सम्मेलन मार्च, 1983 ई० में नई दिल्ली में हुआ था। इसमें दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका, एशिया, उत्तरी और मध्य अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका तथा यूरोप के कुल मिला कर 101 देश सम्मिलित हुए थे। इस सम्मेलन का नेतृत्व तत्कालीन प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने किया था। सम्मेलन में शान्ति, विकास और निरस्त्रीकरण की जोरदार शब्दों में माँग की गई। दमन व शोषण के विरुद्ध निरगुट आन्दोलन को जारी रखने का निश्चय किया गया। विकासशील देशों में पारस्परिक सहयोग पर बल दिया गया तथा आपसी मतभेदों को शान्तिपूर्ण उपायों से हल करने की आवश्यकता पर जोर दिया गया।

निरगुट आन्दोलन जो नाम आन्दोलन (नान एलाइन मूवमेण्ट) के नाम से अधिक प्रसिद्ध है का 25वाँ शिखर-सम्मेलन हरारे (अफ्रीका में सितम्बर 1986 ई० में हुआ। इस सम्मेलन में दक्षिण अफ्रीका के विरुद्ध अनेक आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने का निर्णय लिया गया।

भारत ने निरगुट आन्दोलन के एक प्रभावकारी सदस्य के रूप में आन्दोलन के विकास तथा विकासशील और अविकसित राष्ट्रों के विविध हितों की रक्षा में जो अगुआई की है वह स्तुत्य है।

सार्क (SARC) दक्षेस

सार्क (साउथ इण्डियन एसोसियेशन आफ रीजनल कोआपरेशन—South Indian Association of Regional Cooperation SARC) की स्थापना दिसम्बर, 1985 ई० में की गई। बांगला देश की राजधानी ढाका में इसका प्रथम अधिवेशन हुआ। इसके सदस्य सात दक्षिण एशियायी देश है। ये देश इस प्रकार हैं : भारत, बांगलादेश, भूटान, नेपाल, पाकिस्तान और श्रीलंका। सार्क का स्थायी कार्यालय नेपाल की राजधानी काठमाण्डू में है।

सार्क (दक्षेस) का उद्देश्य दक्षिणी एशिया के लोगों के कल्याण को बढ़ावा देना तथा उनके जीवन को सुधारना, सार्क देशों में आपसी विश्वास तथा समझदारी और सहयोग को बढ़ाना, क्षेत्र के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, तकनीकी और वैज्ञानिक क्षेत्रों के विकास के लिए आपस में तथा अन्य विकासशील देशों के साथ सहयोग को बढ़ावा देना तथा अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर सामान्य हित के मामलों में आपस में सहयोग देना है।

5

भारत और संयुक्त राष्ट्र संघ
(India and U. N. O.)

संयुक्त राष्ट्र संघ (यू० एन० ओ०) शान्ति की युग-यात्रा में एक नया कदम

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना

प्रथम विश्व-युद्ध के बाद विश्व में युद्ध को रोकने के लिए तथा विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए 'राष्ट्र संघ' (लीग ऑफ नेशन्स) की स्थापना की गई थी, किन्तु कई कारणों से राष्ट्र संघ असफल रहा। दूसरे विश्व-युद्ध के बाद पुन: विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए एक नये संगठन के प्रयास प्रारम्भ हुए। विश्व के प्रमुख देशों के अनेक सम्मेलन हुए। अन्त में 25 अप्रैल, 1945 ई० को सान फ्रांसिस्को में एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें 50 राष्ट्रों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर तैयार हुआ। इस चार्टर के अनुसार 24 अक्टूबर, 1945 ई० को इस महान् अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना हुई जिसे हम सब 'संयुक्त राष्ट्र संघ' (यूनाइटेड नेशन्स आर्गेनाइजेशन) कहते हैं।

संयुक्त संघ के उद्देश्य

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के प्रथम अनुच्छेद (धारा) में उनके उद्देश्यों पर प्रकाश डाला गया है। ये उद्देश्य इस प्रकार हैं—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखना। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार झगड़ों का निपटारा करना।

(2) समानता के आधार पर राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास करना।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना।

(4) जाति, लिंग, भाषा या धर्म के आधार पर होने वाले भेद-भाव को दूर करना तथा मानवीय अधिकारों एवं भौतिक स्वतंत्रताओं को प्रोत्साहन देना।

(5) संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संयुक्त राष्ट्र संघ के चार प्रमुख उद्देश्य हैं। ये हैं— विश्व-शान्ति की स्थापना, राष्ट्रों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास, विश्व की आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं का समाधान और मानवीय अधिकारों की सुरक्षा।

मानव अधिकार

संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर मानव अधिकारों का महत्वपूर्ण दस्तावेज है। चार्टर में मानव अधिकार के सम्बन्ध में मुख्यतया निम्नांकित बातें आती हैं—

(1) संयुक्त राष्ट्र संघ मानव के मूलभूत अधिकारों में विश्वास करता है।

(2) वह मानव की गरिमा तथा उसकी महत्ता या मूल्य को स्वीकार करता है।
(3) वह स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों में विश्वास करता है।
(4) वह मानव समता में विश्वास करता है।
(5) वह न्याय में विश्वास करता है।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ का अधिकार-पत्र मानव के समस्त मूल अधिकारों—स्वतंत्रता, समता और न्याय—में विश्वास करता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर पर प्रारम्भ में 51 सदस्यों ने हस्ताक्षर किए थे। धीरे-धीरे इसकी सदस्य-संख्या बढ़ती रही। इस समय संयुक्त राष्ट्र संघ में कुल 159 सदस्य हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ का संगठन : प्रमुख अंग

संयुक्त राष्ट्र संघ के छह प्रमुख अंग हैं। वे इस प्रकार हैं—

(1) साधारण सभा (General Assembly)।
(2) सुरक्षा परिषद् (Security Council)
(3) आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council)
(4) न्याय परिषद् (Trusteeship Council)
(5) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice) तथा
(6) सचिवालय (Secretariat)

1. साधारण सभा (जेनरल असेम्बली)—साधारण सभा में संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र साधारण सभा में 5 सदस्य भेज सकता है, किन्तु प्रत्येक राष्ट्र को केवल एक मत देने का अधिकार होता है। साधारण सभा का अधिवेशन प्रति वर्ष सितम्बर के महीने में होता है। आवश्यकता पड़ने पर विशेष अधिवेशन बुलाया जा सकता है। साधारण सभा को चार्टर के अन्तर्गत किसी भी मामले में विचार करने का अधिकार है। साधारण सभा की अध्यक्षता के लिए एक अध्यक्ष होता है जिसका निर्वाचन साधारण सभा के सदस्यों द्वारा किया जाता है। एक समय भारत की विजयलक्ष्मी पंडित साधारण सभा की अध्यक्षा थीं।

2. सुरक्षा परिषद् (सेक्युरिटी काउन्सिल)—सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र संघ की सबसे शक्तिशाली संस्था है। सुरक्षा परिषद् में कुल 15 सदस्य होते हैं। इनमें से 5 स्थायी सदस्य हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और साम्यवादी चीन इसके स्थायी सदस्य हैं। दस अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन साधारण सभा द्वारा दो वर्ष के लिए किया जाता है। सुरक्षा परिषद् एक निरन्तर कार्य करने वाली संस्था है। इसका प्रमुख कार्य उन समस्याओं का समाधान करना है जिससे विश्व-शान्ति भंग होने की सम्भावना हो। सुरक्षा परिषद् में किसी बात के निर्णय के लिए यह आवश्यक है कि उसके पक्ष में पाँच स्थायी सदस्य और दो अस्थायी सदस्य हों। यदि कोई स्थायी सदस्य किसी विषय के विपक्ष में अपना मत देता है तो वह विषय पास नहीं हो सकता। स्थायी सदस्यों के इस अधिकार को 'निषेधाधिकार' (वीटो पावर) कहते हैं। सुरक्षा परिषद् की बैठक 15 दिन में एक बार होती है।

3. आर्थिक और सामाजिक परिषद्—वर्तमान समय में आर्थिक व सामाजिक परिषद् में 18 सदस्य होते हैं। इन सदस्यों का निर्वाचन साधारण सभा द्वारा तीन वर्ष के लिए होता है। इस परिषद् का मुख्य उद्देश्य विश्व को समृद्ध, सुखी और न्यायपरायण बनाना है। इस परिषद् के वर्ष में कम से कम दो अधिवेशन होते हैं।

4. न्यास परिषद् (ट्रस्टीशिप काउन्सिल)—इस परिषद् का कार्य संरक्षित प्रदेशों का शासन करना है।

5. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय -अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में 15 सदस्य होते हैं। ये सदस्य सामान्य सभा तथा सुरक्षा परिषद् द्वारा 9 वर्ष के लिए चुने जाते हैं। न्यायालय स्वयं अपने अध्यक्ष का निर्वाचन करता है। अध्यक्ष का कार्यकाल दो वर्ष होता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का मुख्य कार्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का फैसला करना है। इसका निर्णय बहुमत से होता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का मुख्य केन्द्र हेग (हालैण्ड) में है।

6. सचिवालय (सेक्रेटेरियट)—सचिवालय संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य कार्यालय है। इसका प्रधान महासचिव (सेक्रेटरी जेनरल) होता है। महासचिव का कार्य-काल 5 वर्ष होता है। सचिवालय के अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति करता है। सचिवालय में विभिन्न श्रेणियों के पन्द्रह हजार से ऊपर कर्मचारी काम करते हैं। सचिवालय का मुख्य केन्द्र संयुक्त राज्य अमेरिका का न्यूयार्क नगर हैं। इस समय यू० एन० जी० के महासचिव जेवियर परेज ब क्यूलर हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ की विशिष्ट शाखाएँ और उनके कार्य

उपर्युक्त संगठनों के अतिरिक्त राष्ट्र संघ की कुछ विशिष्ट संस्थाएँ हैं। इन संस्थाओं में मुख्य इस प्रकार हैं—

1. 'संयुक्त राष्ट्र शिक्षा विज्ञान तथा सांस्कृतिक परिषद्' (United Nations Scientific and Cultural Organization)—संयुक्त राष्ट्र शिक्षा, विज्ञान तथा सांस्कृतिक परिषद् को संक्षेप में 'युनेस्को' कहते हैं। 'युनेस्को' का मुख्य कार्य शिक्षा, विज्ञान, संस्कृति की उन्नति के लिए प्रयास करना तथा शिक्षा द्वारा मानव के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना है। युनेस्को का मुख्य केन्द्र फ्रांस की राजधानी पेरिस है।

2 खाद्य और कृषि परिषद्—(Food and Agricultura Organization)—इसका कार्य विश्व में कृषि, वन तथा मछली उद्योग आदि बढ़ाने के लिए कदम उठाना तथा इस दृष्टि से राष्ट्रों को सलाह और सहायता देना है। इसे संक्षेप में 'एफ० ए० ओ०' कहा जाता है।

3. विश्व स्वास्थ्य संगठन (World Health Organization)—यह विश्व की स्वास्थ्य-सम्बन्धी समस्याओं से सम्बन्धित संगठन है। इस दृष्टि से इसका कार्य महामारियों को रोकना तथा संसार के देशों को स्वास्थ्य सुधार के लिए सलाह और सुझाव देना है। इसे संक्षेप में (डब्लू० एच० ओ०) कहते हैं।

4. संयुक्त राष्ट्र संघ बाल आपात फंड (U. N. International Children Emergency Fund) - इसे संक्षेप में 'यूनिसेफ' कहते हैं। इस संगठन का मुख्य कार्य अफ्रीका और पिछड़े हुए राज्यों और क्षेत्रों में बच्चों के स्वास्थ्य सुधारने के लिए कदम उठाना है!

5. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (International Labour Organisation)—इस संगठन का कार्य विश्व के मजदूरों की समस्याओं पर विचार करना तथा उनके कल्याण के लिए प्रयास का करना है।

संयुक्त राष्ट्र संघ एक मूल्यांकन

अपने जन्म से लेकर आज तक संयुक्त राष्ट्र संघ ने विश्व-शान्ति और समृद्धि की दिशा में अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये है। उदाहरण के लिए 1950 में कोरिया की समस्या खड़ी हुई। उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। सुरक्षा परिषद् के द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ की सेनाओं ने युद्ध में हस्तक्षेप कर युद्ध बन्द कराया। इसी प्रकार यूनान, इंडोनेशिया, स्वेजकांड, कांगो आदि की समस्याओं के समाधान में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। जैसा पं० जवाहरलाल नेहरू ने यू० एन० ओ० के पन्द्रहवें अधिवेशन में कहा था -'इस

निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने कई बार उत्पन्न संकटों को युद्ध में परिणत होने से रोका है।'

संसार की आर्थिक-सामाजिक प्रगति में भी यू० एन० ओ० ने योग दिया है। किन्तु अब भी अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ हैं जिनके समाधान करने में संयुक्त राष्ट्र संघ सफल नहीं हुआ है। दुनिया में हथियारों के निर्माण की दौड़, राष्ट्रों की गुटबन्दी तथा विभिन्न देशों के पारस्परिक विवाद इसके उदाहरण हैं। पर इस सम्बन्ध में हमें यह न भूलना चाहिए कि संयुक्त राष्ट्र संघ की अपनी सीमाएँ हैं। वह कोई सर्वोच्च संप्रभु संगठन नहीं हैं। वह संसार के प्रमुख देशों का केवल एक सक्रिय विचार-मंच है। उसके पास ऐसी संप्रभु शक्ति नहीं कि वह राष्ट्रों को अपने आदेशों को पालन करने के लिए बाध्य कर सके। फिर भी संयुक्तराष्ट्र संघ का अपना महत्व है। वस्तुतः राष्ट्र संघ शान्ति का सन्देशवाहक तथा अँधेरे में भटकती हुई मानवता को प्रकाश देने वाला एक प्रखर ज्योति-स्तम्भ है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ और भारत का योगदान

भारत संयुक्त राष्ट्रसंघ का उसकी स्थापना के समय से ही सदस्य रहा है। राष्ट्रसंघ की साधारण सभा तथा कुछ अन्य संस्थाओं के सदस्य होने के नाते संघ के उद्देश्यों की पूर्ति स तथा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में भारत ने स्तुत्य योग दिया है। संक्षेप में संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य-पूर्ति में दिए गए भारत के योगदान को निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

1. कोरिया की समस्या के समाधान में योगदान –25 जून, 1950 ई० को उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया। भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री पं० नेहरू ने कोरिया में युद्ध समाप्त करने तथा शान्ति स्थापित करने के लिए प्रयास किया। सुरक्षा परिषद् ने कोरिया में हस्तक्षेप किया। भारत के आग्रह पर राष्ट्रसंघ की सेनाएँ 38 समानान्तर रेखा' पार करने से रोक दी गईं। अन्त में राष्ट्रसंघ की महासभा में भारत के प्रस्ताव पर ही ही युद्ध विराम हुआ। कोरिया में भारत को तटस्थ राष्ट्र आयोग का अध्यक्ष बनाया गया और उसकी सेनाएँ कोरिया में शान्ति-स्थापना के लिए गईं। कोरिया के युद्ध-बन्दियों की समस्या के समाधान में भी भारत ने योग दिया।

2. हिन्द-चीन की समस्या के समाधान में योग दिया—विश्वा-शाति की स्थपाना ने भारत का दूसरा प्रमुख प्रयास हिन्द-चीन की समस्या का समाधान था। सन् 1954 ई० में हिन्द-चीन में युद्ध की ज्वाला भभक उठी। उससे ऐसा प्रतीत होने लगा कि विश्व की अन्य शक्तियाँ उसमें उलझ जायेगी। भारत के प्रधानमंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू ने हिन्द-चीन में 'युद्ध रोको' प्रस्ताव की घोषणा की। जिनेवा में होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भारत ने भाग लिया। इस सम्मेलन में भारत ने हिन्द-चीन में शान्ति-स्थापना पर पूरा ओर दिया। अंत में 20 जुलाई, 1954 ई० को अवस्थायी संधि तथा युद्धबंदी प्रस्ताद स्वीकृत हुआ। भारत को शांति-संधि की शर्तों की देखभाल के लिए कनाडा तथा रोलैण्ड के साथ सुपरवाइजरी कमीशन का अध्यक्ष चुना गया। इस प्रकार भारत की सेनाएँ एक बार पुनः संसार के एक अन्य युद्धक्षेत्र में शांति की स्थापना के लिए भेजी गयीं।

3. स्वेज नहर की समस्या के समाधान में योग—स्वेज नहर की समस्या भी एक ऐसी समस्या थी जिसमें विश्व-शांति के भंग होने का भय उत्पन्न हो गया था। मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया था। मिस्र का यह कदम और फ्रांस के विरुद्ध था। फलतः नवम्बर, सन् 1956 ई० में फ्रांस और इंगलैण्ड की संयुक्त सेनाओं ने मिस्र पर आक्रमण कर दिया। भारत ने मिस्र में युद्धबंदी के लिए विशेष प्रयास किया। अंत में मिस्र में युद्ध समाप्त हो गया और मिस्र, फ्रांस तथा इंगलैण्ड में समझौता हो गया।

4. हंगरी की समस्या में योगदान– सन् 1956 ई० में एक आंतरिक क्रांति हुई। सोवियत रूप ने पाश्चात्य देशों के हस्तक्षेप की ... हंगरी के आन्दोलन का कठोरता से

दमन किया। रूस से भारत के अच्छे संबंधों के बावजूद भारत ने रूस से ऐसा न करने का विरोध किया तथा राष्ट्रसंघ में प्रस्तुत पश्चिमी देशों के प्रस्ताव का समर्थन किया।

5. चीन तथा अन्य राष्ट्रों की सदस्यता का समर्थन—साम्यवादी चीन की सरकार को पहले राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त नहीं थी। उसके स्थान पर फार्मोसा में स्थित च्यांग कोई शेक की सरकार राष्ट्रसंघ में चीन का प्रतिनिधित्व कर रही थी। भारत साम्यवादी चीन की सरकार को राष्ट्रसंघ में सदस्य बनाये जाने की जोरदार वकालत करता रहा। यद्यपि बाद में चीन ने तिब्बत और भारत पर आक्रमण कर एक प्रकार का विश्वासघात किया। फिर भी भारत चीन के राष्ट्रसंघ में सम्मिलित किए जाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहा। अन्त में चीन राष्ट्रसंघ की सदस्य तथा सुरक्षा परिषद का स्थायी सदस्य बना लिया गया। चीन के अतिरिक्त भारत एशिया और अफीका के अन्य नवोदित राष्ट्रों के सदस्य बनाये जाने की भी वकालत करता रहा है। नेपाल, श्रीलंका, जापान, इटली, स्पेन, हंगरी, बलगेरिया, आस्ट्रिया आदि को राष्ट्रसंघ की सदस्यता दिलाने में सक्रिय योग दिया।

6. उपनिवेशवाद का विरोध—भारत राष्ट्रसंघ के मंच से उपनिवेशवाद का विरोध करता रहा। भारत के प्रयास से सन् 1961 ई० में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने एक प्रस्ताव पारित किया और 17 देशों की एक समिति का निर्माण किया। भारत इस समिति का अध्यक्ष बनाया गया।

7. निःशस्त्रीकरण का विरोध—विश्व-शान्ति के लिए निःशस्त्रीकरण अपरिहार्य है। भारत प्रारम्भ से संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा निःशस्त्रीकरण की दिशा में उठाये गये प्रयासों का समर्थन करता रहा है और इस दिशा में उठाये गये कदमों में सक्रिय सहयोग दिया है।

8. राष्ट्रसंघ के अन्य कार्यों में योग—उक्त कार्यों के अतिरिक्त भारत राष्ट्रसंघ के अन्य कार्यों में भी योग देता रहा है। वस्तुतः विश्व-शान्ति सद्भावना, सहयोग तथा विश्व-कल्याण के लिए उठाये गये सभी प्रयासों में भारत का योग रहा है। राष्ट्रसंघ के शैक्षिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संगठन (युनेस्को), अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन तथा इसी प्रकार की अन्य संस्थाओं से भारत सक्रिय रूप से जुड़ा रहा है।

राष्ट्रसंघ में भारत की अभिरुचि और योगदान के प्रकाश में समय-समय पर उसे राष्ट्र-संघ के महत्वपूर्ण पद प्राप्त होते रहे हैं। उदाहरण के लिए श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा की अध्यक्षा चुनीं गई थीं। राजकुमारी अमृत और विश्व-स्वास्थ्य संघ की अध्यक्षा बनीं। डॉ० राधाकृष्णन् आर्थिक व सामाजिक परिषद के अध्यक्ष बनाये गये तथा भारत को कई बार सुरक्षा परिषद का सदस्य चुना गया।

उपसंहार

भारत की वैदेशिक नीति के प्रमुख आधार और आदर्शों तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ एवं राष्ट्रमण्डल में उसकी भूमिका से विश्व के रंगमंच पर भारत की स्थिति का एक संकेत मिल जाता है। 'वसुधैव कुटुम्बम्' में विश्वास करने वाला तथा विश्व-शान्ति का अमर गायक भारत अपनी आदर्श वैदेशिक नीति का अनुगमन करता रहा है। उसने विश्व के सभी राष्ट्रों से मैत्री, सद्भावना और सहयोग का सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयास किया है। इस प्रकार विश्व-शान्ति बनाये रखने की दिशा में उसने स्तुत्य योग किया है। परन्तु विश्व की महाशक्तियों का पारस्परिक विद्वेष, कतिपय राष्ट्रों की संकुचित स्वार्थ-वृत्ति तथा भारत के पड़ोसी राज्यों यथा पाकिस्तान और चीन की भारत-विरोधी नीति ऐसी बाधाएँ रही हैं जिनके कारण भारत को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है और अब भी पड़ रहा है। किन्तु फिर भी भारत अपने आदर्शों को चरितार्थ करने के लिए कृत-संकल्प है। जैसा कि राष्ट्रकवि श्री रामधारी सिंह

'दिनकर' ने कहा है—

लेकर नूतन जन्म पुरातन व्रत हम साध रहे हैं,
युग की नींव क्षमा, करुणा, मुदिता पर बाँध रहे हैं;
× × ×
अगम साधना की घाटी यह और मनुज दुर्बल है,
किन्तु बुद्ध, गांधी, अशोक का साथ न कम संम्बल है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1—पंचशील का क्या आशय है ?

उत्तर—पंचशील के पाँच सिद्धान्त हैं। ये सिद्धान्त इस प्रकार हैं—(1) एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और संप्रभुता के लिए पारस्परिक सम्मान की भावना (2) अनाक्रमण (3) अहस्तक्षेप (4) समानता तथा परस्पर लाभ तथा (5) शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व।

प्रश्न 2—भारत की वैदेशिक नीति के मुख्य आधार क्या हैं ?

उत्तर— (1) असंलग्नता (2) पंचशील (3) विश्व-शान्ति (4) सभी से मैत्री (5) साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध (6) जातीय भेद भाव का विरोध (7) राष्ट्रीय हितों की सुरक्षा (8) संयुक्त राष्ट्र संघ में विश्वास।

प्रश्न 3—संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्य उद्देश्य क्या हैं ?

उत्तर—(1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाए रखना, (2) समानता के आधार पर राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास करना, (3) अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना, (4) जाति, लिंग, भाषा या धर्म के आधार पर होने वाले भेद-भाव को दूर करना तथा मानवीय अधिकारों एवं भौतिक स्वतन्त्रताओं को प्रोत्साहन देना।

अति लघु प्रश्न

प्रश्न 1—राष्ट्रमण्डल (कामनवेल्थ) के वर्तमान समय के महासचिव कौन हैं ?

उत्तर—एमेका अन्याओकू।

प्रश्न 2—संयुक्त राष्ट्र संघ (यू० एन० ओ०) की स्थापना कब हुई थी ?

उत्तर—24 अक्टूबर, 1945 ई०।

प्रश्न 3—संयुक्त राष्ट्र संघ का एक उद्देश्य बताइए।

उत्तर—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाए रखना।

प्रश्न 4—संयुक्त राष्ट्र संघ में वर्तमान समय में कुल कितने सदस्य हैं ?

उत्तर—166।

प्रश्न 5—संयुक्त राष्ट्र की सबसे शक्तिशाली संस्था कौन सी है ?

उत्तर—सुरक्षा परिषद (सेक्यूरिटी काउंसिल)।

प्रश्न 6—सुरक्षा परिषद के दो स्थायी सदस्यों के नाम बताइए।

उत्तर—(1) संयुक्त राज्य अमेरिका तथा (2) ग्रेट ब्रिटेन।

प्रश्न 7—संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रधान केन्द्र कहाँ है ?

उत्तर—न्यूयार्क नगर (संयुक्त राज्य अमेरिका)

प्रश्न 8—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का प्रधान केन्द्र कहाँ है ?

उत्तर—हेग (हालैण्ड)।

प्रश्न 9—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश (अध्यक्ष) कौन है ?

उत्तर—श्री रघुनन्दन स्वरूप पाठक।

प्रश्न 10—सुरक्षा परिषद के अस्थायी सदस्यों को कौन चुनता है ?

उत्तर—संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा (जेनरल असेम्बली)।

प्रश्न 11—संयुक्त राष्ट्र संघ के वर्तमान महासचिव कौन हैं ?

उत्तर—बुतरस घाली।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत की वैदेशिक नीति के मुख्य आधारों पर एक निबन्ध लिखिए।
2. संयुक्त राष्ट्रसंघ के विषय में आप क्या जानते हैं ? उसके क्या आदर्श हैं ?
3. राष्ट्रमण्डल का क्या आशय है ? भारत और राष्ट्रमण्डल के सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए।
4. संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य में भारत के योगदान पर एक निबन्ध लिखिए।
5. विश्व-शांति में भारत के योगदान पर प्रकाश डालिए।

लघु प्रश्न

निम्नांकित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

1. राष्ट्रमण्डल
2. सुरक्षा परिषद
3. संयुक्तराष्ट्र संघ के उद्देश्य
4. 'नाम' गुट-निरपेक्ष आंदोलन (उ० प्र० 1992)
5. सार्क (उ० प्र० 1988)

अतिलघु प्रश्न

1. भारतीय वैदेशिक नीति के मुख्य कर्णधार कौन माने जाते हैं ?
2. भारत की वैदेशिक नीति की विशेषताएँ बताइए।
3. सुरक्षा परिषद का एक मुख्य कार्य बताइए।
4. सुरक्षा परिषद के दो स्थायी सदस्यों का नाम बताइए। (उ० प्र० 1984)
5. संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना कब हुई थी ?
6. संयुक्त राष्ट्रसंघ में वर्तमान समय में कुल कितने सदस्य है ?
7. संयुक्त राष्ट्रसंघ का मुख्य कार्यालय कहाँ है ?

सारे देश और देश के सभी क्षेत्रों में आर्थिक विकास, भाषा और धर्म के मामलों में सच्चे अर्थों में सहिष्णुता तथा जाति प्रथा को समाप्त करने की दिशा में यदि सुदृढ़ प्रयास किया जाता है तो भारत एक सशक्त और संगठित देश के रूप में उठ खड़ा होगा।'

—प्रो० एम० एन० श्रीनिवास

अध्याय 31

भारत में राष्ट्रीय एकता

हमारी राष्ट्रीय एकता के प्रमुख आधार—हमारी राष्ट्रीय एकता के मार्ग की बाधाएँ—राष्ट्रीय एकता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के उपाय।

किसी निश्चित भूखण्ड पर अनन्त काल से रहने वाला वह मानव समाज जो समान सामाजिक, सांस्कृतिक संस्थाओं, परम्पराओं और मूल्यों को अपने अन्तर में संजोए अपने ऐतिहासिक युग-यात्रा की निरन्तरता को बनाए रखने में समर्थ ओर सक्षम रहा हो, राष्ट्र कहलाता है। राष्ट्र-बोध और राष्ट्रीयता की चेतना राष्ट्र के अस्तित्व की आधार-शिला होती है ! राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँध रखने वाली संस्कृति के संयोगकारी तत्वों तथा एकता की जटिल मानसिक भावनाओं को जोड़ने वाला शब्द राष्ट्रीयता कहलाता है। अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम राष्ट्र के लिए त्याग, समर्पण और बलिदान की भावना, राष्ट्रीयता की मुखर अभिव्यक्ति हैं। ऐसी राष्ट्रीय चेतना राष्ट्र की अस्मिता और अस्तित्व की आधार-शिला होती है। जब तक यह आधार-शिला मजबूत रहती है राष्ट्र का विशाल प्रसाद शक्तिशाली, समर्थ और समृद्ध बना रहता है किन्तु जब राष्ट्रीयता की भावना लुप्त होने लगती है तब राष्ट्र का गौरव दीप भी धूमिल पड़ने लगता है। राष्ट्र के विशाल प्रासाद की प्राचीरें ढहने लगती हैं। भारत के अतीत और वर्तमान का इतिहास इस तथ्य का मुखर साक्षी है।

हमारी राष्ट्रीय एकता के प्रमुख आधार—अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भारत को एक राष्ट्र की संज्ञा देना उचित नहीं समझा। उनकी दृष्टि में भारत एक राष्ट्र नहीं प्रत्युत कई राष्ट्रीयताओं का एक भौगोलिक क्षेत्र है। कुछ विद्वानों के अनुसार भारत एक उपमहाद्वीप है जिसमें अनेक देश हैं। सर जान स्ट्रेची ने तो यहाँ तक कह डाला कि 'भारत नाम का न कोई देश कभी था और न है।' स्पष्ट है कि इस प्रकार की विचारधारा पूर्वाग्रह से युक्त है। दुर्भाग्यवश भारत पराधीन हुआ और पराधीनता काल में इन विदेशी विद्वानों ने भारत को दास बनाए रखने, और उसका शोषण करने, उसका मनोबल गिराने के लिए जो अनेक विधाएँ अपनाई थी उनमें यह भी एक विधा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारत में अनेक प्रकार की विविधताएँ हैं किन्तु इन विविधताओं में एकता है—'Unity in Diversity' है। विविधता में यही एकता हमारी राष्ट्रीय अस्मिता की आधारशिला रही है। विविधता में एकता के इन आधारों को हम अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं—

(1) **भौगोलिक एकता**—भौगोलिक दृष्टि से भारत एक विशाल देश है जो पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में समुद्र से तथा उत्तर में पर्वतराज हिमालय से घिरा हुआ है। उसकी यह भौगोलिक स्थिति उसे एशिया के अन्य देशों से अलग करती है। इस विशाल देश में अनेक प्रकार की जलवायु पाई जाती है। जलवायु की विभिन्नता के कारण भारत के विविध क्षेत्रों के लोगों के खान-पान और रहन-सहन में

पर्याप्त अन्तर है। किन्तु इस अन्तर ने, इस भौगोलिक विविधता ने भारत की भौगोलिक एकता में बाधा नहीं पहुँचाई। इस एकता का बोध हमारे प्राचीन ऋषियों को भी था। विष्णु पुराण की ये पंक्तियाँ एक तथ्य की प्रमाण है :

उत्तर यत्समु द्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्ष तद् भारतं नाम भारती यत्र संततिः ॥ —विष्णु पुराण

अर्थात्—'समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में जो देश है वह भारतवर्ष कहलाता है और वहाँ के लोग भारत की सन्तान कहलाते हैं।' भारतीय संस्कृति के अमर गायक महाकवि कालिदास की रचनाओं में सारे भारत की इसी भौगोलिक एकता का स्पष्ट शब्द-चित्र मिलता है। आज भी कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक भारत की इसी भौगोलिक एकता का परिचय मिलता है।

(2) **धार्मिक एकता**—भौगोलिक ही नहीं, धार्मिक दृष्टि से भी भारत में एक प्रकार की एकता रही है। प्राचीन भारत में धर्म ही एक ऐसा आदर्श और आधार था जिसने सारे भारत को एकता के सूत्र में बाँध रखा था। प्राचीन भारतीयों द्वारा स्थापित धार्मिक व्यवस्था, धार्मिक मान्यताओं तथा धार्मिक विधाओं के कारण कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक भारतवासी एकता के प्रगाढ़ सूत्र में बँधे थे। सारे देश में फैले शक्ति पीठ, तीर्थ-स्थल और पवित्र नदियाँ समस्त भारतवासियों की श्रद्धा, आदर उपासना और भक्ति के आधार थे। उस युग में स्थापित एकता के ये अंकुर आज भी कोटि-कोटि भारतवासियों के मुख से मुखरित होते हैं। उदाहरण के लिए आज भी एक धर्म परायण भारतवासी हिन्दू स्नान करते समय सात पवित्र नदियों का नाम लेता है। ये सात नदियाँ हैं सिन्धु, सरस्वती, यमुना, गंगा, नर्मदा, गोदावरी, तथा कावेरी। इसी प्रकार हिन्दुओं के सात पवित्र तीर्थ सारे भारत में फैले हुए हैं और धर्म परायण हिन्दू इनको श्रद्धा से देखता है। अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार), काशी (वाराणसी), कांची (कांजीवरम्), अवन्तिका (उज्जैन) और द्वारावती (द्वारिका) ये सात पवित्र तीर्थ हैं:

अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्ष दायिका॥

इस प्रकार धर्म हमारी एकता का सशक्त आधार रहा है।

(3) **सांस्कृतिक एकता**—भौगोलिक और धार्मिक एकता से जुडे भारतवासी सांस्कृतिक एकता के भी प्रहरी और पक्षपोषक रहे हैं। प्राचीन काल से ही हमारे ऋषि और मुनि, आचार्य और विद्वान इस सांस्कृतिक एकता को स्वीकार कर उसके विकास का प्रयास करते रहे हैं। हमारे प्राचीन धर्म ग्रन्थ, वेदों की ऋचाएँ, महाभारत और रामायण तथा अन्य साहित्य इस तथ्य के साक्षी है। सातवीं शताब्दी में आद्य शंकराचार्य ने इसी सांस्कृतिक एकता का जयघोष करते हुए उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में चार पीठ स्थापित किए थे अनेक धर्म ग्रन्थों पर अपनी टीकाएँ प्रस्तुत की थीं और भारतीयों के कण्ठहार देवी, देवताओं की स्तुति और अर्चना में संस्कृत में अमर रचनाओं का प्रणयन किया था। इस सम्बन्ध में हमें यह न भूलना चाहिए कि भारतीय संस्कृति की रचना में अनेक तत्वों का योग रहा है। इन तत्वों में आर्य, द्रविड, शबर, पुलिन्द, शक, हूण, मंगोल, ईरानी, अरब, तुर्क पठान आदि सभी ने अपना योग दिया है। ये सब जातियाँ प्रजातियाँ भारतीय समाज में इस प्रकार घुल-मिल गई कि आज कोई निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि कौन विशुद्धतः किस मूल या किस जाति-प्रजाति का है। गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर के शब्दों में हम कह सकते हैं कि :

हे थाय आर्य, हेथाय अनार्य, हेथाय द्रविड चीन।
शक, हूण, दल, मुगल, पठान एक दहे हो लो लीन॥

भारत की इस सांस्कृतिक एकता के प्रभाव को स्वीकार करते हुए प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान ओ

माली ने एक स्थल पर लिखा है कि **'भारत एक संस्कृति का नाम है किसी जाति, या समुदाय का नहीं।'**

(4) **भाषा की एकता**—भाषा विचारों की अभिव्यक्ति की सबसे बड़ा साधन होती है किसी देश की भाषा उस देश की सभ्यता और संस्कृति के विकास की मानदण्ड होती है। अनेक विविधताओं से युक्त भारत में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। किन्तु भारत की इन भाषाओं में से अधिकांश प्राचीन भारत की अत्यन्त समृद्ध और सुविकसित संस्कृत भाषा से प्रभावित हैं। उदाहरण के लिए हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगाली, उड़िया, तमिल, तेलगु तथा मलयालम, आदि भाषाओं पर संस्कृत की गहरी छाप है। इस प्रकार इन भाषाओं में विभिन्नता के बावजूद एक मूलभूत एकता है।

(5) **राजनैतिक एकता**—यद्यपि भारत के इतिहास में कुछ ऐसे काल-खण्ड हैं जिनमें केन्द्रीय सत्ता के अभाव के कारण राजनैतिक एकता का अभाव दिखाई पड़ता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि प्राचीन भारत में राजनैतिक एकता की चेतना का अभाव रहा हो। समस्त भारतीयों में राजनैतिक एकता का भाव विद्यमान था। जब कभी भारत की प्राकृतिक सीमा को पार कर भारत की धरती पर कोई विदेशी आक्रान्ता आक्रमण करता तो सारे भारतवासियों में उसकी प्रतिक्रिया होती थी। जैसा कि प्रख्यात इतिहासकार स्व० पं गौरी शंकर हीरा चन्द ओझा ने लिखा है **'परस्पर की घरेलू लड़ाइयाँ निरन्तर बनी रहने पर भी जब कोई बाहर का शत्रु देश पर या देश के किसी राज्य विशेष पर आक्रमण करता था तो छोटे-छोटे प्राय: सभी राज्य मिल कर उसका सामना करत थे।'** किसी भी शक्तिशाली राजा को महत्वाकांक्षी चक्रवर्ती सम्राट बनने की होती थी। चक्रवर्ती सम्राट वह शासक होता था जो देश के छोटे-बड़े शासकों को अपने प्रभुत्व में लाकर देश में राजनैतिक एकता की स्थापना करे। पर सम्राट हर्ष की मृत्यु (647 ई०) के बाद राजनैतिक विघटन और विश्रृंखलन के ऐसे युगों का प्रारम्भ हुआ जो लम्बी अवधि तक चलते रहे। इसी युग में भारत में इस्लाम का प्रवेश हुआ। इस युग में मुगल सम्राट अकबर ने सारे भारत को राजनैतिक एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। किन्तु अंग्रेजों ने अपनी कूटनीति और शक्ति से मुगल शासन को समाप्त कर भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया अपने स्वार्थ और सुविधा के लिए अंग्रेजों ने जो प्रयास किए उससे देश में राजनैतिक एकता की स्थापना हुई जिसने आगे चलकर राष्ट्रीय आन्दोलन का मार्ग प्रशस्त किया। स्वाधीन भारत हमारी राजनैतिक एकता को नए आयाम मिले।

इस प्रकार जहाँ तक कि राष्ट्रीय एकता के मूल आधारों का प्रश्न है, भारत में उन आधारों का अभाव नहीं रहा है। जब तक इन आधारों के प्रति भारतवासी जागरूक रहे तब तक भारत स्वाधीन रहा और स्वाधीनता के कल्प-वृक्ष की स्निग्ध छाँह में अपनी गौरवमयी सभ्यता और संस्कृति के सुकुमार तत्वों की रचना और विकास कर प्रगति-पथ पर बढ़ता रहा। और जब भारतवासी राष्ट्रीय एकता के उन आधारों को विस्मृत करने लगे तब वे पतन के गर्त में जा गिरे, ऐसे गर्त में जहाँ से निकलने में उन्हें शताब्दियाँ लग गईं।

हमारी राष्ट्रीय एकता के मार्ग की बाधाएँ

यह सत्य है कि भारतीय संस्कृति विविधता में एकता का जीवन्त दृष्टान्त प्रस्तुत करती है, यह भी सत्य है कि भारत में राष्ट्रीय एकता के सबल आधार विद्यमान हैं किन्तु यह भी सत्य है कि भारत में राष्ट्रीय एकता के मार्ग में अवरोध खड़ी करने वाली अनेक बाधाए भी विद्यमान हैं। जब तक ये बाधाएँ विद्यमान हैं तब तक राष्ट्रीय एकता का स्वप्न अधूरा रहेगा। राष्ट्रीय एकता की इन बाधाओं पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक है:—

(1) **साम्प्रदायिकता**—आधुनिक भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि साम्प्रदायिकता हमारी राष्ट्रीय एकता की सबसे प्रबल बाधा रही है। साम्प्रदायिकता ही देश के विभाजन

का मुख्य कारण रही है और आज साम्प्रदायिकता ही देश के विघटन का मुख्य कारण बनी हुई है। साम्प्रदायिकता के कारण भारतीय नागरिक राष्ट्र की अपेक्षा अपने धर्म को अत्यधिक महत्व देते हैं और धर्म के नाम पर राष्ट्रीय हितों को बलि चढ़ाने में कोई संकोच नहीं करते। आवश्यकता इस बात की है कि साम्प्रदायिकता के विष-वृक्ष को हम जड़ से काट डालें। यदि ऐसा नहीं होता तो विकास के पथ पर अग्रसर भारत और भारतवासियों का भविष्य अन्धकारमय हो जायगा।

(2) प्रान्तीयता—प्रान्तीयता या क्षेत्रवाद राष्ट्रीय एकता का दूसरा प्रमुख बाधक तत्व है। प्रान्तीयता की संकीर्ण भावना एक ही देश के विभिन्न राज्यों के मध्य अन्तर की दीवार खड़ी कर देती है। ऐसी स्थिति में क्षेत्रीयता के अन्ध कूप में पड़ा राज्य के राष्ट्र के विशाल हित की उपेक्षा करता है और अपना अलग राग अलापने लगता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति अलगाव और विघटन की ओर ले जाती है। आज भारत के अनेक राज्य ऐसी ही मनोवृत्ति के शिकार हो गये हैं। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय एकता की परिकल्पना अनेक प्रश्न-चिह्नों से घिर जाती है।

(3) जातिवाद—हमारी राष्ट्रीय एकता में एक सबसे प्रबल बाधा जातिवाद है। वैसे तो संसार के हर कोने में किसी न किसी रूप में जाति-प्रथा का प्रचलन है। इस्लाम और ईसाई समाज भी उसके प्रभाव से अछूते नहीं हैं। किन्तु हिन्दू समाज में जाति-प्रथा जिस रूप में विद्यमान रही है और अभी है, वह राष्ट्रीय एकता के लिए अत्यन्त बाधक है। भारतीय समाज में जाति-प्रथा का प्रादुर्भाव एक सावयवी और स्वस्थ समाज की संरचना के लिए किया गया था। प्रारम्भ में जाति-प्रथा जन्म नहीं कर्म पर आधारित थी। कालान्तर में वह जन्म पर आधारित हो गई तथा कतिपय ऐतिहासिक कारणों से उसमें अनेक विकृतियाँ आ गई। औद्योगिक विकास आधुनिक शिक्षा, शहरीकरण तथा सामाजिक परिवर्तन की अन्य विधाओं के कारण यह आशा की जाती थी कि धीरे-धीरे जाति-प्रथा लुप्त हो जायगी किन्तु संसदीय लोकतंत्र चुनाव प्रणाली, राष्ट्रीय भावना से वंचित स्वार्थ लोलुप, पदलोलुप, भ्रष्ट नेताओं की बहुलता के कारण जातिवाद को बढ़ावा मिला है। इसका लाभ उठाकर कुछ विदेशी ताकतें भारत की संवैधानिक व्यवस्था पर अपना वर्चस्व और प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास कर रही हैं।

(4) भाषावाद—भाषावाद ने भी हमारी राष्ट्रीय एकता में प्रबल बाधाएँ खड़ी की हैं। हमारे देश में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। हमारे संविधान में देश की प्रमुख भाषाओं को स्वीकार भी किया गया है। भाषाओं के आधार पर भारतीय संघ के राज्यों का पुर्नगठन भी किया गया है। फिर भी आए दिन हम भाषा के नाम पर तनाव संघर्ष और आन्दोलन देखते हैं। भाषा के प्रति संकुचित निष्ठा के कारण आज भारत हिन्दी एक राष्ट्र भाषा के रूप में पूरी तरह स्थापित नहीं हो पा रही है। राष्ट्रीय एकता के लिए एक राष्ट्र भाषा का होना नितान्त आवश्यक है।

(5) निर्धनता और आर्थिक विषमता—निर्धनता और आर्थिक विषमता ने भी हमारे राष्ट्रीय आधारों को कमजोर बनाया है। निर्धनता के कारण मनुष्य अपने कर्तव्यों का समुचित पालन नहीं कर पाता। वह निर्धन लोगों को ऐसे तत्वों का शिकार बना देती है जिससे राष्ट्रीयता की भावना में बाधा खड़ी होती है। जैसा कि हिन्दी के प्रसिद्ध कवि गोपाल दास नीरज ने लिखा है कि :

तन की हविस मन को गुनहगार बना देती है,
बाग के बाग को बीमार बना देती है,
भूखे इंसान को देश भक्ति सिखाने वालो,
भूखे इंसान को गद्दार बना देती है।

निर्धनता के साथ ही आर्थिक विषमता भी राष्ट्रीय एकता का मार्ग अवरुद्ध करती है। आर्थिक विषमता के कारण धनी अधिक धनवान होते जाते हैं और निर्धनियों की निर्धनता बढ़ती जाती है। इसके साथ ही ऐसी स्थिति में धनिक वर्ग अधिकाधिक संख्या में धन संग्रह करने के लिए राष्ट्र के व्यापक हितों

की उपेक्षा करता है। उधर निर्धन वर्ग की निर्धनता का लाभ उठाकर विदेशी ताकतें और उनके हाथ बिके हुए देशी नेता उन्हें गुमराह कर राष्ट्रीय एकता को नष्ट करने वाले कार्यों के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

इस प्रकार ये कुछ ऐसी बाधाएँ हैं जिनके कारण आज हमारी राष्ट्रीय एकता अनेक प्रश्न-चिह्नों से घिरी हुइ है।

राष्ट्रीय एकता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के उपाय

राष्ट्रीय एकता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिए मुख्यतया निम्नलिखित कार्य किए जाने चाहिए—

(1) **उचित शिक्षा की व्यवस्था**—शिक्षा राष्ट्र-निर्माण की आधार-शिला होती है। शिक्षा वह साधन है जो व्यक्ति की आत्मा को निखार कर उसमें उदात्त मानवीय गुणों का विकास करती है। अच्छी शिक्षा के माध्यम से नागरिकों में आदर्श नागरिक गुणों का विकास किया जा सकता है। उनमें देश-भक्ति की भावना, अपने राष्ट्र के प्रति समर्पण, त्याग और बलिदान की प्रवृत्ति को जागृत किया जा सकता है।

(2) **धार्मिक सहिष्णुता को प्रोत्साहन**—भारतीय धर्म और संस्कृति की यह विशेषता है कि उसने धार्मिक सहिष्णुता को सदा प्रोत्साहन दिया है। उसने अपने विचारों और अपनी धार्मिक मान्यताओं को दूसरे धर्मावलम्बियों पर थोपने का प्रयास नहीं किया। यद्यपि इस उदारता और सहिष्णुता की नीति से विदेशी आक्रान्ताओं ने अनुचित लाभ उठाया है। किन्तु धार्मिक सहिष्णुता के महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। धार्मिक सहिष्णुता आज के भारत की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण आवश्यकता है। भारतीय संविधान ने सभी धर्मों के मानने वालों को समान अधिकार दिए हैं। अतएव सभी वर्गों के अनुयायियों का यह कर्तव्य हो जाता है कि भारतीय संस्कृति की इस विशेषता को अपनाएँ और कोई ऐसा कार्य न करें जो राष्ट्रीय हित के विरुद्ध हो।

(3) **भाषाई एकता को प्रोत्साहन**—भारत में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। राज्यों की अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषाएँ हैं। इन विविध भाषाओं में एक मौलिक एकता है। इस मौलिक एकता को हमें बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए। इसके अतिरिक्त हिन्दी (जिसे संविधान में राष्ट्र-भाषा घोषित किया है) के प्रचार-प्रसार का पूरा प्रयास करना चाहिए। विविध भाषाओं के साहित्य का हिन्दी में अनुवाद किया जाना चाहिए। हिन्दी भाषी क्षेत्रों में अहिन्दी भाषी प्रदेशों की भाषाओं के पढ़ाने का प्रयास किया जाना चाहिए। भाषाई एकता के लिए एक राष्ट्र लिपि का होना उपयोगी होता है। भारतीय संविधान ने देवनागरी लिपि को एक राष्ट्र-लिपि के रूप में स्वीकार किया है। अतएव भारत के विविध भाषाओं को एक देव-नागरी लिपि में लिखने का प्रयास करना चाहिए।

(4) **राष्ट्रीय एकता के लिए स्वस्थ जनमत का निर्माण**—राष्ट्रीय एकता के लिए हमें स्वस्थ जनमत का निर्माण करना चाहिए। हमें जन-जन को यह बता देना चाहिए कि हम सब भारतीय हैं। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में 'उत्साह से बोलना चाहिए कि हम सब भारतीय हैं, भारत हमारे शैशव की शिशु सज्जा है, यौवन का उपवन है और वृद्धावस्था की वाराणसी है।' प्रत्येक भारतवासी को अपने राष्ट्र के गौरव के लिए, राष्ट्र की रक्षा के लिए, राष्ट्र की प्रगति के लिए अपना सब कुछ न्योछावर करने के लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए।

(5) **स्वस्थ राजनैतिक वातावरण का विकास**—भारतीय संविधान समस्त भारतीय नागरिकों को सभी आवश्यक राजनैतिक अधिकार प्रदान करता है1 किन्तु प्रायः लोग इन राजनैतिक अधिकारों का दुरूपयोग कर ऐसे कार्य करते हैं जिससे हमारी राष्ट्रीय एकता को खतरा उत्पन्न हो जाता है। वे धर्म, जाति, भाषा आदि के नाम पर लोगों को उसका कर अपना स्वार्थ-सिद्ध करते हैं तथा राष्ट्रीय एकता में बाधा खड़ी करते हैं। अतएव हमें इस प्रकार के लोगों से सावधान रहना चाहिए। हमें ऐसे जननायकों को चुनना चाहिए जिनमें राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूट कर भरी हो, जिनका नैतिक चरित्र

ऊँचा हो, जिन्हें सत्ता का मोह न हो जिन्हें विदेशी ताकतें विविध प्रकार के प्रलोभनों के मोह-पाश में डालने में समर्थ न हो।

(6) अलगाववादी और विघटनवादी ताकतों से सावधानी—भारत का ऐतिहासिक दृश्यपट, भौगोलिक परिस्थिति और राजनैतिक व्यवस्था कुछ ऐसी है जिससे अलगाववादी और विघटनकारी ताकतों को हमारे देश में अपने कुत्सित क्रिया-कलापों को गुप्त रूप से करने में विशेष व्यवधान नहीं होता। ये ताकतें भारत की राजनैतिक व्यवस्था और राजनैतिक संस्कृति का पूरा लाभ उठाकर भारत को टुकड़ों में बाँटने या भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए हर सम्भव प्रयास कर रही हैं। हमें ऐसी ताकतों से सदैव सावधान रहना चाहिए और कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे इन ताकतों को अपना उद्देश्य पूरा करने में किसी प्रकार की सफलता मिले। उधर सरकार का भी यह कर्तव्य है कि वह अपनी गुप्तचर व्यवस्था को इतना चुश्त और प्रभावशाली बनाए कि ये शक्तियाँ कानून के शिकंजे से निकल कर बचने में सफल न हो सकें।

(7) निर्धनता और आर्थिक विषमता को दूर करना—भारत में भयंकर निर्धनता और आर्थिक विषमता है। आर्थिक विषमता की यह स्थिति ऐसी है कि एक ओर धन-कुबेरों की विलासिता के अनेक उपकरणों से युक्त ऊँची-ऊँची कोठियाँ हैं, भव्य भवन हैं तो दूसरी ओर झोपड़ियाँ और टूटे-फूटे मकान। इसी प्रकार औद्योगिक विकास और शहरीकरण के कारण एक ओर शहरों में रहने वाले लोगों का जीवन अनेक सुविधाओं से युक्त है तो दूसरी ओर ग्रामवासी भारतीय नागरिकों का जीवन अनेक कष्टों और असुविधाओं से युक्त है। राष्ट्रीय एकता के लिए इस प्रकार की विषमताओं का अन्त होना चाहिए। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह धनी हो या निर्धन आपस में किसी प्रकार विद्वेष नहीं रखना चाहिए। प्रायः राजनेता अपने स्वार्थ के लिए एक वर्ग को दूसरे वर्ग के विरुद्ध भड़का कर अपना स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।

(8) राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण—राष्ट्रीय चरित्र किसी राष्ट्र की अपनी विरासत होती है। आज संसार में अनेक देशों ने भौतिक क्षेत्र में जो प्रगति की है, उसके पीछे उन देशों के नागरिकों का चरित्र रहा है। एक समय था जब भारतवासी अपने राष्ट्रीय चरित्र के लिए संसार में प्रसिद्ध थे। इसी राष्ट्रीय चरित्र के कारण उन्होंने जीवन के विविध क्षेत्रों में आशातीत प्रगति की थी। किन्तु ज्यों-ज्यों उनके राष्ट्रीय चरित्र का ह्रास होता गया वे पतन के गर्त में गिरते गए। आज स्थिति ऐसी है कि लोग राष्ट्रीय चरित्र का अर्थ ही भूल बैठे हैं। यही नहीं तथाकथित पढ़े-लिखे कुछ लोग राष्ट्र और चरित्र इन दोनों शब्दों को अप्रासंगिक मानते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम राष्ट्रीय चरित्र के अर्थ और उपयोगिता को समझें और राष्ट्र की रक्षा और विकास को अपना सर्वप्रमुख धर्म समझें।

(9) समाज के सभी वर्गों तथा देश के सभी क्षेत्रों के नागरिकों को विकास के समान अवसर—भारतीय संविधान देश के सभी नागरिकों को अपनी उन्नति का समान अवसर प्रदान करता है। किन्तु विविध कारणों के फलस्वरूप सभी लोगों को अपने विकास का समुचित अवसर नहीं मिल पाता। हमारी राजनीतिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति उसकी योग्यता, प्रतिभा और क्षमता के अनुरूप विकास का समान अवसर सुलभ हो।

(10) राष्ट्रीय एकता तथा राष्ट्र के विकास सम्बन्धी साहित्य का प्रचार-प्रसार—राष्ट्रीय एकता तथा राष्ट्र के विकास सम्बन्धी साहित्य से जन साधारण को परिचित कराने का पूरा प्रयास किया जाना चाहिए। साथ अन्य दृश्य और श्रव्य साधनों यथा रेडियो और दूरदर्शन इत्यादि के माध्यम से देश के कोने-कोने में रहने वाले नागरिकों को राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता से अवगत कराने का प्रयास करना चाहिए।

इस प्रकार हमें राष्ट्रीय एकता के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निराकरण अपने राष्ट्र के विकास का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए। हमें यह न भूलना चाहिए कि राष्ट्र की उन्नति में हमारी उन्नति है

और राष्ट्र की अवनति में हमारी अवनति। जैसा कि एक कवि ने कहा है:

एक सूत्र में बँध कर
हम महाशक्ति बन सकते हैं,
एकाकी रह कर के क्या
हम जीवन भी जी सकते हैं
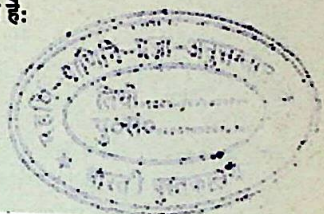
राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण की आवश्यकता तथा उसके विकास में शिक्षा की भूमि

राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण की आवश्यकता : महत्व

यूनान के सुप्रसिद्ध राजनैतिक विचारक प्लेटो ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'रिपब्लिक' में एक स्थल पर लिखा है कि, 'राज्य का निर्माण देवदार के वृक्षों या प्रसार-खण्डों से नहीं होता, उसका निर्माण चरित्रनिष्ठ व्यक्तियों से होता है।' निस्सन्देह राज्य भवनों, इमारतों या राजप्रासादों का कोई संकलन नहीं है। वह तो मनुष्यों द्वारा निर्मित एक जीवन्त मानवीय संगठन होता है जिसका प्रयोजन मनुष्य का सम्यक विकास होता है। राज्य की प्रगति या अवनति उसके नागरिकों पर निर्भर करती है। यदि नागरिकों का चरित्र श्रेष्ठ है, उनमें राष्ट्रीय चरित्र के सभी अपेक्षित गुण विद्यमान हैं तो राष्ट्र उन्नति करेगा, यदि राष्ट्र के नागरिकों में अपेक्षित राष्ट्रीय गुणों का अभाव है तो राज्य भी प्रगति नहीं कर सकेगा। दूसरे शब्दों में महान नागरिक किसी राष्ट्र को महान बनाते हैं और तुच्छ नागरिक राष्ट्र को पतन के द्वार पर पहुँचा देते हैं। इस प्रकार नागरिक राज्य की प्रगति या अगति के सूचक होते हैं वे उसकी उन्नति या अवनति के मापदण्ड होते हैं। वे ही उसके अतीत के गौरव के स्मृति-प्रतीक, वर्तमान के संचालक और भविष्य के निर्माता होते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक राष्ट्र अपने नागरिकों के चरित्र-निर्माण का प्रयास करता है।

राष्ट्रीय चरित्र के आधार

राष्ट्रीय चरित्र के क्या आधार हों, एक राष्ट्र के नागरिक में क्या गुण हों, जैसे प्रश्नों पर समय-समय पर अनेक विद्वानों ने अपने-अपने विचार व्यक्त किए हैं। उदाहरण के लिए यूनान के प्रसिद्ध राजनैतिक विचारक अरस्तू ने कहा है कि 'एक आदर्श नागरिक के मुख्य गुण सच्चरित्रता, उत्तम स्वास्थ्य, सुशिक्षा, विकसित बुद्धि, नैतिक शक्ति तथा व्यावहारिक बुद्धिमता होनी चाहिए।' आधुनिक राजशास्त्री लार्ड ब्राइस के अनुसार 'आदर्श नागरिक में बुद्धि, आत्म-संयम तथा कर्तव्य-परायणता ये तीन गुण होने चाहिए।' प्रो० लास्की के अनुसार आदर्श नागरिक में विवेक, न्याय और लोक-कल्याण की भावना होनी चाहिए। भारतीय मनीषी महर्षि अरविन्द के अनुसार 'आदर्श नागरिक का सर्वप्रमुख गुण ईमानदारी या सच्चाई है। उसे अपने प्रति, अपने परिवार के प्रति, अपने समाज के प्रति, राष्ट्र के प्रति तथा समस्त मानवता के प्रति ईमानदारी का व्यवहार करना चाहिए।' महात्मा गाँधी के अनुसार 'आदर्श नागरिक में सत्य, अहिंसा तथा निर्भीकता ये तीन गुण होने चाहिए।' आचार्य विनोबा भावे के अनुसार 'आदर्श नागरिक में आन्तरिक शुद्ध, बाहरी शुद्धि, श्रमशीलता, शान्ति और समाज सेवा के लिए उत्सर्ग की भावना होनी चाहिए।'

इस प्रकार राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में नागरिकों में अनेक गुण होने चाहिए। इन गुणों को संक्षेप में हम निम्नलिखित रूप में रख सकते हैं:—

1. नागरिक का चरित्र उत्तम होना चहिए। उत्तम चरित्र राष्ट्रीय जीवन की आधार-शिला है। इसलिए नागरिक को अपने चरित्र को उत्तम बनाने का पूरा प्रयास करना चाहिए। उसे यह स्मरण रखना चाहिए कि उसका चरित्र ही उसकी मूल्यवान सम्पत्ति है, जो अन्य सब सम्पत्तियों से श्रेष्ठ होती है।

जैसा कि कहा गया है कि यदि सम्पत्ति गई तो विशेष हानि नही हुई यदि स्वास्थ्य गया तो कोई महत्वपूर्ण वस्तु चली गई किन्तु यदि चरित्र गया तो सब कुछ चला गया।

2. नागरिक का स्वास्थ्य अच्छा होना चाहिए। एक स्वस्थ व्यक्ति ही अपने और समाज के प्रति अपने कर्तव्य का सम्यक् पालन कर सकता है।

3. नागरिक दृढ़ संकल्प का व्यक्ति होना चाहिएं। उसे अपने कर्तव्य-पथ पर चट्टान की तरह अडिग खड़े रहना चाहिए।

4. नागरिक परिश्रमी होने चाहिए। आलसी, अकर्मण्य तथा भाग्यवादी व्यक्ति राष्ट्र के लिए अभिशाप होते हैं।

5. नागरिक का आचरण शिष्ट होना चाहिए।

6. नागरिक को कर्तव्य-परायण होना चाहिए।

7. नागरिक में देश-भक्ति की भावना होनी चाहिए। देश-भक्ति से वंचित नागरिक वस्तुतः नागरिकता का आवरणा ओढ़े देश का छिपा हुआ शत्रु होता है। ऐसे व्यक्ति के विषय में राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त की निम्नांकित पंक्तियाँ उपयुक्त बैठती हैं कि—

जो भरा नहीं है भावों से, जिसमें बहती रसधार नहीं,
वह हृदय नहीं है पत्थर है जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं।

8. नागरिक में राज्य के नियमों और कानूनों के पालन करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए।

9. नागरिक में न्यायप्रियता, दूरदर्शिता और अपने देश की सुरक्षा और स्वतन्त्रता के लिए सतर्कता होनी चाहिए। जैसा कि एक कहावत है कि 'जहाँ नागरिकों में सतर्कता की भावना नहीं होती वहाँ लोग नष्ट हो जाते हैं' 'where there is no vision people perish'.

10. नागरिक में सहानुभूति, करुणा और लोक-कल्याण की भावना होनी चाहिए।

इस प्रकार इन गुणों से युक्त नागरिक अपने राष्ट्रीय चरित्र का विकास कर सकते हैं। इन गुणों की उपेक्षा कर कोई व्यक्ति अपने राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकता। क्योंकि किसी समाज की महानता की रहस्य उस समाज की सोने, चाँदी या रत्नों की राशि नहीं होता। उसकी तो सर्वाधिक मूल्यवान सम्पदा उसके आदर्श नागरिक होते हैं। जैसा कि अमेरिकन विचारक और कवि राल्फ वाल्डो एमर्सन ने लिखा है—

'सोना नहीं वरन् मनुष्य राष्ट्र को शक्तिशाली और महान बनाते हैं।'[1]

राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में शिक्षा की भूमिका

शिक्षा को राष्ट्रीय विकास का मेरुदण्ड कहा जा सकता है। शिक्षा के बिना कोई नागरिक या कोई राष्ट्र प्रगति की कल्पना नहीं कर सकता। शिक्षा की इसी महत्ता को ध्यान में रखते हुए प्राचीन तथा आधुनिक विद्वानों ने उसकी महत्ता का गुण-गान किया है। उदाहरण के लिए प्राचीन यूनानी विचारक प्लेटो का कहना था कि 'जीवन में मैं शिक्षा को सर्वाधिक महत्त्व देता हूँ।'[2] इसी प्रकार एक अन्य विचारक ने कहा था कि 'मुझे अच्छी शिक्षा देने दो मैं राष्ट्र का भाग्य बदल दूँगा।'

इस प्रकार इसमें कोई सन्देह नहीं कि शिक्षा के माध्यम से राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में, राष्ट्र के निर्माण में महत्वपूर्ण योग मिल सकता है। संक्षेप में सुशिक्षा के माध्यम से निम्नलिखित रूप में राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में सहायता मिल सकती है—

1. शिक्षा चरित्र के विकास में योग देती है। अतएव शिक्षा के माध्यम से ऐसे गुणों का

---

1. Not gold, but only men can make a people great and strong.
2. I reckon education first among all the things.—Plato.

विकास किया जा सकता है जो भावी नागरिकों को आदर्श नागरिक बना सकती है।

2. शिक्षा अज्ञानता को दूर करती है। शिक्षा एक ऐसे प्रकाश-दीप की भाँति होती है जिसके माध्यम से मनुष्य अज्ञान के अन्धकार से मुक्ति पा प्रकाश-पथ पर आगे बढ़ सकता है।

3. शिक्षा के माध्यम से जीवन-मूल्यों के प्रति विश्वास जागृत किया जा सकता है। ये जीवन-मूल्य राष्ट्रीय आदर्श और राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में योग देते हैं।

4. शिक्षा अनेक सामाजिक कुरीतियों के दूर करने में योग दे सकती है। आज हमारे समाज में अनेक सामाजिक कुरीतियाँ फैली हुई हैं। दहेज-प्रथा, जाति-प्रथा आदि ऐसी कुछ कुरीतियाँ हैं। इन कुरीतियों को शिक्षा के माध्यम से दूर किया जा सकता है।

5. भारत में जन-संख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। शिक्षा के माध्यम से जन-संख्या के नियन्त्रण की दिशा में महत्वपूर्ण योग मिल सकता है।

6. साम्प्रदायिकता हमारे राष्ट्रीय जीवन का अन्य अभिशाप है। शिक्षा के माध्यम से हम साम्प्रदायिकता के जहर को समाप्त कर सकते हैं।

7. भारत आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा हुआ है, शिक्षा के द्वारा हम अपनी आर्थिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं।

8. आज अधिकांश नागरिकों के अशिक्षित या अदृर्ध-शिक्षित होने के कारण राजनैतिक चेतना नहीं होती। शिक्षा के माध्यम से इस प्रकार की राजनैतिक चेतना जागृत की जा सकती है।

9. शिक्षा नागरिकों में स्वस्थ राष्ट्रीयता, देश-भक्ति तथा देश-सेवा की भावना का विकास कर सकती है।

इस प्रकार शिक्षा के माध्यम से हम राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण की दिशा में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त कर सकते हैं। हम शिक्षा के माध्यम से इस प्रकार की सफलता प्राप्त कर सकें इसके लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में मौलिक परिवर्तन हो, शिक्षा का पाठ्य-क्रम राष्ट्र की आकांक्षाओं और आदर्शों के अनुरूप बनाया जाय, तथा शिक्षण-संस्थाओं में ऐसे लोगों की नियुक्तियों को प्रोत्साहन दिया जाय जिनमें देश-भक्ति तथा मानववादी प्रवृत्तियों का सम्यक् विकास हुआ है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. भारत में विद्यमान राष्ट्रीय एकता के प्रमुख आधारों पर प्रकाश डालिए।
2. हमारी राष्ट्रीय एकता के मार्ग की मुख्य बाधाएँ क्या हैं ? इन बाधाओं को कैसे दूर किया जा सकता है।
3. राष्ट्रीय चरित्र निर्माण पर एक निबन्ध लिखिए।
4. राष्ट्रीय चरित्र निर्माण में शिक्षा का क्या योगदान हो सकता है ?

लघु प्रश्न और उनके उत्तर

प्रश्न 1. राष्ट्रीय एकता के मार्ग की पाँच मुख्य बाधाएँ बताइए।

उत्तर—1. साम्प्रदायिकता, 2. प्रान्तीयता की भावना, 3. जातिवाद, 4. निर्धनता और आर्थिक विषमता।

प्रश्न 2. राष्ट्रीय एकता के मार्ग की बाधाओं को दूर करने के पाँच मुख्य उपाय बताइए।

उत्तर—1. नागरिकों को राष्ट्रीय एकता सम्बन्धी समुचित शिक्षा देनी चाहिए, 2. धार्मिक सहिष्णुता को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। 3. हिन्दी को राष्ट्र भाषा के रूप में तथा नागरी लिपि को राष्ट्र-लिपि के रूप में स्थापित किया जाना चाहिए। 4. राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण पर जोर दिया

जाना चाहिए । 5. अलगाववादी तथा विघटनकारी ताकतों से सावधान रहना चाहिए ।

प्रश्न 3. भारत के राष्ट्र ध्वज पर पाँच वाक्य लिखिए ।

उत्तर—तीन रंगों की समान चौड़ाई को लेकर हमारा राष्ट्र ध्वज बनता है । ऊपर गहरे भगवा रंग की पट्टी होती है, बीच में श्वेत और नीचे गहरा हरा रंग । ध्वज में अशोक चक्र अंकित है । इस चक्र में चौबीस कमानियाँ हैं । चक्र हमारी गतिशीलता और प्रगति का प्रतीक है ।

प्रश्न 4. भारत के राष्ट्र चिह्न पर संक्षेप में प्रकाश डालिए ।

उत्तर—हमारा राष्ट्र चिह्न भी अशोक कालीन सारनाथ के स्तम्भ के ऊपरी भाग से लिया गया है । हमारा राष्ट्र चिह्न दो भागों में विभक्त है । पहला भाग ऊपर का भाग है जिसमें तीन शेर हैं और दूसरे भाग पर आदर्श वाक्य है । पहले भाग में तीन शेर दिखाई देते हैं जो एक दूसरे के पीछे है । चौथा शेर पीछे की ओर होने के कारण दिखाई नहीं देता । इन शेरों के नीचे एक शिला पट है । इस शिला पट के मध्य में एक चक्र है, दाईं ओर एक नन्दी है, बाईं ओर एक घोड़ा है । इसके अतिरिक्त दोनों किनारों पर भी दो चक्र अंकित हैं । राष्ट्र चिह्न के दूसरे भाग में नीचे 'सत्यमेव जयते' अंकित है ।

प्रश्न 5. राष्ट्र ध्वज के सम्मानपूर्ण प्रयोग के लिए निर्धारित नियमों में से मुख्य नियम क्या है ?

उत्तर—1. राष्ट्र ध्वज केवल सरकार के लिए प्रयोग करने के लिए निजी व्यक्ति या संस्था के लिए नहीं ।

2. राष्ट्र ध्वज के दाँए या उससे ऊँचा और कोई ध्वज नहीं होना चाहिए ।
3. यदि अन्य ध्वज लगाने हैं तो वे राष्ट्र ध्वज के बांई ओर होने चाहिए ।
4. यदि किसी जुलूस में राष्ट्र ध्वज का प्रयोग किया जाय तो वह दाँई ओर होना चाहिए ।

प्रश्न 6. राष्ट्र गान के समय किन नियमों का पालन करना चाहिए ।

उत्तर—1. जब कभी राष्ट्र गान गाया जा रहा हो तब सैनिक के समान सावधान अवस्था में बिना हिले-डुले खड़े रहना चाहिए ।

2. राष्ट्र गान की धुन निश्चित है । उसी धुन के अनुसार राष्ट्रगान गाया जाना चाहिए ।
3. राष्ट्र गान के लिए सब स्थानों व अवसरों पर सम्मान प्रदर्शित करना चाहिए ।

अति लघु प्रश्न

प्रश्न 1. राष्ट्रीय एकता के दो आधारों का उल्लेख कीजिए ।

उत्तर—1. सांस्कृतिक एकता 2. भौगोलिक एकता

प्रश्न 2. हमारी राष्ट्रीय एकता के मार्ग की दो बाधाओं का उल्लेख कीजिए ।

उत्तर—1. साम्प्रदायिकता 2. प्रान्तीयता

प्रश्न 3. राष्ट्रीय एकता के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने के दो उपाय बताइए ।

उत्तर—1. उचित शिक्षा द्वारा भावी नागरिकों में राष्ट्र के प्रति भक्ति भाव का प्रसार,

2. धार्मिक सहिष्णुता को प्रोत्साहन ।

प्रश्न 4. हमारे राष्ट्र गान के रचयिता कौन हैं ?

उत्तर—गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ।

प्रश्न 5. हमारे राष्ट्र की लिपि कौन सी है ?

उत्तर—देवनागरी लिपि

1992

नागरिक शास्त्र

द्वितीय प्रश्नपत्र
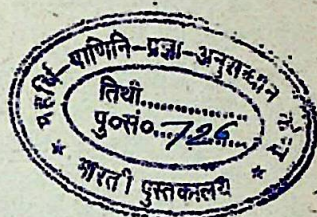
समय : तीन घण्टे पूर्णांक : 50

निर्देश : प्रश्न संख्या 1 तथा किन्हीं अन्य चार प्रश्नों के उत्तर दीजिए, जिनमें प्रत्येक खण्ड से कम से कम एक प्रश्न अवश्य हो। कुल पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए। सब प्रश्नों के अंक समान हैं।

1. निम्नलिखित प्रश्नों के अति संक्षिप्त उत्तर दीजिये :—
   (i) दसवीं लोक सभा में सदन के आधे से अधिक स्थान किस एक दल को प्राप्त हुए ? 1
   (ii) दसवीं लोक सभा के उन दो सदस्यों के नाम लिखिये जो प्रधान मंत्री रह चुके हैं। 1
   (iii) उस प्रधान मंत्री का नाम लिखिये जिसके द्वारा प्रेषित विश्वास प्रस्ताव को लोकसभा ने अस्वीकार कर दिया और उसे पद त्याग करना पड़ा। 1
   (iv) संविधान संशोधन विधेयक संसद के किस सदन में प्रस्तुत किये जा सकते हैं ? 1
   (v) क्या राष्ट्रपति संविधान संशोधन विधेयक को पुनर्विचार के लिये संसद को लौटा सकता है ? 1
   (vi) क्या संसद संविधान संशोधन के द्वारा मूलाधिकारों को परिवर्तित कर सकती है ? 1
   (vii) किन्हीं दो मूल कर्तव्यों का उल्लेख कीजिये। 1
   (viii) नगरपालिकाओं की आय के दो स्रोत लिखिये। 1
   (ix) केन्द्र तथा राज्यों में शक्तियों के विभाजन की तीन सूचियों में से शिक्षा किस सूची में है ? 1
   (x) भारत की विदेश नीति का प्रमुख लक्ष्य क्या है ? 1

खण्ड 'अ'

2. भारतीय संविधान के निर्माण का संक्षिप्त विवरण दीजिये। 10
3. भारतीय संविधान की किन विशेषताओं के कारण इसका संघात्मक स्वरुप संशोधित हो गया है और वह अद्‌र्ध-संघात्मक बन गया है ? 10
4. भारत में मंत्रि परिषद के गठन और प्रधान मंत्री से उसके संबंधों की विवेचना कीजिये। 5+5
5. भारतीय संसद के अधिकारों का वर्णन कीजिये। राज्य-सभा किन बातों में लोकसभा की अपेक्षा दुर्बल है ? 7+3
6. केन्द्र और राज्य की उच्च प्रशासकीय सेवाओं में नियुक्ति की विधि का उल्लेख कीजिये। उनका प्रशासन में क्या महत्व है ? 6+4

खण्ड 'ब'

7. उत्तर प्रदेश में नगरपालिकाओं के संगठन तथा उनके कार्यों का वर्णन कीजिये। इनके ह्रास का क्या कारण है ? 4+3+3

8. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के दो प्रमुख नेताओं के नाम लिखिये और स्वतंत्रता प्राप्ति में उनके योगदान का मूल्यांकन कीजिये। 2+8

9. गुट निरपेक्ष आन्दोलन में भारत के योगदान की समीक्षा कीजिये। 10

10. निम्न में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये :—
    (अ) स्वामी विवेकानंद 5
    (ब) आर्य समाज 5
    (स) मोहम्मद अली जिन्ना का द्वि-राष्ट्र सिद्धांत 5
    (द) गान्धीजी की डांडी यात्रा 5

भारत की जनसंख्या 1991

1991 ई० की जनगणना के अनुसार भारत की कुल जनसंख्या 84,39,30,861 व्यक्ति जो विश्व की कुल जनसंख्या का 16% है। संसार में चीन के बाद भारत ही सबसे अधिक जनसंख्या वाला देश है। जबकि क्षेत्रफल की दृष्टि से भारत के पास विश्व क्षेत्र का केवल 2.4 प्रतिशत ही है। भारत की इस जनसंख्या में 43,75,97, 929 पुरुष और 40,63,32,932 महिलाएँ सम्मिलित हैं।

देश में 1881 ई० में नियमित रूप से जनगणना का शुभारम्भ हुआ था। इसके पहले सर्वप्रथम 1872 ई० में जनगणना की गई थी। 1901 ई० भारत की कुल जनसंख्या 23,83,96,327 थी। 1941 में यह जनसंख्या 31,86,60,580 व्यक्ति थी। देश के विभाजन के बाद 1951 ई० में कुल जनसंख्या 36,10,88,090 व्यक्ति थी। इस प्रकार चालिस वर्षों में देश की जनसंख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई है। वृद्धि की यह दर यदि इसी प्रकार चलती रही तो इसके अत्यन्त भयंकर परिणाम निकलेंगे। अतएव प्रत्येक भारतवासी का यह कर्तव्य है कि वह जनसंख्या वृद्धि को रोक कर संतुलित और संयमित सुखी परिवार के आदर्श को अपनाए।

उत्तर प्रदेश में सबसे बड़ा, छोटा तथा लम्बा

1.	उत्तर प्रदेश का सबसे बड़ा औद्योगिक नगर	कानपुर
2.	उत्तर प्रदेश की सबसे बड़ी कमिश्नरी	रुहेलखण्ड
3.	उत्तर प्रदेश की सबसे कम आबादी वाला जिला	उत्तरकाशी
4.	उत्तर प्रदेश का क्षेत्रफल की दृष्टि से सबसे छोटा जिला	रामपुर
5.	उत्तर प्रदेश का एकमात्र आणविक बिजलीघर	नरौरा
6.	उत्तर प्रदेश का सबसे बड़ा विश्वविद्यालय	आगरा
7.	उत्तर प्रदेश की सबसे छोटी कमिश्नरी	उत्तराखण्ड
8.	उत्तर प्रदेश का सबसे घनी आबादी वाला जिला	गोरखपुर
9.	उत्तर प्रदेश की एक मात्र अफीम फैक्ट्री	गाजीपुर
10.	उत्तर प्रदेश की एकमात्र कोयला खान	सिंगरौली
11.	उत्तर प्रदेश छात्रों का सबसे छोटा विश्वविद्यालय	रुड़की
12.	उत्तर प्रदेश की सबसे बड़ी बिजली परियोजना	ओबरा
13.	उत्तर प्रदेश का क्षेत्रफल में सबसे बड़ा जिला	मिर्जापुर
14.	उत्तर प्रदेश का सबसे ऊंचा पर्वतीय नगर	मंसूरी
15.	उत्तर प्रदेश में हिमालय की सबसे ऊंची चोटी	नन्दा देवी
16.	उत्तर प्रदेश का सबसे पुराना दैनिक 'सैनिक'	आगरा
17.	उत्तर प्रदेश का एकमात्र डेन्टल कालेज	लखनऊ
18.	उत्तर प्रदेश का एकमात्र बोटेनिकल गार्डन	लखनऊ
19.	उत्तर प्रदेश का एकमात्र तेल शोधक कारखाना	मथुरा
20.	उत्तर प्रदेश का सबसे अधिक सिनेमा वाला नगर	कानपुर
21.	उत्तर प्रदेश का पुराना चिड़ियाघर	लखनऊ
22.	उत्तर प्रदेश में सर्वाधिक दैनिक छापने वाला नगर	वाराणसी
23.	उत्तर प्रदेश का एकमात्र टेस्ट स्तर प्राप्त मैदान	ग्रीन पार्क
24.	उत्तर प्रदेश का जनसंख्या की दृष्टि से सबसे बड़ा जिला	इलाहाबाद
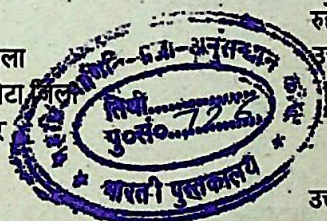
भारतीय संघ के राष्ट्रपति

1.	डॉ० राजेन्द्र प्रसाद :	1950-1962
2.	डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन :	1962-1967
3.	डॉ० जाकिर हुसेन :	1967-1969
4.	वाराहगिरि व्यंकटगिरी :	1969-1969 (कार्यवाहक)
5.	मोहम्मद हिदायतुल्ला :	1969-1969 (कार्यवाहक)
6.	वाराहगिरि व्यंकटगिरी :	1969-1974
7.	फखरुद्दीन अली अहमद :	1974-1977
8.	बी० डी० जत्ती :	1977-1977 (कार्यवाहक)
9.	नीलम संजीव रेड्डी :	1977-1982
10.	ज्ञानी जैल सिंह :	1982-1987
11.	आर० वेंकटरमन :	1987-जुलाई 1992
12.	डॉ० शंकर दयाल शर्मा :	जुलाई 1992
१३	आर० के० नारायण	

भारतीय संघ के उपराष्ट्रपति

1.	डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन	1952-1962
2.	डॉ० जाकिर हुसेन	1962-1967
3.	वारहगिरि वेंकटगिरि	1967-1969
4.	गोपाल स्वरूप पाठक	1969-1974
5.	बी० डी० जत्ती	1974-1979
6.	मोहम्मद हिदायतुल्ला	1979-1984
7.	आर० वेंकटरमन	1984-1987
8.	डॉ० शंकर दयाल शर्मा	1987-1992
	श्री कृष्णकान्त शर्मा	

प्रधानमंत्री

1.	पं० जवाहर लाल नेहरू	1947-1964
2.	श्री गुलजारी लाल नन्दा	1964-1964 (कार्यवाहक)
3.	श्री लाल बहादुर शास्त्री	1964-1966
4.	श्री गुलजारी लाल नन्दा	1966-1966 (कार्यवाहक)
5.	श्रीमती इन्दिरा गाँधी	1966-1977
6.	श्री मोरार जी देसाई	1977-1979
7.	श्री चरण सिंह	1979-1980
8.	श्रीमती इन्दिरा गाँधी	1980-1984
9.	श्री राजीव गांधी	1984-1989
10.	श्री विश्व नाथ प्रताप सिंह	1989-1990
11.	श्री चन्द्रशेखर	1990-1991
12.	श्री पी० वी० नरसिम्हा राव	1991